



दिगम्बर जैन विज्ञान दर्पण

—यानी—

प्रो० नारालाल जी के आलेखों का निराकरण
[द्वितीय अंश]

२६२१



लेखक—

विश्व दिगम्बर जैन विद्वान्

सम्पादक—

श्रीमान पण्डित रामप्रसाद जी गास्त्रा बम्बई

प्रकाशक—

दिगम्बर जैन पंचायत बम्बई

(जुहकमल मूलचन्द, स्वरूपचन्द हुकमचन्द द्वारा)

प्रथम बार ५००



वीर सं० २४७१

१२ दिसम्बर सन १९४४



मूल्य स्वाध्याय

* विषय-सूची *

संख्या	विषय	लेखक	पृष्ठ
१	प्रस्तावना	पं० रामप्रसाद जी	क
२	मेरे भी दो चार शब्द	पं० अजितकुमार जी	ख
३	वक्तव्य	सेठ सुन्दरलाल जी	क
४	आवेदन	ल० निरंजनलाल जी	ख
५	प्राक्कथन	पं० उल्फतराय जी भिल्ल	ख
६	सविनय निवेदन	पं० उल्फतराय जी रोहनक	द
७	कुछ ज्ञातव्य बातें	उद्धृत	न
८	प्रमुख सम्मनियों	पूज्य आ० शांतिसागर जी आदि	क

प्रोफेसर जी के लेख

९	जैन इतिहासका एक विलुप्त अध्याय	(भूमिका) १
१०	शिवभूति और शिवार्य	१२
११	क्या दिगम्बर और श्वेताम्बर सम्प्रदायों के शासनों में कोई मौलिक भेद है ? १८	
	(प्रोफेसर सा० के आक्षेपों का निराकरण)	

क्रमसंख्या	लेखक नाम	पृष्ठ
१	श्रीमान पं० रामप्रसाद जी	१
२	श्रीमान पं० दरबारीलाल जी कोटिया	६१
३	श्रीमान पं० दरबारीलाल जी कोटिया	७३
४	श्रीमान पं० रामप्रसाद जी	८३
५	श्रीमान प्रोफेसर हीरालाल जी	८६
६	श्रीमान पं० रामप्रसाद जी	८६
७	श्रीमान पं० परमानन्द जी	६५
८	श्रीमान पूज्य आचार्य कुण्डुसागर जी	६६
९	श्रीमान पं० पद्मालाल जी सोनी	१४६
१०	श्रीमान पं० अजितकुमार जी	२१४
११	श्रीपूज्य क्षुल्लक सुरिसिंह जी	२४८
१२	श्रीमान पं० भूमनलाल जी	३०३

ग्रन्थ के सम्पादक श्रीमान पं० रामप्रसाद जी शास्त्री बम्बई के बहुत अस्वस्थ हो जाने के कारण लेखों का क्रम बर्धोचित न बन सका अतः लेखक महाशुभाव इस क्रमको किसी और दृष्टि से न अवलोकन करें।

भूल— २४६ से २५२ तक पृष्ठ संख्या के स्थान पर २५३ से २५६ तक की पृष्ठ संख्या भूल से दुबारा छप गई है। पृष्ठ ३२० पर दूसरे काबज की अन्तिम पंक्ति में “पुंस्लिङ्गेनैव” शब्द के पहले ‘द्रव्यतः’ शब्द रह जा है। पाठक महाशुभाव सुधार करवें।



श्रीमान प्रोफेसर हीरालाल जी साहब एम० ए०, एल-एल० बी० ने दो टैकट पुस्तक और एक पत्रक प्रकाशित किया है। दो पुस्तकों में से प्रथम पुस्तक 'शिवभूति और शिवाय'। जिसका प्रतिवाद मैं ने हिन्दी जैनबोधक शोलापुर पत्र में प्रकाशित कराया। परन्तु उस का प्रतिवाद प्रोफेसर हीरालाल जी ने जैनबोधक के चरुसे आगे के अङ्क में किया। अनन्तर उसका प्रतिवाद मैंने जैनबोधक के दो अङ्कों में किया। जिसका कि प्रतिवाद आजतक फिर कोई भी आपने किया नहीं है। दूसरी पुस्तक 'जैनधर्म का एक विलुप्त अध्याय' है। उसके बहुत कुछ अंशों का प्रतिवादन श्रीमान पं० दरबारीलाल जी कोटिआ न्यायतीर्थ सरसावा ने अनेकान्त पत्र में प्रकाशित कराया है। ये दोनों प्रतिवाद तथा पं० परमानन्द जी शास्त्री द्वारा 'शिवभूति और शिवाय' पुस्तक का प्रतिवाद स्वरूप लेख जो कि अनेकान्त में प्रकाशित हुआ है; ये सभी लेख प्रोफेसर हीरालाल जी की इन दोनों पुस्तकों के साथ 'दिगम्बरजैन सिद्धान्त दश' इस टैकट पुस्तक में मुद्रित हैं।

तथा दूसरी पुस्तक के अवशिष्ट अंश का प्रतिवाद मैंने ही किया है जो कि मेरे टैकट के साथ पूर्व

में ही इस प्रस्तुत पुस्तक में मुद्रित है।

तीसरा पत्रक—'क्या दिगम्बर और श्वेताम्बर सम्प्रदाय के शासनों में कोई मौलिक भेद है?' जो प्रोफेसर साहब ने प्रकाशित कराकर अखिल भारत-वर्षीय प्राक्य सम्मेलन समिति बनारस में सुनाकर निर्णयार्थ रक्खा है। उसी के प्रतिवाद स्वरूप यह टैकट पुस्तक है। आपकी जो पुस्तकें जिनका कि प्रतिवाद जैनबोधक और अनेकान्त में हो चुका है तथा दूसरी पुस्तक के कुछ अंश का प्रतिवाद मेरे टैकट के साथ पूर्व में है। ये दोनों पुस्तकें केवल श्री प्रोफेसर हीरालाल जी साहब के मनोनीत इतिहासाभास कल्पना के विषय हैं। इस लिये श्री बम्बई दिगम्बर जैन समाज की दृष्टि में ये दोनों पुस्तकें इतनी नहीं खटकी जितना कि यह (क्या दि० और श्वेताम्बर शासनों में कोई मौलिक भेद है ?) पत्रक खटका है।

कारण कि इसका लिखान ऐसे ठग का है कि बिना विरोध विचार के 'श्री पट्सण्डागम का विषय सामान्य दृष्टि में दिगम्बर जैन सिद्धान्त के मुख्य विषयों से विपरीत सा प्रतीत होने लगता है। दूसरे श्री कुन्दकुन्द स्वामी सरीखे प्रधान आचार्यों द्वारा

प्रतिपादित मुख्य दिगम्बर जैन सिद्धान्त के विषयों को इन्हीं आचार्यों की कृति बतलाकर इन्हीं आचार्यों द्वारा लिखा हुआ हुआ पीछे का अर्थात् प्रतीति कराता है। तथा इन्हीं की कुण्डकुन्द आदि प्राचीन ग्रामा-
णिक आचार्यों को गुणस्थान व्यवस्था और कम-सि-
द्धांत व्यवस्था की अनभिज्ञता और पक्षपात की भी प्रतीति कराता है।

इस लिये इस पत्रक का विषय दिगम्बर जैन धर्म के सिद्धांतों के लिये और प्राचीन आचार्यों के कथन के लिये पूरा कतरनाक (भयंकर) है। यह बात बम्बई दिगम्बर जैन समाज की दृष्टि में बहुत कटकी।

इसी पर से इस समाज ने विचार किया कि यदि इस पत्रक का प्रतिवाद समाज के विद्वानों द्वारा नहीं कराकर प्रकाशित किया गया तो यह पत्रक भविष्य में बहुत ही हानिकारक होगा। क्योंकि समाजमें हमेशा आगामी विरोध रहेंगे ही। इसका निर्णय क्या? बस इसी विषयको लक्ष्यमें रखकर उस पत्रक के प्रतिवाद के लिये उस पत्रक की नकल अपने निवेदन पत्रों के साथ मुद्रित कराई और समाज के सभी विद्वानों और उचित सज्जनों के पास भेजी। सभी से प्रतिवाद तथा पत्रक के विरुद्ध में सम्मतियां मांगीं।

उस सपत्र पत्रक की नकल पहुंचते ही सद्धर्म भट्टालु विद्वानों और पंचायतियों तथा सज्जनों द्वारा प्रतिवाद और तद्विषयक सम्मतियां भड़ाव आने लगीं। उनमें से सर्वप्रथम सम्मति श्रीमान् पण्डित लालाराम जी शास्त्री मैनपुरी और श्रीमान् पण्डित श्रीलाल जी शास्त्री जलौली का सम्मति अनेक विद्वानों की सम्मति के साथ आई। ट्रेक्टरों में प्रथम

ट्रेक्टर श्रीमान् पं० अजितकुमार जी शास्त्री मुक्तान का आया। वह श्रीमान् शत्रु की विरुद्ध गर्मीमें बड़े ही परिश्रम से लिखा गया है। जोकि युक्तियुक्त स्व-
आगम तथा परआगमों की प्रधानता लिये अपने ध्येय का साधक है। दूसरा ट्रेक्टर श्रीमान् न्यायाल-
कार पं० मकलनलाल जी शास्त्री मोरेना का प्राप्त हुआ। जो कि मोरेना के विद्वानों की सम्मति-
सम्मत विराटलकाय आगम और युक्तियुक्त है। जिस का कि प्रकारान् छोटे साइज में समुदाय रूप ट्रेक्टर सम्मति-पुस्तक सं अलग हुआ है।

अनन्तर श्रीमान् न्यायाचार्य पूज्य गणेशप्रसाद जी वर्णी के तत्वावधान में सागर के प्रधान विद्वानों का लिखा हुआ ट्रेक्टर आया। इसी तरह कम से न्यायाचार्य श्रीमान् पण्डित माणिकचन्द जी सहारन पुर, श्रीमती विदुषी चन्द्राबाई जी आरा, श्रीमान् पूज्य श्री १०८ मुान वीरसागर जी महाराज और पूज्य श्री १०८ आदिसागर जी मुनिराज की सम्मति-
सम्मत उज्जैन, श्रीमान् पूज्य ब्रह्मचारी सुन्दरलाल जी केराना, न्यायज्योतिष विद्वान् श्री पण्डित नेमिचन्द्र जी आरा, श्री पण्डित शाल्वरचन्द जी शास्त्री ईसरी, श्री न्यायतीर्थ पण्डित सुमेरचन्द जी बी० ए०, एल-
एल० बी० सिन्धी, श्री १०५ भट्टारक देवेन्द्रकीर्ति जी बूंदी, श्री पण्डित राजधरलाल जी व्याकरणाचार्य पपीरा, उदासीन श्री प्यारेलाल जी इंदौर, पण्डित श्री इन्द्रलाल जी शास्त्री जबपुर, न्यायतीर्थ पं० जीवनेर जी शास्त्री इन्दौर, श्री पण्डित शान्तिराज जी शास्त्री नागपुर के छोटे छोटे ट्रेक्टर आये तथा और भी कुछ ट्रेक्टर श्री पूज्य मुनियों सम्मत तथा पूज्य अर्थिकों सम्मत अन्य भट्टालु भावकों के लिये आये हैं, जो कि अपनी अपनी बुद्धि और परिश्रम अनुगत

प्रकृत विषय के साधक हैं।

विरासतकाय ट्रैक्टों में श्रीमान पूरुष भी १०८ आचार्य कुचुसागर जी महाराज का ट्रैक्ट अपने मुख्य विषय को लिये हुए हिन्दू शास्त्र, ईसा ग्रन्थ, मुसलमान पुस्तकों के उद्धरणों से विगम्बर जैनधर्म की मुख्य प्राचीनता का समर्थक है। दूसरा श्रीमान पूरुष भी १०५ खुल्लक सूरसिंह जी महाराज का आगम और युक्तियों से भरपूर अपने उद्देश की सिद्धि को लिये हुये है। तीसरा पंडितों में तर्कतीर्थ पं० कम्भनलाल जी शास्त्री मिह का ट्रैक्ट है जिसमें आगम और युक्ति को लिये वैश्व शास्त्रों के अनुसार नपुंसकजिग की भेद-प्रभेद सहित सत्ता का अच्छी तरह से समर्थन किया गया है। चौथा ट्रैक्ट लेख परियट पन्नालाल जी सोनी शास्त्री व्यावर का है। इसमें आगम प्रमाण इतने प्राचुर्य में हैं कि जितना किसी भी बड़े ट्रैक्ट में नहीं हैं। तथा युक्ति और परशास्त्रों के हवाले से अपने ध्येय से परिपुष्ट है। यह इनकी अतिक्लृप्त रूप अवस्था का लिखा हुआ परम परिश्रम साध्य कार्य है जो कि धर्म की सच्ची जगिनी का द्योतक है।

इस प्रकार भी साधु, साध्वी, त्यागी, विद्वान, विदुषी तथा भटालु महानुभावों के जो ट्रैक्ट लेख आये हैं वे सभी निरभिमान वृत्ति से विद्वत्तापूर्ण हैं। जो कि अपने धर्मबन्धु वर्ग के स्थितिकरण अंग के साधक हैं। उन सबका मैं हृदय से स्वागत करता हूँ तथा यहां की समाज भी बड़े उदार भाव से उन का स्वागत करता है। इन ट्रैक्टों के सिवाय साधु तथा त्यागी और विद्वानों तथा पंचायतों के सज्जनों की जो जो सम्मतियां आई हैं उनका भी उदार भाव से स्वागत है। उन सम्मतियों में ऐसे कि आचार्य

महाराज भी १०८ का जेष्ठकवर्षी शान्तिखाना जी महाराज की सम्मति तथा विद्यावारिधि श्री पब्लिक लूचबन्ध जी शास्त्री आदि विद्वानों की सम्मतियां हैं। वे जैसी की तैसी इस ट्रैक्ट पुस्तक के साथ मुद्रित हैं। इनके सिवाय और जो सम्मतियां हैं वे ग्राम-नगर के नाममात्र से उल्लिखित हैं। यदि हम अवशिष्ट सम्मतियों को भी त्यागियों और विद्वानों की तरह प्रकाशित करते तो ट्रैक्ट पुस्तक का कलेवर बहुत ही विराल हो जाता। अतः विरासतके भय से अन्य सम्मतियों के नाम मात्र ही ट्रैक्ट पुस्तक में रखे हैं। इस विषय में सम्मति-वातारों को कुछ अनौचित्य प्रतीत हुआ हो तो साधन-पादपरय के सम्बन्ध से क्षमा प्रार्थना की यहां संगतता है। जो एक सुदृष्ट का विषय है।

परिशिष्ट की उपादेयता

इस ट्रैक्ट समुदाय पुस्तक में मेरे ट्रैक्ट के साथ जो परिशिष्ट भाग है वह प्रोफेसर हीरालाल जी द्वारा लिखे गये जैन सिद्धान्त भास्कर भाग १० किरण २ दिसम्बर १९४३ के 'क्या तत्त्वार्थ-त्रिकार और उनके टीकाकारों का अभिप्राय एक ही है?' तथा जैन सिद्धान्त भास्कर भाग ११ किरण १ जून १९४४ के 'क्या षट्संख्यकागम सूत्रकार और उनके टीकाकार कीरसेन स्वामी का अभिप्राय एक ही है?' इन दो लेखों का और ईस्वी सम् १९४३ में प्रकाशित भारतवर्षीय अनाथ रक्षक सोसायटी वर्गार्गल देहली के अष्टपाहुड़ की भूमिका के अनुपपन्न विषयों का समाधान है। जो कि ट्रैक्ट लेख से सम्बन्धित हो कर भी अपना विशिष्ट स्थान रखता है। कारण कि उसमें प्रोफेसर हीरालाल जी साहब की जो कुछ शंकायें अवशिष्ट थीं उनका भले प्रकार परिमार्जन है

तथा श्री कुण्डकुण्ड स्वामी और श्री उमा-स्वामी को श्वेताम्बर मत के अभिप्राय की ओटि में, चलीटने वाले महाराजों के मन्त्रव्यों का भी अच्छे प्रकार से से परिमार्जन उस परिशिष्ट में किया गया है।

अतः ट्रैक्ट की समकक्षा में अवतरित वह परिशिष्ट भाग भी पाठक महोदय तथा अपने मन्त्रव्योंको परीक्षा की कसौटी पर परखने वाले इच्छुक महानुभावों को उपादेय दृष्टि का ही विशेष परिणाम है। इस लिये वह स्थिर उपाय है।

श्री प्रोफेसर हीरालाल जी के सम्बन्ध में

सन्नेह अनुरोध— श्रीमान प्रिय साधर्मी यंधु

प्रोफेसर हीरालाल जी साहब द्वारा उभय ट्रैक्ट पुस्तक और मन्त्रव्यत्रय सूचक पत्रक व समाचारपत्रों द्वारा जो प्रारिक्त कोटि को लेकर मन्त्रव्य उपस्थित किये गये हैं उनका आगम और युक्तिपरक साहाय्य पूज्य त्यागीवर्ग तथा अन्य विशिष्ट विद्वानों के ट्रैक्ट लेखों में और मेरे परिशिष्ट विशिष्ट ट्रैक्ट लेख में पर्याप्त समाधान है। उसका प्रश्नमाजने दृष्टि से आप अवश्य ही मनन करेंगे। मनन करने पर भी फिर कहीं शंकांशुर रह जाय तो उसे समझ में या मौलिक रूप से अपने समाज के जिस किसी विद्वान से अर्थात् जिन किन्हीं विद्वानों में से आप शंकाओं के मार्जन के लिये अपनी दृष्टि से योग्य समझते हों उनसे उस विषय को शास्त्रार्थ या वितंडा का रूप न देकर साधर्म्य भाव दृष्टि से वीतराग कथा के रूप में स्वस्थ शांत वातावरण से परिप्लुत होकर निर्णयकोटि पर अवश्य आरुढ़ होंगे। यह मेरा मुख्य मैत्रीभाव का अनुरोध है।

समा— मैंने श्रीमान पण्डित अजितकुमार जी

साहब शास्त्री मुख्तियार जी अनुनय व साम्रह सूचना दे दी है कि विद्वानों के किसी भी ट्रैक्ट लेख या सम्मति में कोई भी मेरी दृष्टि से बाधा रहा हुआ कटु व अप्रिय शब्द हो उसे फौरन निकाल देना। यह उक्त अनुनय श्री पण्डित अजितकुमार जी ने सहपं स्वीकार कर लिया है। इस लिये बहुधा ट्रैक्ट वर्गोदय में वह बात न रहेगी फिर भी मनुष्य प्रकृतिस कदाचित् कहीं वह बात रह गई हो तो उसे स्वाभाविक परिणति न समझ कर क्षमाभाव से सहन करने की दृष्टि रखेंगे तथा मदज्जन्य भी वैसी बात हो तो उसे भी मैत्रीय सम्बन्ध से दृष्टिगत करेंगे। कारण कि मैत्रीय भाव हितकर पथ्यरूप ही होता है।

सत्काय का उत्साह— श्री बन्वई समाज की तरफ से जो आपकी शंकाओं के निमाजने का प्रकृत विषय उपस्थित किया गया है वह साधर्म्य संबन्ध से स्थितिकरण सन्त्यक्त्वांग का विषय है तथा प्रभावना का भी विषय है। अतः इसके विषय में आप कुछ भी विपरीत भाव न लाकर अपने धवला-सम्पादन के कार्य में किसी भी प्रकार ओदासिन्य-जन्य शैथिल्य भाव न लायें। बल्कि उस कार्य में विशेष उत्साह और दिलचस्पी हासिल कर उसे यथा शक्ति अवश्य सम्पादन करें। श्रीबन्वई दि० जैन समाज ने आपके पाजोशन (सम्मान) को गिराने की दृष्टि से यह कार्य नहीं किया है। किन्तु आपके प्रति सद्भावना की दृष्टि को लेकर यह आपकी मन्त्रव्यरूप शंका मार्जन का कारण उपस्थित किया है। ऐसी मर्मभेदी मार्मिक शंकाओं का उत्थान आप सरीखे विद्वानों के आश्रय बिना होता भी कैसे ? वह भविष्य में शायद न भी हो ऐसे सवाशय को लेकर आपका जो यह शंका रूप कार्य होवे तो उसे बन्वई

समाज हीन दृष्टि से नहीं देखती। किन्तु उस शंका मार्ग का मार्जन कर निसर्ग शुद्ध सिद्धांत को उसी निसर्ग शुद्धता के रूप में स्थिर चाहती है। इसी मुख्य अभिप्राय को लेकर यह कार्य अति आवश्यक समझकर बम्बई समाज ने अपने हाथ में लिया है और इसका अचूक कारणों से इसे निर्बाह भी करना पड़ा है। समाज के इसी पवित्र उद्देश को लक्ष्य में रखकर आप अवश्य ही सच्चे दिल से समाज के इस कार्य को सहायता करेंगे और अपने सम्पादकीय सुन्दर और अनिर्दोष कार्य में दृढ़ उत्साही ही रहेंगे। तथा शंकाओं का समाधान होने से लेखों द्वारा अपने शुद्ध स्वाभाविक सरल हृदय का परिचय भी अवश्य देंगे। जिससे कि विश्वसनीय विषय को लेकर आप समाज के विश्वास पात्र बने। जो कि स्वपर कल्याण का उत्तम भ्रंश संवद्ध समार्ग है।

मुख्य सहायक और उनके कार्यकी सच्ची हकीकत और उनके प्रति माधुशब्द-सद्भाव

श्री बम्बई दिगम्बर जैन समाज नं श्री प्रोफेसर हीरालाल जी के मन्तव्यों के समाधान का जो भ्रष्ट कार्य सम्पादन किया है उसमें मुख्यक सहायक दृष्टि से विचार किया जाय तो उसका भ्रम भीमान् भाईनिर-जनलाल जी लुर्जा वाले को है। कारण कि और जो सहायक वर्ग है वह सर्व इन्हीं महापुरुष के उद्योग परिभ्रम और सच्ची अन्ध का परिणाम है। इस कार्य के लिये इन्हीं ने स्थानीय परिष्ठितों को सम्मत किया और समाज के मुख्य कार्यकर्ताओं को समाज के इस कार्य को समझा कर उनका सहयोग इस के लिये मिलाया तथा-ट्रैक्ट प्रकाशन की साधन जो जो द्रव्य सम्पादन, पत्र व्यवहार-पैम्फलेट प्रकाशित करा कर योग्य स्थानों पर उचित समय पर भिजवाने

आदि के जो कुछ भी मुख्य साधन सामग्री है उसके मुख्य बिधाता ये ही हैं। जबसे बम्बई समाज द्वारा यह कार्य प्रारम्भ हुआ है तब से तथा उसके पहले भी सतत अपने गृह सम्बन्धी कार्यों को गौण कर इसी कार्य के लिये सतत चिन्तापूर्वक अपने तन मन को समर्पित कर दिया है। इस कार्य के सम्पादन की परिसमाप्ति किस तरह से जल्दी हो इस बातके अत्यन्त विचार और कार्य संलग्नता में अपनी तबीयत का भी विचार न करके बुलार की हाजत में भी बराबर इनका उद्योग सतत प्रवर्तित हो रहा है-समाज के पूज्य त्यागियों को, विद्यार्थियों को, और पञ्चायतों को तथा समाज के मुखियाओं को शंका-समाधान के ट्रैक्ट और सम्मतियां मंगाने के पत्र व्यवहारमें इन्हीं का मुख्य हाथ रहा है। तथा अभी तक इस कार्य के साधन जो कुछ भी हैं उनको जुटाने के लिये जी जान से इनका सर्व व्यवस्था पूर्वक उद्योग और परिभ्रम चालू ही है इस लिए इनको जितना साधुवाद प्रयुक्त किया जाय उतना थोड़ा है।

मेरी दृष्टि में तो ये पुरुष आज बम्बई में न होते तो शायद ही इस कार्य का आयोजन बम्बई समाज द्वारा होता। इनमें एक और भी बड़ा गुण है कि जो किसी भी कार्य को करते हैं वे अपना नाम न रख कर ही अपना कर्तव्य समझ करके ही करते हैं। तथा धार्मिक सामाजिक कार्य में ये इतने लक्ष्मी रहते हैं कि अपने मानापमान का भी कुछ खयाल नहीं करते। ये अपने कार्यमें हमेशा श्रीमान् सेठ सुन्दर लाल जी प्रधान मुनीम फर्म सेठ जुहाकराम जी मूल-चन्द जी से तथा मुक्त से और परिष्ठित चक्रवर्ती जी रोहतक और परिष्ठित चक्रवर्ती जी मिड, सेठ फकीर भाई जी लाला पोस्तीलाल जी, आदिसे सम्मति लेकर

कार्य करते हैं। इनकी इस शिक्षाचरणी को यहाँ का समाज तथा कार्यकर्ता गण बड़ी आदर की दृष्टि से देखते हैं।

इस मुख्य कार्य के धार्मिक आदि साधनों में इनका सहयोग जितना सेठ सुन्दरलाल जी साहब मुन्शी तथा पं० लक्ष्मणदास जी रोहतक और सेठ फकीर भाई ने दिया है उतना मुझ से नहीं बना है मैं तो प्रायः मुख्यतया अन्य विद्वानों की तरह ट्रैक्ट लिखने के कार्य में ही लगा रहा हूँ। इस लिये इनके सहयोग देने वाले ये तीन महानुभाव ही विशेष साधुवाद के पात्र हैं।

तथा मुख्यतया वे महानुभाव साधुवाद के पात्र हैं दि—मिनने अपना इच्छा इस कार्य के लिये प्रदान किया है। और जिन्होंने मन, वचन और कर्म से इस कार्य में सहयोग दिया है वे भी उस साधुवाद के अनुगत हैं। सब से मुख्य साधुवाद तो इस बम्बई समाजको है जिसकी वृत्तधाया में यह सत्कार्य सम्पादन हुआ है।

मेरे द्वारा ट्रैक्ट लिखनेके कार्य में मुख्य प्रेरक

इस शांका समाधान विषयक मेरे ट्रैक्ट में श्री ठा. लाल जी फतेपुर और श्रीमान भाई तनमुखलाल जी अला व श्रीमान भाई निरञ्जनलाल जी लुर्जा की सलाह प्रेरणा रही है उसी का यह प्रतिफल है कि

बीमारी को हासत में भी इसके लिये मैं कम हो गया अतः इनकी प्रेरणा का सच्चे दिल से मैं स्वागत करता हूँ।

प्रस्तावना के सहयोगी महायक

यह प्रस्तावना जिस रूप में इस समय तैयार हुई है उसका सहयोग भेष कुल भीचिरजीवि पुत्र लक्ष्मीचन्द्र को है अतः इस कार्य में यह सत्नेह प्रेक्ष के सिवाय और क्या हो सकता है।

कार्य त्रुटि के दृष्टिकोण का विचार

प्रथम पुस्तक सम्पादन का कार्य ही एक महान कार्य है उसमें भी शांका समाधान का जो धार्मिक पवित्र कार्य है वह कितने महत्त्व का कार्य है उसका विचाररशील विवेकी महानुभाव ही अन्दाजा कर सकते हैं। ऐसे महान कार्य में मनुष्य-प्रवृत्ति से अनेक त्रुटियों का होना सम्भवित है तथापि उन त्रुटियों को दूर करने के लिये अपनी शक्ति के अनुसार भरसक साहाय्य शक्तियों को लेकर प्रयत्न किया है फिर भी उस अपनी प्रकृति निसर्गता से उनका रह जाना सम्भव है उसके लिये विवेकी पुरुषों द्वारा जो कर्तव्य निश्चित है उसका मैं सहर्ष स्वागत करूँगा। क्योंकि वह भी तो प्रकृत मनुष्य कार्य है।

रामप्रसाद जैन शास्त्री बम्बई
सम्पादक—जैन सिद्धान्त वर्ष



मेरे भी दो चा राज

भीमान बाबू हीराकास जी एम० ए० संस्कृत प्रोफेसर वेडवर्ड कॉलेज (वर्तमान-मौरिस कॉलेज जगपुर) ने जो अपने विचार भारतीय प्राक्य सम्मेलन बनारस में गत वर्ष प्रगट किये थे जिनको बाद में आपने ट्रैक्ट रूप में प्रकाशित भी कराया । उसके विचारणार्थ बम्बई दिगम्बर जैन पंचायत ने जो कार्यवाही की उसके फलस्वरूप यह ग्रंथ (द्वितीय अंश) आपके करकमलों में है ।

संयोग से इस ग्रन्थ का प्रकाशन मेरे मुमुर्द किया गया । मैंने इसको एक सामाजिक सेवा का अंग समझकर मुद्रण (छापने) के लिये ले लिया । अतएव इसके छापने में कोई व्यापारिक नीति नहीं अपनाई गई । तदनुसार इस विषय में जो कुछ त्याग किया जा सकता था किया, किन्तु इसके प्रकाशन में आशाहीन विलम्ब हुआ उसके अनेक कारण रहे ।

१-यथेष्ट सुयोग्य कम्पोजीटर न मिल सके ।

२-बीच बीच में अगज आदि की दूट रही ।

तीसरा सबसे प्रबल कारण कम्पोज होने योग्य प्रेस कम्पी का न होना रहा । जिस प्रकार वस्तुत्व एक कला है वह चाहे जिस व्यक्ति को प्राप्त नहीं होती । लाखों व्यक्तियों में से कुछ एक मनुष्य ही वक्ता (व्याख्यानदाता) हुआ करते हैं । ठीक इसी प्रकार लेखन भी एक कला है जो कि हर एक शिक्षित व्यक्ति के हाथ नहीं लगती । यह निबन्ध संसार के इतर विद्वानों के समान हमारे दिगम्बर जैन विद्वानों पर भी लागू है जिसका मुझे बहुत कुछ अनुभव इस पुस्तक के छापने में हुआ है ।

अधिकारा विद्वानों की युक्तियां तथा आगम-प्रमाण बहुत अच्छे होते हुए भी इनका वाक्यविन्यास विशुद्धकृत, अव्यवस्थित, पुनरुक्तपूर्ण तथा चैतम्ब, जालित्य शून्य भाषा से पूर्ण था, वाक्यों का जोड़-तोड़ कदां होना चाहिये इस पर ध्यान नहीं दिया गया था । कुछ के अक्षर सुवाक्य न थे और २-१ कहे लम्बे लेख ऐसे भी थे जिनमें भाषा सम्बन्धी त्रुटियां पद-पदपर थीं । कुछ महातुभाषोंकी मातृभाषा हिन्दी न होने के कारण त्रुटियां थीं । यदि इन लेखों को ज्योंका त्यों छाप दिया जाता तब तो यह ग्रन्थ समाज के लिये लाभप्रद न होता तथा वे विद्वान भी जनता में उपहासास्पद होते । इस कमी को दूर करने में मुझे अकेले ही जुटना पड़ा । दुर्भाग्य से मुझे वहां पर किसी अन्य व्यक्ति का सहयोग न मिल सका । चूंकि यह भार मैं ले चुका था और मुझे यह उस समय ज्ञात न था कि मुझे प्रेस कम्पी के लिये भी असीम श्रम करना पड़ेगा, अपना उत्तरदायित्व निभाने के लिये मुझे अपने अन्य कार्य भी छोड़ देने पड़े । अंग्रेजी (Only English) की ऐफ० ए० परीक्षा देने की तयारी कर रहा था उसको छोड़ दिया, पता नहीं उसके लिये मुझको अबसर फिर मिल सकेगा या नहीं । अपने तथा बालबचपों के स्वास्थ्य की ओर भी उपेक्षित सा रहा एवं इस पुस्तक के छापने में अपने कुछ स्थायी प्राहकों की भी उपेक्षा करनी पड़ी ।

फिर भी समय की कमी तथा स्वास्थ्य (मस्तिष्क) की गिरावट एवं भीमान साहब भिरंजनसाहब जी की शीघ्र प्रकाशित कर देने के लिये तीव्र प्रेरणा रूप

आने वाले मासः दैनिक पत्रों के कारण मैं अपने एक कार्य में बधेच्छ सफल नहीं हो पाया। संभव है तीन तीन बार प्रक संशोधन करने पर भी अशुद्धियाँ रह गई होंगी। यह अपनी परिस्थिति स्पष्ट करने के लिये अपनी स्थिति पाठकों के समक्ष रखी है। पाठक महानुभाव मेरी विवशता का अनुभव कर त्रुटियों के लिये क्षमा करेंगे ऐसी आशा है।

लेखों को सुधारते समय लेखक क मूलभाव की ओर ध्यान रक्खा गया और इसी कारण शक्तिभर उनके भाव में परिवर्तन नहीं होने दिया गया फिर भी प्रभावशाली कहीं कुछ हो गया हो तो लेखक महानुभावों से क्षमा याचना है वे मेरी नीयत पर कोई अविराज न करें।

मैं अनेक कारणों से बाधित होकर इस समय ग्रन्थ को शीघ्र न छाप सका इसका सबसे अधिक कष्ट श्रीमान ला० निरंजनलाल जी बम्बई वालों को उठाना पड़ा क्योंकि मुझे जहाँ तक ज्ञात है आपके तथा श्रीमान पण्डित रामप्रसाद जी शास्त्री के अथक उद्योग से इस ग्रन्थ के प्रकाशन के लिये दिगम्बर जैन पञ्चायत बम्बई तयार हुई और स्थान स्थान से प्रो० हीरालाल जी के ट्रैक्ट का प्रतिवाद तथा उस पर सम्मति मंगाने के लिये आप लोगों को ही पर्याप्त श्रम करना पड़ा। (चूँकि मैं बम्बई से बहुत दूर हूँ अतः नहीं जान सका कि इस कार्य में प्रमुख भाग और किन सम्बन्धोंने लिखा है अतः जिनका नाम-उल्लेख करना रह गया हो वे मेरी अनभिज्ञता का लयाल करके क्षमा करें। मेरे साथ पत्र-व्यवहार उक्त दोनों सज्जनों का ही होता रहा अतः मैं इस कार्यका मूल इनको ही समझता हूँ) किन्तु बीर शासन महोत्सव फलकता से लौटते हुए श्रीमान पण्डित रामप्रसाद जी शास्त्री

शास्त्र जी पर इतने बीमार हुए कि अब तक आप स्वास्थ लाभ न कर सके। (श्रीजिनेन्द्र जी की शक्ति आपको शीघ्र स्वस्थ बनावे) अतः ला० निरंजनलाल जी पर ही समस्त भार आ पड़ा। लेखक महानुभाव अपने लेखों को पुस्तकरूप में शीघ्र देखना चाहते थे उधर कठवशताभी प्रकाशित ग्रन्थ देखने के लिये तीव्र अभिलाषी थे और वे सब के सब ला० निरंजन लाल जी को ही लिखते व कहते थे अत एव ला० निरंजनलाल जी प्रायः ग्रन्थ को शीघ्र समाप्त कर देनेकी प्रेरणा वाले पत्र मुझे प्रतिदिन भेजते रहते थे।

मैं उनके पत्रों में बहुत घबराता था क्योंकि मैं अनेक प्रयत्न करने पर भी छपाई की रफ्तार न बढ़ा सका इसका विशेष कारण युद्ध समय होने के कारण मनुष्य की दुर्लभता है। अतः मैं लाला निरंजन लाल जी के पत्रों से भुंभला जाता था और उत्तर में उनकी कड़े शब्द भी लिख देता था किन्तु धर्म-अनुयायक उन्हीं ने कटुता अनुभव न की इसका मैं आभारी हूँ।

अनेक लेखों में कुछ कटु शब्दों का प्रयोग था उसमें मैंने शक्तिभर परिवर्तन किया है किन्तु फिर भी कुछ रह गया हो तो सम्पादक जी, प्रकाशक जी तथा प्रोफेसर हीरालाल जी मुझे क्षमा करें।

यह ग्रन्थ वर्तमान समय में तथा विशेषकर भविष्य में दिगम्बर जैनसमाज के स्थितिकरण को बहुत उपयोगी होगा ऐसी आशा है। अत एव इस ग्रन्थ के प्रकाशन में त्रिन महानुभावों ने सहयोग दिया है वे सब धन्यवाद के पात्र हैं।

अजितकुमार जैन शास्त्री

अकलंक प्रेस, मुक्तान सिटी



विश्वचन्द्रा श्री १००८ भगवान महावीर के मुक्त हो जाने पर उनका शासनभार संसारविरक्त, जगत-द्वितीयोत्पत्ति विद्वान् आचार्य महाराजों ने ऊपर आया। उन्होंने विश्व कल्याण की पवित्र भावना में न सिर्फ जैन शासन की रक्षा की अपितु उसका बहुत भारी व्यापक प्रचार भी किया। इसके सिवाय उन्होंने भविष्य में जैनसिद्धान्त को सुरक्षित रखने के दूरदर्शी विचार में अनेक अमूल्य ग्रन्थरत्नों की रचना भी की जिनके कारण आज भी भगवान महावीर का दिव्य उपदेश हमको पढ़ने सुनने को मिलता है।

वर्षादि बारहवर्षी अकाल के कारण जैन संघ के दो भाग हो गये थे और विपदग्रस्त साधुओं का शिष्यजाचार फैलने लगा था परन्तु भार्योदय से उस आड़े समय में भी कुन्दाचार्य जैने अलौकिक तपस्वी प्रगट हुए उन्होंने भगवान महावीर के शासन की बागडार सम्भाली और फैलने वाले शिष्यजाचार को बड़ी कड़ाई से रोककर प्राचीन जैन-संस्कृति की रक्षा की। श्री कुन्दाचार्य का तपोव्रत जहाँ असाधारण था जिसके कारण वे विदेह क्षेत्र में देवी महावता में पट्टाचक्र भगवान सोमेश्वर स्वामी का साक्षात् दर्शन कर आये थे, वहीं उनका वैज्ञानिक तथा आध्यात्मिक ज्ञान महारा

भी बहुत विशाल था, उनकी वाणी में अतिशय वा और उनकी लेखनी अद्भुत शक्ति रखती थी, इसी कारण उन्होंने जिन 'समयसार' आदि ग्रन्थों की रचना की है वे अनुपम हैं। उनकी इस अनुपम रचना का अनुमान इसी पर से लगाया जा सकता है कि जिस काठियावाड़ प्रान्त में आज से २०-२५ वर्ष पहले श्री कुन्दाचार्य को मानने वाला एक भी व्यक्ति नहीं था उसी काठियावाड़ में लोकजनी श्रद्धा द्वारा समयसार का प्रचलन सुनकर हजारों व्यक्ति श्री कुन्दाचार्य के भक्त बन गये हैं।

किन्तु यह भी कुछ समय का प्रभाव है कि उन ही कुन्दाचार्य को आज प्रोफेसर हीराकाज जी कर्मसिद्धान्त से अनभिज्ञ, असत्यवादी, अमान्य-पूर्ण बतलाने का माहम कर रहे हैं।

हम नहीं चाहते कि विगम्बर जैन समाज के शान्त वातावरण को अशांत बनाया जाय किन्तु जैन समाजका दुर्भाग्य है जब कि भवकल्प के सम्पादनसे यश प्राप्त करने वाले प्रो० हीराकाज जी ने बदकंठा-गम, भगवती आराधना आदि पुरातन आर्य ग्रंथों की माफ़ी देकर विगम्बर जैन आन्त्या की मूल मान्यताओं पर ही कुठाराघात किया तब वातावरण शान्त कब रह सकता था।

'यदि महाप्रवो साधु वक्ताविरक्त होते हों, केवल

भगवान मोहन करते हों और बीपर्बाव से भी मुक्ति प्राप्त होती हो तो फिर दिगम्बर जैन ग्रन्थों, दिगम्बर जैन मन्दिरों, दिगम्बर जैन दीवों तथा दिगम्बर जैन सम्प्रदाय की पूजक आवश्यकता ही नहीं रहती फिर वो रवेवाम्बरी सिद्धान्त को ही अनुसृत्य जैन शासन मानना चाहिये।” इस विचार ने बम्बई दि० जैन पंचायत का मौन भंग किया और उसे इस दिशा में कुछ अपना कर्तव्य निभाने का संकेत किया।

उदयपुर को कुछ हलचल हुई और जो कुछ उसका परिणाम हुआ वह आपके हाथों में है। मैं दिगम्बर जैन समाज का या बम्बई दिगम्बर जैन समाज का एक तुच्छ सेवक हूँ किन्तु उस सेवक के आगे भी मैं कुछ सेवा इस विषय में नहीं कर पाया हूँ। वह महान कार्य तो भीमान पं० रामप्रसाद जी शम्भू, भाई निरंजनलाल जी त्रिपाठी बाबू, पण्डित लक्ष्मणराय जी रोहतक, सेठ फकीरचन्द भाई आदि सम्मनों के उद्योग का मधुर फल है। अतः ये महाबुभाव धन्यवाद के पात्र हैं।

इसके सिवाय जिन जिन पूज्य त्वागियों ने, वि-

हनों ने और पंचायतों ने अपने कर्तव्य का पालन करके प्रोफेसर जी के लेख के 'निराकरण' में अपने बुद्धिपूर्वक लेख और सम्मतिवां भेजकर बम्बई पंचायत को अनुगृहीत किया है उनको भी धन्यवाद है। तथा अन्य सम्मन भी जो इस शुभ कार्य में प्रत्यक्ष अप्रत्यक्ष रूप से सहायक हुए हैं। वे भी धन्यवाद के पात्र हैं।

इसको हृदय और मन्तोष है कि हमारा यह प्रयत्न दिगम्बर जैन आम्नाय की वर्तमान में तथा भविष्य में रक्षा का एक अद्भुत अवलम्बन प्रमायित होगा

इस जैसे हीन शक्ति, अल्पशक्ति के कार्य त्रुटिरहित नहीं हो सकने भयः इस कार्य में जो त्रुटि किसी सम्मन को दीम्ब पढ़ें वे समा करें। यह कार्य शुभ सद्भावना से किया गया है। अतः प्रत्येक व्यक्ति इसको उसी स्वागत से अवलोकन करे।

विनीतः—

सुन्दरलालजैन

कमै—जुहाडमन मूलचन्द

सम्भाषित—दिगम्बर जैन पंचायत बम्बई।



आवृत्ति

अगस्तवन्दनीय भी १००० भगवान महावीर का जीवमात्र को शान्ति सुख का दाता बाह्यम अन्तरिम भुवकेवली आचार्य जी भद्रबाहुके समस्त एक धारा के रूप में प्रवाहित होता रहा तब तक जैन संघ के भीतर न कोई विचार आया और न उसमें कोई संघ भेद ही हो पाया। परन्तु उसी समय भारतवर्ष के उत्तर प्रांत में बारह वर्षका लगातार घोर अकाल पड़ा

उस दुष्काल के कारण उत्तर प्रांतीय जैन साधुओं में परिस्थिति बरा शिथिलताचार पर कर गया वे लग्ना परीवह-विश्रम्यी न रह सके अतएव नन्वेरा को छोड़ कर कौपीन (लंगोटी) पहनने लगे तथा भावकों के पर से भोजन मांगकर खाने के लिये लक्ष्मी के पात्र भी अपने पास रखने लगे। अतएव जैनसाधु का स्वतन्त्र, स्वाधीन, सिद्धातिरूप आदरां नन्वेरा उन

में कुछ होगा। वे अपने विद्वत् चेर के होने काही बन गये कि अन्धकार चले जाने पर भी अन्धकार विद्वत्त्व और शिबिज—आचार—उनसे न जा सके।

परन्तु दक्षिण प्रान्तीय जैनसाधु अपनी पुरातन निर्मल साधुचर्या का पालन करते रहे। जैन साधुओं के इसी शिबिलाचार और स्वच्छ—आचार (नग्न रूप) के कारण अर्थात् जैनसंघ के विगम्बर, रवेताम्बर रूप में ऐसे दो खंड हुए कि वे फिर मिलकर कभी एक रूप न हो सके। विगम्बर आम्नाथ की रक्षा भी कुम्भकुन्दाचार्य ने बहुत उत्तम दृष्टि में की। वे एक आदर्श बीतरागा विद्वान साधु थे। आध्यात्मिक विषय के प्रकांड पण्डित थे। उनके मन, बचन काव्य में बीतरागाता एक रस रूपसे बहती थी। बिबेह संत में दिव्य सदाशता से जाकर उन्होंने भी १००= नीर्थकर सीमन्धर भामी के साक्षात् दर्शन किये थे। उनकी अनुमत् प्रभावशालिनी बीतरागाता व उनकी आज तेजपूर्ण बाणी ने हम आज भी उनके रचे हुए समयसार आदि ग्रन्थ रत्नों में अमोघ प्रोत पाते हैं। वे विक्रम संवत् की प्रथम शताब्दी में हुए हैं।

किन्तु उनमें भी पहले भीतर मनाचार्य के शिष्य श्री पुण्यवन्न, भूतबलि आचार्य ने वदम्बरहागम की रचना की थी जिसकी विशाल टीकाएं धवल, जय-धवल, महाधवल हैं। रवेताम्बरीय आगम ग्रन्थों की रचना इसमें लगभग ५०० वर्ष पीछे बीर ६० ६८० में हुई थी।

कल्पि विगम्बर रवेताम्बर संघों का भिक्षा देने के लिये वापनीय संघ कायम हुआ था जिसके साधु जन रहते थे किन्तु रवेताम्बरीय सिद्धान्तों को मानने

वे परन्तु वापनीय संघ भी रवेताम्बरीय संघों के मतभेद की गहरी खाई को न पाट सके।

सत्त्वमाना बादशाह का जमाना भारतवर्ष के लिये अन्धकार का था उसके बाद जब १६ वीं शताब्दी में भारत का राजा—मिर्जित सरदार ने सम्भाषा, ज्ञान की खोज फिर से बनाने लगी किन्तु इस शिबि में पश्चिमी रंग छा गया पुरातन संस्कृति अनभिधानी जैसी हो गई। अस्तु।

बीसवीं शताब्दी में पश्चात्त्य शिक्षा से शिक्षित भारतीय विद्वानों ने भारतीय प्राचीन संस्कृति को नवीनता में ढालने का बेल किया। तदनुसार १९-२० वर्ष पहले जैन संस्कृति को भी बदल करने का प्रयत्न किया गया। भर्गीय बाबू जैन संस्कृति की मंठी बी० ए० जेल से मुक्त होकर जब बम्बई आये थे तब उनमें विगम्बर रवेताम्बर सम्प्रदायों को एक कर देने के विचार से दार्जिन के विश्वसपाद सिद्धांत का आदर्श मानकर अटपटे सिद्धांत गड़ कर (जैसे—भगवान् ऋषभदेव में ज्ञान का विकास कम था वह कमरा: बढ़ते बढ़ते अन्तिम तीर्थंकर भगवान् महावीर में अधिक विकसित हुआ और भगवान् महावीर में भी अधिक ज्ञान आज कल के शिक्षित लोगों में है आदि।) फिर कीर्तुकि, गूढमुक्ति आदि पर कुतर्कता पूर्ण लेख लिखे। उस समय एक सत्योद्घ पत्र इन ही विचारों के प्रचार के लिये निकाला गया था किन्तु विगम्बर जैन विद्वानों ने उन लेखों, ट्रैक्टों का बुद्धिगुप्त निराकरण किया अतः सेठी जी अपने प्रयत्न में असफल रहे।

अब २६-३० वर्ष पीछे उसी से मिलता जुलता प्रयत्न हमारे प्रोफेसर हीरासाह जी एम० ए० ने (जो कि पहले पेडवर्ध कावेज अमरावती में संस्कृत के अध्यापक थे अब मीरेस कावेज नागपुर में

संस्कृत के टीपार हैं अनेक प्राकृत जैन ग्रन्थों का सम्पादन करने के कारण नागपुर युनिवर्सिटी ने आपको 'डाक्टर' की उपाधि दी है) किया है। आपने भी खीमुक्ति, समन्धमुक्ति, केवलीकवलाहारका समर्थन किया है और वह समर्थन दिगम्बर जैन ग्रंथों के आधार से करना चाहा है। वे अपने कार्य में कितने असफल गृह हैं यह बात तो यह प्रथम कृतलाभोगा किन्तु हम तो पाठकों को यहां पर स्पष्ट रूप से यह कृतज्ञान चाहते हैं कि प्रोफेसर साहब के मनमें यह विचार बहुत पहले से थे और उन विचारों को आधार बनाने के लिये उन्होंने पटम्बर आगम की कवला टीका को अपना हथियार बनाना चाहा। दिगम्बर जैन सिद्धांत को निर्मूल करने के लिये आपने ६३ वें सूत्र को बदल डालने की कोशिश की और उसके हिन्दी भाषा के अर्थ का अनर्थ कर हा डाला।

शुक्ति प्रोफेसर साहब कवला ग्रन्थ का सम्पादन कर रहे हैं। यद्यपि इस ग्रन्थ की भाषा टीका परिहृत लोग करते हैं परन्तु वह आपका देखरेख में ही छपता है और ग्रन्थ पर आपका ही नाम अंकित रहता है तथा ६३ वें सूत्रकी भाषा टीका एवं टिप्पणी की तरह कुछ रसोबल आप करना चाहें तो वह भी कर देते हैं। इसके सिवाय आपने अन्य ग्रंथों का भी सम्पादन किया है अतएव जैनजनता आपके वाक्यों को अजुनकास जी सेंटी की अपेक्षा बजन देती है। इसके अतिरिक्त आपने 'भारतीय प्राकृत सम्मेलन काशा' के गत अधिवेशन (मन् १६४४) में जो "क्या *विशेषज्ञ* श्वेताम्बर मिथ्यान्तोंमें मौलिक भेद हैं ?" शीर्षक लेख पढ़कर सुनाया

और जिसे बाद में आपने ट्रैक्ट रूप में प्रकाशित भी कराया उसमें आपने सर्वोच्च एवं आद्य दिगम्बर जैन सिद्धान्त ग्रन्थ पटम्बरआगम के तथा भगवती आराधना आदि अन्य प्राचीन प्रामाणिक ग्रन्थों के प्रमाण देकर खीमुक्ति, केवली कवलाहार एवं महा-मतां साधु का कवलाहार रूप तथा उस सम्प्रदाय वेशसे मुक्ति भी सिद्ध करने का कृत किया जिन बातों का (खीमुक्ति, समन्धमुक्ति, केवली कवलाहार, साधु का कवला परिधान) हमारे पूर्व, प्राचीन, प्रख्यात विद्वान् आचार्यों श्री पुष्पदन्त भूतबली, श्री कुन्दकुन्द समन्त-भद्र, अक्षतकन्देव, विद्यानन्द, पूरुषपाद आदि ने अनेक मनोहर युक्तियों में 'निरर्थक' करके प्राचीन जैन संस्कृति की रक्षा की है धनता के सम्पादक महानु-भाव उसके विरुद्ध आज क्या कुछ लिख, कह रहे हैं इस बात में जैन जनता क्षुब्ध हो गई। क्योंकि यदि प्रोफेसर जी के सिद्धान्त सचमुच पूर्ण सत्य हैं तब तो दिगम्बर जैन ग्रन्थ, दिगम्बर जैन मन्दिर एवं दिगम्बर जैन मान्यता स्वार्थ, निस्सार, निष्प्रयोजन टहरती है फिर तो यों कहना चाहिये श्री सर्वमभद्र आदि आचार्यों तथा श्री टोडरमल जी आदि विद्वानों से बढ़कर स्वोर्जा विद्वान् प्रोफेसर हीरालाल जी हुए। इन बातों की ओर बम्बई दिगम्बर जैन पंचायत का ध्यान आकर्षित हुआ।

बम्बई जिस प्रकार भारतवर्ष में व्यापार का केंद्र है उसी प्रकार दिगम्बर जैन समाज का भी केंद्र समझना चाहिये क्योंकि दि० जैन समाज के नेता सेंट जुहाडमल मूलचंद (श्रीमान सेंट भागचंद्र जी सोनी) मन्त्रपंचंद्र हुकुमचंद्र (सरमेट हुकुमचंद्र जी) सचपति सेंट चामोलाल पूनमचंद आदि की दुकानें बम्बई में मौजूद हैं उनके मुनीब सेंट सुंदरलाल जी

जैसे महानुभाव बम्बई में निवास करते हैं। अतः दिगम्बर जैन संस्कृति की अड़ पर प्रोफेसर होराज्ञाजी की द्वारा कुठाराघात होते देख बम्बई पंचायत में बहुत खोब फैला। उस खोब को शांत करने के लिये तथा इस विषय का अकस्मिक निष्णय कराने के लिये उसने निरन्तर किया।

तदनुसार बम्बई पंचायत की ओर से प्रोफेसर साहब के उक्त लेख की प्रतिनिधि छपाकर विचार-व्यापक दिगम्बर जैन विद्वानों, पूज्य आचार्यों, मुनियों, आर्यिक्रमों, पेलकों, क्षुल्लकों, ब्रह्मचारियों तथा अन्य संसार-विरक्त महानुभावों के पास भेजी गई और उक्त लेख के युक्तिपूर्वक निराकरण के लिये प्रेरणा की गई। तथा प्रत्येक दिगम्बर जैन पंचायत से प्रोफेसर साहब के विचारों के विषय में सम्मति मंगाई गई।

इस है कि दिगम्बर जैन समाज के पूज्य संयमी संघ ने तथा विद्वानों ने परिस्थिति को गम्भीरताका अनुभव करके बम्बई पंचायत के अनुरोध को स्वीकार करके अपनी लेखनी उक्त विषय पर चलाई और पंचायतों ने अपनी सम्मतियां भेजी।

उनमें से श्रीमान पं० मन्मथलाल जी शास्त्री का लेख आठ अंशों के रूपमें पहले प्रकाशित हो चुका है। यह द्वितीय अंश आपके समक्ष है, तृतीय अंश जिसमें अन्य शेष पूज्य न्यायियों, विद्वानों के युक्तियुक्त लेख तथा पंचायतों की सम्मतियां संकलित हैं आपके सामने आने वाला है।

प्रोफेसर साहब के विचार

जनता आश्चर्य में है कि धवलराज के संपादक श्रीमान प्रोफेसर होराज्ञाजी ने जैन आर्य ग्रन्थों के बहिष्कृत अपनी विचार धारा किस प्रकार प्रगट की

है? परन्तु जो महानुभाव प्रोफेसर साहब के विचारों से परिचित थे उनको इस विषय में आश्चर्य नहीं हुआ।

प्रोफेसर साहब ने 'जैन इतिहास की पूर्व-पीठिका और हमारा अभ्युत्थान' शीर्षक एक पुस्तक लिखी है जिसके अन्तिम भागमें आपने जैनसमाज के विषय में अपने विचार प्रगट किये हैं। उन विचारोंमें प्रायः वे सब बातें हैं जो स्व० बा० अर्जुन लाल जी सेठी आदि ने प्रचार में लानी चाही थीं किन्तु आगम-विरुद्ध होने के कारण जैन समाज ने उन बातोंका जोरदार आवाज से विरोध किया था।

जो महानुभाव देखना चाहें वे उक्त पुस्तक के "समाज-संगठन" शीर्षक अन्तिम प्रकरण को पढ़ें। इस प्रकरणमें आपने विधवा-विवाह, जातिपांति भंग, दम्सा बीसा भेद छोप, वृद्धव्यवस्था छोप आदि बातों का खुला समर्थन किया है।

अतः प्रोफेसर साहबने जो कुछ लिखा है वह यों ही सहमा नहीं किन्तु डाला किन्तु अन्य सुधारकों के समान ही उन्होंने ने सब कुछ समझ भूल कर लिखा है अतएव प्रोफेसर साहब जहां जैन साहित्य सेवा की दृष्टि से आदर के पात्र हैं वहां आगम प्रतिकूल विचार प्रगट करने के कारण पर्याप्त आलोचना के भी पात्र हैं।

आशा है आप अपनी इस खरी आलोचना को धैर्य गाम्भीर्य के साथ अवलोकन और मनन करेंगे।

उस पुस्तकमें निम्नलिखित महानुभावों की सहायता प्राप्त हुई है।

(१) प्रथम ही जी १०८ आचार्य कुन्धुसागरजी महाराज के चरणों में शवराः मस्तक झुकाकर उन्हें काटिशः धन्यवाद है, आप पूज्य जी ने बम्बई दि०

जैन समाज के प्रति जो अपने उद्गार बताए हैं इसके लिये स्थानीय समाज आपकी पूर्ण श्रुती है आपने जो आशीर्वाद दिया है उसके लिये और भी बहुत आभारी है। आपने धर्म रक्षार्थ जो ट्रैक्ट लिखाकर भेजा है वह बहुत ही सराहनीय और आदरणीय है। श्री जिनेंद्रदेवसे यही प्रार्थना है कि श्री आचार्यमहाराज चिरायु हों और आपकी तपस्वियों दिन प्रतिदिन बढ़ती हुई समाज व धर्मक कल्याणका साधनरूप ही आपके प्रसाद से जो जैन समाज की प्रभावना हो रही है वह अक्षयनीय है। आपके अभिप्राय स्वर्ण-चरों में लिखने योग्य है।

(२) श्री १०८ बीरसागर जी, आदिसागर जी, कम्मविसागर जी, सुमतिसागर जी महाराज, श्री अजिका जी महाराज, श्री १०५ ऐलक जी महाराज, श्री १०५ स्वरूपचन्द जी, व श्री १०५ असरफोलाल जी महाराज धुन्लक, व १०५ धुन्लक जी महाराज सुरसिद्ध जी व श्री महारक जी देवेन्द्रकीर्ति जी महाराज व प्रवचार्थियों को भी कोटिशः धन्यवाद है आप भीमानों की तरफ से जो धर्मरक्षार्थ ट्रैक्ट तथा सम्मतिवां आई हैं वह सराहनीय तथा आदरणीय हैं। आशा है कि आप भीमान आगामी समयों पर धर्मरक्षार्थ हमको यथायोग्य सन्तुष्टि देते रहेंगे।

(३) श्री पं० गणेशप्रसाद जी वणी आदि उदासीन महोदयों को धन्यवाद है जिन्होंने स्थानीय समाज की इच्छा ट्रैक्ट, सम्मति द्वारा भेजकर पूरी की है इसके लिये हम आपके पूर्ण आभारी हैं।

(४) भीमान बादिगज देशरी पं० मन्मथलाल जी मुद्रेण न्यायालंकार के हम बहुत आभारी हैं। इन्होंने सबसे पहिले हमारी प्रार्थना पर लक्ष्य देकर महत्त्वशाली ट्रैक्ट लिखकर भेजा है। समाज धर्म

के प्रति आपके कितने योग्य परिणाम हैं सो ट्रैक्ट से मालूम हो जाता है इसके लिये आपको हार्दिक धन्यवाद है।

(५) पं० अजितकुमार जी मुखतान वालों के हम बहुत आभारी हैं जिन्होंने ट्रैक्ट द्वारा हमारे उत्साह को बढ़ाया है जो भी सराहनीय है। और निजी समय धर्म रक्षार्थ समझ कर इस ट्रैक्ट में बहुत लगाया है।

१००) पांच सौ हरिया जय करके भी जो प्रक संशोधन नहीं हो सकता था। वह आपने अमूल्य समय स्वयं करके ही किया है और ट्रैक्ट छापने में हर तरह की तकलीफों का सामना करते हुए सह्ये ट्रैक्ट को बहुत मुन्दरा के साथ छाप कर प्रकाशित किया है। इस लिये स्थानीय समाज आपकी बहुत आभारी है और कोटिशः धन्यवाद देती है।

(६) हम समूह रूप पं० पन्नालाल जी सोनी, पं० कम्मनलाल जी, पं० इन्द्रलाल जी व ओलाल जी, पं० स्वचन्द, पं० मुमरचन्द जी आदि महानुभावों को हार्दिक धन्यवाद देते हैं कि इन सज्जनों ने हमारी सूचना को मान देते हुए अपना समय इस कार्य में लगा कर जो ट्रैक्ट व लेख तथा सम्मति भेजकर हमारी समाज के उदाह को बढ़ाया है इस के लिये हम आप सब महानुभावों के पूर्ण आभारी हैं और आशा रखते हैं कि धर्मरक्षार्थ अपना विद्वत्ता व चमत्कार बराबर बताते हुए समाज सेवा चालू रखेंगे।

(७) हम सभी पंचायतियों को व इन महानुभावों को धन्यवाद देते हैं कि जिन्होंने स्थानीय समाज की सूचना पर लक्ष्य देकर निजी सम्मति व पंचायतों द्वारा सम्मति भेजी है इस लिये हम सबके

आधारी है। आशा है समय समय पर धार्मिक कार्य में इसी तरह सहयोग देंगे।

(८) श्रीमान सरसेठ हुकमचन्द जी साहब इन्कौर को धन्यवाद देते हैं कि आपने इस विषय में अपना अमूल्य समय निकाल कर कष्ट उठाते हुए हमको उत्साहित रखा है। समय समय पर आपकी ओर से पत्र, तार, टेलीफोन द्वारा नई-नई सूचना मिली है जिससे हम कार्य में पूरी मदद मिली है। आप समाज के कार्यों में तन मन धन से पूरेतया सहयोग देते हैं। बम्बई को दिगम्बर जैन समाज इसी बात को ध्यान में रखते हुए आपके प्रति पूर्ण आदरभाव रखती है। ट्रैक्टर के खर्च में आपने दो हजार रुपये की तार में मंजूरी दी थी जैसा पहलू समाज के कार्यों में प्रयोग हो चुका है। सहयोग तथा धार्मिक सहयोग के लिए धन्यवाद।

(९) रायबहादुर मर भेंठ भागचन्द जी सोनी अजमेर निवासी का जितना धन्यवाद दिया जाय थोड़ा है। सर भेंठ साहब ने इस विषय में जितना सहयोग रखा है वह सराहनीय है। शंकासमाधान के महत्वपूर्ण विषय में आपने जो उदारता बतलाई है वह बहुत ही सराहनीय है। आपने उत्तर में लिखा था कि असेम्बली की मीटिंग चालू होगी उस समय भा जल्द पहुँचूंगा। समाज समझे कि आपके कितने धार्मिक भाव हैं। आपकी देव, शास्त्र, गुरु की तरफ जितनी लगन है वह सराहनीय व धन्यवादार्ह है। प्रोफेसर हीरालालजी के विषय में स्थानीय समाज की तरफ से आपकी ही फर्म के नाम से पत्र-व्यवहार चालू है। श्री जी से प्रार्थना है कि हमारे समाज के ऐसे नररत्न महापुरुषों के परिणाम

धर्म प्रति दिन देने बढ़ते हुए धर्म रक्षार्थ हों।

(१०) हम रायसाहब 'मोतीलाल जी रानी काँटे' व्यापार निवासी को धन्यवाद देते हैं कि आपने शंकासमाधान के समय पर आने की सहर्ष स्वीकारता दी थी।

(११) हम स्थानीय दिगम्बर जैन समाज बम्बई को कोटिरा: धन्यवाद देते हैं कि जिसकी छत्र छाया में यह महान कार्य सुन्दर रूप से निर्बिघ्न रूप से समाप्त हुआ है। स्थानीय समाज ने जो यह कार्य किया है वह समयानुसार धर्मरक्षार्थ व देव शास्त्र गुरु के अवलोकन को दूर करने वाला है इस लिये उसे जितना धन्यवाद दिया जावे वह थोड़ा है। इस कार्य के चालू करने में पत्रों में ब्राइडेट सैकड़ों पत्र समाज के नाम प्रशंसात्मक रूप से विद्वानों के व पण्डितों के व मुनि महाराजों के आये हैं। स्थानीय समाज ने ट्रैक्टर छपाकर व शंकासमाधान करने के लिये समय समय पर पत्र-व्यवहार करके जो महान पुण्य कार्य किया है इसके लिये हम हार्दिक प्रशंसा करते हुए कोटिरा: धन्यवाद देते हैं और आशा करते हैं कि भविष्य में कभी हुएछावसर्पिणी काल के दोष से ऐसा समय आ पड़े तो निहट हो निःसंकोच रूप से न्याय मार्ग का अनुसरण करते हुए धर्मरक्षार्थ तन मन धन से अपना कर्तव्य पालन करने में कमी न रखेगी।

(१२) श्रीमान पं० रामचन्द्र जी साहब को बहुत ही हार्दिक धन्यवाद देते हैं जिन्होंने अपनी अस्थिता में भी रात दिन इस कार्य में बड़ा परिश्रम उठाया है और ट्रैक्टर का सम्पादन किया है। साथ में पं० उल्लसराय जी रोहतक निवासी का धन्यवाद है कि आपने जो इस कार्य में सहायता दी है वह

बहुत ही सराहनीय है। समाज ने आप लोगों की जिम्मेवारी पर यह काम छोड़ दिया था पर आप सज्जनों ने विशेषतः पं० रामप्रसाद जी साहब ने पं० जन्मवारी जी की सलाह के साथ बड़ी चतुरता के साथ चालूकर कार्य किया है यह सब भय आपको ही है। पं० रामप्रसाद जी साहबने बहुत कमजोर होने पर भी जो कार्य सम्पादन किया है इसके लिये वे विशेष धन्यवाद के पात्र हैं। श्री जी से प्रार्थना है कि आप शीघ्र नीरोग हों।

(१३) श्रीयुत मुन्दरलाल जी मुनीम, सेंट जुहाव मल जी मूलचन्द जी के हम बहुत आभारी हैं। जिन्होंने पंचायत की जिम्मेवारी का बड़ी योग्यता से सम्भाला है और बड़ी सुन्दरता, चातुर्य से इस महान कार्य को बहुत सरलता से निभाते हुए निर्विघ्न समाप्त किया है। आपकी प्रणाली बहुत ही मनमोहक चातुर्य पूर्वक है। हर तरह सब विचार रखते हुए सबको साथ में लेते हुए कार्य करने के परिणाम आप के बहुत ही सराहनीय हैं इस लिये आपको धन्यवाद है और आगामी धर्म रक्षार्थ ऐसे ही आप लोग जगन रक्षते हुए कार्य चलावेंगे ऐसी मुझे आशा है।

(१४) श्रीयुत भाई परमेश्वरीदास जी मेरठ वालों को हार्दिक धन्यवाद है कि आपसे ७००) मांगनी करनेपर आपने जरूरत पड़नेपर यह रकम ही क्या पूरी रकम तक देने के उद्गार बताये। आपने कहा—“धर्म कार्य रुकते नहीं, चालू करो।” इतनी छोटी

रकम होते हुए आपके परिणाम बड़े उदार रूप हैं। आपने धर्म के कार्य में एक साल में तीस हजार रुपये दिये है अतः बहुत ही प्रशंसा योग्य हैं। श्री जिनवर से प्रार्थना है कि आपके परिणाम दिन दूने धर्म रक्षार्थ बढ़ते रहें।

(१५) स्थानीय फकीरचन्द भाई को धन्यवाद है आप बहुत ही सरल परिणामी, दानी, सन्तोषी, को होने पर भी ब्रह्मचारी रहने वाले हैं तथा सामाजिक कार्यों में तन-मन-धन से हमेशा तैयार रहते हैं। स्थानीय गुलालबाड़ी के मन्दिर में आपकी बहुत देस रख रही है और इस ट्रैक्ट के सम्बन्ध में जिन किसी भाई को शंका थी उन सबके पास जाकर उन की शंका को दूर कर सबको एक सम्मिलित किया है यह परिभ्रम सराहनीय है।

(१६) अन्त में ट्रैक्ट छपाने के लिये निम्न की गई कमेटी के सदस्य पं० रामप्रसाद जी, पं० जन्मवारी जी, पं० मकसूनलाल जी मुन्नेला, पं० अजित-कुमार जी मुलतान और मैं (निरंजनलाल) उसमें से पूर्व चारों महानुभावों को पूर्ण धन्यवाद है कि आपकी चतुर मंता ने बहुत ही परिभ्रम करके यह ट्रैक्ट छपाया है।

भवदीय—

निरंजनलाल जैन खुर्जा वाला,

बम्बई

— x —



-: प्राक्कथन :-

दिगम्बर जैनधर्म में कुछ समयसे एक सुधारका-भास दल पैदा हो गया है उसके द्वारा मर्यादाओं अतिक्रम करने वाले सामान्यवाद ने इतने पैर फैला दिये हैं कि विशेषता को लिये हुए जो दिगम्बर जैन धर्म के मुख्य सिद्धान्त थे उनको उड़ाने के लिये अनेक साधनाधामों का आविष्कार किया है।

श्रीमान प्रोफेसर हीगलाल जी साहब ने जो 'शिवभूति और शिवाये' पुस्तक प्रकाशन की तथा 'जैन धर्म का विलुप्त इतिहास' और द्रव्यस्त्री को मोक्ष, मचेलक को मोक्ष और केवलो के भूत्व-ध्याम की वेशना' इन तीन मन्त्रियों को लेकर पत्रक का प्रकाशन तथा उनकी ऐसी ही चर्चा का समाचारपत्रों में होना वह सर्व विषय उनकी प्रवृत्ति का सामान्य-वाद की तरफ जाने की सूचना दे रही है। परन्तु इनके विषय में यह एक खास बात अवश्य ही ऐसी प्रतीत होती है कि इनके जो कुछ अपने अभिप्राय हैं वे ग्रंथों की भूमिका में नहीं रखकर उनमें अलग ही जुड़ी जुड़ी पुस्तकों, पत्रक तथा समाचार पत्रों में रखने हैं परन्तु रखने इस ढङ्ग में हैं कि उनको पढ़कर लोगों का अभिप्राय इनकी वृत्ति को सामान्यवाद की तरफ ले जाता है। परन्तु ये अपने मन्त्रियों को शंका का रूप देकर उनके समाधान के इच्छुक हैं। इससे इनकी प्रवृत्ति सामान्यवाद की तरफ चली ही गई हो यह निश्चय कोटि की बात नहीं है।

इसी बात को लेकर बम्बई समाज ने इनकी

शंकाओं के मार्जन का कार्य जो कि ट्रैक्ट रूप में प्रकाशित हो रहा है वह अपने हाथ में लिया है। ऐसा होने से एक ढेले द्वारा दो पक्षी उड़ाने सरीसृप बात हो जायगी। अर्थात् प्रोफेसर साहब की शंकायें निमूल होने से उनका समीचीन मार्ग में स्थितिकरण, दूसरा प्राचीन मार्ग की निर्दोषता सिद्ध होने में सामान्य बुद्धि वालों के मतिभ्रम का अभाव।

ये सब बात तभी ठीक हो सकती है जब कि प्रोफेसर साहब के मन्त्रव्य शंका के रूप में हों। हाल में उनके द्वारा जो कार्यप्रणाली है वह इस रूप में दोस्ती है। इसी लिये वह अन्य सुधारका-भासों की तरह सर्वश सामान्यवादी एकान्त से हों यह बात नहीं घटती। इसके विषय में सबल प्रमाण सिर्फ यही है कि आपके द्वारा सम्पादित ग्रन्थों की भूमिका (प्रस्तावना) में ऐसी कोई भी गन्ध नहीं है। बल्कि भूमिकाओं में तो आपने उन्ही बातों की पुष्टि की है जो कि दिगम्बर जैन धर्मकी खास मान्यता को लिये हुये हैं। अतः मात्स्य होता है कि आपका खयाल अभी उस सामान्यवाद में प्रोफेसर नेमिनाथ उपाध्याय और लाला जगन्मसाद जी एम० ए०, बी० एम-सी०, सी० आई० ई०, ए० जी० पी० एण्ड आई० की तरह नहीं। इन दोनों ने स्वसम्पादित ग्रन्थों में जो इनके मन के विरुद्ध गाथाय हैं उनको दो एक बतला कर दिगम्बर जैन धर्म की मान्यताओं को

ही एक दम उठाने का प्रयत्न किया है। ये लोग अपने मन्तव्यों को इंगलिश भूमिका में लिखा करते हैं अतः हिन्दीजानकारों को इनकी इन-असलीयतों की जानकारी नहीं मालूम पढ़ने पाती।

आस्तवर्षीय अनाथरक्षक जैनसंसायटी दर्यागंज देहली से प्रकाशित हुए अष्टाष्ट की भूमिका के हिन्दी अनुवाद पढ़ने से मालूम हुआ है कि इस ग्रन्थ की भूमिका और इस ग्रन्थ का अनुवाद इंगलिशभाषा में लाला जगत्प्रसाद जी ने किया है। इन्होंने जो भूमिका में विषय लिखा है वह बड़ी होशियारी के साथ इसी विषय को लेकर लिखा है कि—भीकुन्दकुन्द स्वामी प्राचीन ऋषि थे उनके समय में ऐसी कट्टरता को लिये पायेबन्दी नहीं थी इस लिये अचलकल की और द्रव्यस्त्री को और शूद्र को मोक्ष निषेध की जा गाथायें हैं—वे सभी स्वामी कुदकुंदाचार्य की न होकर पीछे से किसी की मिलाई हुई हैं। श्री लाला जगत्प्रसादजी ने जो कुछ यह विषय लिखा है वह प्रोफेसर नेमिनाथ आदिनाथ आदि के आश्रय से लिखा है विशेष परीक्षा करके नहीं लिखा है।

वास्तव में देखा जाय तो ऐसा लिखान मशय कोटि का नहीं है इसीलिये इन लोगों ने निःशङ्कवृत्ति से प्रस्तावना में यह विषय रखा है। इस दृष्टि से प्रोफेसर साहब की और इन लोगों की वृत्ति में बहुत

ही अन्तर है। श्री प्रोफेसर हीरालाल जी साहब को कुछ की अपेक्षा इन लोगोंकी कृति-दिगम्बर जैनधर्म के मन्तव्यों के लिये बहुत ही हानिप्रद है। इसलिये इनके मन्तव्यों के खण्डन का और इनकी अनर्गल प्रवृत्ति का प्रतिरोध करनेका कार्य दिगम्बरजैन समाज के लिये प्रथम कर्तव्य है।

इनके मन्तव्यों का खण्डन करने का विषय—तो पण्डित रामप्रसादजी शास्त्री ने अपने पारशिष्ट भाग में कुछ लिया है तथा औरभी विद्वान उसका खण्डन विशेषरूप से कर सकेंगे परन्तु इस अनर्गल प्रवृत्ति को रोकने का कार्य तो समाज का कार्य है इस लिये उस विषय में समाज जो उचित उपाय समझें सो करें। इस विषयमें एक विचारणीय आश्चर्य जनक विषय यह है यह इंगलिश पढ़े हुए विद्वान् बम्बई जैन धर्म के मर्म को न समझ कर ऐसी पद्धति का अनुसरण करें तो वैसी खटकने की जैसी बात नहीं है परन्तु मिथ्यान्त के समझ होकर पण्डित कहला कर अममज्ञों की भ्रष्टा में मर्ममलित होकर उनकी पीठ टाकें और वैसा ही अनुकरण करें तो यह खटकने का विषय है। मेरी समझ से यह गुरु संस्कार का ही यहाँ दोष है।

५० उल्फनराय शास्त्री, भिण्ड

—०—

सावनेय निवेदन

भीमान बा० हीरालाल जी एम० ए० प्रोफेसर एडवर्ड कालेज अमरावती (वर्तमान में मोरेसकालेज नागपुर) के हृदय में यह भाव उत्पन्न हुआ कि “श्री मुक्ति, केवली व.व.ला । र तथा मुनि का वस्त्र परिधान

श्री १०८ दिगम्बर जैन आचार्य पुण्यदत्त भूतचली विरचित पट्टखण्डागम से सिद्ध होता है।” इन विचारों की पुष्टि में आपने अपनी ओर एक दृष्टि-बिल और दो दृष्टि प्रकाशित किये तथा इनकी एक न

प्रति श्री ऐलकरलाल दिगम्बर जैन सरस्वती भवन बम्बई में भी आपकी भेजी हुई प्राप्त हुई ।

उनको देखकर माननीय पं० रामप्रसाद जी शास्त्री मैनेजर सरस्वती भवन, निरञ्जनलाल जी सुर्जीवाले तथा मेरे हृदय में यह विचार उत्पन्न हुआ कि इस विषय पर दि० जैनसमाज में पत्रों द्वारा व्यक्तिगत रूप से चर्चा चली तो वह समाज के लिये लाभदायक न होगी । आदेशवश कोई महानुभाव भाषा समिति का पालन न कर सके और फटु वाक्यों का प्रयोग कर जायें जिनमें शान्ति के स्थान पर लोभ और भी बढ़ जावे । कनः मुन्दर उपाय यह ही रहेगा कि दि० जैनसमाजके पूज्य त्यागियों तथा विद्वानोंमें उन टुकड़ों का युक्तियुक्त उत्तर मंगाकर उन सब को स्थानीय पंचायतकी ओर से एकही प्रथ में प्रकाशित कर दिया जाय और उस ग्रन्थ की एक-एक प्रति प्रत्येक दिगम्बर जैन मन्दिर, ग्रन्थभण्डार तथा अन्य संस्थाओं को भेज दी जावे यदि अन्यसमाज की मांग आवे तो उसपर उचित समझ जाय वहाँ भेजी जावे । इस तरह प्रोफेसर माहब की शंका दूर हो जायगी और दि० जैन समाजको भी स्थायी लाभ होगा । यदि मौखिक चर्चा का भी समुचित अवसर हो तो कुन्धलगिरि, इन्दौर आदि किसी स्थान पर उसके लिये भी उचित प्रवन्ध किया जावे ।

आभास्य म उर्मा समय दिगम्बर जैनसमाज के नेता श्रीमान रावराजा नरसैठ हुकमचन्द जी इन्दौर व रायबहादुर सरसैठ भागचन्द जी सोनी आनरेरी लैफ्टीनेन्ट ओ० बी० ई० अजमेर (सभापति भा० दि० जैन महासभा) यहाँपर पधारे हम आपके पाम गये और अपने पूर्वाक्त विचार आपके सामने रखे आपने हमारी भावना शुद्ध समझकर हमको पूर्णतया

आश्वासन दिया और कहा कि आपसे हृदय में जो देव, गुरु, शास्त्र के अवलम्ब दूर करने की भावना उत्पन्न हुई है हम हर तरह से आपसे सहमत हैं और तन मन धन से सहयोग देने को तैय्यार हैं ड्रैफ्ट में तात्त्विक भावना रखते हुए आपकेपाद से रहित मिष्ट भागा में पूज्य त्यागियों तथा विद्वानों के लेख रहने चाहिये पत्रों में इस विषय में अधिक चर्चा न होने पावे । ऐसा होने से प्रो० हीरालाल की शंका दूर हो जायगी और समाज में भी शांति व धार्मिक भ्रष्टान बना रहेगा ।

हमने उनको पूर्ण आश्वासन दिया कि ऐसा ही होगा ।

तत्पश्चात् दिगम्बर जैन पंचायत बम्बई ने इस कार्य को सुस्पष्ट करने के लिये एक कमेटी स्थापित की पत्रव्यवहार करनेका भार 'जुहाकमल मूलचन्द' को दिया गया आपके सुनीम श्रीमान सैठ सुन्दरलाल जी ने इस विषय में अच्छा कतेव्य—पालन दिखाया है आपने इस कार्यमें श्रीमान निरञ्जनलालजी सुर्जीवाले से सहयोग प्राप्त किया तदनुसार भाई निरञ्जनलाल जी ने इस दशा में बहुत सुन्दर काम कर दिया या आपका परिश्रम प्रशंसनीय है । सैठ परमेश्वरीदास जी ने आर्थिक सहायता के विषय में पूर्ण आश्वासन दिया तथा पूरा सहयोग दिया आपकी कोटिशः धन्यवाद है ।

बम्बई पंचायत के अनुरोधपूर्ण प्रेरणा पर जो पूज्य त्यागीवर्ग ने तथा मान्य विद्वन्मण्डली ने प्रोफेसर हीरालाल जी के टुकड़ों का युक्तियुक्त उत्तर लिख कर जो अपना कतेव्य पालन किया है तदर्थ उनको भूतिशः धन्यवाद है । और जिन श्रीमानों ने इस धार्मिक कार्य में अपनी कस्मी का सदुपयोग किया है

उनको धन्यवाद है। भीमान सेठ जुहाकमल मूलचंद जी, उनके मुनीम सेठसुन्दरलालजी, माननीय परिषद रामप्रसाद जी शास्त्री तथा आई निरंजनलाल जी ने अपने उत्तरदायित्व को बहुत अच्छे ढंग से निभाया है इससे आपको धन्यवाद है।

परिषद अजितकुमार जी शास्त्री मुलानन वालों ने ट्रैक्ट छापने का कार्य बड़ी भक्ति में तन मन धन में संलग्न होकर किया है उनका यह कार्य बहुत मराहनीय है अतः उनको भी धन्यवाद है।

हम भी जिनेन्द्रदेव से प्रार्थना करते हैं कि यह धार्मिक प्रयास सफल हो और मानवबुर प्रोफेसर साहब का मंशय दूर हो जिससे वह भविष्य में और भी अधिक सिद्धान्त ग्रन्थ का उद्धार कर सकें।

माननीय परिषद रामप्रसाद जी शास्त्री ने जो ट्रैक्ट लिखा है उसका मैं हृदयसे समर्थन करता हूँ।

निवेदक:—

उत्कृष्टरायजैन (गोहतक) बम्बई।

—०—

कुछ तात्त्व्य बातें

वीरशासन महोत्सव कलकत्ता में बहुत से विद्वान् संमिलित हुए थे। उस समय प्रो० हीरालाल जी आये हुए थे, अतः विद्वत्परिषद् में यह विचार हुआ कि जिन विषयों को लेकर प्रो० हीरालालजी ने चर्चा उठाई है उनके विषय में चर्चा करने के लिये यदि वे तैयार हों तो आमने सामने बातचीत का हो जाना अच्छा है। रूपरेखा बनाते समय यह निश्चय हुआ कि विद्वत्समाज की ओर से एक बक्ता ही बोलें तबनुसार यह अधिकार पं० राजेन्द्रकुमारजी, प्रधान-मंत्री संघ को दिया गया।

करीब एक बजे प्रो० हीरालाल जी सा० प्रेमीजी व बैरिस्टर जमनाप्रसाद जी जज के साथ जैनभवन के विद्वानों के निवास स्थान पर पधारे। तदनन्तर सब मिलकर वहां से व्याख्यान भवन में गये। वहां पहुंचकर चर्चा किस क्रम से की जाय यह तय किया गया। निश्चय हुआ कि प्रो० हीरालाल जी की ओर से वे स्वयं चर्चा करेंगे और दूसरी ओरसे पं० राजेन्द्रकुमार जी चर्चा करेंगे। तथा जिस उत्तर को दूसरी

ओर का विद्वान लिखकर चाहेगा वह लिखकर दे दिया जायगा। मध्यम का काम पं० कन्हैयालाल जी मिश्र 'प्रभाकर' को सर्व सम्मति में सौंपा गया। जो अपने समय तक उन्होंने ने बड़ी योग्यता से निभाया।

चर्चाका प्रारम्भ प्रो० हीरालालजी ने किया। उन्होंने ने बतलाया कि ऐसा नियम है कि ऑरिटियल कान्फ्रेंस में कुछ विषय विद्वानों में परस्पर चर्चा के लिये रखे जाते हैं। इस साल मैं इस सभाके प्राकृत व जैनधर्म विभाग का अध्यक्ष था। अतः मैंने सोचा कि जिन कारणों में दिगम्बर और श्वेताम्बर ये दो फिरे हैं उन कारणोंपर विचार करनेके लिये चर्चा उठाई जाय। ये तीन विषय हैं: मुक्ति, सत्यस्य सिद्धि और केवली कबलाहार हैं। दिगम्बर परम्परा में ये तीनों बातें स्वीकार नहीं की गई हैं किन्तु श्वेताम्बर इन्हें मानते हैं अतः मैंने दिगम्बर परम्परा के ग्रन्थों पर मे इनको कान्फ्रेंस में बतलाने का प्रयत्न किया था।

इस पर पहले से होने एक पर्चा छपवाया था जिसका उद्देश्य पर्चा था, प्रचार नहीं। मैंने इसका प्रचार नहीं किया। किन्तु किसी प्रकार से यह पर्चा बम्बई पंचायत को मिल गया। अतः उसने इसका प्रचार किया है।

मैं दूसरे विद्वानों की महायत्ना से धवलग्रंथ का सम्पादन करता आ रहा हूँ। प्रारम्भ में इस विषय को विनकुल नहीं जानता था। उम समय जो विद्वान अनुवाद करते थे उन्हीं का मलाह पर ही मुझे निर्भर रहना पड़ता था। सबल के प्रथम भाग के २३ वें सूत्र में 'मंजद' पद उम समय के विद्वान पं० फूलचन्द्र जी व पं० हीरालाल जी का मलाह से ही जोड़ा गया था। अभी पं० फूलचन्द्र जी के साथ जैन मन्दिर में वेद वैपन्य को लेकर बड़े ही अच्छे ढंग से पर्चा चल रहा है। अब भी यदि वेद वैपन्य सिद्ध हो जाय तो मेरी सब शंकाएँ दूर हो जायगी।

इस पर पं० राजेन्द्रकुमार जी ने कहा कि मैं प्रो० सा० के इस कथन से सहमत नहीं कि प्रो० सा० ने उक्त परचा पर्चा के लिये छपवाया था। ऐसा प्रमाण है जिन से यह सिद्ध किया जा सकता है कि उन्होंने उक्त परचे का प्रचार भी किया। जब वे ओरिएण्टल कालेज में बनारस आये थे तब तक उन्होंने बनारस के विद्वानों के पास व मेरे पास यह परचा नहीं भेजा था किन्तु दूसरी जगह वे इसके पहले ही परचा भेज चुके थे। एक पत्र में हमें केवल इतना ही मालूम हुआ था कि वे किसी गंभीर विषय पर पर्चा करना चाहते हैं। मैं भी उस समय बनारस

आ गया था। प्रो० सा० के आने पर दिन के एक बजे मैं, पं० कैलशचन्द्रजी व पं० फूलचन्द्र जी उनसे मिलने के लिये गये। किन्तु मालूम हुआ कि वे पं० मुल्लाल जी के साथ पारबनाथ विद्यालय में भोजन के लिये गये हुए हैं।

तब हम लोग वही कुर्सियों पर बैठ गये। सामने टेबुल रखी थी उसपर हम लोगों की दृष्टि गई। देखा कि कुछ छपे हुए परचे रखे हुए हैं। उठाकर देखा तो वे वे ही परचे निकले जिनमें सौम्यता आदि की सिद्धि की गई थी। आप लोग भले हो उसे पाप समझें किन्तु हम लोगों ने उनमें से कुछ परचे उठाकर अपनी जेबों में रख लिये। साथ ही यह निश्चय किया कि जब तक प्रो० सा० स्वयं इस विषय की पर्चा नहीं करेंगे तब तक इस विषय की पर्चा को नहीं छपना चाहिये।

इसके बाद वे गाम को आमन्त्रित होकर विद्यालय में भी आये। उन्होंने मेरे और विषयों पर अनेक पर्चाएँ भी की किन्तु इस विषय में अपार भी नहीं कहा। हाँ गर्ति का जब वे पं० फूलचन्द्र जी को लेकर शहर घूमने गये तब अवश्य उन्होंने पं० जी को एक परचा दिया। यद्यपि मुझे अचिन्तन में अन्त में इस पर्चा का प्रारम्भ प्रो० हीरालालजी ने किया था। मैं, पं० कैलशचन्द्रजी व पं० फूलचन्द्र जी इसके विरोध में भी बोले थे किन्तु वहाँ इतना कम समय मिला जिससे इसकी विस्तृत पर्चा न की जा सकी। इसके बाद मैं व पं० कैलशचन्द्रजी दूसरे दिन प्रो० सा० से मिले थे। कुछ बिचार विनिमय के बाद हम ने सुभी साथ ही

थी। आशा थी कि प्रो० मा० अपने विचारों को स्वयं बदल लेंगे। किन्तु अब स्थिति ऐसी आ गई है जिससे इधर ध्यान देना आवश्यक है।

“जैनसन्देश” (३०-११-४४)

प्रो० साहू के वक्तव्य पर मेरा स्पष्टीकरण

‘जैन सन्देश’ के ३० नवम्बर के अंक में, ‘प्रो० हीरालालजी से चर्चा’ शीर्षक लेख छपा है। जिसमें उन्होंने प्रारम्भ में ‘मैं इस विषय को बिलकुल नहीं जानता था, उस समय जो विद्वान काम करने थे, पन्दी की सलाह पर ही मुझे निर्भर रहना पड़ता था’ आदि अपना वक्तव्य प्रगट किया है, वह बहुत भ्रामक और असत्य है। सब जान यह है कि प्रथम दो भागों का अनुवाद अमरावती पहुँचने के पूर्व ही मैं उर्जैन में कर चुका था, उसमें मूल, अर्थ या टिप्पणों में कभी भी मैंने ‘संज्ञ’ पृष्ठ ६५ वें सूत्र में नहीं जोड़ा

था। अमरावती पहुँचने पर वहाँ की व्यवस्थानुसार प्र० मा० के अनुवाद की प्रेस कापी करने का काम पं० कृष्णचन्द जी को सौंपा गया। उक्त स्थान के विचारार्थ सामने आने पर मैंने अपनी ओर से जोड़ने का विरोध ही किया था और इसी कारण सूत्र में वह पद जोड़ा भी नहीं जा सका। अनुवाद में कैसे जुड़ गया यह आप शोनांही जानें, क्योंकि अनुवाद की प्रेस कापी करने तथा प्रूफरीडिंग और छपने को आर्डर देने के आप दोनों ही क्रमशः जिम्मेदार हैं। इसी सूत्र के ‘भावबो-विराट-अनुष्यगतौ’ पद का जो भ्रामक अर्थ छपा है, उसके जिम्मेवार आप शोनांही हैं। प्रमाण के लिये मेरे हाथ का अनुवाद अभी भी देखा जा सकता है।

पं० हीरालाल शास्त्री उर्जैन,
“जैन सन्देश”

—

:- क तैपय सन्नतियां :-



(१)

पूज्य श्री १०८ आचार्य शान्तिमागर जी

महाराज—

श्री १०८ परमपूज्य चारित्र्यकवर्ती आचार्य शान्तिमागर महाराजने प्रो० हीरालालजी की शंकाओं के सम्बन्ध में कहा है कि “प्रो० हीरालाल जी केवली जलकेवली या गणधर सो हैं ही नहीं परन्तु वि० जैन विशाल के ऐसे ब्राह्मण भी नहीं हैं जिनके कि वचन

को प्रामाणिक दृष्टि से माना जा सके। अत एव उनकी शंकाओं के सम्बन्धको लेकर विद्वान लोग जो इतना अधिक प्रयत्न कर रहे हैं और उन्हें महत्व दे रहे हैं सो हमारी समझमें ठीक नहीं है। वि० जैन-सिद्धान्त का ज्ञान रखने वाला कोई भी विद्वान १. क्षी-मुक्ति, २. केवलमुक्ति, ३. औरसवत्ससंयम एवं मौक्तिक निरूपण को स्वयं एवं आगमानुकूल नहीं मान सकता यह दोनों ही विषय आगम एवं मुक्ति में बाधित हैं।

ह०- कृष्णचन्द जैन कुन्धलामिरि,

३-११-४४

(२)

श्री परमपूज्य स्वर्गीय १०८ आचार्य चंद्रमानर श्री महाराज की परोक्ष सम्मति

श्रीमान सेठ तनमुखलाल जी काका से हमारा वार्तालाप होने पर यह ज्ञात हुआ कि श्री आचार्य चन्द्रसागर जी महाराज ने प्रो० हीरालाल जी अमरावती वालों के विषय में ऐसा वक्तव्य दिया था (जब कि हमने उनसे सम्मति मांगने को पत्र दिया था) कि —

“ऐसे व्यक्तियोंको जबाब देना उचित नहीं ऐंसे तो दिगम्बर धर्म के प्रति मैकड़ों कहने आये हैं । कहां उनका ज्ञान और कहां पूज्य आचार्योंका ज्ञान । ऐंसे मंशयालु तो बहुत हैं उनको कुछ भी जबाब नहीं देना दिगम्बर जैनधर्म में कही भी किसी जगह इनके कहे हुए विषय नहीं हैं, न मिल सकते हैं । इन्होंने दि० जैन धर्म पर बहुत बड़ा भारी कुटाराघात किया है । इनके कहनेमें कुछ नहीं हो सकता भट्टानी मध्य कभी भी दि० जैनधर्म के मन्त्रियों से चलायमान नहीं हो सकते । एक क्या सैंकड़ों कहे तो कुछ धर्म में शिथिलता नहीं आ सकती । इनके विचार धर्म के प्रति कैसे हैं इस जानकारीके लिए उनके द्वारा प्रकाशित अन्य पुस्तकों में जान लेना चाहिये फिर ज्ञान हो जायगा कि इनके परिणाम धर्म के प्रति कितने भट्टास्पद हैं । श्री १०८ कुंवरकुन्दाचार्य के प्रति जो भाव बतलाये हैं वह तो इद के बाहर लिखे हैं । श्री आचार्य के प्रति महान अन्याय किया है । देवशास्त्र, गुह का जो अवर्णवाद किया है इसका फल आगामी काल में अवश्य ही सहन करना होगा ।

निरंजनलाल जैन,

(३)

श्रीमान रावगंगा, रईसुरीसा, सर सैंठ हुकमचन्दजी की सम्मति

प्रोफेसर हीरालाल जी अमरावती वालों ने जो दिगम्बर जैन धर्म के विपरीत विषय की सब से प्रथम महान से महान उल्लेखोटि के क्रय भी बद लखखाम धवल के जरिये पुष्टि की है वह बिलकुल अयुक्त है ऐसा करना दिगम्बर जैनी के हाथों से दिगम्बर जैनधर्म के लिये भविष्य में बहुत भयानक, कतुक फलदायी होगा जिस विषय को आपने लिखा है वह निम्नप्रकार है ।

(१) परमपूज्य श्री १०८ आचार्य कुंवरकुन्दा स्वामी को लिखा है कि उन्होंने ने कर्मसिद्धांत का विचार कर के नहीं लिखा है ।

(२) जो पर्याय में युक्त हो सकती है ।

(३) सबस्य गुण हो सकते हैं ।

(४) केवलो फललाहारी होने हैं ।

यह सब देव शास्त्र गुरु का अवर्णवाद रूप है । जो स्वामी कुन्दकुन्द आचार्य पञ्चमकाल में विवेकसेत्र जाकर तीर्थंकर महाराज के पादानुमूल में धर्म अवर्ण करते हैं उनके प्रति अज्ञानी बनलाना बड़ा भयानक अवर्णवाद है कहां पहले पूज्योंका ज्ञान, कहां अपने लक्ष्मियों का ज्ञान । उनके अवर्णों की तुलना न कर सकतेबाले ऐसा लिखें मां बहुत गैरबाजकी है इससे हमारा तथा हमारी समाज का मन बहुत दुखी है । और यह चारों विषय दि० धर्म के प्रति बहुत हानिकारक हैं । . ऐसा विषय न तो कभी सुना है और न ही किसी हालत में दि० धर्म में आया है तथा न ही माने जा सकते हैं आप जैसे सज्जनों से ऐसा होना

उचित नहीं। आप हमारी समाज के विद्वानों में हैं अपना सब दृष्टि, जिन पर शास्त्रों में अपनी तरफ से कोई शब्द लिखना ठीक नहीं है। जैसा कि 'संज्ञ' राज्य आपने अपनी तरफ से जोड़ा है जिसका खुलासा प्र० हीराबाब उन्नीस बालों ने सब पेपरों में किया है कि 'मेरे हाथ की बसली कापी में यह संज्ञ पद नहीं लिखा है। मुझसे कहा गया पर मैंने नहीं लिखा था' जो आपको ऐसा करना ठीक नहीं हम आशा करते हैं कि स्वाभाव प्रेमी साजन इन विषयों से स्वस्थानी-पूर्वक स्वाभाव करेंगे इन विषयों को दिगम्बर धर्म के बाहर समझेंगे।

स्वरूपचन्द हुकमचन्द, इन्दौर

(४)

श्रीमान प्र० स्वरूपचन्द जी यादवी की सम्मति केवलिकबलाहार, श्रीमुक्ति, और सबकुक्ति, ये तीनों ही विषय दिगम्बर जैनान्तर्गत के सर्वथा विरुद्ध हैं साथ ही दि० जैनान्तर्गत की यह मान्यता मुक्तिबुद्ध एवं अनुभवमें उत्तरने वाली है। मालूम होता है प्र० हीराबाब जी ने दि० जैनान्तर्गत तथा उसके आगम प्रतिपादित विषयोंका रहस्य समझा नहीं है।

इ० स्वरूपचन्द जैन ।



जैन इतिहास का एक विश्लेषण अध्ययन

[प्रोफेसर हीरालाल जैन, PATNA]

(नोट-इस लेखके बीच में जो अंक दिये हुये हैं वे नीचे की टिप्पणी के हैं)

मैंने अपने 'शिवभूति और शिवार्थ' शीर्षक लेख में १ मूलभाष्य में उल्लिखित ऐतिहासिक संघ के संस्थापक शिवभूति को एक और कलामुत्र स्थविरावलीके आर्य शिवभूति से और दूसरी ओर दिगम्बर ग्रन्थ आराधना के कर्ता शिवार्थ से अभिन्न सिद्ध करने का प्रयत्न किया है, जिसमें उक्त तीनों नामों का एक ही व्यक्तित्व से अभिप्राय पाया जाता है जो महावीर के निर्वाण से ६०६ वर्ष पश्चात् प्रसिद्धि में आये। मूल भाष्य की जिन गाथाओं पर मैंने अपना अन्वेषण प्रारम्भ किया था उनमें की एक गाथा में शिवभूति की परम्परा में 'कोटिजकुटवीर' का उल्लेख आया है २। अतः प्रस्तुत लेख का विषय शिवभूति अपर नाम शिवार्थ के उत्तराधिकारियों की खोज करना है।

इस सम्बन्ध में मेरे प्राथमिक अन्वेषण से निम्न लिखित बातें प्रकाश में आती हैं—

१-स्थविरावली के अनुसार शिवभूति के शिष्य

१ नागपुर यूनिवर्सिटी जर्नल, नं० ६

२ कोटिजकुटवीर कोटिजकुटवीर परम्परासमुच्चय १०३ पृष्ठी।

कोटिजकुटवीर परम्परासमुच्चय ११४८॥

और उत्तराधिकारी 'भद्र' हुए ३।

२-अवधवेल्गोला के एक लेखानुसार भद्र या भीभद्र ही भद्रबाहु के नाम से प्रसिद्ध हुए और उन्हीं के शिष्य चन्द्रगुप्त थे ४।

३-ये ही थे भद्रबाहु ये न कि उनसे पूर्ववर्ती, जिन्होंने अवधवेल्गोला शिलालेख नं० १ के अनुसार द्वादश वर्षीय दुर्भिक्ष की अभिव्यथाओं की और उन्मथितों से दक्षिण देश को प्रस्थान किया। इन भद्रबाहु को 'स्वामि' की विशेष उपाधि दी गई है ५।

३ थेरस गं अजसिवभूस्स कुण्डसगुत्तस्स अजभहे थरे अनेवासो कासवगुत्ते ॥२०॥ x x x ते वंदिअण मिस्सा मह भंशमि कासवगुत्तं ॥२॥

४ देखो शिलालेख नं० ४० (६४) [भी] भद्रस्स वंतो यो हि भद्रबाहुरितिः भूतः। भूतकेवलनायेषु चरमः परमो मुनिः ॥५॥ चन्द्रप्रकाशोज्ज्वल-साम्प्र-कीर्तिः श्रीचन्द्रगुप्तोज्ज्वल तस्य शिष्यः। वस्य प्रभावात्तद्वैभवाभिराराधितः स्वस्य गणो मुनीनां।

५ गौतमगणधर-साक्षाच्छिष्य-लोहाय-जम्बू-विष्णुदेवापराजित-गोवर्द्धन-भद्रबाहु-विशाल-मोक्षि-कृतिकायं-जयनाम-सिद्धार्थ-वृत्तिषेण-बुद्धिमादि-गुहपरस्परौणकनाम्नां त-महा-वसन्तात-समवधौ-तितान्वाय-भद्रबाहुस्वामिना 'उज्जयिन्यामहाज्ञमहानि-मिततत्वज्ञेन त्रैलोक्यदर्शिना निमित्तेन द्वादशसंवत्सर-कालवैषम्यमुपलभ्य कथिते सर्वेस्सु उत्तराधिकादि-एतावधप्रस्थितः।

४-विष्णुवर जैन साहित्यमें जो आचार्य स्वामी ६ की उपाधि से विरोक्तः विभूषित किये गये हैं वे आप्त मीमांसा के कर्ता समन्तभद्र ही हैं। कथाओं की परम्परा उनका शिवकोटि या शिवायन से भी संबंध स्थापित करती है७। कहा जाता है कि समन्तभद्र ने शिवकोटि के निर्माण किये हुए मन्दिर में प्रवेश किया और वहाँ की शिवप्रतिमा में से चन्द्रप्रभ की

प्रतिमा प्रगत की। यह भी कहा गया है कि उन्होंने ने अपनी धर्मयात्रा पाटलीपुत्र से प्रारम्भ की और वहाँ से वे मालवा, सिन्ध और ठक देशों में परिभ्रमण कर अन्ततः कांचीपुर करहाटक में पहुँचे८।

५-रवेनाम्बर पट्टावलीयों में सामन्तभद्र की प्रसिद्धि चन्द्रकुल के आचार्य तथा वनबासी गच्छ के संस्थापक के रूप में पाई जाती है।१०

६ देखो रत्नकरण्ड आयकाचार, भूमि १ पं० जुगलकिशोर मुस्तार कृत पृ० ८।

"स्वामी, यह वह पद है जिससे 'देवागम' के कर्ता महोदय कास तीर से विभूषित थे और जो उन की महती प्रतिष्ठा तथा असाधारण महत्ता का गानक है। बड़े बड़े आचार्यों तथा विद्वानों ने उन्हें प्रायः इसी (स्वामी) विशेषण के साथ स्मरण किया है और यह विशेषण भगवान समन्तभद्र के साथ इतना रुढ़ जान पड़ता है कि उनके नामका प्रायः एक अंग हो गया है। इसी स कितने ही बड़े बड़े विद्वानों तथा आचार्यों ने, अनेक स्थानों पर, नाम न देकर, केवल स्वामी पदके प्रयोग द्वारा ही उनका नामोल्लेख किया है और इससे यह बात सहज ही समझ में आ सकती है कि 'स्वामी' रूप से आचार्य महोदय की कितनी अधिक प्रसिद्धि थी।"

७ 'तत्सर्वे शिष्यैः शिवकोटिस्तपोलतालम्बित-वेदवृद्धिः। संसारबाधकरपोषमेतत्सत्त्वार्त्तसूत्रं तद-लज्जकर' ॥११॥ (भवण बेलगोला लेख नं० १०५ (२५४))। 'शिवो तदीयं शिवकोटिनामा शिवा-यनः शास्त्रविदां वरिष्ठः।' (विक्रान्त-कौरवीय नाटक)।

८ तां कुवज्जप्रमश्रामकचन्द्रभर्जिनेशिनः। तम-स्तमोरिव रश्मिभिर्जामिति संयुतेः॥ वाक्यं याव-त्पठत्येवं स योगी निभयो महान्। तावत्तल्लिङ्गं शीघ्रं स्फुटितं च ननस्ताराम॥ निर्गता श्रीजिनेन्द्रस्य प्रतिमा मुचनुमुखी। मंजातः मन्वंतस्तत्र जयकोलाहलो महान्॥६६-६८॥ कथा ५, समन्तभद्रवर्णनः कथा आराधना-कथाकोष, नेमिदत्त कृत।

९ पूर्व पाटलिपुत्रमध्यनगरं भेरी मया ताडिता। पश्चान्मालव-सिन्धुटकविषये कांचीपुरे वैदिशे॥ प्रामांशं करहाटकं बहुभटं विद्योत्पटं सकटं। वादार्थी विचराम्यहजरपते शादेलविक्रीडितं॥७॥ भवण-बेलगोला लेख नं० ५४ (६७)। इमं नेमिदत्त ने आराधना कथाकोष में भी उद्धृत किया है।

१० श्रीवज्रशाल्वधुरिवज्रसनाज्जगेंद्रचन्द्रादिकुल-प्रसूतिः। चां, कुन पृथगतभूताद्याः सामन्तभद्रा विपिनादिवासी॥६॥ (गुरुवैकमत्रणनम, गुण-रत्नसूरि कृत)। मिरिबज्जसणसूरी चाउइसमो चंद-सूरि पंचदसो। सामन्तभद्रसूरी सोलसमोरखवास-रई॥६॥ श्रीचन्द्रसूरिपट्टे पांडशः श्रीसामन्तभद्रसूरिः। स च पूर्वगत-भूतविशारदो वैराग्यनिधिः। संमतया देवकुलवनादिपञ्चवस्थानान् लोके वनबासीत्युक्त-स्मारकतुर्थं नामवनबासीति प्रादुभूतं॥६॥ (तथा-गच्छ पट्टावली)। निर्मथः श्रीसुधर्माभिगणधरतः कोटिकः सुस्थितायां चंद्रः श्रीचन्द्रसूरिस्तदनु च वन-बासीति सामन्तभद्रान्॥३१॥ (श्रीसूरिपरम्परा)। और भी देखो—पट्टावली सारोद्धार (१६) श्री गुरु पट्टावली (१६) (पट्टावली समुक्चय मुनिदर्शनवि-जयकृत)।

अब हमें यह देखने का प्रयत्न करना चाहिये कि एक बातों का निष्कर्ष क्या निकलता है। भद्र और भद्रबाहु का एकीकरण तो भवणवेल्लोला के लेख न० ४० (६४) से सहज ही हो जाता है, क्योंकि वहां स्पष्टतः कहा गया है कि भद्रबाहु का ही पूर्वनाम भद्र या आभद्र था।^{११} ऐसी कोई बात भी नहीं पाई जाती जिससे इस अभिमतता का कोई विरोध उत्पन्न हो। समंतभद्र और सामंतभद्र इन दो नामों में तो प्रायः कोई भेद ही नहीं है। अकार का इत्थत्व या दोषत्व कोई महत्व नहीं रखता। सामंतभद्र के सम्बंध में यह जो कहा गया है कि उन्होंने बनवासी गन्धु स्थापित किया, उससे उनका सम्बन्ध दक्षिण देश से स्पष्ट है, क्योंकि उत्तर कर्नाटक देशका ही नाम बनवासी था। यही नाम उस देशके प्रमुख नगर 'कांचीपुर' का भी था जो तुङ्गभद्रा की शास्ती-नदी बरदा के तटपर स्थित था।^{१२} बनवासी गन्धु की स्थापना का इतिहास समंतभद्र संबंधी दिगम्बर कथानकों के प्रकाश में अच्छा समझ में आ जाता है जिसके अनुसार समंतभद्र ने अपनी धर्मयात्रा पाटलीपुत्र से प्रारम्भ की, पश्चात् उन्होंने मालवा, सिंध और ठक (पंजाब) में भी धर्मप्रचार किया और फिर वे कांचीपुर और करहाटक में जा पहुँचे। इनमें का अंतिम स्थान निस्संदेह रूप से बंबईप्रान्त के सतारा जिले का 'कराह' ही होना चाहिये और तब मेरे मतानुसार कांचीपुर कर्नाटक का कांचीपुर होना चाहिये, न कि मद्रास के निकट तामिल देशीय कांची

उक्त पक्ष में^{१३} वैदिश संभवतः कांचीपुर का विरोध है और वेङ्गती नदी का बोधक है जो उसी प्रदेश का दूसरा नाम पाया जाता है जिसके तट पर कांची-पुर स्थित था। यह विरोध स्पष्टतः प्रस्तुत नगर को उसी नाम के अन्य प्रसिद्ध नगर से भ्रष्ट निर्दिष्ट करने के लिये लगाया गया जान पड़ता है।

समंतभद्र के संबंध में जो दिगम्बर परम्परा में अन्य बातें पाई जाती हैं उन्हें यदि हम समस्तभद्र के संबंध में श्वेताम्बर उल्लेखों के प्रकाश में देखें तो वे अच्छी समझ में आने लगती हैं। समंतभद्र के शिखरकोटि के मन्दिर में प्रवेश १४ करने का यह अर्थ समझा जा सकता है कि वे शिवभूति या शिवार्य के संघ में शिष्य रूप से प्रविष्ट हुए। एवं शिव प्रतिमा में से चन्द्रप्रभ की प्रतिमा प्रकट करना १५ इस बात का सांकेतिक वर्णन हो सकता

१३ ऊपर फुटनोट नं० ६ देखिये। वैदिशको मालवा की विदिशा नगरी के अर्थ में लेने से प्रसंग ठीक नहीं बैठता, क्योंकि मालवा का उल्लेख पक्ष में पहले ही आ चुका है। इसी लिये भवणवेल्लोला लेखों को पहले पहल अनुबाधित करने वाले लुईस राइस माहब ने उसका अर्थ 'out of the way Kanchi' अर्थात् दिशा से दूर की कांची किया था। मि० आर्यंगर उसका अनुवाद करते हैं 'the far off city of Kanchi' अर्थात् बड़ी दूर का कांची नगर।

१४ स योगी जीलया तत्र शिवकलिङ्गीभुजा।
कारिणं शिवदेवोत्पसादं संविकीर्य च ॥२०॥ आदि
(आराधना कथाकोष)

१५ देखिये ऊपर फुटनोट नं० ८

^{११} ऊपर फुटनोट नं० ४ देखिये।

^{१२} देखिये Geographical Dictionary of Ancient and Mediaeval India, by Nudolal Dey.

है कि शिवाय के संघ में उन्होंने चन्द्र शाखा का बनवासी गच्छ स्थापित किया। भक्तमर स्तोत्र के कर्वा मानसुज इसी चंद्रकुल में समंतभद्र ने चार पीढ़ी पीछे हुए कहे गये हैं, १६ तथा अपभ्रंश कव्य करकंड-चरित के दिगम्बर कर्ता कनकाग्रमुनि ने भी अपने को चंद्रगोत्रीय प्रकट किया है १७।

सामंतभद्र का जो काल श्वेताम्बर पट्टावलीयों में बतलाया गया है वह भी उक्त अभिमतत्व के अनुकूल पड़ता है। तपागच्छ पट्टावली के अनुसार वज्रमेन का स्वर्गवास वीर निर्वाण सं ६०० वर्ष परवान हुआ और उनके उत्तराधिकारी चंद्रसूरि और उनके सामंत भद्रसूरि हुए १८। इस प्रकार वे सहज ही उन शिवाय के लहुरे समसामयिक समझे जा सकते हैं जिन्होंने वीर निर्वाण सं ६०६ वर्ष पश्चात् संघ स्थापित किया था १९। यह समय आमामीमांसा के

१६ देखिये पट्टावली समुच्चय

१७ चिद विचरबंसुत्पण्णण। चंदार्गिसिगोत्तं
चिमलण्ण ॥ बइरायइ हुयइ दिंयंबरेण। सुपसि-
खाणयाम-कणयामरेण ॥

आदि (करकंडचरित १०, २८, १००)

१८ स च भीमजसेनो x x x सर्वायुः साष्टाविंश-
तिशतं १२८ परिपाल्य भीवीरान् विंशत्यधिक पट्टशत
६२० वर्षान्ते स्वर्गभाक्। x x x भीमजसेनपट्टे
पञ्चवराः भीमभद्रसूरिः। तस्माच्चन्द्रगच्छ इति तृतीयं
नाम प्रादुर्भूतं। x x भीमभद्रसूरिपट्टे षोडशः श्री
सामन्तभद्रसूरिः।

१९ जम्बाससाई नवचराइ तइया सिद्धि गयस्स
वीरस्स। तो बोडिआण विट्ठी रहवीरपुरे समुत्प-
न। ॥ १४५ ॥ आदि (आवश्यक मूलभाष्य)।

कर्ता समंतभद्र के लिये भी अनुकूल सिद्ध होता है २०।

इस प्रकार श्वेतिरावली के भद्र और दिगम्बर लेखों के भद्रबाहु को एक व्यक्ति एवं श्वेताम्बर पट्टा-
वलीयों के सामन्तभद्र और दिगम्बर साहित्य के समन्तभद्रको भी एक ही व्यक्ति सिद्ध करने के पश्चात्-
न अब देखना यह है कि क्या उक्त प्रकार से प्रकट हुए दो व्यक्ति भी एक ही मिट हो सकते हैं ? इसके लिये हमें श्रवणबेलगोल के प्रथम शिलालेख पर ध्यान देना चाहिये जो कि सब से प्राचीन है, अतः भद्रबाहु के सम्बन्धमें सब से अधिक प्रामाणिक आधार है। इस लेख को सावधानी से पढ़ने पर इस बातमें कोई सन्देह नहीं रहता कि उज्जैनी में द्वादशवर्षीय दुर्भिक्ष की भविष्यवाणी करने वाले भद्रबाहु प्राचीन पांच शतकवालिओं में स नहीं है, किन्तु उनसे बहुत पाछे उसी आम्नायमें होनेवाले दूसरे ही आचार्य हैं २१। अतः इन्हें दूसरे भद्रबाहु जानना चाहिये, और जिस दुर्भिक्ष को उन्होंने भविष्य वाणी की थी वह बड़ी होना चाहिये, जिसका उल्लेख आवश्यकवृत्ति में मिलता है। इस लेख के अनुसार वज्रम्बामी के समय में एक बड़ा घोर दुर्भिक्ष पड़ा जिसके कारण वज्रम्बामी ने दाक्षिण को विहार किया २२। पट्टाव-

२० देखिये-पं० जुगलकिशोरकूल स्वामीसमन्त-
भद्र पृ० ११५ आदि, दिगम्बर परम्परानुसार समन्त-
भद्र विक्रम की दूसरी शताब्दि में हुए थे।

२१ देखिये-ऊपर फुटनोट नं० ५.

२२ इतो य बइरसामी दक्षिणायवहं विरइति।
दुर्भिक्षं च जायं बारसवारिसंगं। सम्बतो समंता
जिजपंथा। निराधारं जादं। ताहं बइरसामी
विज्जाए आहहं पिडं तहिवसं आणेति। (आव-
श्यकवृत्ति, भा० १, पत्र ४०४, नियुक्ति गा०
७७५ की वृत्ति)

ज्ञियों के अनुसार ब्रजस्वामि ब्रजसेन के पूर्ववर्ती थे और वीर निर्वाण के ४६६ से ५४ वर्ष पश्चात् तक जीवित रहे २३। यह समय समन्तभद्र के काल से लगा हुआ जाता है और सामन्तभद्र इन्हीं के पौत्र शिष्य थे। यही नहीं, वीरवंशावली-४ के अनुसार ब्रजस्वामि ने अपना चातुर्मास दक्षिण देश के तुंगिया नामक स्थान पर किया था जो संभवतः तुंगभद्रा नदी के समीप था जहाँ हमने समन्तभद्र के कौचपुर या कांचोपुर की भी स्थिति निश्चित की है। यह स्थान अवणबेलगोला के कटवप्र में भी बहुत दूर नहीं है जहाँ लेखानुसार आचार्य प्रभाचन्द्र ने शरीरान्त किया था।

दूसरा महत्वपूर्ण स्मृति इस शिलालेख में यह प्राप्त होता है कि भद्रबाहु की उपाधि स्वामि थी जो कि साहित्य में प्रायः एकान्तः समन्तभद्र के लिये ही प्रयुक्त हुई है। यथार्थतः बड़े बड़े लेखकों जैसे

विद्यानन्द २५ और बादिराजसूरि २६ ने तो उनका उल्लेख स्वामि न देकर केवल उनकी इस स्वामि उपाधि में ही किया है और यह वे तभी कर सकते थे जब कि उन्हें विश्वास था कि उस उपाधि से उनके पाठक केवल समन्तभद्र को ही समझेंगे, अन्य किसी आचार्य को नहीं। इस प्रमाण को उपर्युक्त अन्य सब बातों के साथ मिलाने से यह प्रायः निस्सन्देह रूपसे सिद्ध हो जाता है कि समन्तभद्र और भद्रबाहु एक ही व्यक्ति हैं।

इस प्रकार भद्र, सामन्तभद्र, समन्तभद्र और भद्रबाहु के एक ही व्यक्ति सिद्ध हो जाने से हम कुछ ऐसे निष्कर्षों पर पहुँचते हैं जो हमें चकित कर देते हैं। इन निष्कर्षों में से एक तो यह है कि हमें कुन्द-कुन्द की उन्नी भद्रबाहु द्वितीय के शिष्य स्वीकार करना पड़ता है जो दिगम्बर सम्प्रदाय के भीतर अन्य कोई नहीं स्वयं आप्तमीमांसा के कर्ता समन्तभद्र ही है। कुन्दकुन्द ने अपने बोधपादुङ्क में स्पष्टतः अपने को भद्रबाहु का शिष्य २७ कहा है जो अग्न्य

२३ श्रीसीहगरिपट्टे त्रयोदशः श्रीब्रजस्वामी यो बाल्यादापि जानिस्मृतिभाग् नभोगमनविषया स्तंभ-रक्षाकृत दक्षिणस्यां बाँडराज्ये जिनेन्द्रपूजानिमित्तं पुष्पाद्यानयनेन प्रवचनप्रभावनाकृत देवाभिवर्द्धितो दशपूर्वविद्वामपश्चिमो ब्रजशास्त्रोत्पत्तिमूलं । तथा स भगवान् x x x सर्वायुष्टाशोति ८८ वर्षाणि परिपाल्य श्रीवीरान् चतुरशीत्यधिकपंचशत ५८४ वर्षान्ते स्वर्गभाक् ।

२४ जैन साहित्य मंशोधक, खंड १, अंक ३, परिशिष्ट, पृ० १४। पुनः श्रीब्रजसूरि उत्तर दोशियकी बिहरना दक्षिण पंथि तुंगिया नगरइयं श्रीमासई रक्षा ।

२५ श्लोत्रं तीर्थोपमानं प्रथितप्रथुपथं स्वामिमीमांसितं तन । विद्यानन्दैः स्वरक्षत्या कथमपि कथितं मन्यराकयार्थसिद्धयै ॥

(आत्मपरीक्षा उपसंहार)

२६ स्वामिनश्चरितं तस्य कस्य नो हित्तयावहम् ।

देवागमेन सर्वज्ञो येनाद्यापि प्रदर्शयते ॥

(पारवनाथ चरित)

२७ सहस्रियागो ह्यो भासासुतेसु जं जिणे कट्टियं । सो तह कट्टियं णायं सोसेण य भद्रबाहुम्स ॥६१॥ बारमभंगवियाणं चउदसपुवंगविउल्लवित्थरगां । मुयणाणिभइवाहु गमयगुरु भयवज्जो जयउ ॥६२॥

कोई नहीं उक्त भद्रबाहु द्वितीय ही हो सकते हैं। इस एकीकरण में केवल यह कठिनाई उपस्थित हो सकती है कि कुन्दकुन्द ने अपने गुरु भद्रबाहु को बारह अंगों के विज्ञाता, चौदह पूर्वों के विपुल विस्तारक अतः ज्ञानी कहा है। किन्तु हमें यह ध्यान रखना चाहिये कि हमारे प्रस्तुत भद्रबाहु उनसे पूर्ववर्ती भद्रबाहु प्रथम से प्रथक होते हुए भी अनेक शिखारोमां में भूतज्ञानी कहे गये हैं २८।

यही बात तब और भी स्पष्ट हो जाती है जब हम श्वेताम्बर आगम की दश नियुक्तियों के कता भद्रबाहु के संबंध में विचार करते हैं। ये नियुक्तियों के कता भद्रबाहु भी भ्रुकवली कहे गये हैं, २९ किन्तु यह तो अब सिद्ध है कि ये भद्रबाहु प्रथम नहीं हो सकते, क्योंकि उन्होंने अपनी आव-रक नियुक्ति में ऐसी घटनाओं और व्यक्तियों का उल्लेख किया है जिनका समय महावीर से लगा कर निर्वाण के ६०६ वर्ष पश्चात् तक उन्होंने स्वयं वतसाया है ३०। उन्होंने आर्य वज्र को भी बहुत

प्रशंसा की है जिनका समय वीर निर्वाण से ४६६ से लगाकर ४८४ तक पाया जाता है, एवं उन्हीं के समकालीन ३१ आर्य रक्षित का भी उल्लेख किया है। इन सब उल्लेखों पर से ऐसा अनुमान है कि उक्त नियुक्ति के कता स्वयं निर्वाण से ६०६ वर्ष पश्चात् हुए हैं और सम्भवतः आर्यवज्र से भी उनका संपर्क रहा है। जिनके विषय में उन्होंने कुछ व्यक्तिगत बातें भी बतलाई हैं, एवं उन्हें अतः को दो खंडों—कालिक और दृष्टिवाद में विभाजित करने वाले भी कहा है। ये दो भाग आर्यरक्षित द्वारा पुनः चार भागों में विभाजित किये गये थे ३२। मेरे मतानुसार नियुक्तियों के कता और कुन्दकुन्द के गुरु, आप्तमीमांसा के कता एवं वनवासी गच्छ के संस्थापक व चंद्रकुल के नायक तथा हावरावर्षीय दुर्भिक्षकी भविष्यवाणी करके दक्षिण की यात्रा करने वाले आचार्य सब एक ही व्यक्ति हैं, और वह व्यक्ति या शिष्याय का शिष्य।

शिष्याय के गौरव को बढ़ाने वाला इतना ही यश नहीं है। उनके मुकुट में एक और तेजस्वी माणिक्य जड़ा हुआ मिलना है जिसकी ओर अब हम दक्षिण होंगे। जहां हम तत्त्वार्थोधिगम भाष्य की प्रशस्ति ३३ पर तो ध्यान दें। यहां कहा गया है कि

३१ श्रीबोरानु त्रयस्त्रिंशदधिक-पञ्चशत ५३३ वर्षे श्रीआर्यरक्षितमूरिणा श्रीभद्रगुप्ताचार्या नियामितः स्वर्गभागः। (तपागच्छपट्टवली)

३२ आवश्यक नियुक्ति, गाथा ७६३-७७८

३३ वाचकमुख्यस्य शिष्याभ्यः प्रकटशयशसः प्रशिष्येयः। शिष्येय चोक्तान्दि समस्यैकादशांग-धनुष सेना ॥७८३॥

२८ उदाहरणार्थ देखिये पुटनोट नं० ४। अ० वे० लेख नं० १०८ (२५८) पृष्ठ ८-९ भी देखिये।

२९ येनैवा पिडनियुक्तियुक्तिरम्या विनिर्मिता। हावरांगारिबे तस्मै नमः श्रीभद्रबाहवे ॥ (पिडनियुक्ति-महावर्गिरी टीका)। इसकल्पवृक्षद्वारा निष्पृष्टा जेष नमःपुष्पाब्जो। वंदामि भद्रबाहुं नमःपरिचमसयसुवनाधि ॥ (श्रुतिमंडलसूत्र)

३० चौदस सोलसबासा चौदस बीमुत्तरा य दुबिण सवा। अट्टा बीसा य दुवे पंचेव सया य चोळासा ॥७८२॥ पंचसया पुत्तसीओ द्वयेव सवा नमुत्तरा हुंति। नाणुपत्तीय दुवे उपपत्ता नि-धुप सेसा ॥७८३॥

उसके कर्ता उमास्वाति शिवजीके प्रशिष्य तथा चोप-
नन्दिके शिष्य थे। इन दो आचार्योंमें से अभी तक
किसीका भी कोई खास पता नहीं चल सका। शिव-
जी का शिष्य के साथ सहज ही एकीकरण हो
जाता है। श्री और आर्य तो सम्मान मूर्चक नामें
हैं। इनको छोड़ दोनोंमें नाम एक ही है। इसके
अतिरिक्त शिवजी के शिष्य चोपनन्दिके नाम में जो
नन्दि नामांश पाया जाता है वही शिष्यायें के गुह्यो
के नाम में भी विद्यमान है तथा वह नंदि संघ के
आचार्योंमें सुप्रचलित रहा है, जबकि रवेताम्बरसम्प्र-
दाय के प्राचीन नामों में तो उसका प्रायः संबंध ही
अभाव पाया जाता है ३५। प्रशस्ति में जो दूसरी

(६ टे पृष्ठ का शेषांश)

विदः ॥१॥ वाचनया च महावाचकतमणमुपपाद-
शिष्यस्य । शिष्येण वाचकाचार्य—मूलनाम्नः
प्रथितकीर्तः ॥२॥ न्यग्रोधिकः प्रमुनेन बिहरता पुरवरे
कुसुमनाम्नः । कीर्त्तार्पणाना स्थापितनयनवात्सीमुने-
नाख्येय ॥३॥ अट्टवचनं सम्यग्गुरुनःमेगागनं समुप-
धाय । दुःखासे च दुरागमविहतमति लोकमवलो-
क्य ॥४॥ इदमुच्येर्नागरवाचकनः सत्त्वानुकम्पया
दृढम । तत्त्वार्थाधिकमाख्यं स्पष्टमुमास्वातिना
शास्त्रम् ॥५॥ यस्तत्त्वार्थाधिकमाख्यं ज्ञास्यति च करि-
ष्यते च तत्रांशम् । सांख्यवाचसुखाख्यं प्राप्यत्वाचि-
रेण परमाधेयम् ॥६॥ इस प्रशस्ति पर ५० मुखलाक
संघर्षी का वक्तव्य भी देखिये—तत्त्वार्थसूत्र की
भूमिका पृ० ४ आदि ।

३४ आराधना में उल्लिखित शिष्यायें के गुह्यो
के नाम हैं—जिन्नन्दि, सर्वगुप्त और मित्रनन्दि जिन
के सम्बन्ध में देखिये मेरा लेख शिवभूति और
शिष्यायें ।

बात जानी जाती है वह यह है कि उमास्वाति का
जन्म न्यग्रोधिका में हुआ था। चूंकि शिष्यायें के
संघ की स्थापना के स्थान रहबीरपुर को मैं यहमद-
नगर जिले का 'राहुरी' नामक स्थान अनुमान कर
चुका हूं। अतएव मैंने वही प्रदेश में इस नाम की
भी खोज की जिसके फलस्वरूप वही जिले में
'निघोज' नामक स्थान का पता चला जो राहुरी से
बहुत दूर भी नहीं है। यह निघोज उमास्वाति की
जन्मभूमि न्यग्रोधिका हो सकता है।

आख्य की प्रशस्ति में निम्नलिखित बातें भी
ध्यान देने योग्य हैं—

१- उमास्वाति के आगमशिक्षक वाचनाचार्य
मूल थे।

२- यद्यपि उमास्वाति का जन्म न्यग्रोधिका में
हुआ था, किंतु वे विहार कर कुसुमपुर
(वत्सर में पाटलीपुत्र) पहुंचे।

३- कुसुमपुर में उन्होंने तत्त्वार्थाधिगम आख्य
रचा।

४- यह आख्य उन्होंने जिस ग्रन्थ पर रचा वह
उन्होंने उससे पूर्व दुःखार्त और दुरागम से
लांगों की मति भ्रांत हुई देखकर गुरुकृपा-
गत अट्टवचन को अन्धी तरह सोच समझ
कर संगृहीत किया था।

ये वक्तव्य तब तक पूर्णतः समझ में नहीं आते
जब तक कि उस समय में उपस्थित हुई संघ की
समस्त परिस्थिति पर विचारन किया जाय। शिष्यायें
के उत्तराधिकारी हुए भद्रबाहु द्वितीय और उनके
परचाण हुए कुम्भकुंदाचार्य। शिष्यायें के द्वितीय
शिष्य चोपनन्दिके शिष्य थे उमास्वाति जो स्वहस्तः
कुम्भकुन्द के ममसामयिक प्रनियोगी थे। कुम्भकुन्द

ने संघ के शासन में तथा मुनियों के आचार में कुछ गम्भीर परिवर्तन उपस्थित किये। जब कि शिष्यायें ने समस्त अजिकाओं और विशेष परिस्थिति में कुछ मुनियों को भी ब्रह्म धारण करने की अनुमति दी थी ३५। तब कुन्दकुन्द ने उस व्यवस्था का अनि-यमित समझ और समस्त मुनियों को बिना किसी अपवाद के सामान्य आवश्यक ठहराया ३६। श्रियों के लिये तो स्पष्टतः वह नियम लगाया नहीं जा सकता था, अतः वे मुक्ति के अयोग्य ठहाई गई और उन की संघ में स्थिति केवल उमेदवारों के रूप में रखी गई ३७। अपने गुरु आप्तमीमांसा के कर्ता के एक गूढ़ार्थ कथन जिसके अनुसार आप्त को दोष और अपवाद से मुक्त होना चाहिये ३८ का विस्तार करके

३५ देखिये भगवती आराधना, गाथा ७६-८३, व मेरा लेख 'शिष्यभूति और शिष्यायें' फुटनोट ५

३६ ब्राह्मणकोटिमतं परिगृह्यमाणं एव होइ सा-
हृयं । मुंजै पाणिपत्ते दिव्याण्यं इन्द्राण्यम् ।
जस्त परिगृह्यमाणं अप्यं बहुयं च इवइ लिंगम् ।
सो गरिह्व जिएबयणे परिगृह्यमाणो निरायारो ॥
एवि सिग्गइ बत्थधरो जिएसासणे जइ वि होइ
निबधरो । एमो विमोक्खमणो मेसा उम्मगया
सव्वे ॥२३॥ (सुत्तपाटुड)

३७ जइ दमणेण सुद्धा उता मग्गेण मा वि
संजुत्ता । चोरं चरियचरितं इत्थोमु ए पञ्चया
मंजिया ॥२४॥ (सुत्तपाटुड)

३८ दोषावरणयोर्हानिर्निरोपार्थावितरायनान् ।
कचिन्ना त्वहेतुयो बहिरन्तर्मज्जयः ॥४॥ स
त्वमेवासि निर्दोषो युक्तिराकाविरोधिवाक् । अवि-
रोधो बहिर्हेते प्रसिद्धे न वाप्यते ॥४॥

(आप्तमीमांसा)

कुन्दकुन्द ने यह उपदेश दिया कि केवल समा-
सुख और दुःख की वेदना के परे होता है, ३६ ऐसा
समझना चाहिये। वे केवल इन विचारों को प्रगट
करने मात्रसे सन्तुष्ट नहीं हुये। जान पड़ता है उन्होंने
यह प्रयत्न प्रारम्भ कर दिया कि संघ का प्रत्येक
सदस्य उनकी मान्यताओं के अनुसार विश्वास व
आचरण करे। जो बंसा नहीं कर सके या करना
नहीं चाहते थे वे संघ से बहिष्कार ठहराये गये।
इससे संघ में बड़ी उम्र पर स्थिति निर्माण हुई प्रतीत
होती है, विशेषतः संघ के उन सदस्यों में जो शिष्यायें
के अपवाद भाग में आते थे और प्राचीन आगम को
भूलना और छुड़ना नहीं चाहते थे। संभवतः उमा-
स्वाति ने इस मधभाग का नायकत्व प्रदर्शित किया।

इसी तीव्र परिधीयति में जब कि समय पक्ष में विचार
धारा तेजी से चल रही थी, उन्होंने तत्त्वार्थमूत्र की
रचना की जिसमें उन्होंने ने केवलीमें भूख और प्यास
की वेदना को मेटान्तिक रूप में प्रतिपादित किया ४०
किन्तु मुनियों के ब्रह्म धारण का या श्रियों की मुक्ति
का कोई विशय व्यक्त रूप में उपस्थित नहीं किया,
यद्यपि इसके लिये निम्नार्थों के अर्थों में ४१ तथा
मुक्तात्माओं के सम्बन्ध में भिन्न भिन्न दृष्टियों से
चिन्तन में ४२ गुंजाइश रखी। इस प्रथम को उमा-

३६ सोकखं वा पुणं दुक्खं केवलगाणाम्भस एत्थि
देहगहं । जम्हा अविशियत्तं जातं तम्हा दुत्तं शेषं ॥
(प्रबचनसार, १, २७) जग्गहिदुक्खरहितं आहार-
णिहारवाज्जयं विमलं । सिद्धाणं खल्ल मेमं एत्थि
दुग्गंहा य दोसो य ॥३७॥ (बोधपाटुड)

४० देखो तत्त्वार्थमूत्र, ६, = १०

४१ „ „ ६, ४६-४७

४२ „ „ ४७, ६

स्थाति ने सम्भवतः समझौते के लिये प्रस्तुत किया। किन्तु कुंरकुंर और उनके सहयोगियों ने सम्भवतः उन्नी प्रयोजन से एक संघ की बैठक करके उसे अस्वीकार कर दिया ४३। इसका परिणाम यह हुआ कि उन परिवर्तनों के विरोधियों को संघ छोड़ना पड़ा, बाबों कहिये, वे संघ से से निष्काश दिये गये, जिससे उन्होंने अपना पृथक् संघ स्थापित किया जो यापनीय संघ ४४ के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

इन्हीं कटु अनुभवों की स्मृति लेकर उमास्वाति संभवतः शीघ्रयात्रा करने योग्य अपने युवावस्थाक साधियों को लेकर उत्तर को चले गये ताकि वे वहां के संघ से सम्पर्क स्थापित कर सकें। इस प्रकार उमास्वाति कुमुमपुर पहुँचे और वहां ही उन्होंने वे सब बातें स्पष्ट कर दी जिन्हें मूर्खों में पूर्वापक अनि-

४३ ऐसा जान पड़ता है कि कुन्दकुन्द ने उक्त विषय संघ की सम्मति के लिये जिस प्रकार उपस्थित किया वह प्रवचनसार १, ६० की गाथा में सुरक्षित है—एो सहर्हत मोक्षं मुहंमु परमं ति विगठ-पाशीणं। मुण्णदुण ने अभव्वा भव्वा वा तं पविच्छं त ॥

४४ यापनीय संघ की जानकारी के लिये देखिये डॉ० उपान्ये का लेख—'Yapaniya Sangha, a Jaina Sect' (Bombay University Journal, May 1933) और पं० नाथूराम प्रेमी का 'यापनीय साहित्य की शोख' (जैन साहित्य और इतिहास)। यापनीय संघ का किस प्रकार मूलसंघ में अन्तर्भाव कर लिया गया और उसका साहित्य मूल संघ में किस प्रकार स्वीकृत्यें ठहराया गया, इस विषय पर मैं एक अलग लेख लिख रहा हूँ।

बाबें सकट को टालने की दृष्टि से उत्पन्न रकी थीं।

इस प्रकार अपने समस्त प्रतिपक्षियों को दूर कर देने के पश्चात् कुन्दकुन्द ने अपूर्व परिपूर्णता के साथ अपने संघ का पुनर्निर्माण प्रारम्भ कर दिया। अपनी मान्यताओं के जरा भी विरुद्ध जाने वाली व पुरानी व्यवस्था का कुछ भी स्मरण कराने वाली समस्त बातों को उन्होंने कठोरता के साथ दबा दिया। उन्होंने स्वयं अपना पूर्व नाम पद्मनन्दि ४५ बदल दिया। क्योंकि स्वयं वह नाम नन्दिसंघ का स्मरण करता था। सम्भवतः उन्होंने समस्त पूर्व आगमों के अध्ययन का भी निषेध कर दिया और सबके आगम के सर्वथा लोप हो जाने की मान्यता को जन्म दिया और बहुत से पाहुन स्वयं लिख लिखकर उस कमी को पूरा किया ४६। तब से उनके लिये हुए ये पाहुन ही समस्त धार्मिक एवं दार्शनिक बातों पर अद्वितीय प्रमाण ठहराये गये। उन्होंने अपने संघ का नाम मूल संघ रखा, क्योंकि उनका यह मत था कि जिस मिथान व आचार का उन्होंने विद्याम किया है। बड़ी ठीक अन्तिम नीचेकर की व्यवस्थानुसार मौलिक मिथ होता है ४७। यह भी संभव

४५ तम्यान्वयं भूविदिन वमूय यः पद्मनन्दिप्रथ-माभिधानः। ओकोण्डकुन्दादिमुनीश्वराक्यसत्सं-मादुद्रतचारणदिः ॥६॥ (भयणवेण्णोला शिखालेख नं० ४० (६४)।

४६ परम्परानुसार कुंरकुंर ने चौराही पाहुन लिखे। इनमें से कोई बारह अभी उपलब्ध हैं। देखिये प्रवचनसारकी भूमिका-डा० उपान्ये कृत, पृष्ठ २४ आदि।

४७ हिसारद्विधे कम्मे अट्टारद्विधेसवगिज्जये देवे।
निर्माये पाववयो सहर्हणं होउ सम्मत्तं ॥६०॥
(मोक्षमाधुत)

है कि वह नाम उन्हें इस कारण और भी सुक पड़ा क्योंकि वह उन बाबकाचार्य का भी नाम या उपनाम था जिन्होंने उमास्वाति को बढ़ाया था और संभवतः स्वयं उन्हें भी पढ़ाया होगा। अनपक्ष अप्रत्यक्ष रूप से वे उसकी स्मृति भी स्थिर करना चाहते होंगे।

समन्तभद्र को कुंदकुंदाचार्य के गुरु मानने में एक कठिनाई अब भी शेष रह जाती है और वह यह है कि शिलालेखों और पट्टावलिियों में यथाथर समन्तभद्र का नाम कुन्दकुन्द के प्रधान उल्लिखित किया जाता है, पूर्व नहीं। पीछे के लेखकों की इस प्रवृत्ति का कारण मेरी समझ में यह आता है कि उन का कुंदकुंद को इस युग के समस्त आचार्यों में प्रथम और प्रधान बतलाने में स्वार्थ था, अनपक्ष पूर्व के समस्त इतिहास को अंधेरे में डालने का खास तौर से प्रयत्न किया गया। दूसरी एक बात यह भी है कि कुंदकुंदाचार्य से पश्चात् भी एक नहीं, अनेक समन्तभद्र हुए हैं ४८। रत्नकरण्ड भावकाचार को उक्त समन्तभद्र पथम की ही रचना सिद्ध करने के लिये जो कुछ प्रमाण प्रस्तुत किये गये हैं ४६ उन सबके होते हुए भी मेरा अब यह मत दृढ़ हो गया है कि यह उन्हीं ग्रन्थकार की रचना कदापि नहीं हो सकती जिन्होंने आप्तमीमांसा लिखी थी, क्योंकि इसमें शेष का ५० जो स्वरूप समझाया गया है वह

४८ पं० जुगलकिशोर मुक्तार न काहें छह समंत भद्र नाम के आचार्यों का परिचय कराया है जिसके लिये देखिये रत्नकरण्ड भावकाचार की भूमिका पृ० ५-६।

४६ देखिये उपयुक्त ग्रंथ

५० भुत्तिपासाजरातङ्गजन्मांतकभयस्मयाः।

न रागद्वेषमोहारण यश्चातः च प्रकीर्त्यते ॥६॥

(रत्नकरण्ड भावकाचार, १)

आप्तमीमांसाकार के अभिप्रायानुसार हो ही नहीं सकती ५१। मैं समझता हूँ कि रत्नकरण्ड भावकाचार कुंदकुंदाचार्य के उपदेशों के पश्चात् उन्हीं के समर्थन में लिखा गया है। इस ग्रंथ का कर्ता उस रत्नमाला के कर्ता शिवकोटि का गुरु भी हो सकता है जो आराधना के कर्ता शिवभूति या शिवाय की रचना कदापि नहीं हो सकती ५२। इन पीछे के समन्तभद्र के साथ जो श्रामिपद भी जोड़ दिया गया है और पूर्ववर्ती समन्तभद्र के सम्बन्ध की अन्य घटनाओं का सम्बन्ध भी बतलाया गया है वह या तो श्रान्त के कारण हो सकता है या जानबूझ कर किया गया हो तो भी आश्चर्य नहीं।

इस लेख में शीघ्रपूर्वक जो निष्कर्ष निकाले गये हैं वे संक्षेपतः इस प्रकार हैं—

१- आवश्यक मूल भाष्य के अनुसार जिन शिवभूति ने बौद्धिक सघ की स्थापना की थी, वे स्थविरावली में उल्लिखित आय शिवभूति, तथा भगवतो आराधना के कर्ता शिवाय, एवं उमास्वाति के गुरु शिवभा में अभिन्न हैं।

२- स्थविरावली में आय शिवभूति के जो भद्र नामक शिष्य और पुत्राधिकारी का उल्लेख है, वे

५१ देखिये आप्तमीमांसा श्लोक ४ और ६ पर विद्यान्त की अष्टसहस्री टीका। आप्तमीमांसा का श्लोक ६३ भी देखिये जहां बीतराग मुनि में मुख्य दुःख की वेदना स्वीकार की गई है और उसी व्रत पर वहां की युक्ति निभर की गई है—

पुण्यं भवं स्वतो दुःखात्पापं च मुक्त्वो यदि।

बीतरागो मुनिर्विद्वान्तां वा युक्त्यान्निमित्ततः ॥

५२ रत्नमाला, सिद्धांतसारादि ग्रंथ में (मा० दि० जैन ग्रंथ २१ भूमिका)।

नियुक्तियों के कर्ता भद्रबाहु, ह्यदरावर्णीय दुर्भिक्ष की भविष्यवाणी के कर्ता व दक्षिणपथ को विहार करने वाले भद्रबाहु तथा कुन्दकुन्दाचार्य के गुरु भद्रबाहु एवं बनवासी मंथ के प्रस्थापक सामंतभद्र तथा आप्त मांमांसा के कर्ता समंतभद्र से अभिन्न हैं।

३- कुन्दकुन्दाचार्य ने संघ में कुछ बिज्जवकारी सुधार उपस्थित किये जो एक दलविशेष को ग्राह्य नहीं थे। उनके नायक उमास्वाति ने तत्त्वार्थसूत्र की रचना समझौते के लिये की, किन्तु समझौता हो नहीं सका। अतएव हम भ्वाति कुर्ममपुर व मंथमं जा मिले और वहाँ उन्होंने तत्त्वार्थाधिगम भाष्य रचा।

४- कुन्दकुन्दाचार्य के नियमों के कारण जिन्हें मंथ छोड़ना पड़ा, या जो मंथ में निकाले गये वहाँ ने अपना एक पृथक् मंथ बनाया जो याचनाय मंथ के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

५- कुन्दकुन्दाचार्य ने अपने मतों के विरोधमें

जाने वाली समस्त प्राचीन मान्यताओं को तथा तत्सम्बन्धी साहित्य को भी सर्वथा दबा देने का प्रयत्न किया और अपने संघ को मूल संघ के नाम से प्रसिद्ध किया।

६- शिला लेखों व पट्टावलियों में कुन्दकुन्द के पश्चात् जिन सामंतभद्र का उल्लेख पाया जाता है वे आप्तमांमा के कर्ता व शिवाय के प्रसिद्ध शास्त्र से पृथक् हैं। वे रत्नकरण्ड भाषकाचार के कर्ता तथा रत्नमाला के कर्ता शिवकोटि के गुरु हो सकते हैं।

७- शिवाय ने अपने संघ की रचना धीरे निर्वाणसे ६०६ वर्ष पश्चात् की थी। उसके पश्चात् अनुमानतः २० वर्ष उनके, और २० वर्ष उनके उत्तराधिकारी समंतभद्र या भद्रबाहु द्वितीय के और जोड़ देने से कुन्दकुन्दाचार्य और उमास्वाति का समय धीरे निर्वाण से लगभग ६५० वर्ष पश्चात् मित होता है।



शिवभूति और शिवाय

(प्रोफेसर डीगलास जी एम० ए० अमरावती)

आवश्यक मूलभाष्य की १ बहृधा उल्लिखित

१ कल्याणसलयार्ध नक्षत्रादं नडया मिट्टि गयम्न वीरम्न
तो बोडिआण विट्टी रहवीरपुरे समुत्पन्ना ॥१४४॥
रहवीरपुरं नगरं शिवगमुत्पन्नामात्रकगहं य ।
शिवभूतः सहिम्नी पुच्छा धेराणा कडणा य ॥१४६॥
कडाप पयधनं बोडिअ सिबभूड-उत्तरादि इमं ।
मिच्छादं सगमिणो रहवीरपुरे समुत्पन्नं ॥१४७॥
बोडिअसिबभूडो बोडिअकिगम्म डोड उपसी ।
कोडिअकुटवीरा परम्पराफममुत्पन्ना ॥१४८॥

इन गाथाओं का ठीक अनुवाद इस प्रकार होना है—जब वीर निर्वाण के पश्चात् ६०६ वर्ष समाप्त हो गये तब बोडिकों की दृष्टि रहवीरपुर में उत्पन्न हुई । रहवीर नगर के दीपक उद्योग में आये कष्ट की ये तब शिवभूति ने उपाधि सम्बन्धी प्रश्न उठाया जिसपर धेरो ने अपने अपने विचार प्रकट किये । कडापों के पश्चात् उन शिवभूति प्रधान धेरो ने 'बोडिक' स्वीकार किया । इस प्रकार रहवीरपुर में वह मिच्छा वशोत्तर हुआ । बोडिक शिवभूति से बोडिक सिग की उत्पत्ति हुई और कोडिअकुटवीर उनकी परम्परा के द्वारा उत्पन्न हुए ।

नोट—उपलब्ध पाठ की गाथा १४४ में 'उत्तरादि' पाठ ठीक नहीं प्रतीत होता । उसके स्थान पर 'उत्तरादि' पाठ रहा जान पड़ता है जिसका अर्थ होता है 'प्रधान' । उत्तरा पाठ वा तो भ्रम से वा ज्ञान (दोष दूसरे काल के नीचे देखिये)

कुछ गाथाओं के अनुसार बोडिक संघ की स्थापना महावीर के निर्वाण में ६०६ वर्ष परचान रहवीरपुर में शिवभूति के नायकत्व में हुई । बोडिकों को बहृधा दिगम्बरों में अभिन्न माना जाता है, अतः श्वेताम्बर पट्टावलिओं में वीरनिर्वाण में ६०६ वर्ष पश्चात् दिगम्बर सम्प्रदाय की उत्पत्ति का उल्लेख किया गया है ।

अब हमें यह देखने की आवश्यकता है कि क्या इन शिवभूति का श्वेताम्बर और दिगम्बर आचार्यों में में किमी के साथ एकत्व स्थापित किया जा सकता है ? श्वेताम्बरों द्वारा मुरखित आचार्यों की पट्टावलिओं में कल्पमत्र-भविष्यवली मन्त्रम प्राचीन समझी जाती है । इसमें हमें फग्गुसिग के उत्तराधिकारी धनगिरि के परचान शिवभूति का उल्लेख मिलता है :— ये ही शिवभूति मूलभाष्य में उल्लिखित शिवभूति से अभिन्न प्रतीत होते हैं जिसके प्रमाण निम्नलिखित हैं—

बुधकः उमपर में शिवभूति की बहिन की कल्पना करके इस संघ का हाम्य करने की दृष्टि में उत्तरा हुआ जान पड़ता है ।

२ धेरम्म तां अउत्तरावलिगिरिं स वासिहुत्तस्स अउत्तरावभूड धेरे अनेवासी कुच्छसगुत्ते ॥११॥ xx
अवामि फग्गुसिगं च गोवमं वण्णगिरिं च वासिहुं ।
कुच्छं सिबभूडं पि च कोसिय कुत्तव कवहं य ॥१॥

१. दोनों नाम बिन्कुल एक हैं ।

२--वर्णाधिष्ठितरावली में आचार्यों के समयका उल्लेख नहीं किया गया तथापि अन्य पट्टावलिओं का समय का भी उल्लेख मिलता है जिसके अनुसार स्वधिरावली के शिवभूति का वहां समय पड़ता है जो मूलभाष्य के शिवभूति का कहा गया है ।

३--मूलभाष्य में शिवभूति का सम्बन्ध एक और आचार्य से चलाया गया है जिनका नाम कण्ठ था उसी प्रकार कण्ठ का उल्लेख श्वशिरावर्तन के पञ्च भाग में शिवभूति के साथ साथ किया गया है ।

७- समयमन्दर ने अपनी स्थविशवर्ली को टोका में कहा है कि शिवभूति के एक ही बोटक नामक शिष्य ने निर्वाण में ६०२ वर्ष पञ्चान दिगम्बर संघ की स्थापना की थी । इस कथन का मूल भाष्य के तथा त्रिनभट्टादि, कात्याचार्य और मलयगिरि जैसे टीकाकारों की परम्परा के ज्ञान में विरोध पड़ता है जिसमें ऐसा जान पड़ता है कि एक कथन स्थविशवर्ली के शिवभूति का गौटिकसंघ के संसर्ग में बचाने के लिये जान बुझकर गढ़ा गया है । किन्तु उसमें केवल वह अभिज्ञता पूर्णतः भिन्न हो जाती है ।

अब हम यह देखने का प्रयत्न करेंगे कि क्या इन आर्य शिक्षार्थी का शिक्षण सम्प्रदाय के किमी आचार्य के साथ एकत्र मिश्र होना है ? उक्त नाम

३ शिवभूतिशिष्यः एका बाटकनामाऽभूत् ।
तस्मान् बोरान् मं० ६०१ वर्षे बाटकमनं जानं दिग-
म्बरमित्यर्थः ।

एक वन हमे आराधना करवा भगवती आराधनाके कर्ता का स्मरण दिलाता है जिनके साथ उक्त एकत्व कदाचित् सम्भव हो, क्योंकि इन आचार्य का नाम ग्रंथ में शिवार्य पाया जाता है जिनके तीन गुरुओं के नाम आर्य जिननन्दिगणि, शिवगुप्तगणि और आर्य मित्रनन्दि कहे गये हैं ५। उन नामोल्लेख में इतना तो स्पष्ट है कि 'आर्य' नाम का अंग नहीं किन्तु एक आदरसूचक उपाधि थी जो स्थविरावली में सभी आचार्यों के नामों के साथ लगी हुई पायी जाती है। अतः शिवार्य आर्य शिव के समरूप है जिसका एकत्व आर्य शिवभूति के साथ बैठना कठिन नहीं है, क्योंकि नाम के उत्तरार्ध को छोड़कर उल्लेख करना एक साधारण बात है, जैसा कि रामचन्द्र के लिये राम, कृष्णचन्द्र के लिये कृष्ण व भीमसेन के लिये भीम के उल्लेखों में पाया जाता है। फिर यह 'आर्य' उपाधि स्थविरावली में तो साधारण है, किन्तु दिगम्बर पट्टावलिओं में प्रायः अप्राप्य है और उक्त उल्लेखों के अनिर्गुण कविन ही उसका उपयोग पाया जाता है। मुझे केवल बीरसेन के गुरु आर्येनन्दि का स्मरण आता है जिनका नामो-ल्लेख प्रवृत्ता टीका की प्रशस्ति में आर्य राज्य पूर्वक किया गया है उसके अनिर्गुण शिवाय के ग्रन्थ आराधना का दिगम्बर साहित्य में कुछ असाधारण स्थान है। वह ग्रन्थ कुन्दकुन्द की परम्परा

५ अर्चा जगतां दिग्गशि-सर्वगुत्तगणि-अर्चामित्तान्दीयां
अवगमय पादभूतं मम्मं मुत्तं च अत्थं च ॥२१६१॥
पद्मार्थय्यगिणिवृद्धा उवज्जीविता इमा मससीध ।

आगहणा मिदःजेण वाणिज्जमोडणा वड्ढा ॥२५६०

का तो है नहीं क्योंकि उसमें अववाद रूप से
सुनियों के लिये वस्त्रधारण करने का भी
विधान है ४ । और उसे कुन्दकुन्द में पश्चान्काल
का निद करने के लिये कोई प्रमाण नहीं मिलता ।
किन्तु दूसरी ओर वह दिगम्बर सम्प्रदाय में पृथक्
भी नहीं किया जा सकता क्योंकि परम्परा में उसका
सम्बन्ध इस सम्प्रदाय के साथ पाया जाता है । उस
के एक टीकाकार हैं अपराजित मूर्ति जो 'आरातीय-
सूर-ब्रह्ममणि' थे, ६ और आरातीय की मध्यां-
सिद्धिकार ने सर्वज्ञ नीधंकर व अनकवली के समान
ही प्रामाणिक वक्ता माना है ७ । उसके अन्य टीका-
कार हैं अमिनगनि और आशाधर जिनका दिगम्बर

जैन सम्प्रदाय में विशेष मान है ८ । इसके अति-
रिक्त शिवार्य के गुरुओं के नामों में जो नन्दि
शब्द पाया जाता है उसमें भी उस ग्रन्थ का दिग्-
म्बरों के साथ सम्बन्ध प्रकट होता है, क्योंकि
उन्हीं में नन्दि मंत्र की बड़ी प्राचीन सत्ता पाई जाती
है और नन्दि नामान्न भी स्व प्रचलित मिलता है,
जब कि श्वेताम्बर पट्टावलियों में इस नामान्न का
उपयोग बिल्कुल ही नहीं मिलता, तथा परचान काल
में भी उसका उपयोग कचिन ही पाया जाता है ।
है । प्रायः श्वेताम्बर पट्टावलियों पर दृष्टि डालने में
मुझे तो केवल ही ही नाम उस प्रकार के दिग्मन्त्रादि
दिये—एक इन्दि-न्दि आर दूसरे उदयनान्दि ।
य दाना ही पन्द्रहवीं शताब्दी में भी पश्चान्-वालों
है ६ ।

४ जम्म वि अन्वभिचारी,

दीप्ति निद्राणिश्चो विरारिम् ।

सो वि हृ संधारगदा,

नेहिज्जोस्मगियं जिगं ॥२०॥

आवसथे व अप्पाउमो,

जो था महद्धियो हरिम् ।

मिद्धज्जो मज्जो वा तम्म हृ,

होउज अववादिथं जिगं ॥२१॥

६ चन्द्रनन्दिमहाप्रकृत्याचार्यप्रशिष्येण आरा-
तीयसूरिचूडामणिना नागनन्दिगणितपादपक्षोपमं वा-
जातमालबेन बलदेवमूर्तिशिष्येण जिनशामनोद्धरण-
धीरेण लब्धयशःप्रसरेणापराजितमरिणा धीनन्दि-
गणितानवचोदितेन रचिता ।

(विजयोदया टीका)

७ त्रयो वक्तरः सर्वज्ञनीधंकरः उत्तरो वा अन-
कवली आरातीयश्च ।

(म० सि० १, २०)

शिवार्य के तीन गुरुओं में से एक जो सर्वगुण
गर्भी थे वे आश्रय नहीं वे ही सर्वगुण ही जिनका
उल्लेख अयमबेलागोला ने ८७४ (२४५) में चार
आचार्यागचार्या के पश्चान् एवं कुन्दकुन्दाचार्य में
पुनः किया गया है १० । कुन्दकुन्दाचार्य ने अपने

८ भगवती आराधना की और भी टीकाओं
आदि के लिये देखा पंच नागुराम कृत जैन माहित्य
और इतिहास पृ० २३ आदि ।

९ पट्टावली समुच्चय—मुनि दशान विनय कृत,
पृ० २६ और ३७ ।

१० मध्याः सर्वगुणो महिषर-यनपालो महावीर-
धीरो । इत्याद्यानेकमुत्पद्य मृपदमुपेतु दीन्यनर-
म्भा, जात्यायरेषु पुण्याद जिन म जगतां कोण्डकुन्दो
यनीन्द्रः ॥२१॥

भावपाहुड़ की गाथा ५३ में शिवभूति का उल्लेख बड़े सम्मान से किया है और कहा है कि वे महातु-
भाव तुष-माष का घोषणा करते हुए भावविशुद्ध
हाकर केवलज्ञाना हुये ११ । प्रसंग पर ध्यान देने
से यहां ऐसे ही मुनि से तात्पर्य प्रतीत होता है जो
द्रव्यनिर्गता न होकर केवल भावनिर्गता मुनि थे ।
वे शिवभूति अन्य कोई नहीं वे ही स्थावरा
बली के शिवभूति आराधना के कर्ता शिवाय
ही होना चाहिये । भगवती आराधना का गाथा
११०० में तुष और तंडुल की उपमा देकर संगन्याय
द्वारा मोहमल की दूर करने की आवश्यकता बतलाते
गए हैं १० जिसके प्रसंग में ही भावपाहुड़ की गाथा
का अर्थ स्पष्ट समझ में आता है ।

इस तुष-माष अथवा तुष-तंडुल वाले मिश्रान्तका
और भा मम भद्रपाहुड़क आवश्यक निर्युक्तिसे स्मृति
है । निर्युक्ति के अनुसार महाशिवभूति के केवल-
ज्ञान प्राप्त होने से लगानार ६४० वर्ष में मान निन्दव
उत्पन्न हुए । उनमें का अन्तिम निन्दव निर्वाण से
४८० वर्ष पश्चात् दशपुर नगर में गोष्ठामाहिल के इस
उपदेशसे उत्पन्न हुआ कि जीव कम से स्पष्ट तो है पर

बन्धता नहीं है १२ । इसे ही मूलभाष्यकार ने इस
प्रकार समझाया है कि जैसे कंचुक उसके धारण
करने वाले पुरुषको स्पर्श तो करता है पर उसे बांधता
नहीं है, उसी प्रकार कम के जीव के साथ स्पष्ट किन्तु
अबद्ध होने का समन्वय है १४ । आवश्यक निर्युक्ति
की वृत्ति में मलयगिरि ने बताया है कि आर्थरक्षित
के तीन उत्तराधिकारी थे दुर्बालिका पुष्यामित्र, गोष्ठा-
माहिल और फग्गुरक्षित । गोष्ठामाहिल को बाल्मीक्य
नाम था, फिर भी आर्थरक्षितने अपने पश्चात् गणधर
दुर्बालिका पुष्यामित्र को नियुक्त किया, जिससे गोष्ठा-
माहिल को लोभ हुआ १५ । स्थविरावली के अनु-
सार पुष्यामित्र के पश्चात् फग्गुमित्र (फग्गु रक्षित),
उनके पश्चात् गन्तगिरि और उनके पश्चात् शिवभूति
हूये थे । शिवाय ने सम्भवतः गोष्ठामाहिल के उसी
मिश्रान्त की ध्यान में रखकर भगवती आराधना में
कहा है कि जब तक तुष दूर नहीं किया जायगा तब
तक तंडुलका भोगों में लमाफ, नहीं किया जा सकता
और उनकी इस भावशुद्धि की कुन्दकुन्दाचार्य ने
भावपाहुड़ में प्रशंसा की है । भावपाहुड़ की गाथा
५१ में शिवकुमार नामक भावभमरा का उल्लेख है
जो युवतिजन से घेष्टित होते हुए भी विशुद्धभूति रह

११ तुममामं वोमंती भावविमृद्धो महाणुभावो य ।

गामेण य शिवभूतं केवलगामो पृष्टं जायते ॥७०॥

(भा० पा०)

१२ जह कुंओ ग मव्हा ।

मोधेदं नदूनस्य मतुमस्य ।

नह जीवस्य ग मवकं ।

मोहममने संगमस्य ॥७१॥ (भा० पा०)

१३ बहुस्य पपम अव्वल ।

समुच्छ दुग तिग अव्वडिआ चेव ।

सत्तेण निगहगा म्वनु,

निन्थासि उ व्वडमागम ॥ ७३ ॥

१४ पुटो जहा अयडो कंचुडणं कंचुओ समसंड ।

पव पुटमयडं जीथं कम्मं समसंड ॥७४॥

(मू० भा०)

१५ देखिये—आवश्यक निर्युक्ति गाथा ७७७ की वृत्ति

संसार के पार उत्तर गये १६। इसका जब हम भगवती आराधना की ११०८ से १११६ तक की गाथाओं में मिलान करते हैं जहाँ शिवों और भोग-विलास में रहकर भी उनके विष में बच निकलने का सुन्दर उपदेश दिया गया है १७ तो हमें यह भी मन्दिर होने लगता है कि यहाँ भी कुन्दकुन्द का अभिप्राय इन्हीं शिवाय में हो नो आश्चर्य नहीं। उनके उपदेश का उपचार में उनमें सद्भाव मान लेना असम्भव नहीं है।

इस विवेचन में हम निम्नलिखित निष्कर्ष पर पहुँचते हैं—

१-बौद्धिक संघ के संस्थापक कहे जाने वाले शिवभूति स्वविरावली के प्रतिष्ठित आचार्यों में से एक थे।

२-उन्होंने पीछे नान्दिसंघ में प्रवेश किया होगा और उस संघ के आगम था उन्होंने जिननान्द, सब-गुप्त और मित्रनान्द इन तीन आचार्यों में उपदेश पाया।

३-जब ये शिवभूति स्वयं अनुक्रम में संघ के नायक हुये तब उन्होंने सम्भवतः उस संघ में कुछ

१६ भावसंवाहो य धीरो,

जुवर्द्धयणवेदिभो विमुदमर्ह ।

गामेण विवकुमारो,

परितप्तमार्गभो जादो ॥५१॥ (भा० पा०)

१७ उदयस्मि त्रायवर्द्धय,

उदयण ए लिपिर्ह जहा पउमं ॥

तह विमर्षह ए लिपिर्ह,

साह विमणसु उमिभो वि ॥५२०॥

सिगारतरंगण विज्ञासवेगाण जोअणजलाण ।

विहमियफेअण सुणी गारणहण या वुह्नि १५५५

परिवर्तन उपस्थित किये जिनके कारण उनके अनु-यायी बौद्धिक कहलाये।

४-उन्होंने मूर्ति-आचार पर आराधना, मूर्त्ता-राधना या भगवती आराधना की रचना की जिसमें उन्होंने अपना नाम शिवाय प्रकट किया है इस ग्रन्थ में ऐसा ज्ञापन पाया जाता है जो कुन्दकुन्द के शासन में पूर्वकालीन मित्र होता है।

५-कुन्दकुन्दाचार्य ने भावपादुङ्ग में जिन भावभ्रमण शिवभूति का उल्लेख किया है वे सम्भवतः ये ही शिवभूति या शिवाय हैं।

अब आगे यह प्रश्न उठता है कि क्या जिन स्थान पर शिवभूति के संघ का स्थापना हुई कही जाती है उसका भी कोई पता चल सकता है? उनके स्थान का दिग्दर्शनों में सम्बन्ध होनेके कारण दक्षिण भारत में ही उस स्थान के पाये जाने की सम्भावना प्रतीत होता है जिसे मूल भाष्य के कता ने रहवीर पुर कहा है—विशेष कर दक्षिण पश्चिम प्रदेश का गुजरात में लगाकर कोकण तक का यह भाग जहाँ पर पदस्वल्पागम मूर्त्ता का रचना के सम्बन्ध में चल पहल पाई जाती है १८। इस भूभाग पर दृष्टि डालने में हमें एक राहुवा नामक स्थान का पता चलता है जो अहमदनगर में मननाह का और पन्द्रह मील दूरी परा रोन्वे स्टेशन है। इसी स्थान का रहवीरपुर (-पुरा) के साथ समीकरण सम्भव प्रतीत होता है। भाषाशास्त्र के नियमानुसार रह-वीरपुरा नाम का शब्द होकर राहुवा बन जाना कठिन नहीं जान पड़ता।

१८ पदस्वल्पागम, भाग १, मूर्त्तिका, पृष्ठ १३ आदि

अथ बोटिक, बोटिक अथवा बोटक शब्द का अर्थ समझना शेष रहा है। समयसुन्दर का यह वक्तव्य कि वह शिवभूति के एक शिष्य का नाम था किसी भी आधार से प्रमाणित नहीं पाया जाता। श्वेताम्बर और दिगम्बर नामावलिओं में कहीं भी बोटिक या बोटक जैसा नाम नहीं दिखाई देता। किसी अन्य टीकाकार ने भी इस बात का समर्थन नहीं किया। इसके विपरीत मूल भाष्य में उस शब्द का शिवभूति के तथा एक और दूसरे शब्द लिंग के विशेषण रूप में उल्लेख किया गया है जिससे सूचित होता है कि बोटिक किसी ऐसी उपाधिविशेष का नाम था जिसका विधान शिवभूति ने पहले पहल किया होगा। मूलभाष्य में यह भी कहा गया है कि शिवभूति ने कण्ड आदि अपने माथियों में वपाधि के सम्बन्ध में विचार किया था। मूलाग्रहना में देखने में बिदिन होता है कि शिष्या ने मुनियों के लिये गमनागमन करने व उठाने धरने आदि सब क्रियाओं में प्रतिलेखन के उपयोग पर बड़ा जोर

दिया है। उन्होंने इसे ही मुनि धर्म का चिन्ह और लिंग कहा है। इस प्रतिलेखन के ये गुण भी बताये गये हैं कि वह धूलि व पसीने से मैला नहीं होना चाहिये और उसे मृदु, सुकुमार और कणु भी होना चाहिये १६। इन गुणों तथा दिगम्बर मुनियों के सुप्रसिद्ध आचार से हम यह समझ सकते हैं कि यहां शिष्या ने अपने अनुयायियों को एक पिच्छिका रखने का उपदेश दिया है। मुझे ऐसा ज्ञान पड़ता है कि उस समय बटेर के पंखे सुलभ ज्ञान पड़े और रन्ही का शिष्या और उनके अनुयायियों ने उपयोग किया होगा। बटेर के लिये संस्कृत शब्द है 'वर्तक' जो कि प्राकृत में साधारणतः बटुक, बटक, बडल या बडल हो जायागा। श्री मुधर्म स्वामी से आठ पीढ़ियों के परचाग नबमी पीढ़ी के आर्य सुदक्षि के समय से श्वेताम्बर सम्प्रदाय लिये प्रयोग किये जाने वाले कोटिक, कोटिक, कोडिक आदि शब्द के सादृश्य में यही बटक, बोटिक आदि रूपों में परिवर्तित हुआ ज्ञान पड़ता है २०।

१६ इति यादवार्णारवेवे त्रिवेगाटारो गिभीयगे मयगे
उडवण-परिवण-पसारणाओट्टामाने ॥१६॥
पडिलेडगंग पडिलेडज्जड चिल्लं यडोड सयपकंवे
विम्भासियं च लिंगं मंजयपडिल्लवरा चैव ॥१६॥
रज्जमेदाणमगहणं महवमुकुमाज्जदं लुट्ठं च ।
जत्थेदं पंच गुणा नं पडिलिडणं पसंसंति ॥१७॥

२० श्री मधर्मस्वामिनोऽष्टौ सूरीन चाबन निर्मयाः
साधवोऽनगाग इत्यादि सामान्यार्थाभिधा शिन्वाक्या-
ऽऽमीन । नबमे च तत्पट्टे कोटिका इति विशेषार्था-
वबोधकं द्वितीयं नाम प्रादुर्भूतम् ।

(नवागच्छ, पट्टवर्णी, ६)

क्या हिन्दू गम्बर और ईसाई सम्प्रदायों के तासनों में कोई मौलिक भेद हैं ?

(प्रो० होरालास जैन एम० ए०एल०-एल० बी०)

जैन समाज के दिगम्बर और श्वेताम्बर ये दो सम्प्रदाय मुख्य हैं। इन सम्प्रदायों में शास्त्रीय मान्यता सम्बन्धी जो भेद है उनमें प्रधानतः तीन बातों में मतभेद पाये जाते हैं। एक स्त्रीमुक्ति के विषय पर, दूसरे संन्यासी मुनि के लिये नग्नता के विषय पर और तीसरे केवलज्ञानी को भुक्त्याम आदि वेदभक्षण होनी है या नहीं इस विषय पर। इन विषयों पर क्रमशः विचार करने की आवश्यकता है।

१. स्त्रीमुक्ति

श्वेताम्बर सम्प्रदाय की मान्यता है कि जिस प्रकार पुरुष मोक्ष का अधिकारी है, उसी प्रकार स्त्री भी है। पर दिगम्बर सम्प्रदाय की कुन्दकुन्दाचार्य द्वारा स्थापित आम्नाय में स्त्रियों को मोक्ष की अधिकारिणी नहीं माना गया। इस बात का स्वयं दिगम्बर सम्प्रदाय द्वारा मान्य शास्त्रों में कदां तक समर्थन होता है यह बात विचारणीय है। कुन्दकुन्दाचार्य ने अपने ग्रन्थों में स्त्रीमुक्ति का स्पष्टतः निषेध किया है। किन्तु उन्होंने व्यवस्था से न तो गुणस्थान चर्चा की है और न कर्म सिद्धांत का विवेचन किया है, जिससे उक्त मान्यता का शास्त्रीय चिन्तन शेष रह जाता है। शास्त्रीय व्यवस्था से इस विषय की परीक्षा गुणस्थान और कर्मसिद्धांत के आधार पर ही की जा सकती है। तदनुसार जब हम विचार करने हैं तो निम्न परि-

स्थिति हमारे सम्मुख उपस्थित होती है—

१. दिगम्बर आम्नाय के प्राचीनतम ग्रन्थ पट्टम्बहा-गम के मूर्तों में मनुष्य और मनुष्यनी अर्थात् पुरुष और स्त्री दोनों के अलग अलग चौदहों गुणस्थान बतलाये गये हैं। देखो मन्त्र सूत्र ३३: ४५५, ४६, १०४-१०६; क्षेत्र प्र. ४३, स्थान प्र. ३४-३८, १००-११०; काल प्र. ६८-८०-८०७-८३४; अन्तर प्र. ४७ ७७, १४८-१६०; भाव प्र. ८०, ४१, ४३-८०, १४४-१६१)।

२. पृथ्वार्क कृत सर्वाधर्मिणि टीका तथा नेमिचन्द्र कृत गोम्मतसार ग्रन्थ में भी तीनों वेदों में चौदहों गुणस्थानों की प्राप्ति स्वीकार की गई है। किन्तु इन ग्रन्थों में संकेत यह किया गया है कि यह बात केवल भाववेद की अपेक्षा में घटित होती है। इसका पूर्ण स्पष्टीकरण अभितगान व गोम्मतसार के टीकाकारों ने यह किया है कि तीनों भाववेदों का तीनों त्रयवेदों के साथ पृथक् पृथक् संबंध हो सकता है जिसमें नौ प्रकार के प्राप्ति होते हैं। इसका अभिप्राय यह है कि जो मनुष्य त्रय से पुरुष होता है वही तीनों वेदों में से किसी भी वेद के साथ सम्बन्ध स्थापित कर सकता है।

३ किन्तु यह इराव्यान सन्नोरजनक नहीं है, क्योंकि—

(१) तूत्रों में जो योनिनी शब्दका उपयोग किया गया है वह द्रव्य की को जोड़ अन्वय पटित नहीं हो सकता।

(२) जहां वेदमात्र की विवेक्षा से कथन किया गया है, वहां = ये गुणस्थान तक का कथन किया गया है, क्योंकि उससे ऊपर वेद रहता ही नहीं है।

(३) कर्मसिद्धांत के अनुसार वेद-वैषम्य सिद्ध नहीं होता। भिन्न इन्द्रिय सम्बन्धी उपांगों की उत्पत्ति का यह नियम बतलाया गया है कि जीव के जन्म प्रकार के इन्द्रिय ज्ञान का लक्ष्योपशम होगा उसी के अनुकूल वह पुद्गलरचना करके उसको उदय में लाने योग्य उपांग की प्राप्ति करेगा। चक्षु-इन्द्रिय आवरण के त्रयोपशम से कर्ण इन्द्रिय की उत्पत्ति कदापि नहीं होगी और न कभी उसके द्वारा रूप का ज्ञान हो सकेगा। इसी प्रकार जीव में जिस वेद का बंध होगा उसी के अनुसार वह पुद्गल रचना करेगा और तदनुकूल ही उपांग उत्पन्न होगा। यदि ऐसा न हुआ तो वह वेद ही उदय में नहीं आ सकेगा। इसी कारण तो जीवन भर वेद बदल नहीं सकता। यदि किसी भी उपांग सहित कोई भी वेद उदय में आ सकता तो कपायों व अन्य नोकपायों के समान वेद के भी जीवन में बदलने में कौन सी आपत्ति आ सकती है ?

(४) नौ प्रकार के जीवों का तो कोई मंगति ही नहीं बैठती, क्योंकि द्रव्य में पुरुष और स्त्रीलिंग के सिवाय तीसरा तो कोई प्रकार ही नहीं पाया जाना, जिसमें द्रव्यतुल्य के तीन अलग भेद बन सकें। पुरुष और स्त्रीवेद में भी द्रव्य और भाव के वैषम्य मानने में ऊपर बतलाई हुई कठिनाइयों के अतिरिक्त और भी अनेक प्रश्न खड़े होने हैं। यदि वैषम्य हा

सकता है तो वेद के द्रव्य और भाववेद का सम्बन्ध ही क्या रहा ? किसी भी उपांग विशेष को पुरुष या स्त्री कहा ही क्यों जाय ? अपने विशेष उपांग के बिना अमुक वेद आवेगा ही किस प्रकार ? यदि आ सकता है तो इसी प्रकार पाँचों इन्द्रिय ज्ञान भी पाँचों द्रव्येन्द्रियों के परस्पर संयोग से एकही प्रकार क्यों नहीं हो जाते ? इत्यादि।

इस प्रकार विचार करने से जान पड़ता है कि वा तो स्त्रीवेद से ही तपक भेड़ी चढ़ना नहीं मानना चाहिये और यदि माना जाय तो स्त्रीमुक्ति के प्रसंगसे क्या नहीं जा सकता। उपलब्ध शास्त्रीय गुणस्थान विवेचन और कर्मसिद्धांत में स्त्रीमुक्ति के निषेध की मान्यता नहीं बनती।

मंथरी और वस्त्रत्याग

श्वेताम्बर सम्प्रदाय की मान्यतानुसार मनुष्य वस्त्रत्याग करके भी सब गुणस्थान प्राप्त कर सकता है और वस्त्र का संधेधा त्याग न करके भी मोक्ष का अधिकारी हो सकता है। पर प्रचलित विगम्बर मान्यतानुसार वस्त्र के सम्पूर्ण त्याग से ही संकसी और मोक्ष का अधिकारी हो सकता है। अतएव इस विषय का शास्त्रीय चिन्तन आवश्यक है।

१-विगम्बर सम्प्रदाय के आर्यन्त प्राचीन ग्रन्थ भगवद्गीता आराधना में मुनि के उत्सर्ग और अववाद मार्ग का विधान है, जिसके अनुसार मुनि वस्त्र धारण कर सकता है देखो गाथा (७.८-८३)।

(२) तत्त्वार्थसूत्र में पाँच प्रकार के निर्मोक्षों का निर्देश किया गया है जिनका विशेष स्वरूप सर्वाथ-सिद्धि व राजवार्तिक टीका में समझाया गया है (हेलो अभ्यास्य ६ सूत्र ४६-४७)। इसके अनुसार कदा भी वस्त्रत्याग अनिवार्य नहीं पाया जाना। वस्त्रिक

बपुरा निर्मल तो शरीर संस्कार के विशेष अनुबली कहे गये हैं। यद्यपि प्रतिसेवना कुरीत के मूलगुणों की विराधना न होनेका उल्लेख किया गया है, तथापि द्रव्यसिद्धि से पाँचों ही निर्मल्यों में विकल्प स्वीकार किया गया है "आवसिद्धिं प्रतीत्य पंच निर्मल्यसिद्धि-नो भवन्ति। द्रव्यसिद्धिं प्रतीत्य भाव्याः। (व. सू. ६, ४७ स. सि.) इसका टीकाकारों ने यही अर्थ किया है कि कभी कभी मुनि ब्रह्म भी धारण कर सकते हैं। मुक्ति भी समन्वय और निरन्तर दोनों सिद्धियों से कही गई है। "निर्मल्यसिद्धिर्न समन्वयसिद्धि-गेम वा सिद्धिर्भूतपूर्वनेयपेक्षया" (न. सू. १०, ६ म. सि.) यहाँ भूतपूर्वनेय का अभिप्राय सिद्ध होने से अनन्तर पूर्वका है।

(३) धवलाकार ने प्रसक्तसंयतोका स्वरूप बनलाने हुए जो संयम की परिभाषा दी है उसमें केवल पाच मलों के पाकन का ही उल्लेख है—“संयमो नाम हिसामृतसौवाम्यपरिमहोदयो विरतिः।”

इस प्रकार विगन्धर शास्त्रानुसार भी मुनिके लिये एकान्ततः ब्रह्मत्याग का विधान नहीं पाया जाता। हाँ कुण्डकुन्दाचार्य ने ऐसा विधान किया है, पर उसका वह प्रमाण ग्रन्थों में मेल नहीं बैठता।

३-केवली के भूत्व व्याम आदि की वेदना

कुण्डकुन्दाचार्य ने केवली के भूत्व व्याम आदि की वेदना का निषेध किया है। पर तत्त्वार्थमुद्रकार ने सबलता से कर्मसिद्धातानुसार यह सिद्ध किया है कि वेदनीयोदय अन्य क्षुधा-पिपासादि ग्यारह परीचह केवली के भी होते हैं (देखो अध्याय ६ सूत्र = १७) सर्वार्थसिद्धिकर एवं राजवार्तिककार ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि मोहनीय कर्मोदय के अभाव में वेदनीय का प्रभाव प्रज्वलित हो जाता है

इस से वे वेदनाएँ केवली के नहीं होती। पर कर्म-सिद्धांत में यह बात सिद्ध नहीं होती। मोहनीय के अभाव में रागद्वेष परिहृति का अभाव अवश्य होगा पर वेदनीय-अन्य वेदना का अभाव नहीं हो सकेगा। यदि वैसा होता तो फिर मोहनीय कर्म के अभावके पश्चात् वेदनीय का उदय माना ही क्यों जाता ? वेदनीय का उदय सयोगी और अयोगी गुणस्थान में भी आयु के अन्तिम समय तक बराबर बना रहता है। इसके मानते हुए तत्सम्बन्धी वेदनाओं का अभाव मानना शास्त्रसम्मत नहीं ठहरता।

दूसरे समन्तभट्ट भ्रामरी ने आत्ममोमांसा में भी त राग के भी मुख्य और दुःख का सद्भाव स्वीकार किया है यथा—

पुण्यं ध्रुवं स्वतो दुःखा-

त्पापं च मुक्त्वा यति।

वांतरागो मुनिर्विद्वान्ता-

स्यां युञ्ज्यान्निमित्ततः ॥६३॥

—x—

(नोट—ऊपर के तीनो लेख श्रीमान प्रोफेसर हीरालाल जी के हैं। इनमें से पूर्वोक्त दो लेखों का उत्तर श्रीमान पं० रामप्रसाद जी शास्त्री ने अपने लेख के परिशिष्ट में तथा जैनबोधक पत्र में एवं पवित्र नरवारीक्षेत्र जी न्यायाचार्य व पवित्र परमानन्द जी शास्त्री सरसाबा ने अनेकान्त में दिया है। जैन-बोधक और अनेकान्त के वे लेख इस ग्रन्थ में पं० रामप्रसाद जी शास्त्री के लेख के पीछे उद्धृत हैं। तीसरे लेख का उत्तर समन्वय विद्वानों ने लिखा है।)



(२)

श्रीगान पं० रामप्रसाद जी शास्त्री बम्बई



• श्री बीतरगाय नमः •

श्री गिम्बर जैन सिद्धान्त दर्पण

२

[श्रीमान् प्रोफेसर हीरालाल जी साहब एम० ए०, एन-एन० वा०के 'जैन इतिहास का एक विलुप्त अध्याय', 'श्री-भूति', 'मंयमी और बस-रयाग', 'केवली के भूत्व-प्पाम की चेदना' इन चार विषयों पर क्रमानुसार विचार]

मंगल श्लोक

श्रीमान् सत्त्वहितकरो गुणधरो यः कुन्तकुन्दप्रभुः ।

भक्तानामभिवाद्धनीयसुखदः सत्कार्यकार्याद्भुतः ॥

श्रीसीमंभरतीर्थभक्तिवशगः श्रीभद्रबाहुप्रभोः ।

शिष्यः प्राभूतकादिशास्त्रमृज्जन्त्यायात स नः श्रीगुरुः ॥१॥

[जैन इतिहास का एक विलुप्त अध्याय]

श्रीमान् प्रोफेसर हीरालाल जी साहब एम० ए०, एल-एल० बी० नागपुर ने 'जैन इतिहास का एक विलुप्त अध्याय' नामक पुस्तक प्रकाशित की है। इस पुस्तक का सम्बन्ध 'शिवभूति और शिवाय' नामक पुस्तक से बहुत घनिष्ठ है, अर्थात्—उस पुस्तक की यदि सार्थकता सिद्ध हो गई होती तो इस पुस्तक की भी सार्थकता अवश्य सिद्ध हो सकती थी। परन्तु इस पुस्तक विषयक विचार से मैंने जैन-बोधक के बीर निर्वाण २४७० संख्या ११-१२-१४-१५ के इन ४ अंकों में यह अच्छी तरह से सिद्ध कर दिया है कि—'जो उस पुस्तक से 'शिवभूति और शिवाय' को

एक समझ गया है वह किसी भी हेतु और प्रमाण से मिट नहीं हो सकता। जब यह बात सिद्ध हो गई है और उसका प्रतिवाद आज तक प्रोफेसर जी साहब से नहीं हो सका है तो फिर उस पुस्तक से सम्बन्ध रखने वाली इस पुस्तक का स्थिति किसी भी प्रकार नहीं टट्टर सकती। अर्थात्—मूलो नास्ति कुतः शास्त्रा' इम वस्तुस्थिति की स्थिति इस पुस्तक की सत्ता को मिट करती है। तथापि इस पुस्तक में कई बातें ऐसी हैं कि जिन पर विचार करने से इस पुस्तक की असारता के साथ उस 'शिवभूति और शिवाय' नाम की पुस्तक की असारता विशेषतया पुष्ट होगी।

दूसरे इस पुस्तक के खण्डन से श्रीमान पूज्य श्री १०८ आचार्यवर कुन्दकुन्द स्वामी की अति प्राचीनता भी सिद्ध होगी जिसका कि सम्बन्ध 'श्री-मुक्ति आदि' तीन विषयों के खण्डन में मुख्यतया साधन है। इसी मुख्य विषय को लक्ष्य में रखकर इस पुस्तक-विषयक विचार के खण्डन की मफलता समझी गई है। इस लिये प्रथम—इस पुस्तक के विचार करने का प्रयत्न है जोकि इस प्रकार है—

प्रथम ही इस पुस्तक में आपने जो यह लिखा है कि 'श्वेताम्बर मूल भाष्य का गाथा में 'को-दिम कुट्टवीरा' का उल्लेख आया है, अतः 'शिव-भूति-शिशय' के उत्तराधिकारियोंकी खोज करना है।'

यहां पर सबसे पहले तो विचार यह है कि 'कोदिम कुट्टवीरा' से जो आपने श्री कुंदकुंद स्वामी को समझ रखा है, वह बिलकुल ही निराधार है। कारण कि कल्पसूत्र की स्थविरावली में मालूम हुआ है कि 'कोदिम' का अर्थ 'कौडिन्य' गोत्र है। जोकि 'भबभूति' और 'सुप्रभ' गणधर का गोत्र माना गया है। और 'कुट्ट' शब्द का कुछ भी अर्थ होता नहीं। इससे यह मालूम पड़ता है कि यहां पर 'कुट्ट' की जगह 'कुट्ट' शब्द होना चाहिये। 'कुट्ट' शब्द का अर्थ 'कुट्ट' गोत्र हो सकता है। और 'वीरा' शब्द का अर्थ—श्री वीर स्वामी के गोत्र का उद्भावक यानी सूचक 'करय' गोत्र हो सकता है। इस तरह सब शब्दों का अर्थ 'कौडिन्य, कुत्स्य, करय इन गोत्रों के आचार्य परम्परा के स्पर्श से हुए, ऐसा उस गाथा के उत्तरार्द्ध* का अर्थ हो सकता है, न कि उस

* कौडिन्य कुट्टवीरा परम्परा का समुपपत्ति।

(मूलभाष्य श्वेताम्बर)

शब्द का अर्थ 'कुंदकुंद' हो सकता है। कारण कि 'कुंदकुंद' अर्थ के लिये इस पुस्तक भरमें कोई आगम, पुष्टि, शिलालेख आदि एक का भी प्रमाण नहीं दिया है, दूसरे 'कोदिम कुट्टवीरा' यह शब्द बहुवचनान्त है तथा 'उपपत्ति' यह क्रिया भी बहुवचन है। इससे भी यह पता लगता है कि इन वाक्यों से बहुतसे आचार्य प्रमाण किये हैं। अतः 'कोदिम कुट्टवीरा' से जो आपने श्री कुन्दकुन्द स्वामी को समझ रखा है वह सर्वथा निर्मूल है। कारण कि कुन्दकुन्द स्वामी का सम्बन्ध यहां कुछ भी प्रयोजन नहीं रखता, किन्तु तब तद् गोत्रीय आचार्यों में ही यह 'कोदिम कुट्टवीरा' शब्द सम्बन्ध रखता है।

आगे आप लिखते हैं कि—स्थविरावली के अनुसार शिवभूति के शिष्य और उत्तराधिकारी 'भद्र' हुए। इस लिखावन में आपने 'भद्र' से द्वितीय 'भद्रबाहु' को समझा है, जिसकी कि पुष्टि आपने 'भवण बलंगोला शिलालेख नं० ४० (६४)' में की है। परन्तु उस शिलालेख का अर्थ आपने बिलकुल ही उल्टा (विपरीत) किया है। शिलालेख नीचे लिखे अनुसार इस प्रकार है—

श्री भद्रः सर्वतो यो हि भद्रबाहुरिति श्रुतः।

भद्र-केशलि-नाथेषु चरमः परमो मुनिः॥

चन्द्रप्रकाशोऽवलसान्द्रकीर्तिः, भोचन्द्रगुप्तोज्ज्वलितस्य शिष्यः। यस्य प्रभावान्न वनदेवताभि-

राराधितः स्वस्य गणो मुनीनाम्॥

इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि सर्व तरफ से जो श्री शोभा या लक्ष्मीकर भद्र भेष्ट हैं और भुक्तकेशियों में अन्त के उत्कृष्ट मुनि हैं। और चन्द्रप्रकाश के समान उज्ज्वल (धवल) महान कीर्ति के धारक जिनके

(भद्रबाहु प्रथम के) शिष्य भी चन्द्रगुप्त राजा हुए जिसके (भद्रबाहु के) प्रभाव से बनेदेवताने उनके मुनियों का गण (समूह) सम्मानित किया ।

इस शिलालेख में स्पष्ट है कि शिलालेखस्थ भद्रबाहु प्रथम थे जोकि अन्तिम भुनकेवली थे । न कि शिवभूति के शिष्य या दूसरे 'भद्रबाहु' थे ।

दूसरे शिलालेख में आपने भद्रबाहु को द्वितीय भद्रबाहु समझ रक्खा है—वह भी ठीक नहीं है । दूसरा शिलालेख निम्न प्रकार है—

श्री गौतमगणधरसाज्ञान शिष्य लोहाचार्य-जम्बु-विष्णुदेवापराजित-गोवर्द्धनभद्रबाहु-विशाख-प्रोष्ठिल-कनकचर्य--जयनाम-सिद्धार्थधृतिपण-मुद्रिलादि-गुर-परमरीण--क्रमागत-महापुङ्गव-संततिसमवशोतिना-न्वय-भद्रबाहु-स्वामिना उज्जयिन्यामष्टाङ्गमहानिमित्त-त्वज्ञेन श्रीकाल्यदर्शिना निमित्तेन द्वादश-सम्पन्न-सरकाल-वैषम्यमुपलभ्य कश्चिन् सर्वसङ्ग उत्तरपथा-हर्षिणपथं प्रस्थितः इत्यादि ।

इस शिलालेख में गोवर्द्धन के पास एक भद्रबाहु शब्द का उल्लेख है । उनको तो प्रोपेसर साहब ने प्रथम भद्रबाहु समझा है । परन्तु आगे 'महापुङ्गव-सन्तति समुपोतितान्वय-भद्रबाहु स्वामिना' शब्द में दूसरे भद्रबाहु को समझ रक्खा है । वह एक व्याकरण की अज्ञानकारी का और उरकुरक परिस्थिति पर गहरी दृष्टि नहीं देने का परिणाम है । दिगम्बर जैन सम्प्रदाय में अष्टांग महा निमित्त जानी कोई भी दूसरे भद्रबाहु नहीं हुए हैं, किन्तु पंचम भुनकेवली जो भी भद्रबाहु स्वामी हुए हैं वे ही अष्टांग निमित्त के पूर्ण ज्ञाता थे । कारण कि वे भुनकेवली थे । इस लिये निम्नलिखित महानिमित्त के वे ही ज्ञाता हो

सकते हैं ।

व्याकरणके हिन्दासे 'महापुङ्गव संतति' जो शब्द है वह बिभक्ति रहित समास के अन्तर्गत है, उसका सप्तमी तरुगरी समास के सम्बन्ध से विग्रह में 'महापुङ्गवसंतति' या 'महापुङ्गवसंततिपु' ऐसा विग्रह करने पर और 'समुपोतितान्वय' के साथ 'भद्रबाहु-स्वामिना' शब्द होने से प्रथम भद्रबाहु स्वामी ही परिगणित हो सकते हैं । क्योंकि उनने अपने पीछे की मुनि परम्परा को दुष्काल से भ्रष्ट होते हुए बचाया था । इसी लिये 'समुपोतितान्वय' यह विशेषण उनके लिये लागू पड़ता है, क्योंकि अन्वय शब्द का अर्थ 'पञ्चान कालीन गण-गच्छ' होता है या अन्वय शब्द का 'अनुपूर्वीसे चला आया गण गच्छ' भी अर्थ होता है । उस गण गच्छ को जिन्ने भ्रष्टाचार से बचाकर रक्षण किया था । इस लिये वे 'समुपोति-तान्वय' विशेषण वाले हुए ।

महाट्ट चन्द्रगुप्त के समय में कथानक से इन्हीं भद्रबाहु स्वामी या यथेन प्रसिद्ध है, न कि किन्हीं शिवभूति के शिष्य भद्रबाहु का । दिगम्बर सम्प्रदाय में तो कोई भी शिवभूति के शिष्य 'भद्रबाहु' नहीं हुए हैं । क्योंकि दिगम्बर सम्प्रदाय के किसी भी शिलालेख या ग्रन्थ में इस तरह का कही भी यथेन नहीं मिलता । यदि इन उपयुक्त शिलालेखों में कही पर शिवभूति के शिष्य 'भद्रबाहु' का वर्णन पाया जाता तो प्रोपेसर साहब की कल्पना को कुछ टेका भी मिलना । परन्तु ऐसा कहीं भी यथेन न होने से यह एक असंबद्ध कल्पना ही है । जैसी कि आपने श्री समन्वयभद्र स्वामी के विषय में कल्पना की है ।

आश्चर्य है कि उस कल्पना से द्वितीय भद्रबाहु को कल्पित कर समन्तभद्र स्वामी के साथ सम्बन्ध आपने जोड़ा है। जिसका अनेकान्त के वर्ष ६ क्रि.श. ११-११ पत्र ३३० में श्रीमान पं० दरबारीलाल जी न्यायतीर्थ कोटिया ने अकाशय युक्तियों से खण्डन किया है। जो कि ५६ महत्त्व का होने से इस ट्रैक्ट के साथ मुद्रित है। अतः इस विषय को पुनरुक्त और विस्तार भय में चर्चित नहीं किया है।

उपर्युक्त सब कथन से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि दिगम्बर सम्प्रदाय में दूसरे कोई भी पूर्ण निमित्त ज्ञानी भद्रबाहु नहीं हुए तथा समन्तभद्र और भद्रबाहु एक व्यक्ति नहीं थे। दिगम्बर सम्प्रदाय के हिसाब से 'शिवाय'ने ही समन्तभद्र के संघ में प्रवेश किया, जिनने कि भगवतो आराधना नामक महान ग्रन्थ का निर्माण किया, न कि शिवभूत के संघ में समन्तभद्र स्वामी ने प्रवेश किया था।

चन्द्रवंश उनका राजपि चन्द्रगुप्त की परम्परा में हो सके तो भले ही संभावित हो, परन्तु दिगम्बर सम्प्रदाय में तो समन्तभद्र स्वामी के चन्द्रवंश का कहीं भी उल्लेख नहीं है। 'वनदासी' यानी वे प्रायः वन में ही रहा करते थे। इस लिये श्वेताम्बरग्रन्थ कथित समन्तभद्र स्वामी के ये दो विशेषण इस रीति से संभावित हो सकते हैं। वास्तव में देखा जाय तो 'नुकाके हरे पर से खुश जुदा हो जाता है।' इस दृष्टि से विचार किया जाय तो श्वेताम्बरों के 'सामंत भद्र' और दिगम्बरों के 'समन्तभद्र' जुड़े ही स्थिर हो सकते हैं।

दिगम्बर सम्प्रदाय के लेखों से स्पष्ट है कि समन्तभद्र स्वामी ने अपनी अद्वैत जिनभक्ति रूप

स्तोत्र की सामर्थ्य से चमत्कार दिखलाकर शिवकोटि राजा (शिवाय) को अपना परम शिष्य बनाया था। फिर मालुम होता है कि शिवाय ने भी अपना कोई शिष्य बनाया हो जोकि बहुत करके 'घोषनदी' थे। तथा घोषनदी ने भी अपना कोई शिष्य बनाया हो जिनका कि नाम उमास्वाति प्राप्त होगा जो कि पहले श्वेताम्बर रहें होंगे फिर उनने घोषनदी का शिष्य बन कर कुछ भाग दिगम्बर सम्प्रदाय का और कुछ भाग श्वेताम्बर मान्यताओं का स्वीकार किया होगा। उनने ही उमास्वामी के तत्त्वार्थमूत्र को अपने दाँचे में कुछ इधर उधर धरके टीका लिखी होगी जिसका कि नाम माध्य है।

कारण कि तत्त्वार्थमूत्र की रचना तो समंतभद्र स्वामी से पहले उमास्वामी कर चुके थे। क्योंकि उनके ऊपर समन्तभद्र स्वामी का एक गंधहस्ति महा-भाष्य लिखा गया था। ऐसा कथन लघु समंतभद्र का अष्टसहस्री टिप्पण+ में और हस्तमालि कबीरवर का विक्रम कीर्तव नाटकx में पाया जाता है इस कथन से स्पष्ट सिद्ध है कि भीसमन्तभद्र की शिष्य-परम्परा में घोषनदी तक पूर्ण दिगम्बर परम्परा रही। क्योंकि

+ इह हि त्वत्तु पुरा स्वीयनिरवर्णविशसंयमसम्प्रदा-
गणधर-प्रत्येक-मुद्र-भूतकेवालि-दरापूर्वाणां सूत्र-
कृमद्विपीणां महिमानमात्साकुर्वन्निः भगवद्भि-
रमास्वामिपादैराचार्यैर्द्वैरासूत्रितस्य तत्त्वार्था-
धिगमस्य मौक्त-शास्त्रस्य गन्धहस्तारुच्यं महाभाष्य
मुपनिबध्नतः स्याद्वाद्-विद्यामगुरुवः श्री स्वामि-
समंतभद्राचार्याः ॥

x तत्त्वार्थमूत्रस्याख्यानगन्धहस्तिप्रवर्तकः ।

स्वामी समन्तभद्रोऽमूत्रेवागमनिवेशकः ॥

‘नन्दिस्तंभ’ स्तम्भ दिगम्बरों का माना जाता है उसकी परम्परा चोवनंदी तक समन्तभद्र की परम्परा में रही अनन्तर चोवनंदी के शिष्य ब्रह्मण उमास्वाति ने उनकी परम्परा को बदल दिया और शाबद यापनीय संघ की उत्पत्ति उन्हीं उमास्वाति ब्रह्मण से हुई हो तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है।

श्री कुन्दकुन्द स्वामी अपने को श्री भूतकंबली भद्रबाहु स्वामी का साक्षात् शिष्य लिखते हैं। पद प्रभृति के बाधप्रभृति में इस त्रिपयक-गाथा—

महाविद्या हृषी-भाभागृत्तमु जं जिणे कहियं।

मो तह कहियं गायन मीसंग य भद्रबाहुम्स ॥६१॥

अर्थ—शब्द विकार रूप परिणत हुआ और जिमें श्री जिनेंद्र भाषा मूर्तों में कहा है वह उमी प्रकार भद्रबाहु के शिष्य (मैंने) जाना है।

इस गाथा में ग्रन्थकर्ता ने अपनी लघुता के साथ अपने वचनों की प्रमाणता सूचित की है। अब वह आगे की गाथा में इस बात को सूचित करने हैं कि वे भद्रबाहु स्वामी केन में थे।

—गाथा—

वारम अंग विद्यांग चउदस पुर्वंग विउल विथरणं
मुख्याणि भद्रबाहु गमयगरु+ भयवओ जयओ ॥६२॥

अर्थ—जो द्वादशांग के विद्वान से युक्त हैं और चौदह पूर्वंग के महान विद्वान को करने वाले हैं तब अनजानी गमकों के गुरु भगवान भद्रबाहु जयवन्त रहो।

+ जैसा सूत्र का अर्थ होता हो वैसे ही अर्थ को जाने उसे ‘गमक’ कहते हैं। इस शब्द से ग्रन्थकार ने भद्रबाहु को अपना गुरु प्रगट किया है यह ६१वीं गाथा के आख से स्पष्ट है।

इन दो गाथाओं से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि इस बदमाश्रुत अथवा अष्टमाश्रुत ग्रन्थ के कर्ता जो कोई हैं वे श्री भद्रबाहु स्वामी के साक्षात् शिष्य हैं और भद्रबाहु स्वामी वे ही हैं जोकि अंतिम भूत-कंबली हैं।

जो बीतरागी मुनि अपनी लेखनी से जिस बात को लिखते हैं वह बात सच्चा सत्य होती है उसके लिये दूसरे प्रमाण शिलालेख ताक्षपत्र आदि सामग्री कुछ भी कार्यकारी नहीं गिनी जाती।

श्री प्रोफेसर साहिव को जिस तरह श्वेताम्बर का थापनीय भाष्य के अन्त में लिखी प्रशस्ति प्रमाण है उसी प्रकार इस ग्रन्थ-लिखित जो ऊपर की गाथा है वे भी प्रमाण माननी चाहिये और उनके प्रकाश में ही श्री ग्रन्थकर्ता कुन्दकुन्द स्वामी का समय निश्चित समझना चाहिये। क्योंकि अन्य कल्पित घटित प्रमाणों में स्वयं ग्रन्थकर्ता द्वारा लिखित प्रमाणों की जो कीमत है वह दूसरे की कदापि भी नहीं होती।

इन उपर्युक्त गाथाओं के आश्रय में यह बात स्पष्ट सिद्ध है कि श्री कुन्दकुन्द स्वामी—अभी प्राप्त दिगम्बर परम्परा के प्राचीन आचार्य श्री धरसेनाचार्य पुण्ड्रान्त और भूतकंबली में भी प्राचीन हैं। इस लिये उनकी परम्परा श्री धरसेनाचार्य पुण्ड्रान्त भूतकंबली और उमास्वामी आदि से बहुत ही प्राचीन है। श्री बदख्शगम में भी सूत्र दृष्टि से बिचार किया जाय तो उसके सूत्रों में कुन्दकुन्द परम्परा का ही अनु-करण है। जिसका कि रहस्य प्रोफेसर हीरासाहजी की समझ में नहीं आया है यदि करीक दृष्टि से आप बिचार करते तो यह विषय आप जान लेंगे। अस्तु।

पदसंहागम आदि मंत्रों का विषय श्री कुन्दकुन्द स्वामी के अभिप्रायों से किस प्रकार सम्बद्ध है उसका स्पष्टीकरण इस भाग के लिखे लेख के अनुसार है।

प्रोफेसर हीथलाल जी एम० ए०, एल एल० बी, ने उपर्युक्त दो पुस्तकों के अलावा “अश्विनी भारत-वर्षीय प्राक्य सम्मेलन” (१२वां अधिवेशन बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय) में एक परचा अभ्यक्त की हैसियत से विचारार्थ रक्खा उसमें ‘स्त्रीमुक्ति, संयमी और ब्रह्मत्याग, केवली के भूख त्यास की वेदना’ इन तीन बातों का मतभेद दिगम्बर और श्वेताम्बर सम्प्रदाय में मुख्यतया बतलाया। परन्तु दिगम्बर सम्प्रदाय में अन्यमत के लिंग से मुक्ति नहीं होती, केवलज्ञान अवस्था में केवली को उपसर्ग नहीं होता इत्यादि और भी बहुत सी बातों में दिगम्बर और श्वेताम्बर सम्प्रदायों में मुख्य मतभेद हैं। अस्तु, यहां आपने मुद्रित परचे में तीन ही मुख्य बातें ली हैं उन्हीं पर क्रमशः विचार किया जाता है।

स्त्री-मुक्ति

आपने पदसंहागम के मंत्रों को बहुत प्राचीन माना है इस लिये आपने मंत्रों के आधार से ही ब्रह्मकी के १४ गुणस्थानों का समर्थन कर मुक्ति का समर्थन किया है। इसमें प्रथम ही पदसंहागम के मंत्र ६३वें का हवाला दिया है। मंत्र निम्न प्रकार है—

सम्मासिद्धा-इष्टि-असंजदसम्माइष्टि-

संजदासंजदठाणे णियमा पजसियाओ ।६३।

इस मंत्र का आशय यह है कि निबम से पर्वति मनुष्यणी के सम्यक्दृष्टि १ असंयत सम्यग्दृष्टि २ संयतासंयत ३ ये तीन गुणस्थान होते हैं।

श्री वीरमन स्वामी इस मंत्र की व्याख्या संस्कृत भाषामें करने हैं, उसमें प्रथम पंक्ति—‘हुण्डावसर्पिण्यां स्त्रीषु सम्यग्दृष्टयः कि नोत्पद्यन्त इति चेन्न. उत्पद्यन्ते। कुतोऽवसायने ? अस्मादेवापान।

इस पंक्ति का आशय यह है कि हुण्डावसर्पिणी काल में स्त्रियों में क्या सम्यग्दृष्टि नहीं उत्पन्न होते हैं ?—(समाधान) ऐसा नहीं है उत्पन्न होते हैं। (शंका) यह बात कैसे जानी ? (समाधान) इसी श्राप प्रणीत मंत्र के आधार से यह बात जानी गई है।

यहां सबसे पहले यह बात उपस्थित होती है कि वीरमन स्वामी को इस मंत्र की व्याख्या में ऐसी पंक्ति लिखने की क्या जरूरत पड़ी, क्या हुण्डावसर्पिणी काल में दिगम्बर या श्वेताम्बर किमी भी आगम में स्त्रियों की पर्याप्त अवस्था में कहीं पर सम्यक्त्व का निषेध पाया जाता है ? यदि कहीं भी निषेध पाया जाता हो तो किमी वादी कृत्त शंका का समाधान यहां उपयुक्त था परन्तु ऐसी बात कहीं भी पाई नहीं जाती फिर श्री वीरमन स्वामी को ऐसी शंका उठाकर समाधान करने की क्यों जरूरत पड़ी। मेरी समझ में इस शंका और समाधान में भीतर की कुछ रहस्य अवश्य है। जो कि प्रोफेसर साहब का दृष्टिगत नहीं हुआ। इसी कारण उनमें उस पंक्ति का असली अर्थ नहीं किया।

इस पंक्ति का असली अर्थ तात्त्विकता को लिये हुए इस प्रकार हो सकता है। श्वेताम्बर सम्प्रदायमें स्त्रीपर्याय के लिये कुछ एक खास अवस्थाओं के

निवेष्ट का बर्णन है, यथा—रवेताम्बर-प्रवचन सारो-
द्धार तीसरा भाग पत्र ४४५-४४५ में एक गाथा
निम्न प्रकार से दर्ज है—

अरहंत चक्रि केसव बलम्भिमेय चारणे पुष्पा,
गणहरपुलायआहारगं च न हु भवियमहिलाणं ।

इस गाथा का आशय यह है कि—स्त्रियों को
अरहंतपद और चक्रवर्ति, नारायण, बलभद्र, सभिन्न-
भोताष्टादि, चारणष्टादि, पूर्वश्रुत, ये प्राप्त नहीं होते
तथा स्त्रियां गणभर नहीं होतीं पुलाक, आहारक ये
कोई भी आते उन्हें प्राप्त नहीं होती ।

रवेताम्बर सम्प्रदाय में जब स्त्रियों के लिये खास
ऐसा कथन है तो स्त्री अवस्था में 'अरहंत' पद उनको
नहीं होना चाहिये परन्तु उनके यहां चतुर्विंशति
तीर्थकरों में पन्द्रहवें श्री मल्लिनाथ भगवान को
'मल्लिबाई' तीर्थकर माना है । यह बात उपर्युक्त
गाथा में विरुद्ध जाती है, इस लिये उसका समाधान
वे इस प्रकार करने हैं कि हुंदाबसपिंगी काल में कुछ
अछंरा (अपवाद) हुआ करने हैं उनमें से यह एक
अछंरा हुआ है । अछंरा भी होता है वह अमम्भव
का नहीं होता है । फिर भी यह अछंरा इनका उंचा
कि चक्रवर्ति, नारायण आदि का न होकर एक दम
तीर्थकर (उंचीमें उंची पदवी) का आशय । अम्नु ।

उनके यहां मल्लिबाई तीर्थकर हुई इसी बात को
मन में रख कर रवेताम्बरों की तरफ से जो शंका
उठाई गई है उसका इस मंत्र में समाधान है ।
रवेताम्बरों की तरफ से भी यह शंका क्यों उठाई
गई उसका समाधान इस प्रकार है कि मंत्र में तीन
शब्दों का सदभाव पर्याप्त अवस्था में बताया
गया है परन्तु मल्लिबाई ने तीर्थकर पदवी का पहले

बंध करके जन्म लिया और तीर्थकर प्रकृति का बंध
सम्यक्त्व के सदभाव में ही होता है इस लिये उनका
सम्यक्त्व सहित जन्म लेना सिद्ध होने से अपर्याप्त
दशा में स्त्री को सम्यक्त्व आ जाता है इसी भाव को
मन में रख कर 'सम्यग्दृष्टयः उत्पद्यन्ते' शंका की
गई है । उसका समाधान—'इतिचेत्', नोत्पद्यन्ते'
ऐसा चाहिये था परन्तु इसे बिना समझे ही—'इतिचेत्',
उत्पद्यन्ते' किया है । यह सब 'सम्यग्दृष्टयः', पद पर
और 'उत्पद्यन्ते' क्रिया पर नहीं लक्ष्य देनेका परिणाम
है । 'सम्यग्दृष्टयः' का अर्थ सम्यग्दर्शन—विराष्ट
'उत्पद्यन्ते' उत्पन्न होते हैं, ऐसा अर्थ होने से उत्पन्न
दशा के पूर्व की दशा में यानी गर्भाधान के समय में
अपर्याप्ता स्वयमेव आ जाती है, अतः सूत्र में
'पर्याप्ता' होने से शंकाकार को शंका का स्थान मिल
जाता है । और उसका समाधान 'नोत्पद्यन्ते' क्रिया
से ठीक बैठ जाता है ।

यह सब लिखने से यहां प्रकरणगत बात यह
सिद्ध हो जाती है कि स्त्री पर्याय में 'अरहंत' होने
आदि की शक्ति नहीं है फिर मोक्ष की बातों तो बहुत
दूर है ।

पदम्बुण्डागम सनप्ररूपणा योगद्वार योगमार्गणा
प्ररूपण पत्र ३३० मंत्र ६३ में—'स्वजरासंजद' शब्द
के आगे 'ट्राणे' के ऊपर १ का अंक देकर नीचे
टिप्पण दिया है कि—'अत्र 'संजद' इति पाठशेषः
प्रतिभाति ।' मालूम पड़ता है कि यह टिप्पण ध्वला-
टीका की 'अस्मादेवार्पाद् द्रव्यस्त्रीणां निवृत्तिः
सिद्धयेदिति चेन्न' इस पंक्ति को देख कर दिया है ।
इस वाक्य का यह अर्थ होता है कि इसी ६३वें के
के श्रुतिप्रणीत मूत्राधार से द्रव्यस्त्री को मोक्ष सिद्ध

होगी, परन्तु ऐसी बात नहीं है 'इतिचेन्न' इस पंक्ति से उत्तर का पूर्वार्ध वाक्य लिख कर आगे समाधान दिया है। वह इस प्रकार है—

'सवासस्त्वादप्रत्याख्यानगुणस्थितानां संयम-
नुपपत्तेः।' इसका आशय यह है कि वस्त्र सहित होने से अप्रत्याख्यान कपाय का उदय होता है अतः 'संयम' छट्ठा गुणस्थान आदि नहीं होता है। इसके आगे शंकाकार ने शंका की है कि—

'भावसंयमस्तासां सवाससामर्थाविच्छेद इतिचेन्न'।

इसका आशय यह है कि वस्त्रसहित होने पर भी उनके भाव संयम आविच्छेद है अर्थात् हो सकता है। इस जगह यह बात उपस्थित होती है कि यदि सूत्र में 'संजद-संयत' यह पाठ होता तो शंकाकार अवश्य ही ऐसी शंका करता कि-सूत्रे 'संजद, इति पदस्य सद्भावः कथं' अर्थात् मृत्र में संयत यह पद क्यों है। परन्तु ऐसी शंका नहीं करके 'भावसंयमस्तासां मित्यादि, शंका की है इससे स्पष्ट मालूम पड़ता है कि सूत्र में 'संजद' शब्द नहीं है।

तथा आगे इसी प्रकरण के पत्र ३३३ की चौथी लाइन में 'कथं पुनस्तासु चतुर्दश गुणस्थानानि, ऐसी शंका की है। यहां पर 'उपस्थितं परित्यज्य अनु-
पस्थितं मानाभावान्' इस न्याय को छोड़ कर 'संजद' के स्थान में चतुर्दश गुणस्थान लिया है। उससे भी ज्ञात होता है कि सूत्र में 'संजद' शब्द नहीं है।

इस सब निष्कर्ष से मालूम होता है कि जिस धबला की पंक्ति से प्रोफेसर साहब ने सूत्र में 'संजद' टिप्पण दिया है वह पंक्ति उस रूप में नहीं है किन्तु अशुद्ध है। वह पंक्ति-'अस्मादेवार्थाद् द्रव्यस्त्रीणां

न निर्वातिः। सिद्धयेदितिचेन्न' ऐसी होनी चाहिये।

इसका आशय यह है कि इसी आर्यसूत्र से द्रव्य-
स्त्रियों को मोक्ष नहीं होता। यह धबलाकार का कथन है। इस पर शंकाकार अपने मन में आगे के सूत्रों की तथा अनिमित्त में भावप्रधान की धारणा हृदयमें रख कर शंका करता है कि-'सिद्धयेन' द्रव्यस्त्री को मोक्ष मिद्ध होगा। उसकी शंकाका समाधान श्रीबीर-
सेन स्वामी ने 'इतिचेन्न' शब्द करके आगे दिया है।

इस सब कथन में यह बात भले प्रकार समझ में आजाती है कि सूत्र में 'संजद' शब्द नहीं है। जब सूत्र में 'संजद' शब्द ही नहीं है ना फिर यह बात अनायास ही सिद्ध हो जाती है कि द्रव्यस्त्री के पांच गुण स्थान तक ही होते हैं दूसरे सूत्रमें पर्याप्त शब्द पड़ा है, वह अच्छी तरह से मिद्ध करता है, कि-
द्रव्य स्त्री का ही यहां प्रहण है क्योंकि पर्याप्तियां सब पुद्गल द्रव्य ही हैं उनमें जो स्त्रीका शरीर बना है वह द्रव्य स्त्रीका ही बोधक है।

यहां एक विशेष बात और है कि सूत्रमें 'पर्याप्त' शब्द तो है ही उसमें यदि 'संजद' शब्द और भी होता तो फिर श्री बीरसेन स्वामी शंका का उत्थापन करके भाव स्त्रीका प्रतिपादन करते हुए समाधान नहीं करते

अर्थात्-पर्याप्तसे तो द्रव्य स्त्रीको समझकर और वहां छट्ठा गुणस्थान वाचक 'संजद' शब्द देख कर भाव स्त्री शब्द लिख कर समाधान नहीं करते। इससे स्पष्ट मालूम होता है कि सूत्रमें 'संजद' शब्द है ही नहीं। इसी लिये श्री बीरसेन स्वामी ने भावस्त्री का प्रतिपादन करके स्वतः उठाई हुई शंका का समाधान किया है। इस सब लेख से यह स्पष्ट हो जाता है कि द्रव्यस्त्री के आदि के पांच ही गुणस्थान होते हैं।

इस सूत्र का मुख्य तात्पर्य भी वही है।

आगे भावकीवेदमें १४ गुणस्थान कैसे हो सकते हैं और भाव वेद इस ग्रन्थ में कहाँ से आया, इस बात के निर्णय के लिये क्षेत्रानुगम 'मनुष्य प्ररूपणा' पत्र ७३ देखिये—

'मणुसगदीए मणुस मणुसपज्जतमणुसणीसु मिच्छादिट्ठि पटुटि जाव अजोगकेवली केवडिस्वेने लोगस्स असंखेज्जदिभागो' ॥११॥

क्षेत्रानुगम 'मनुष्य प्ररूपणा' पत्र २१६

'मणुसगदीए-मणुस-मणुसपज्जत-मणुसिणीसु मिच्छादिट्ठि केवडियं खेतं पोसिदं, लोगस्स असंखेज्जदिभागो' ॥ ३४ से ३८ सूत्र तक।

कालानुगम 'मनुष्यकाल प्ररूपणा'—

'मणुसगदीए-मणुस-मणुसपज्जत मणुसिणीसु मिच्छादिट्ठि केवचिरं कालदीहोति, णाणाजीवं पटुच सव्यद्धा' ॥६८॥

अन्तरानुगम 'मनुष्य अन्तरप्ररूपणा' पत्र ४६ सूत्र ४७ से ७७ तक

'मणुसगदीए मणुस-मणुसपज्जत मणुसिणीसु मिच्छादिट्ठिअन्तर केवचिरं कालदीहोति णाणाजीवं पटुच एत्थि अन्तरं एतन्तरं'।

भाषानुगम 'मनुष्यभावप्ररूपणा' पत्र २१३—

'मणुसगदीए-मणुस-मणुसपज्जत मणुसणीसु मिच्छादिट्ठिपटुटि जाव अजोगकेवकिति आधं' ॥२२

अल्पबहुत्वानुगम 'मनुष्याल्पबहुल प्ररूपणा'—

'मणुसगदीए-मणुस मणुसअपज्जत मणुसिणीसु तिसु अत्थसु उवममापवेमणोण तुल्लथोवा'। सूत्र ५३ से ८० तक।

इन सब सूत्रों में केवल-मणुसिणी-(मनुष्यनी) को ही लिया है और सत्प्ररूपणा के ६३ वें सूत्र में पर्याप्त मनुष्यनी को ही लिया है। केवल मनुष्यनी के बाले सूत्रों में चौदह गुणस्थान बतलाये हैं। परन्तु सत्प्ररूपणा के ६३ वें सूत्र में पर्याप्त मनुष्यनी के पाँच ही गुणस्थान बतलाये हैं।

इससे स्पष्ट सिद्ध है कि जिस जगह केवल मनुष्यनी का प्रहण किया है वहाँ भावमनुष्यनी का ही प्रहण है, नहीं तो जैसे ऊपर के क्षेत्रानुगम आदि प्ररूपणा के सूत्रों में 'मनुष्य पर्याप्त' को प्रहण किया है, वसी तरह वहाँ पर्याप्त मनुष्यनी का भी प्रहण होता है, परन्तु वहाँ पर वैसा प्रहण किया नहीं है। इससे स्पष्ट है कि वहाँ पर भावकी का ही प्रहण है जोकि उन सूत्रों में ही यह द्रव्यको और भावकी का भेद स्वयं सिद्ध होता है। और जब यह बात इन सूत्रों में स्पष्ट सिद्ध हो जाती है तो द्रव्यवेद में भाववेद का परिवर्तन भी अनायास ही सिद्ध हो जाता है। जय गंसा आन इन सूत्रों में सिद्ध हो जाती है तो फिर यह स्पष्ट है कि इन ग्रन्थकार का कथन आ कुन्दकुन्द स्वामी के मत में और उनकी परम्परा में गोमटमार ग्रन्थ के रचयिता और उसके टीकाकार तथा अमितगति आदि जितने भी आचार्य भावकी को १४ गुणस्थान मानने वाले हैं, उनके कथन में मिलता हुआ है।

किन्तु यह जो प्रोफेसर साहब का कहना है कि 'कुन्दकुन्दाचार्यने अपने ग्रंथोंमें स्त्री-मुक्ति का स्पष्टः निवेध किया है। किन्तु उन्होंने व्यवस्था में न तो गुणस्थान चर्चा की है और न कर्मसिद्धान्त का

विवेचन किया है जिससे उक्त मान्यता का शास्त्रीय विवेचन रोप रह जाता है।' यह सब कथन काफ़ूर-वत् छड़ जाता है। क्योंकि यह बात यानी श्री कुन्दकुन्द स्वामी का कथन पदस्वरूपागम के उन्हीं सूत्रों से सिद्ध हो जाता है जिनका कि उल्लेख प्रो० साहब ने श्री कुन्दकुन्द के कथन के विरुद्ध में दिया है। इससे स्पष्ट सिद्ध है कि वह श्री कुन्दकुन्दवाच्यका व्याख्यान सन्तोषजनक ही नहीं किन्तु पूर्ण सन्तोषजनक है।

श्री प्रोफेसर साहब ने द्रव्यस्त्री को मिट करने की पुष्टि में ४ हेतु दिये हैं, उनका क्रम में निराकरण निम्न प्रकार है।

१—'सूत्रों में जो योनिनी शब्द का उपयोग किया गया है वह द्रव्यस्त्री को झोंक अन्यत्र घटित ही नहीं हो सकता।'।

यह पहला हेतु आपका संबंध अयुक्त है। क्योंकि पदस्वरूपागम के सूत्रों में मनुष्यणी के लिये कहीं भी 'योनिनी-योनिमती' का उपयोग नहीं किया गया है। ऊपर सत्वरूपणा आदि के जितने भी सूत्र दिये हैं उनमें तथा अन्य दूसरे सूत्रों में किसी जगह पर भी यह योनिनी शब्द उपयुक्त नहीं किया गया है। पदस्वरूपागम के सूत्रों में केवल तिर्यञ्जनियों के लिये ही 'योनिनी-योनिमती' शब्द का प्रयोग किया गया है। उसके कुछ नमूने के सूत्र निम्न प्रकार हैं—

द्रव्य प्रमाणानुगम तिर्यञ्जगति प्रमाणप्ररूपणा पत्र २२८ सूत्र ३३ —

'पंचिदिय तिरिक्ख-जोण्णिणीसु मिच्छादिट्ठी
—व्यमभावाण्ण केवडिया असंखेज्जा'।

'क्षेत्र प्रमाणानुगतियञ्ज क्षेत्र प्ररूपणा' पत्र ६६ सूत्र ६—

'पंचिदिय तिरिक्ख पंचिदिय-तिरिक्खपञ्जस-पंचिदियतिरिक्ख जोण्णिणीसु मिच्छादिट्ठी पडुहि जाव संजदासंजदा केवडि खेतं लोगस्स असंखेज्जदि-भागे'।

'स्पर्शानुगम तिर्यञ्ज स्पर्शप्ररूपणा' पत्र २११—

'पंचिदियतिरिक्ख पंचिदियतिरिक्ख पञ्जर-जोण्णिणीसु मिच्छादिट्ठी हि केवडियं खेतं कोसितं लोगस्स असंखेज्जदिभागो' ॥२६॥

'कालानुगम तिर्यञ्जकाल प्ररूपणा' पत्र ३६७—

'पंचिदियतिरिक्ख-पंचिदियतिरिक्ख-उत्तल-पंचिदियतिरिक्खजोण्णिणीसु मिच्छादिट्ठी केवचिरं कालदो होति गाणाजीवं पडुक्ख सववडा' ॥२७॥

'अन्नानुगम तिर्यञ्ज अन्नप्ररूपणा' पत्र ३७ सूत्र ३६—

'पंचिदियतिरिक्ख-पंचिदियतिरिक्खपञ्जर-पंचिदियतिरिक्ख-जोण्णिणीसु मिच्छादिट्ठीणमंतरं केवचिरं कालदो होति गाणाजीवं पडुक्खण्णत्थि अंतरं ण्णमंतरं' ॥३६॥

'आवानुगम तिर्यक् प्ररूपणा' पत्र २१०—

'तिरिक्खगदीए तिरिक्ख-पंचिदियतिरिक्ख-पंचिदियपञ्जर पंचिदियतिरिक्ख-जोण्णिणीसु मिच्छादिट्ठी पडुहि जाव संजदासंजदाणुमोघ' ॥१६॥

इस प्रकार ऊपर के सब सूत्रों में तिर्यञ्जनियों के लिये 'योनिनी' शब्द आया है। परन्तु मनुष्यनियों को न तो पदस्वरूपागम में ही कहीं 'योनिनी' शब्द देखा है और न कहीं गोम्मटसार में ही देखने को यह शब्द मिला है। श्री प्रोफेसर साहब जो योनिनी

शब्द से जी के लिये द्रव्यजी समझ रहे थे वह बात इस प्रकरणमें न होनेसे आपका पहला हेतु यहां कुछ भी सार नहीं रखता अतः सर्वथा निस्सार है ।

२—‘जहां वेदमात्रकी विवक्षा से कथन किया गया है वहां आठवें गुणस्थान तक का ही कथन किया गया है, क्योंकि उससे ऊपर वेद रहता ही नहीं है ।’

इस हेतु के लिखने का आपका आशय यह है कि जब वेद = वें गुणस्थान से आगे है ही नहीं तो फिर भावना के वेद का अपेक्षा १४ गुणस्थान कैसे संभवित हो सकते हैं ?

उसका स्पष्ट उत्तर यह है कि उपराम और क्षाक श्रेणी आठवें गुणस्थान में मड़ती है । जिस भाव-जीवेदी ने ज्ञाक श्रेणी माड़ी है वह नियम में ऊपर के गुणस्थानों को धारण करता है क्योंकि क्षपकश्रेणी के साथ ऊपर के गुणस्थान धारण का अविनाभावी सम्बन्ध है; अर्थात् जिसने क्षपक श्रेणी माड़ी है वह नियम से ऊपर के गुणस्थान प्राप्त कर मोक्ष जायगा

वेद का उदय नवमें गुणस्थान के मवेद भाग तक माना है आठवें तक ही नहीं माना है । क्योंकि सत्प्रकरणानुयोगद्वारा वेदमार्गेणा प्रकरण पत्र ३४८

इत्थिवेदा पुरिसवेदा असर्णि मिन्द्राईष्टिपट्टि जाव अणि-ट्टि ॥१०८॥

पत्र ३४६ मूत्र—

‘मयुस्तातिवेदा मिन्द्राईष्टिपट्टि जाव अणि-ट्टि ॥१०८॥

इत्यादि षट्स्वर्णागम के अनेक मूत्र होने से वेद का सङ्काव नवमें गुणस्थान तक है ।

३—‘कर्मसिद्धान्त के अनुसारवेद-वैषम्य सिद्ध

नहीं होता । भिन्न इन्द्रिय सम्बन्धी उपांगों की उत्पत्ति का यह नियम बतलाया है कि जीव के जिस प्रकार इन्द्रिय ज्ञान का क्षयोपराम होगा उसी के अनुसार यह पुद्गल रचना करके उसको उदय में लाने योग्य उपांग की प्राप्ति करेगा । चक्षु-इन्द्रिय आवरण के क्षयोपराम से कर्ण-इन्द्रिय की उत्पत्ति कदापि नहीं होती और न कभी उसके द्वारा रूपका ज्ञान हो सकेगा । इसी प्रकार जीव में जिस वेदका बन्ध होगा उसी के अनुसार वह पुद्गल-रचना करेगा और तदनुकूल ही उपांग उत्पन्न होगा । यदि ऐसा न हुआ तो वह वेद ही उदय में नहीं आ सकेगा । इसी कारण तो जीवनभर वेद बदल नहीं सकता । यदि किसी भी उपांग सहित कोई भी वेद उदय में आ सकता तो कपायों व अन्य नोकपायोंके समान वेद के भी जीवन में बदलने में कौन सी आपत्ति आ सकती है ।”

उत्तर—यह तीसरा हेतु आपने वेद-वैषम्य के नहीं सिद्ध करने में दिया है वह अपनी सत्ता कुछ भी सिद्ध नहीं करता । कारण कि प्रथम तो यह वेदवैषम्य की बान आगम प्रमाण से सिद्ध है । क्योंकि षट्-स्वर्णागम के मूत्रों में यह बान अन्धी तरह सिद्ध की जा चुकी है कि पर्याप्त मनुष्यनी अर्थात् द्रव्य जी के पांच ही गुणस्थान हो सकते हैं । और मनुष्यनी यानी भावना के १४ गुणस्थान हो सकते हैं । दूसरे सत्प्रकरण अनुयोग द्वारा वेद मार्गेणा प्रकरण पत्र ३४५ मूत्र ॥१०५-१०६॥

‘योरइया चदुमुठाणे मु मुठा णपुंमयवेदा ॥१०५

तिरिक्खा मुठा णपुंमयवेदा एइयपट्टि जाव च उरिदियात्ति ॥१०६॥

इन दो मंत्रों में 'शुद्धा ऋषुंसय वेदा' यह शब्द आया है। इसका तात्पर्य किसी दूसरे वेद में दूसरे वेदका मिश्रण नहीं होता अर्थात् "जहां जो द्रव्यवेद है वहां वह ही भाववेद है, मिश्रण नहीं है।" यह बात इन जीवों में उक्त 'शुद्धा' शब्द सिद्ध करता है। परन्तु इन मंत्रों के आगे के जो मंत्र हैं उनमें 'शुद्धा' शब्द नहीं है। अतः यह शान अनायास ही सिद्ध हो जाती है कि शेष जीवों के वेद-वैषम्य है। देवों में जो वेदवैषम्य है वह क्वचित्त है, यादृग्यमे नहीं है ऐसा गोमटसार ग्रन्थ की टीका में स्पष्ट है।

गोमटसार मूल जीवकांड वेदमार्गणा की गाथा
२७०, पत्र १०६।

पुरिसिद्धिसंदवेदोदयेण पुरिसिद्धिमद्वचो भावे ।
णामोदयेणव्वे पायेण समा कहिं विसमा ॥७०॥

भाषार्थ—पुरुष की नपुंसक वेद के उदयमें भाव पुरुष, भाव की, भाव नपुंसक वेद होता है और नाम कर्म के उदय से द्रव्यवेद होते हैं। ये भाव और द्रव्य वेद प्रायः सम होते हैं और कहीं कहीं विषम वेद भी होते हैं अर्थात्-विषम में कहीं द्रव्यवेद पुरुष तो भाववेद की है आदि। इस कथनसे मान्यम पड़ता है कि जो कथन इस विषय का पदम्यहागम मंत्रों में है वह ही गोमटसार तथा गोमटसार की टीका और सर्वाथविधि राजवार्तिक आदि दिग्गजग्रन्थाय के सभी ग्रन्थों में है।

इस तरह वेद-वैषम्य आगम-प्रमाण से स्पष्ट सिद्ध है तथा प्रत्यक्ष में भी पुरुषायित क्रिया, पुरुष का पुरुष के साथ व्यवहार देखने से और नाटक आदि स्थलों में पुरुष को ली के वेप से तथा स्त्री को पुरुष के वेप धारण करने से तथा उन वेपोंमें बँने ही

हावभाव आदि के देखने से यह बात सभी बाल गोपाल के अनुभवगम्य है।

इस विषय में इन्द्रिय और इन्द्रिय विषय ज्ञान के साथ में जो आपने समानता दिखायी है वह भी आगम और अनुभव सिद्धान्त में अयुक्त है। कारण कि इन्द्रिय विषय ज्ञान तन् तन् इन्द्रियावरण कर्म के ज्योपशम का विषय है और द्रव्येन्द्रिय की रचना उस उम नाम कर्म के उदय-जन्य कार्य का परिणाम है, इस लिये वहां तो विषमता होने का कोई भी प्रश्न ही नहीं है। कारण कि वहां तन् तन् इन्द्रिय ज्ञानावरण का और तन् तन् इन्द्रिय नाम कर्म का विषय नहीं है। परन्तु वेद में तो दोनों जगह अर्थात् द्रव्यवेद और भाववेद में द्रव्य और भाव-उदय का विषय है। इस लिये उभयस्थलों में अर्थात् इन्द्रिय और वेद के विषयमें कारण और कार्य की समानता का दृष्टान्त प्रत्यक्ष विरुद्ध है।

दूसरे—आवरण कर्म का अर्थ अपने अपने गुण का ढकना होता है। मोहनीय का अर्थ व्या-मोहन करना होता है। आवरण रूप ढकन का जिस २ प्रदेश में अभाव होगा उस २ प्रदेश में वह गुण प्रगट होगा और वह अपने मार्ग से प्रगट होगा जैसे कि प्रकाश किमी आच्छादन से आच्छादित है इस लिये प्रकाश के प्रदेश बाहर नहीं जाते परन्तु उस आच्छादन पटादि में जिस २ जगह से छिड़ता जाते हैं उस २ जगह के मार्ग से प्रकाश प्रतिभास बाहर को पड़ता है। ठीक यह दृष्टान्त इन्द्रिय विषयज्ञान का और द्वार रूप द्रव्येन्द्रियका है।

परन्तु मोहनीय कर्म का वह विषय नहीं है क्योंकि मोहनीय का मोहन करना विषय है इस

लिये वह अपने मार्ग को छोड़ कर कुमार्ग में भी जाता है। वेद का विषय चारित्र्य मोहनीय कर्म का कार्य है इस लिये अपने मोहित करने के स्वभाव से बोध्य स्थान को छोड़ कर अयोध्य स्थान में भी प्रवृत्त करा सकता है। इस लिये वेद वैषम्य का होना स्वाभाविक है, परन्तु इन्द्रिय ज्ञान का और द्रव्येन्द्रिय का वैषम्य संभवित न होनेमें इन्द्रिय और वेद विषय का दृष्टान्त किमोभी तरहमें संभवित नहीं हो सकता।

इस तरह आगम और अनुभव से संभवित स्पष्ट सिद्ध है कि—द्रव्य वेद के साथ भाव वेदका वैषम्य हो सकता है—और ऐसा होने में भी कुंद कुंद स्वामी का जो कथन है वह गुणस्थान—और कर्म सिद्धान्त की अनुसृतिके अनुसरण को लिये हुए है अर्थात् जो उन ने द्रव्यस्वी को मोसका निषेध किया है वह वास्तविक है तथा जिन पुरयपाद (देवनेदी) अकलंक देव ने मिषंद्र सिद्धांत चक्रवर्ती, निशा-नेदी आदि आचार्यों ने इस विषय का कथन किया है वे चाहें भी कुंद कुंद स्वामी की शिष्य परंपरा के हों, चाहें न भी हों परन्तु इस विषय में सभी का एक मत है और वह पद स्वरागम आगम के भी अविरुद्ध है तथा अनुभवगम्य है इस लिये प्रामाणिक है।

(क) ४—“नौ प्रकार के जीवोंकी तो कोई संगति ही नहीं बैठती, क्योंकि द्रव्य में पुरुष और खालिग के सिवाय तीसरा तो कोई प्रकार ही नहीं पाया जाता, जिससे द्रव्य-नपुंसक के तीन अलग भेद बन सकें।”

समाधान—इस कथन से आपका यह कहना है कि संसार में कोई द्रव्य-नपुंसकलिंग ही नहीं है फिर नपुंसक के साथ भाववेद के सम्बन्ध के तीन वेद न

होने से नौ वेद ही नहीं बनते हैं। ऐसा मानना तथा आपका लिखना आगम और प्रत्यक्ष अनुभव के विरुद्ध है। कारण कि आगम भी गोम्मटसार जीव-कांड की २७० कीगा था में ‘आमोदयेण द्रव्ये’ इस वाक्य में ‘द्रव्य-नपुंसक’ वेद सिद्ध है। द्रव्य-नपुंसक वेद की ही नपुंसकलिंग कहते हैं।

पदस्वरहागम संप्रकृपणा पत्र ३४३—

‘आपुंसयवेदा पददियपहुहि आब अणियदृष्टि ॥१०३॥

पत्र ३४६ मूत्र—‘ति’रकम्वा तिवेदा असणिय पंचदियपहुहि आब संजदासंजदाति ॥१०४॥ मणु-स्ता तिवेदा मिक्कादिदृष्टिपहुहि आब अणयदृष्टि ॥१०५॥

इत्यादि सूत्रों से स्पष्ट है कि भाववेद नपुंसक होता है और जब भाववेद नपुंसक होता है तो द्रव्य-वेद नपुंसक भी अवश्य होता है। यदि आप पद-स्वरहागम के आधार में भाववेद नपुंसक मानते हों और द्रव्यवेद नपुंसक न मानते हों तो फिर आपको उसका द्रव्यवेद पुरुषवेद या स्त्रीवेद जरूर मानना होगा क्योंकि भाववेद को किसी द्रव्यवेद का आशय तो अवश्य चाहिये। ऐसा मानने में ‘बदसो व्याघात’ नाम का दुपण आपके बचन में आवेगा। अर्थात् वेद-वैषम्य नहीं मानते ये मों वह मानना स्वयंसेव आ जायगा। गोम्मटसार जीवकांड की २७४ की गाथा में भी नपुंसकलिंग की सिद्धि होती है। अतः शास्त्राधार में नपुंसकलिंग (वेद) अवश्य ही सिद्ध है।

प्रत्यक्ष में मनुष्यगति के द्रव्य नपुंसक (हीजवा) सर्वत्र पाये जाते हैं, जिनका मुख्य धन्धा गाना-बजाना है, उनका न तो पुरुष का लिंग होता है और न स्त्री का लिंग होता है, किन्तु पुरुष और स्त्री लिंग की

आकृति में जुड़ा बिलकूल द्विद्विमान लिंग होता है।

इस सब उपसृक्त लिखावट से सिद्ध है कि द्रव्य-नपुंसक यानी नपुंसकलिंग अवश्य है। उसके होने में नपुंसक के तीन वेद सम-वैषम्य से सिद्ध होने के कारण लिंग भेद से नौ प्रकार के प्राणी मिट हो ही जाते हैं।

(ख) ४—“पुरुष और स्त्रीवैश्व में भी द्रव्य और भाव के वैषम्य मानने में ऊपर बताई हुई कठिनाई क्योंकि अतिरिक्त और भी अनेक प्रश्न खड़े होते हैं।

समाधान—द्रव्य और भाववेद के वैषम्य से कोई भी कठिनाई उपस्थित नहीं होती यदि कोई कठिनाई उपस्थित होती तो वह प्रदर्शित करनी थी, परन्तु आपने एक भी उपस्थित नहीं की। अतः कैसे समझा जाय कि उसके मानने में कोई कठिनाई है।

(ग) ४—“यदि वैषम्य हो सकता है तो वेद के द्रव्य और भाववेद का तात्पर्य ही क्या रहा? किसी भी उपांग विशेषको पुरुष या स्त्री कहा क्यों जाय?”

समाधान—वेद वैषम्य होने से द्रव्य से स्त्री का लक्षण गभंधारण करना है और पुरुष का गभंधारण करना है। और उनके मार्ग जुड़े २ स्पष्ट हैं ही तथा ऊपर शास्त्रीय प्रमाण और अनुभव से वहाँ वेद-वैषम्य सिद्ध हो ही चुका है। वैषम्य के होने पर भी उपांग विशेषों से अर्थात् गभंधारण करने और कराने के मार्गरूप चिन्हों से स्त्री और पुरुष जुड़े २ कहे जा सकते हैं। अर्थात् उन के कहने में कोई भी अक्षय्य नहीं आसकती।

(घ) ४—“अपने विशेष उपांग के बिना अशुद्ध वेद उदय में आयेगा किस प्रकार? यदि आ सकता है तो इसी प्रकार पाँचों इन्द्रिय ज्ञान भी पाँचों द्रव्य-

न्द्रिय के परस्पर संयोग से पच्चीस प्रकार क्यों नहीं हो जाते? इत्यादि।”

समाधान—अपने विशेष उपांग के बिना भी अशुद्ध वेद का उदय मोहनीय कर्म के उदय से आ सकता है। और इन्द्रियज्ञान में व्योपशम का विषय होने में वैषम्य नहीं हो सकता यह बात अच्छी तरह से सिद्ध की जा चुकी है। अतः वेद में नौ भेद हो सकते हैं, इन्द्रियों में २५ भेद नहीं हो सकते। यह बात शास्त्रीय प्रमाणों में और अनुभव में सिद्ध है।

इस प्रकार के विचार में स्पष्ट सिद्ध है कि द्रव्य-स्त्री चारद्व गुणस्थानों की और मोक्षकी अधिकारिणी नहीं हो सकती। स्त्रियों में शास्त्रीय प्रमाणों के अलावा और भी अनुभवगम्य लज्जा, क्षमाष्ट गुणिता आदि में कारण हैं जोकि पूर्ण संयम के बाधक हैं। पूर्ण संयम के बिना मोक्ष का होना किसी प्रकार भी संभवित नहीं होता।

शास्त्रकार जो भी नेमिचन्द्र सिद्धान्त चमकती हैं जिनका कि ग्रन्थ गोम्मतसार कर्मसिद्धांत और गुणस्थान चर्चा के आधार पर अवलम्बित है, उनमें द्रव्यस्त्री के नीचे के तीन सहनन ही गोम्मतसार कर्मकांड का गाथा ३० में जिते हैं। और कठिन तपश्चर्या में उत्कृष्ट सहनन ही काम आ सकते हैं और उत्कृष्ट में उत्कृष्ट तपश्चर्या के बिना मोक्ष हो नहीं सकती यह एक अनुभव का विषय है। अतः सहननों में उत्कृष्ट सहनन बज्रवृषभनाराच सहनन है। यह ही उत्कृष्ट से उत्कृष्ट तपश्चर्या और ध्यान का साधन हो सकता है।

इसी कारण पूज्यबाद स्वामी ने सर्वार्थसिद्धि ग्रन्थ में और अग्रजकदेव ने रावार्थिक में मोक्ष को

यहसे कर्त्तव्यमनसाय संहनन से होना लिखा है जोकि अनुभव सिद्ध है, क्योंकि अनादि काल से आत्मारूप पर में मुसकर आत्मा के साथ अभेद भाव से शीखने वाले कमरूप आत्मीन के सपे सरीखे दुश्मनों को निष्कारने के लिये कठिन मजबूत साधन होने ही चाहिये। इस लिये गोम्मतसार और सर्वार्थसिद्धि आदि प्रामाणिक ग्रंथों में जो इस विषय का कथन है वह अनुभव सिद्ध भी है।

तथा उनने अरनों आगम-सम्बन्धी गुरुपरम्परा से भी आशय लिखा ही होगा। इस लिए उनके बचन अन्यथा नहीं हो सकते। पदस्यरहागम में भी यह संहनन का विषय इस तरह आ जाता यदि उस की कथन शैली उस दृष्टि में की जाती जैसी कि अन्य ग्रन्थों में उस विषय की है। ग्रन्थकर्त्ताओं की पदार्थ-प्रतिपादनमें जुदी जुदी शैली होती है, इस लिये एक ही विषय को कहने वाले पदस्यरहागम में और गोम्मतसार में शैली जुदी जुदी है। सम्भव है कि किसी शैली में कोई पदार्थ का कथन कही सामान्य में भी आ जाता है, कही किसी पदार्थ का कथन विशेषता में भी आ जाता है। अतः ग्रंथ की जुदी पद्धति के कथन में सब वतचीत मन्त्र ही आ जाय इसका कोई भी नियम नहीं है। अतः ग्रन्थों को मोक्ष निषेध में जिन आचार्यों ने जो जो कथन किया है वह आपे होने में तो प्रामाणिक है ही तथा अनुभवगम्य होने से भी प्रामाणिक है। इस तरह द्रव्यखी को मोक्ष निराकरण प्रकरण पूर्ण हुआ।

संयमी और वस्त्र-त्याग

इस विषय में प्रोफैसर हीरालाल जी साहिब का वक्तव्य निम्न प्रकार है—

“श्वेताम्बर सम्प्रदाय की मान्यतानुसार मनुष्य वस्त्र त्यागकरके भी सब गुणस्थान प्राप्त कर सकता है और वस्त्रका संबंध त्याग न करके भी मोक्ष का अधिकारी हो सकता है। पर प्रचलित दिगम्बर मान्यतानुसार वस्त्रके सम्पूर्ण त्याग में ही संयमी और मोक्ष का अधिकारी हो सकता है। अत एव इस विषय का शास्त्रीय चिंतन आवश्यक है”।

समाधान— श्वेताम्बर मान्यतानुसार— वस्त्रका संबंध त्याग-आदि तीर्थकर ने किया ही है यह ऊन्हीं के मतानुसार बात है जो कि प्रसिद्ध भी है। जब कि प्रथम तीर्थकरने यह पद्धति प्रचलित की है तो कहना होगा कि यह बहुत प्राचीन है। आदिनाथ प्रभुने इस पद्धतिको क्यों अपनाया जब कि वस्त्र-सहित मुक्तसाधन से ही सरलतामें मोक्ष मिल सकती है तो फिर कठिन मार्गसे मोक्षको मिलाना यह भी आशीश्वर भगवान का कहाँ तक उचित काम हो सकता है इसे तो श्वेताम्बर मतानुयायी या उनकी पीठ ठाँकने वाले ही जान सकते हैं।

इस विषय में यदि यह हेतु दिया जाय कि—“इस समयके मनुष्य विशेषतासे मूढ़ (मनुष्यक) होते थे इस लिये उनके सम्बोधनके लिये श्री ऋषभदेवने उस मार्ग का अवलंबन किया”। तो इस के लिये कहना इतना ही पर्याप्त है कि उनने मोक्षका वास्तविक साधन सबको बतलाया है। यदि वस्त्र सहित भी साधन होता तो वे कुछ काल वस्त्र रहित भी रहकर तपश्चर्या करने और कुछ काल वस्त्रसहित भी तपश्चर्या

करते—अर्थात् दोनों प्रकार से मोक्ष का मार्ग बतलाते, परन्तु यह बात तो उन्होंने की नहीं। मिकं दिगम्बर वृत्ति का अवलम्बन करके ही कर्टिन तपश्चर्या द्वारा मोक्षको प्राप्त किया। इससे यह बात सिद्ध है कि दिगम्बर मान्यता अति प्राचीन है और वह श्वेताम्बर शास्त्रों में ही सिद्ध है।

अब दूसरी बात महावीर स्वामी की भी उन्हीं श्वेताम्बर शास्त्रोंके आधार में मिलती है जोकि उनके यहां प्रसिद्ध है कि महावीर स्वामी ने दिगम्बर अवस्था में ही मोक्षकी प्राप्ति की देवदूष्य वस्त्र जो उन केलिये बतलाया गया है वह स्वतः महावीर प्रभु का प्रदण किया हुआ नहीं बतलाया है किन्तु इन्द्र के द्वारा उनके शरीर पर डाला हुआ बतलाया गया है— तथा १३ मास पीछे उस वस्त्र के दूर होने पर फिर उनके शरीर पर कोई वस्त्र नहीं रहा था। ऐसी अवस्थामें यदि वस्त्र सहित ही मोक्ष की प्राप्ति संभवित थी तो फिर उन्हीं सरल मार्गको भगवान् वीर प्रभु प्रदण कर सकते थे— परन्तु उनमें उस मार्गको प्रदण नहीं किया इससे सिद्ध है कि मोक्षप्राप्ति ऐसी हलुआ पड़ी नहीं है जो झट्टी गले उतरने में डङ्गपली जाय। उम केलिये वही कर्टिन तपश्चर्या और उम तपश्चर्या को वैसे साधन मिलाये जाते हैं तब कहीं उसकी सिद्धि होती है।

इस अवलम्बन में मोक्ष प्राप्ति में आदि प्रभु के कथनसे यह बात स्पष्ट सिद्ध है कि— यह मोक्ष साधना की पद्धति अति प्राचीन है। इसलिये प्रोफेसर साहबने जो 'प्रचलित' शब्द लिख कर दिगम्बर मान्यता बतलाई है वह कुछ भी सार नहीं रखती अर्थात् 'वह अभी बीचमें चल पड़ी है यह बात नहीं है'। इसी प्रकार जिन तीर्थंकर प्रभुका तीर्थं चला रहा है उन वीर

प्रभुकी भी मान्यता दिगम्बर की इसलिये उनके हिसाब से भी यह दिगम्बर मान्यता बीचकी चलाई हुई वा मानी गई नहीं होमकती किन्तु वह सत्य और अनादि कालीन धारा प्रवाहमें आयी हुई अति प्राचीन अर्थात् सनातन है जोकि श्वेताम्बर मान्यतासेही स्पष्ट सिद्ध है। बहुत से प्राचीन शिला लेख, राजपत्र प्रतिमा लेखोंसे

तथा अन्यधर्म में, प्राचीन शास्त्र, वेद, उपनिषद्, पुराणों में भी पता चलता है कि दिगम्बर सम्प्रदाय प्राचीनतम है। पहिले समय में (चिकम की ६वीं शताब्दी तक) श्वेताम्बर भाई भी दिगम्बर प्रतिमाओं को ही पूजते थे। इसी प्रमाण मथुरा के कंकाली टीलेकी दिगम्बर प्रतिमायें हैं जो कि करीब दो हजार वर्षकी पुरानी हैं उनपर जो शिला लेख हैं उसमें पता चलता है कि प्रतिमायें पहिले दिगम्बर सम्प्रदाय की ही होती थी उन्हें दोनों सम्प्रदाय समान भावसे पूजते थे। वह समय श्वेताम्बर सम्प्रदाय की उत्पत्तिके आस पास का होगा। इसी लिये प्रतिमाओं तक उस समय में बन्नाधान का विधान नहीं हुआ होगा पीछे तो जो कुछ हुआ है वह सबके दृष्टिगोचर है।

इस सब लेखन का सारांश यह है कि दिगम्बर सम्प्रदाय की जो प्रणाली मुक्ति प्राप्ति के विषय में अवलम्बन करने की पहिले थी वह ही आज है। अतः प्रोफेसर साहब अपने लिखे हुए— 'प्रचलित' शब्द में जो यह समझने का साहस करते हैं कि 'अवलम्बन अवस्थासे मोक्षप्राप्ति की प्रणाली दिगम्बरों में पीछेसे प्रचलित हुई है तो यह उनका समझना गलत है। कारण कि इस विषय के प्रमाण अभी तक कोई भी देखने में नहीं आये हैं। यदि प्रोफेसर को कहीं आ

वैसे प्रमाण देखनेमें आते तो वे उनका उल्लेख करते ।

आपने संयमी और बन्ध-त्याग के प्रकरणमें जो भगवती आराधना आदि के प्रमाण उपस्थित किये हैं उनमें तो कुछ भी सार नहीं है ।

क्यों उनमें सार नहीं है इसी बात का आगे के लेख में स्पष्टीकरण है—

१—“दिगम्बर सम्प्रदाय के अत्यन्त प्राचीन ग्रंथ भगवती आराधना में मुनि क उत्सर्ग और अपवाद मार्ग का विधान है, जिसके अनुसार मुनि बन्ध धारण कर सकता है । द्वा गीता (७६-८३)”

समाधान—भगवती आराधना अत्यन्त प्राचीन ग्रन्थ है और वह दिगम्बर सम्प्रदाय का ग्रन्थ है । प्रो० साहब के इस कथन में कोई अन्तर नहीं है क्योंकि प्राचीन तो वह इस कारण से है कि प्रथम विक्रम शताब्दी के आचार्य श्री समन्तभद्र स्वामी के शिष्य आचार्य (शिवकोटि) राजपि का लिखा हुआ है । शिष्य और शिष्यभूत एक व्यक्ति नहीं थे इस बात की सिद्धि शोलापुर में निकलने वाले ‘जैनशोधक’ पत्र में अच्छी तरह से कर दी है, उसका जवाब अभी तक प्राक्सर साहब से नया नहीं है । तथा वह लेख भी इस टुकट के साथ सर्व पाठकों की जानकारी के लिये प्रकाशित किया गया है, उसमें उस विषय के तथ्यात्म्य का निम्न पाठक गण अच्छी तरह से कर सकेंगे । प्राक्सर साहब इस ग्रन्थ को स्वतः दिगम्बरी का लिख रहे हैं । इससे भी सिद्ध होता है कि ग्रन्थ के निर्माता स्वयं दिगम्बराचार्य आचार्य थे, न कि शिष्यभूति नाम के कोई स्वताम्ब-आचार्य ।

अब इस ग्रंथ के अंतर्गत यह बात बात विचार

करने की है कि इस ग्रन्थमें भोक्तके साधनभूत सबब मुनिर्लिग का भी विधान है क्या ?

भगवती आराधना में त्यागी के उत्सर्गलिग और अपवादलिग का वर्णन आया है । इस लिये आप लिखते हैं कि “मुनि बन्ध धारण कर सकता है ।” उसके लिये आपने भगवती आराधना की गाथा नं० ७६ से ८३ तक का हवाला दिया है उस की जांच के लिये उन गाथाओं का और आगे की इसी प्रकरण की अन्य गाथाओं का, “विजयोदया” संस्कृत टीका के आधार से संक्षेप में इस प्रकार से है—

भगवती आराधना में गाथा ७६ से भक्त प्रत्या-
ग्यान विषय शुरू हुआ है । भी अपराजित सूरजी अपनी विजयोदया टीका में ७७ वीं गाथा की कथा-
निका इस प्रकार लिखते हैं—

भक्तप्रत्याग्यानदस्य तत्प्रत्याग्यानपरिकरभूतलिग-
निरूपणं उत्तराभिः गाथाभिः क्रियते—

उत्सर्गियलिगकदस्य लिगमुत्सर्गियं तथं चेत् ।

अपवादियलिगस्स वि पमत्थमुवसर्गियं लिगं ॥७७॥

टीका—उत्सर्गियलिगकदस्य—उत्सर्गेश सजनें त्यागः सकलपरिग्रहस्य त्यागः । उत्सर्गे त्यागे—सकल-
ग्रंथपरित्यागे भव- लिगं—औत्सर्गिकं । तेनाथं अथ
औत्सर्गिकलिग—स्थितस्य भक्तप्रत्याग्यानाभिज्ञापवतः
तं चेत् उत्सर्गियं लिगं तदेव प्राकगृहीतं लिगं औत्स-
र्गिकं । अपवादियलिगस्स वि—यमीनां अपवाद-
कारणत्वात् परिग्रहोपवादः, अपवादो यस्य विद्यते—
इत्यपवादिकं परिग्रहमहितं लिगं अन्येत्यपवादिकलिगं
भवति । वाक्यशेषं कृत्वा एवं पदसंबन्धः कार्यः—

अइ पसरखिगि—अइ-यदि प्रशस्त शोभनं किंग मेहनं भवति । चर्म—रहितं, अतिदीर्घं, स्थूलं, असकृदुत्थानशीकनेत्येवमादिदोषरहितं यदि भवेन । पुंस्वकिंगता इह गृहीतेन बीजयोः पि किंगरान्देन ग्रहणं । अतिलंबमाननादिदोषरहितः । प्रशस्तापि लवोगृहीता ।

हिन्दी अर्थ—सकल परिग्रह के त्याग को उत्सर्ग कहते हैं, सम्पूर्ण परिग्रह के त्यागमें हुआ जो किंग है उसे 'औत्सर्गिककिंग' कहते हैं । और औत्सर्गिककिंग जिसके हो उन्में औत्सर्गिककिंग स्थित कहते हैं । भक्त प्रत्याख्यान की इच्छा करने वाले औत्सर्गिककिंग वाले साधु के वह ही औत्सर्गिक (अचेलक दिगम्बर) किंग होता है । और अपवादकिंग बाले का अर्थात् अपारम्भी की चर्म—रहित, अतिदीर्घ, स्थूल, बारबार उत्पन्न होने वाली यदि मेहन इन्द्रिय न हो तो वह भी सम्प्लेखनात्मक में औत्सर्गिककिंग जो दिगम्बर किंग है उसे धारण करे ।

नोट—जो आशय बिजयोदया टीका का है वही आशय भी परिवर्तित प्रवर आशयभरजोकी मूलाराधना टीका का है ।

गाथा नं० ७८ की उत्थानिका—

औत्सर्गिक किंग न भवत्येवेत्यपवादमाह—

अस बि अन्धविचारी दोसो तिहाणगो बिहार-
मि । सो बि हु संधारगदो गेवहेजोसोनिगं किंग

टीका—असबि-वस्थापि । अन्धविचारी अनि-
राक्षसों दोसो दोषः । तिहाणगो स्थानत्रयभवः—
मेहने वृषणदोष भवः औपचारिकता नापसार्यः । सो
ऽपि—हु-हु-राज्य पवकारार्थः स च गेवहेज इत्यनेन
सम्बन्धनीयः । गृहीतादेव, किं ? असर्गिक किंग-

औत्सर्गिक अचेलकलक्षणं । क्वचि । १२००—विहारे
वसलो संधारगदे-संस्वरासुदः । १२०१—संस्वरा
एवं संस्वरासुदस्यैव औत्सर्गिकं नान्यत्रेत्याख्यानं
भवति ।

अर्थ—एक मेहन इन्द्रिय और दो अलक्षकोष इस
तरह तीन स्थानों में जिनके दोष हैं और जिनका
औपधि आदि सं उपचार भी नहीं हो सकता वह यदि
औत्सर्गिककिंग-अचेलक-दिगम्बर किंग भक्तप्रत्या-
ख्यान के समय धारण करे तो वसति अर्थात् घर में
ही धारण करे ।

इस गाथा में यह बात सिद्ध होती है, त्रिस्थानक
दोष वाला दिगम्बर (उत्सर्ग) वृत्ति के धारण का
अधिकारी नहीं है, सन्यास के समय यदि दिगम्बर
होना चाहें तो घर के भीतर हो सकता है ।

७९ वी गाथा की उत्थानिका—

अपवादकिंगस्थानां प्रशस्तकिंगानां सर्वेषामेव कि-
मौत्सर्गकिङ्गित्तैः स्यात्प्रायः—आह-

आवसथे वा अपाउमं जो वा महहिओहिरमं ।

मिच्छजरो सजरो वा तससहोज अववादिपं किंग ७९

टीका—आवसथे वा निवासस्थाने । अपाउमो-
अप्राप्त्यर्थे अवचित्तः (एकान्त-राहिते) अपवादक-
किंग इवदि (भवति) इति शेषः । जो वा महहिओ
महदिकः । हिरमं हीमान लज्जावान । तस्यापि
होज अपवादिकं किंग । मिच्छं वा मिच्छादष्टी ।
सजरो-स्वजनो बन्धुवर्गो 'होज भवेन, अपवादिक
किंग सचेलकिंग ।

अर्थ—इस गाथा का सम्बन्ध ऊपर की गाथा से
पता जाता है । अर्थात् जो त्रिस्थान दोष वाला हो
वह एकान्त रहित स्थान में अपवाद गृह्य किंग को

धारण करे और जो भीमान महर्षिक लज्जावान् हो और जिसके कुटुम्बीजन मिथ्या-दृष्टि हो वह अपवाद लिंग जो सत्त्वगुण गृहस्थलिंग है उसे धारण करे।

इसका तात्पर्य स्पष्ट यह निकलता है कि जिनमें उपयुक्त बानें न हों वह भक्तभक्त्याज्ञान के समय-अचेलक ही वृत्ति का धारण करें। इस गाथा में महर्षिक के साथ जो लज्जावान् विशेषण दिया है उस से स्पष्टतया गृहस्थ का ही बोध होता है। और विशेष यह बात है कि एक मर्दित हो यदि मुनि माना जाता तो उसके लिये ग्रन्थकार अपवादलिंग का ही विधान क्यों करते क्योंकि अपवादलिंग में भी ब्रह्म है और वह प्रोफेसर साहब सम्मत मुनि अवस्था में भी ब्रह्म है फिर ऐसी दशा में ग्रन्थकार का पिष्ट-पेयण से क्या प्रयोजन सिद्ध हो सकता अर्थात् कुछ भी नहीं। अतः इस गाथा के अभिप्राय से यह बात स्वयमेव आ जाती है कि सचेत दशा मुनिपद की नहीं है किन्तु केवल अचेत दिगम्बर अवस्था ही मुनिपद की है।

इस गाथा के आगे की २० वीं गाथा है उसकी अस्थानिका—

पूर्वनिर्दिष्टोत्सर्गलिंगस्वरूपनिरूपणार्थोत्तरगाथा—

अचेलकं लोचो बोसट्टसरीरदा य पठिजिहणं ।

एवो हि लिंगं करो वरिबिहो होदि उत्सर्गं ॥२०॥

मंस्कृत टीका—अचेलकमिति । अचेलकं अचेलता । लोचो केशात्पाटनं हलंन । बोसट्ट सरीरदा य व्युत्सृष्टशरीरदा य । पठिजिहणं प्रति-लेखनं । एवो दु एवः । लिंग-कप्पो लिंगविकल्पः वरिबिहो वरुविहो भवति । उत्सर्गो औत्सर्गिक संकिते लिंगे ।

अर्थ—औत्सर्गिकलिंग में चार बातें होती हैं—
प्रथम अचेलता ब्रह्म-रहितपना अर्थात् । गन्धर्वरूप
दूसरा अपने हाथों से केशों का उपाटन अर्थात् केश-
लोच, तीसरा शरीर से ममत्वभाव-रहितपना अर्थात्
शरीरका संस्कार-रहितपना, चौथा प्रतिलेखन अर्थात्
जीवों की रक्षा के लिये इसी ग्रन्थ में कहे गये नर्म
हलके आदि लक्षणों का महित मयूर-पंख का बना
हुआ प्रतिलेखन । अर्थात् पंख ।

इस गाथा में यह बात स्पष्ट पायी जाती है कि केशलोच का करना औत्सर्गिक लिंग में ही होता है । अपवाद लिंग में नहीं होता इसलिये अपवाद लिंग मुनिपद का श्रोतक नहीं । ब्रह्म सहित श्वेतान्तर साधु केशलोच भी करते हैं इससे ज्ञात होता है कि वे लोग ब्रह्म सहित अवस्था को औत्सर्गिक लिंग मानते हैं । परन्तु ये ग्रन्थकार अचेत अवस्थामें ही केशलोच का विधान करते हैं इस लिये मालूम पड़ता है कि—इन ग्रन्थकारकी दृष्टिमें वह दशा न औत्सर्गिक है और न वह अपवादिक है । किन्तु ग्रन्थकार की दृष्टिमें अचेलक दशा ही औत्सर्गिक लिंग है जोकि मुनिपदमें प्रसिद्ध है ।

ब्रह्म सहित भावक या गृहस्थ दशा ११ वीं प्रविक्षा तक अपवाद दशा मानी गई है । क्योंकि अपवाद का प्रथम टीकाकार ने 'परिग्रह' कहा है सो वह भावक या गृहस्थक ही होता है । यदि ग्रन्थकार ब्रह्मको परिग्रह ही नहीं समझते तो उनमें अचेलक का उत्सर्ग में और सचेतक का अपवाद लिंग में विधान क्यों किया । तथा सचेतक दशा ही अचेलक दशा के समान उत्सृष्ट होती तो भक्त प्रत्यावधानमें सचेत दशाका परित्याग और अचेत दशाक प्रदणक उपदेश भी क्यों होता ।

ग्रन्थ में ऐसा उपदेश है इस लिये ज्ञात होना है कि सत्त्वैकदशा मुनिपद की नहीं है किन्तु आवश्यक पदकी है।

गाथा ८१ की उत्थानिका—

अतोनामिः गाथाभिः पुढपाणां भक्त प्रत्याख्याना-
भिलाषिणः । लिंग-विकल्पोऽभिष्टुतिभ्रयः । अधुना
कं एणं तदर्थिनीनां लिंगमुत्तरया गाथया निरूप्यते—

इत्थोवि य जं लिंगं दिष्टं उस्माग्यं य इदं वा ।

तं तद होदि हु लिंगं परिणमुवधि करेतीए ॥८१॥

टीका—इत्थोवि य किंोऽपि । जं लिङ्गं यादृङ्गं ।
दिष्टं दृष्टं आगमोऽर्थाहं । उस्माग्यं च औत्सर्गिकं
तपस्विनीनां । इदं वा आविद्याणां । तं तदेव । तत्त्व
भक्तप्रत्याख्यानं होदि भवति । लिंगं तपस्विनीनां
प्राकृतं । इतरासां पुंस्तमिव योग्यम् । यदि महर्दिक
कज्जावती मिथ्यादृष्टिस्वजना च तस्याः प्राकृतं लिंगं
बिबक्ते आवसथे, उत्सर्गलिंगं वा सकलपरिग्रह-
त्याग रूपं । उत्सर्गलिंगं कथं निरूप्यते कीरा मित्यन
आह तं तन् उत्सर्ग-लिंगं । तस्य कीरां होदि भवति ।
परितं अल्पं । उपधि परिग्रहं । करेतीए कुवत्याः ।

हिन्दी अर्थ—स्त्रियों का भी जो लिंग शास्त्र में
कहा गया है वह ही जानना चाहिये-तपस्विनियों का
औत्सर्गिक लिंग है और आधिकार्यों का रूपवाद लिंग
है । वह ही भक्त प्रत्याख्यान में होता है, भक्त
प्रत्याख्यानमें तपस्विनियों का औत्सर्गिक लिंग अर्थात्
सर्व वस्त्र त्याग रूप लिंग होता है और आधिकार्यों
का पुण्यों की तरह अर्थात् यदि वह महर्दिक हो
कज्जावती हो या जिस के स्वजन मिथ्या दृष्टि हों तो
उसको प्राकृत लिंग यानी औत्सर्गिक लिंग-प्राप्त
स्थान में या घर के भीतर सब परिग्रह त्याग रूप

होना है ।

यहां शंका होती है कि स्त्रियों का लिंग औत्सर्गिक
रूप कैसा हो सकता है ?

उत्तर ममाधान—अल्प परिग्रह यानी श्राद्धिका
मात्र धारण करने में उनके औत्सर्गिक लिंग होता है ।
परन्तु केवल वह उपचार में माना गया है यदि वह
उपचार में न होता तो भक्त प्रत्याख्यान में वस्त्र का भी
त्याग क्यों होना । इस लिये मानना पड़ेगा कि—
औत्सर्गिक लिंग जो मुनि पद है उसमें निल नुप मात्र
परिग्रह की भांति गुंजाइश नहीं है जो कि मोक्ष के लिये
स्वाम सत्ता कारण है ।

गाथा ८२ की उत्थानिका—

नन्वहस्य रत्नत्रयभावना-प्रकरण-मृत्तरुपयुज्यते

क्रियनुना लिंगविकल्पोपादानेनेत्यभ्योत्तरमः—

जप्तासाधर्णाचिह्नकरणं मु जगपचयादटिदकरणं ।

गिहभावविवेगो विषय लिंगमाह्यो गुणा होति ॥८२॥

टीका जप्तासाधर्णा चिह्नकरणं—यात्रा-शरीर-
स्थित—हेतुभूता भुजि क्रिया तस्य साधनं यद्वि जातं
चिह्नज्ञान तस्य करणं । न हि गृहस्थवेपथु स्थितो
गुणीति मन्त्रजनाधिगम्यो भवति अज्ञान-गुण-
विशेषाश्च दानं न प्रयच्छन्ति । ततो न स्याच्छरीर-
स्थितिः । असत्यां तस्यां रत्नत्रयभावनाप्रकरणः
क्रमेणोपचीयमानो न स्यात् । गुणवत्तायाः मूचनं
लिंगं भवति ततो दानादि—परं, रथा कायं-दिष्टि
भवति-इति भावः । अथवा यात्रा शब्दो गति-वचनः
यथा देववत्तस्य यात्राफलोऽयम् । गतिसामान्यवचना-
रपि अयं शिवगतावेव वर्तते, दारकं परयसीति यथा,
यात्रायाः शिवगतेः साधनं रत्नत्रयं तस्य चिह्नकरणं

भवज हरणम् ।

जगत्प्रत्ययः टिडिकरणं जगत्प्रत्ययान्यत्र चेतना-
नंतविषयः इत्येवमाह । इह प्राणिनिरोपवृत्तिः ।
यथा - 'अहंतस्मिजगद्-वैश्वान' इति । प्रत्ययशब्दो-
ऽनेकार्थः । कर्वाचिद् ज्ञाने वर्तते यथा 'घटस्य-
प्रत्ययो, घटज्ञानं इति यावत् । तथा कारणवचनोऽपि
मिथ्यात्वप्रत्ययानंतसार, इति गदिते मिथ्यात्वहेतुक
इति प्रतीयते । तथा आदवचनोऽपि 'अयं अत्राय
प्रत्ययः' भट्टेति गम्यते । इहानि भट्टावृत्तिः । जगतः
भट्टेति । ननु भट्टा प्राणिधर्मः अचेलताश्च शरीर-
धर्मो लिंगं तत्किमुच्यते 'लिंगं जगत्-प्रत्ययः' इति ।
सकलसंगपांगहारो मार्गो मुक्तिः इत्यत्र भव्यानां भट्टां
जनयति । 'लिंगमिति जगत् प्रत्ययः' इति अभिहितं ।
न चेन्न सकलपरिग्रहत्यागो मुक्तिर्लिंगं किमिति नियोग-
नोऽनुष्ठीयते इति ।

आदटिडिकरणं आत्मनः स्वस्य अस्थिरस्य
स्थिरतापादनं । क्व ? मुक्तिवर्त्मनि व्रजने । किं
मम परित्यक्तवसनस्य रागेण रोपेण, मानेन, मायया,
लोभेन वा । यमनाप्रसंगाः सर्वा लोके-लोकक्रिया तच्च
निरस्तं । को मम रागस्यावसर इति । तथा परि-
ग्रहो निवन्धनं कोपस्य । तथाहि पित्रा सुनो युद्धयते
धनार्थितया ममेदं भवति तवेदमिति । तन् किमनेन
स्वजनैरिग्राह्येन । लोभं आयासं पापं दुर्गतिं
च वद्धयता इति सकलः परित्यक्तो बसन् पुरस्सरः
परिग्रहो रोपविजितये । हसन्ति च मां परे साधवो
रोपमुपयातं । कवेयमवसनता मुमुक्षोः क्वायमस्य
कोपदुःखतारानः ज्ञानजलसेकपरिवृद्धतपो-वन-विनाशन-
वद्धविभ्रमः इति । तथा च माया धनार्थिभिः प्रयुज्यते
सा च तिर्यग्जातिं प्रापयतीति भीत्वा मायैन्दुकनार्थवे-

दमनुव्रितम् । गिहिभावविवेगोविषय गृहित्वात्पृथग्-
भावो दर्शितो भवति ।

अर्थ—इस गाथा में लिंग ग्रहण के चार गुण
बतलाये हैं । उनमें पहला शरीर स्थिति की कारण-
भूत भोजन क्रिया का साधन बतलाया है जो कि बिना
साधुवेप के भिक्षावृत्ति से भी सफल निर्दोषता नहीं
बन सकती । भोजनके बिना शरीर-स्थिति नहीं ठहर
सकती और शरीर-स्थिति के बिना रत्नत्रय की सिद्धि
नहीं हो सकती । इस लिये लिंग गुणप्रत्यय (विश्वास)
का साधन है उसके होने से गृहस्थ मुनि के गुणों में
विश्वास कर भट्टा से आहार देता है उससे आगे की
सब क्रियायें सधती हैं । अथवा यात्रा शब्द का
अर्थ शिबगति है, उसका साधन रत्नत्रय है, उसके
लिये चिन्ह का धारण वह रत्नत्रय का साधन है ।
यह लिंग धारण का पहला गुण है । दूसरा गुण—
जगत् के प्राणियों के विश्वास का कारण है अर्थात्
सम्पूर्ण परिग्रह का त्याग मुक्ति का कारण है । इस
प्रकार की अन्य प्राणियों के हृदय में भट्टा पैदा करने
का कारण वह लिंग धारण का गुण है । यहाँ टीका-
कार ने सर्व परिग्रह के त्याग को मुक्ति का कारण
बतलाया है और सर्व परिग्रह का त्याग वस्त्र-त्यागके
बिना सम्भावित नहीं है । यह बात 'अचेलक' की
मुख्यता से इस प्रकारण द्वारा स्वयमेव आ जाती है ।

क्योंकि लिंगों में अचेलक को ही 'उत्सर्ग' शब्द
द्वारा मुक्ति का कारण बतलाकर मुख्य रूप से परि-
गणित किया है न कि सचेलक अपवाद आचललिंगको ।
इस लिंग को तो स्वर्गादि सुखों का कारण मुख्यतया
बतलाया है, न कि साक्षात् मुक्ति का । इस लिये
सचेलक मुनि का लिंग नहीं । कारण कि मुनिलिंग
का धारण मुख्यतया मुक्ति प्राप्ति के उद्देश्य से किया

जाता है ।

तीसरा किङ्कण गुण—आत्म स्वरूपमें अस्थिरता को दूर करके शुद्ध आत्म-स्वरूपमें स्थिति-कराय का साधन बतलाया है । क्योंकि इस किङ्कणो धारण करके ही—मोक्षमार्ग में प्रवृत्त होनेके निमित्त अचेलक किङ्कणो धारण करनेवाले साधुके—नीचे लिखे अनुसार परित्याग होते हैं । जैसे—सर्वत्यागी मुझे राग रोष मान, माया, लोभ से क्या प्रयोजन है ? वक्क को ही मुख्य करके लोक में सर्व प्रकार के अलंकार यानी शौक सानियत की इच्छा होती है इस लिये वक्कत्याग से वे सभी शौकसानियत स्वयमेव नष्ट हो जाते हैं । इत्यादि वक्क-परिमह को मुख्य करके मोक्ष मार्गोपयोगी भावना इस किङ्कण से होती है, यह तीसरा गुण इस किङ्कण का है ।

चौथा गुण—गार्हस्थ्यधर्म का पृथक् भाव अर्थात् गृहव्यवधर्म इस औत्सर्गिककिङ्कण से जुड़ा है ऐसा चौथा गुण इस किङ्कण से होता है ।

गाथा ८३ में अचेलककिङ्कण धारण करने के और भी गुण हैं इस बात को दिखलाते हैं—

गंधर्व्याः । लाघवमप्यभिहितं च गदभयसं च ।

संसंजय परिहारो परिकल्प विवञ्जया चैव ॥८३॥

टीका—गंधर्व्याओ परिमह-त्यागः । लाघवं, हृद्य-समारोपित-शौक इव भवति परिमहान् । कथ-मिव मन्वेऽयस्यौदारिभ्यः पालयामि इति दुर्द्वारचित-केशवगमात् भवति । अभावादिह वसन-सहितकिङ्कणधारिणो हि वक्कलपडादि शोभनीयं महत् । इतरस्य पिच्छादिमात्रं ।

परिकल्पविबञ्जया चैव । वाचनसीवन-शोष-प्रपञ्चानादिरनेको हि व्यापारः स्वाध्याय-तन-विजयद्वारी अचेलस्य तत्र तथेति परिकल्पविबर्जनम् ।

गदभयसं—भयरहितता । भयव्याकुल-चित्तस्य न हि रत्नत्रय-वदन्त्याः पयोगः भवति । सबसनों यतिबंधेषु वृक्षजिह्वादि-सम्पूर्णे विचारुं नाहति अचेलस्तु तं परिहरतीत्याह-संसंजय-परिहारो इति ।

परिसह अधिवासणा चैव । शीतोऽप्यंशमराभ-विपरीपहजयो मुख्यते नमस्त्य । वसनाच्छादनवतो न शीतादिबाधा येन तत् सहनपरीपहजयः स्यात् । पूर्वा-पातकमनिर्जरार्थं परिपोडव्याः परीपहाः इति वचना-निर्जरार्थिभिः परिपोडव्याः परीपहाः ।

अर्थ—अचेलक किङ्कण में परिमह-त्याग, लाघव, प्रविलेखन, निभेयत्व, संसर्गपरिहार, परि-कर्मवर्जन—इस प्रकार ६ गुण और होते हैं । इन सबका सविस्तर वर्णन संस्कृत टीका में सं जानने योग्य है । इसी तरह से यहां अचेलकता के महानि गुण वर्णन किये हैं । इस सर्व वर्णन का सार ग्रन्थकार के मत से ऐसा स्पष्ट सिद्ध है कि भावकधर्म में भी वक्क के लिये ही गई कूट से मत्ती का शुद्ध मत नहीं पलता तथा अन्य मतावलम्बी वक्कधारी के तो वह कैसे पल सकता है । उपर्युक्त सर्व गुण अचेलक के ही हो सकते हैं । सचेलक (वक्कधारक) तो चेल के सम्बन्ध से अनेक चिन्ताओं का स्थान बन जाता है जिससे कि आकुलतावशा मोक्षोपयोगी मत संयमादि कुछ भी धारण नहीं कर सकता ।

गाथा ८४-८५-८६ में अचेलकता के और भी अनेक गुण ध्यान देने योग्य हैं ।

अथ अपवादकिङ्कणो भावक भाविका का है, इसके विषयमें ग्रन्थकार आगे की गाथा से कैसा व्यवहार करते हैं वह भी ध्यान देने योग्य है । गाथा ८७ की उत्पत्ति—

अपवादलिंग-प्रगतः किमु न शु-च्यतेत्यादि
शंकायां सत्यापि परिहरन क्रमेण ३ टीका—

अववादिलिंगकदो विसृज्यसति अगूहमाप्नो य ।

निदणगरहणजुतो सुम्भवि उवधि परिहरंतो ॥८७

टीका—अचेलककं गद । अववादलिंगकदो वि
अपवादलिंगस्थोऽपि । करोति स्थानार्थवृत्तिरिह
परिगृहीतः । तथा च प्रयोगः एवं च कृत्वा—

एवं च स्थित्वा इत्यर्थः । सुम्भवि शुद्ध्यति च
कर्ममत्तापायेन शुद्ध्यति । कीदृक् सन यः स्वां
सति शक्ति । अगूहमानो अगूहमानः सन उपधि
परिमहं । परिहरंतो पातियजन योगत्रयेण ।
निदणगरहणजुतो सकलपरिमह-स्वागो मुक्ते मार्गो
मया तु पातकेन वक्षपात्रादिकः परिमहः परीवहभी-
क्ष्या गृहीतः । संतापो निदा । गर्हा परेषां एवं
कथनं । ताभ्यां युक्तः । निदागर्हणादिना-परिणत
इति यावन । एवं अचेलता व्यावर्णितगुणा मूल-
तया गृहीता ।

अर्थ—इस गाथा का अभिप्राय यह है कि जो
अपवाद मार्ग को ग्रहण किये सचेलक है वह भी
अपने वेष की निदा और गर्हा करने से शुद्ध होने के
मार्ग पर लग जाता है । अर्थात् शक्ति-हीनता से
अचेलकता को नहीं धारण किये हुये है परन्तु उसका
अभिवांशी है । कारण कि वह अच्छी तरह से
समझता है कि यह अपवाद लिंग मोक्ष का साधन
नहीं है इसी लिये वह अपनी शक्ति-हीनता को
दिसाता हुआ उस वेष में इस प्रकार का विचार
करता है कि सक्ता परिमह-त्याग मुक्ति का मार्ग है ।
परन्तु मैं ने पातक से बका पात्रादिक परिमह परीसह
के भय से ग्रहण किये हैं । इस प्रकार से स्वयं
अपने मन में विचार करनेसे तथा अन्य आचार्यादि

के सामने बचन करने से शुद्धि के मार्ग में लग जाता
है । यह गाथा का आशय है ।

इस गाथा से और उसकी टीका से स्पष्ट सिद्ध है
कि अपवादलिंग मुनिलिंग नहीं है क्योंकि यह मोक्ष
का मार्ग साध करके नहीं है, भले ही परम्परा कर
भवांतर से हो । किन्तु उत्सर्गलिंग मोक्ष का साधन
साधक है, इसी लिये अपवाद लिंग की निदा में टीका-
कार ने मुख्यतया यह बात दिसाई है ।

इससे यह बात स्वयं सिद्ध है कि अचेलक यानी
उत्सर्गलिंग ही मुनिलिंग है दूसरा कोई भी मुनिलिंग
नहीं है । भगवती आराधना की कपयुक्त सब
गाथाओं और टीका के प्रकाश में यह बात स्पष्ट सिद्ध
हो जाती है । फिर न मात्तम प्रोफेसर हीरासाहा की
साहब अपवादलिंग को मुनिलिंग कैसे समझ रहे हैं,
यह समझ में नहीं आता । मेरी समझ से यदि
आप भगवती आराधना की इन गाथा और टीकाओं
के ऊपर अच्छी तरह से दृष्टिपात करेंगे तो यह विषय
आप की समझ में भी इसी तरह आवेगा जो कि
इस ग्रंथ से सासकरके निकलता है ऐसा मुझे पूर्ण
विश्वास है । आप स्वयं बिद्वान तथा इसे सरलतासे
जानने में कम भी हैं ।

(क) २.—'तत्त्वार्थ सूत्र' में पांच प्रकारके निर्ग्रन्थों
का निर्देश किया है जिनका विशेष स्वरूप सर्वावस्थिति
व राजवार्तिक टीका में समझाया गया है । (वेदो
अध्याय ६, सूत्र ४६-४७) । इसके अनुसार कहीं भी
ब्रह्मसाग अनिवार्य नहीं पाया जाता । बल्कि ब्रह्मा
निर्ग्रन्थ तो शरीर संस्कारके विशेष अनुवर्ती कहे गये
हैं । तथापि प्रतिसेवना कुरीलके सूत्रगुणोंकी विराधना
न होनेका उल्लेख किया गया है, तथापि ब्रह्म किमसे
पांचों ही निर्ग्रन्थों में विद्वत्पत्नीकार किया गया है

“भावलिङ्गं प्रतीत्य पञ्च निमग्न्यलिङ्गिनो भवन्ति । द्रव्य-
लिङ्गं प्रतीत्य भाव्याः । इसका टीका करारोने यह ही
अर्थ किया है कभी कभी मुनि वक्ता भी धारण कर
सकते हैं ।”

समाधान—तत्त्वाथं सूत्रमें जो पांच प्रकार के
निमग्न्यों का कथन किया है वह—चारित्र की उत्तरोत्तर
वृद्धि की अपेक्षासे है । जैसे कि—पुलाक मुनिके विषयमें
‘उत्तर-गुणभावनाऽपेक्ष - मनसो व्रतं यदपि कदाचिन्
कदाचिन् - परिपूर्णानामपरिप्राप्तुमन्तोऽविशुद्धाः पुलाक-
मादृश्यान् पुलाका इत्युच्यन्ते’ ।

इसका तात्पर्य स्पष्ट है कि—मुनियोंके—मूलगुण
और उत्तरगुण दो प्रकार के बनलाये हैं—उनमेंसे—जो
मुनि उत्तरगुणोंकी भावनासे रहित हैं अर्थात् जिनका
उत्तरगुणों की तरफ विशेष लक्ष नहीं है किन्तु उधर
सामान्य दृष्टि अवश्य है—(यह बात भावना शब्दसे
स्पष्ट है क्योंकि भावना शब्दका अर्थ अनुपेक्षा होता
है जिसका कि विशेष अर्थ बारबार चिन्तन होता है) ।
ज्योंमें भी ‘कदाचिन्’ किसी देशमें और ‘कदाचिन्’
किसी कालमें अपूर्णता को प्राप्त होते हैं । यहां ज्योंसे
मूलगुणोंका ग्रहण है क्योंकि इस प्रकरणमें मूलगुणों
का ग्रहण पिया है । अर्थात् कभी उपसर्ग, प्रमाद,
कषायादि किसी विशेष कारणसे मूलगुणोंमें विराधना
भी जिन के हो जाती है वे सब मुनियों में साधारण
जाति के मुनि हैं ।

सर्वार्थ सिद्धि और राजवातिक के इस कथन से
यह बात कही भी नहीं गोलित होती है कि—दीक्षा लेंते
समय या तपश्चर्या करते समय मुनि कही वक्ता का
ग्रहण करते हैं । कोई उनको जबरन भक्ति या द्वेषके
कारण वक्तासे जपेट दे तो वह मुनिका वक्ता धारण
करना नहीं कहा जाता है । क्योंकि मूलगुणोंमें

“अचेलक” गुण तो अवश्य ही लिया है । उसके
बिना तो ‘नैर्मग्न्य’ बनही नहीं सकता क्योंकि सर्वार्थ-
सिद्धिकरने, नैगम और संग्रहादि नयकी अपेक्षासे-
सभी पांचों प्रकारके साधुओं को निमग्न्य लिया है ।
यह सर्व कथन साधारण पुलाक मुनिके विषयका है ।

इसके आगे बकुला जाति के मुनि हैं जिनका
कि दर्जा पुलाकमें उंचा है जोकि साधारण मुनियोंमें
से ही चारित्र तथा पद विशेष की अपेक्षा उच्चता को
लिये दृष्ट हैं । बकुला जाति के मुनि—एक विहारी न
होकर आचार्य और उपध्याय परमेश्वरी पदमें संगणित
होते हैं ।

चारित्र की अपेक्षा तो उनके उच्चता इस कारण
है—कि ‘नैर्मग्न्यं प्रस्थिताः प्रतिस्थिताः’ नैर्मग्न्य यानी
अचेलकताके प्रतिस्थित हैं यानी अत्यंत दृढ़ हैं अर्थात्
प्रमाद और कषाय आदि कारण द्वारा अचेलकवृत्ति
से कभी ढिगते नहीं, सच में रहने में उपसर्ग भी कोई
नहीं होता । इन्हीं सब कारणों में उनका विशेषण
‘नैर्मग्न्यं प्रस्थिता’ दिया है । और दूसरा विशेषण
उनको ‘अखंडितप्रताः’ का दिया है उसका अभिप्राय
यह है कि वे अपने मूलगुणोंको आवश्यकतादि कृत्यों
से पूर्ण पालते हैं किसी प्रकार भी न मूलगुणों में
बाधा नहीं आने देते । उनमें वे पूर्ण रीतिमें सावधान
रहते हैं ।

तीसरा विशेषण—‘शरीरोपकरणविभूषानुवर्तिनः’
है इसका अभिप्राय यह है कि शरीर और उपकरण—
इनकी विभूषा। शरीरका सौंदर्य, प्रभाव, स्वच्छता यह
‘शरीर की विभूषा’ और उपकरण कमंडल पीछो
शाल्त्र इनका सुन्दर होना तथा स्वच्छ रखना यह
‘उपकरणकी विभूषा’ है । इनके प्रति कुछ प्रवर्तन होना
है वह शरीरोपकरण—विभूषानुवर्तिनः है । यह

विशेषण इस सिद्धे दिया है कि शिष्यों की उनकी प्रति प्राप्ति रहे जिससे कि दीक्षा-शिक्षा द्वारा शिष्य अपना कल्याण कर सकें, शिष्यों के हितार्थ जो प्रति का अंश है वह ही कुछ मोह मिश्रित कथुरता चित्रक (चितकवरा) अंश है, इसी कारण उनको बकुला या (गवल-कवर्तित) मुनि कहते हैं ।

‘आर्वाविकप-गिच्छदाः’ का तात्पर्य भी यह ही है कि शिष्य मण्डली में वे विभक्त नहीं हैं, उसको वे माध रम्यते हैं और उन्हें दीक्षा प्रायश्चित्त शिक्षा देते हैं । इस हेतु में भी मोहांश होने में वे ‘बकुला’ मुनि हैं ।

यहां विभूषा में वस्त्र का कुछ भी अभिप्राय नहीं है, कारण कि इनके लक्षण में प्रथम ही ‘नैर्मन्थ्यं प्रतिस्थिताः’ यह विशेषण आया है, उसका स्पष्ट अभिप्राय ‘अचेतकत्व’ है । उसका स्पष्टीकरण राज-वार्तिक की आगे की पंक्तियों में हो जाता है । जो कि शंका-समाधान को लिये हुए हैं । राजवार्तिक की पंक्तियां इस प्रकार हैं—

कश्चिदाह—कोईवादी शंका करता है कि—प्रकृष्टा-प्रकृष्टमध्यानां निर्मन्थाभावश्चारित्र्यभेदाद् गृहस्थवन । ६

भाष्य - यथा गृहस्थश्चारित्र्यभेदाभिप्रेत्यप-देशभाग् न भवति तथा पुलाकादीनामापि प्रकृष्टचारित्र्य-भेदाभिप्रेत्यन्तं नोपपद्यते ।

अर्थ—जिस प्रकार गृहस्थ चारित्र्य के भेद में निर्मन्थभाव की प्राप्ति नहीं होता है उसी प्रकार पुलाक आदि मुनियों को उत्तम, मध्यम, जवन्य चारित्र्य के भेद से निर्मन्थभाव नहीं होता है ।

समाधान—‘न वा दृष्टत्वाद् ब्राह्मणशब्दवन ॥ वा० ७ न बंध दोषः कुतो दृष्टत्वाद् ब्राह्मणशब्दवन । यथा ज्ञात्वा चारित्र्याश्रयनादिभेदेन भिन्नेषु ब्राह्मणशब्दो-

वर्तते तथा निर्मन्थशब्दोऽपि । किं च—

अर्थ—ब्राह्मण शब्द के समान यह दोष नहीं है क्योंकि चारित्र्य पालन करने की अपेक्षासे वह चारित्र्य वाला होता है, अध्ययन (पढ़ने) की अपेक्षा से विद्यार्थी और पढ़ाने की अपेक्षासे अध्यापक । यद्यपि व्यक्तियों में भेद है तथापि ब्राह्मण जाति की अपेक्षासे सभी भेद वाले ब्राह्मण हैं । यही दृष्टान्त निर्मन्थ शब्द के साथ लागू है । और भी आगे इसी बात के समर्थन में यथा—

संग्रहव्यवहारापेक्षत्वात् ॥ वा० नं० ८ ॥ यद्यपि निश्चयनयापेक्षया गुणहीनेषु न वर्तते तथापि संग्रह-व्यवहारनयविवक्षावशात्सकलविशेषसंग्रहो भवति ।

अर्थ—यद्यपि निश्चयनय की अपेक्षा से गुणहीन में वह निर्मन्थ शब्द भले ही प्रवर्तित न हो पूर्णता की अपेक्षा से । कारण कि पूर्णता तो १४ वें और १४ वें गुणस्थान में होती है परन्तु संग्रह और व्यवहार-नय की अपेक्षा में तो सब विशेषों का संग्रह हो जाता है । अर्थात् छठे गुणस्थान में लेकर सभी संयमी निर्मन्थ माने जाते हैं । ‘किं च ‘और भी—
‘दृष्टि-सामान्यत्वान् ॥ वा० ९ ॥

भाष्य—सम्यग्गर्जनं निर्मन्थरूपं च भूला-वेपायुधरहितं तन्मामान्ययोगान् सर्वेषु हि पुलाकादिषु निर्मन्थशब्दो युक्तः ।

अर्थ—सम्यग्गर्जन और भूषण वेप-वस्त्रपरिधान अयुग्मैरहित तन् निर्मन्थ रूपमें सामान्य धर्म सापेक्ष सम्पूर्ण पुलाकादिकों में निर्मन्थ शब्द युक्त ही है ।

(१० वा० शंका)—भद्रप्रते प्रसंग इति चेन्न रूपाम्भवात् ॥ वा० १० ॥ यद्विभद्रप्रतेऽपि निर्मन्थशब्दो वर्तते आचकेऽपि स्यात्—अतिप्रसंगो नैव दोषः, कुतो रूपाम्भवात् निर्मन्थरूपमत्र नः प्रमाणं, न च आचके

नदस्तीति नातिप्रसंगः ।

अर्थ—भग्नरूप में भी यदि निर्ग्रन्थ शब्द माना जाय तो आवश्यक के भी मानना चाहिये, ऐसा मानने से अतिप्रसंग (अतिव्याप्ति) नामक दोष उपस्थित होगा । उत्तर—यह दोष नहीं आता है, कारण कि आवश्यकों में रूप (नग्नरूप) का अभाव है, यहां इस को निर्ग्रन्थरूप (अचेलक रूप) प्रमाण है । यह आवश्यक में है नहीं, इस लिये अतिप्रसंग नाम का दोष उपस्थित नहीं होता ।

रा० बा० शंका—अन्यस्मिन् स्वरूपेऽतिप्रसंग इति चेन्न दृष्ट्यभावात् ॥ बा० नं० ११ ॥ ग्यादेन-एति रूपं प्रमाणं अन्यस्मिन्नपि स्वरूपे निर्ग्रन्थव्यपदेशः प्राप्नोति—इति तन्न । किं कारणं ? दृष्ट्या मह यत्र रूपं तत्र निर्ग्रन्थव्यपदेशः । न रूपमात्र इति । अथ किमर्थः पुलाकादिभ्योपदेशः चारित्रगुणस्योत्तर-प्रकरणे वृत्तिविशेषव्यापनार्थः ।

अर्थ—यदि रूप को प्रमाण मानने हों तो दूसरे धर्म वस्तुओं के स्वरूप (जातरूप-परमहंसरूप) में भी निर्ग्रन्थ का कथन होगा ? ऐसी शंका यहां नहीं हो सकती, कारण कि वहां दृष्टि (सम्यग्दर्शन) नहीं है । सम्यग्दर्शन के साथ जिस जगह जातरूप है वहां ही निर्ग्रन्थ का कथन है । केवल जातरूप ही प्रमाण नहीं है । दूसरी शंका—पुलाक आदि का भेद किस लिये ? उत्तर—ऊपर ऊपर चारित्रगुण की अधि-कता सूचित करने के लिये पुलाक आदि का कथन है ।

राजबानिक के इस सब कथन में यह बात स्पष्ट सिद्ध हो जाती है कि 'शरीरोपकरण-विभूषानुवर्तिनः' वाक्य में जो 'विभूषा' शब्द आया है वह साधु (मुनि) को वस्त्र सहित साधु होने का द्योतक नहीं है, किन्तु अचेलक अवस्था का ही द्योतक है ।

सर्वाधिसिद्धि के अध्याय ८ सूत्र १ की व्याख्यामें जिस जगह पांच प्रकार के मिथ्यात्वों का वर्णन किया है वहां विषयय मिथ्यात्व को यों लिखा है—'समन्वो निर्ग्रन्थः, केवली कबलाहारी, स्त्री सिद्धध्वनीत्येवमादिः विषययः । अर्थ—समन्व को निर्ग्रन्थ मानना और केवली कबलाहारी होते हैं, स्त्री मोक्ष को प्राप्त करती है इत्यादि मानना या कहना विषयय मिथ्यात्व है ।

इस प्रकार का कथन भास्करानन्दी का मुख्यबोध-वृत्ति में तथा राजबानिक में विषयय मिथ्यात्व का वर्णन किया है । इस वर्णन में भी यह बात सिद्ध है कि सबका निर्ग्रन्थ नहीं होता यदि सबका निर्ग्रन्थ होता तो पुण्यपाद स्वामी, अकलंकदेव अपने मन्त्रार्थ-मिद्धि और राजबानिक ग्रन्थ में एक जगह मुनि को वस्त्र विधान करने और दूसरी जगह मुनि की वस्त्र-विधानता को विषयय मिथ्यात्वों लिखते ? यह कदापि सम्भावित नहीं हो सकता है ।

इस सब कथन में यह स्पष्ट हो जाता है कि जिन ग्रन्थों का आश्रय लेकर प्रोफेसर साहब साधु को मन्त्र सिद्ध करना चाहते थे उन्हीं ग्रन्थों से साधु का अचेलकालिग सिद्ध हो जाता है । इस लिये कहना होगा कि प्रोफेसर साहब ने इन ग्रन्थों का पूर्वापर सम्बन्ध में मनन नहीं किया है । यदि आप इन ग्रन्थों का पूर्वापर सम्बन्ध से मनन करने तो इन ग्रन्थों का हवाला देकर ऐसा न लिखने कि मुनि को वस्त्र त्याग अनिवार्य नहीं पाया जाता ।

श्लोक बानिक में भी मुनि के अचेलकालिग का विधान और सचेतक का लयहन बड़े ही मार्के का किया है—वह इस प्रकार है—

कुन एते निर्ग्रन्थाः पञ्चापि मता इत्यत आह—

अर्थ—ये पांचों भी निर्ग्रन्थ कैसे माने जाते हैं

ऐसी शंका होनेपर समाधान—

पुलाकाद्या मताः पंच निग्रथाः व्यवहारतः ।

निष्ठायाच्चापि नैर्ग्रथ्यसामान्यस्याविरोधतः ॥१॥

अर्थ—व्यवहारनय से पुलाक आदि सभी निग्रथ माने गये हैं, निग्रथ नयसे भी निग्रथ सामान्य का अविरोध होनेसे निग्रथत्व—सबमें ही है ॥१॥

वस्त्रादिग्रन्थसम्प्राप्ततोऽप्ये नेति गम्यते ।

वाद्यग्रन्थस्य सदभावोऽन्तर्ग्रथो न नश्यति ॥२॥

अर्थ—उन पांचोंमें अन्य (दुमरे) वस्त्रादि परिग्रह सहित हैं वे निग्रथ नहीं हैं यह ज्ञान स्वयमेव आजाती है । क्योंकि वस्त्रादि वाद्यग्रन्थके सदभावमें अन्तरंग-परिग्रह नाश को प्राप्त नहीं होता अर्थात् रहता ही है ।

ये वस्त्रादिग्रन्थाहु निग्रथत्वं यथोचितम् ।

मूर्च्छानुद्घातितस्तेषां लयाद्यादानेऽपि किं न तत् ॥३॥

अर्थ—जिस तरह जो वस्त्र आदि के ग्रहणमें भी स्पष्ट प्रकटित निग्रथत्व को कहते हैं । उनके मतमें—मूर्च्छा (ममत्व) के अभाव से जो आदि के ग्रहण में भी मूर्च्छा का अभाव क्यों नहीं माना जाय ।

विषयग्रहणं कार्यं मूर्च्छां स्यात्तस्य कारणम् ।

न च कारणविषयं जानु कार्यस्य संभवः ॥४॥

अर्थ—जो विषय ग्रहण कार्य होय और मूर्च्छा उसका कारण होय तो कारण के नाश में कार्य कभी भी संभवित नहीं हो सकता अर्थात् यदि मूर्च्छा ही नहीं तो वस्त्रादि परिग्रह का ग्रहण कैसे हो सकता है ।

विषयः कारणं मूर्च्छां तत्कार्यमिति यो वदेत् ।

तस्य मूर्च्छादयाऽसत्त्वं विषयस्य न सिद्ध्यति ॥५॥

अर्थ—विषय कारण है और मूर्च्छा उस विषय का कार्य है ऐसा जो कहते हैं उनके सिद्धान्त से उस विषयके नहीं होनेपर भी मूर्च्छा का उदय सिद्ध नहीं होता है ।

तस्मान्मोहोदयान्मूर्च्छां स्वार्थं तस्य ग्रहस्ततः ।

स यस्यास्ति स्वयं तस्य न नैर्ग्रथ्यं कदाचन ॥६॥

अर्थ—इससे अर्थात् ऊपर के सब कथन से यह बात सिद्ध हो जाती है कि—मोहनीय कर्म के उदय से मूर्च्छा (ममत्व बुद्धि) होती है और उस मूर्च्छा का ग्रहण है वह अपने अर्थ में होता है अर्थात् अपने पदार्थके होने पर ही होता है—ततः उसकारणसे—वह पदार्थ जिसके हैं उसके नैर्ग्रथ्य कभी भी नहीं हो सकता है यह बात स्वयं ही सिद्ध है ।

आगे इन श्लोकों की बार्तिक में ग्रन्थकार ने जो विषय प्रतिपादन किया है वह—सर्व विषय—राज-बार्तिक का ही प्रतिपादन किया है—अर्थात् भूषा, वेष, आयुध इनकर के रहित असंस्कार किया गया अर्थात् जात रूप है वह ही निग्रथ स्वरूप है—वह गृहस्थोंमें नहीं होता और सम्यग्दर्शनके अभाव होने से अन्य-मतो परमहंसके भी 'नैर्ग्रथ्य' पद नहीं होता है यह सब दिगम्बरशास्त्र—सम्मत सिद्धान्त है ।

२ (ख) —“यद्यपि प्रतिषेधना कुशलके मूलगुणों की विराधना न होनेका उल्लेख किया गया है तथापि द्रव्यलिंगमें पांचोंही निग्रथोंमें विकल्प स्वीकार किया गया है “भावलिङ्गं प्रतीत्य पञ्चनिग्रथलिङ्गिनोभवन्ति । द्रव्यलिङ्गं प्रतीत्य भाव्याः । (मोसि० अध्या० ६, ४७) इसका टीकाकारोंने यह ही अर्थ किया है कि कभी २ मुनि वस्त्र भी धारण कर सकते हैं” ।

समाधान—सर्वार्थ सिद्धि स्वयं टीका है उसमें सिर्फ 'द्रव्यलिङ्गं प्रतीत्य भाव्या' इतना ही इस द्रव्यलिङ्ग के विषयमें कथन है उससे ज्यादा कथन नहीं है । तथा राजबार्तिक उस सर्वार्थ सिद्धि की ही विशद बड़ी टीका है उसमें भी उनमें ही वाक्य हैं जितने कि सर्वार्थ सिद्धिमें हैं । फिर न मालूम आपने इन दो

प्रधान टीकाओं के सिवाय कौनसी टीका देखली जिन में कि आपको यह कथन मिल गया कि 'कभी कभी मुनि बख धारण कर लेते हैं'।

साथमें आप यहभी लिख रहें हैं कि- प्रतिसेवना कुशील नामके मुनिको 'मूलगुणोंकी विराधना न होने का उल्लेख किया है' ऐसा लिखनेमें तो आपने 'बख त्याग' को मूलगुण में मान ही लिया है—और मूलगुण की विराधना न होनेका स्पष्ट कथन सर्वार्थ-मिद्धिमें है ही। फिर 'द्रव्यलिंगं प्रतीत्य भाज्याः' इस पदसे यही अर्थ आपने कैसे निकाल लिया कि मुनि कभी कभी बख धारण कर सकते हैं? इसका अर्थ यह ही क्यों नहीं होता कि कोई मुनि एका-विहारी होते हैं, कोई मुनि एका-विहारी नहींभी होते हैं, कोई मुनि साधारण मुनि होते हैं, तो कोई मुनि आचार्य होते हैं और कोई मुनि उपाध्याय होते हैं। तथा तत्त्वार्थ सूत्रमें कहे गये जो दश प्रकार के मुनि बंधा-वृत्त्यमें लिये गये हैं वे भी द्रव्यलिंग में क्यों नहीं विभाज्य हो सकते जिनमें कि आचार्य, उपाध्याय-सर्व साधुका प्रहण है। मालूम पड़ता है कि सर्वार्थ-सिद्धिके टीकाकार पूज्यपाद और अकलंक देवने उस नवम अध्याय के सूत्र का स्पष्ट कथन देखकर के ही मोटी बात समझ कर 'भाज्याः' शब्द का मुलासा नहीं किया है।

अब रही किसी के द्वारा मुनीश्वर को बखमें आच्छादन करने की बात: सो यह—बखत्याग में ही गभित है। कारण कि वह बख मुनीश्वर का अपने द्वारा प्रहण किया हुआ नहीं है अतः वह दूसरेके द्वारा मुनीश्वर पर डाला बख मुनीश्वर केलिये उपस्मा में गिना जाता है। चाहे वह भक्तिसे हो, चाहे द्वेषसे हो। उपसर्गके बखको लेकर के ही सामाजिक शिक्षा

अतः प्रकरण से रत्न करंभभावकाचार में—

*चेलोपम^{१०} निरिच गृही तदा याति यतिभावः,

ऐसा कथन आया है। तथा—भास्करानंदीकी—

मुख बोधिका तत्त्वार्थ वृत्ति-पत्र २२४ नवमें अध्याय के ४७वें सूत्रकी टीका जो मैमूर में छपी है उसमें—

'लिंगं द्विविधं द्रव्यलिंगं भावलिंगं चेति।

भावलिंगं प्रतीत्य पंचापि लिंगानां भवन्ति। सम्यग्दर्शनादेः सदभावान्। द्रव्यलिंगं प्रतीत्य भाज्याः केषांचिन् क्वचिन् कदाचिन् कुत्रात्रिन् कथंचिन् प्राग्वह-सदभावान्।

अर्थ—लिंग दो प्रकार का है द्रव्यलिंग और भावलिंग। भावलिंग का आशय करके पांचोंही लिंगी हैं—क्योंकि वे सम्यग् दर्शन आदि गुण सहित हैं। द्रव्यलिंग की अपेक्षा में कोई मुनिराज कहीं किसी समय किसी कारण से किसी प्रकार—आवरण युक्त हो सकते हैं। इस ग्रंथकी लिखावट से यह बात मालूम पड़ती है कि—भक्ति उपसर्ग आदि के कारण जो मुनि धर्मके लिये अभिप्रेत या योग्य नहीं है वे कारण कभी बन जाते हैं—इस लिये भलेही पाँचों में स्वरूप देखने की अपेक्षा भेद हो सकता है परन्तु—वास्तविक भवगृहीत जातरूप की अपेक्षा में कोई भी भेद नहीं है।

मैंने ग्रन्थोंके इस कथनमें यह बात स्पष्ट हो जाती है कि—मुनीश्वर को बखत्याग अनिवार्य ही है। बख-त्याग का एक मुख्य हेतु यह भी है कि—जो कोई भी मनुष्य जिस बस्तु को प्राप्त करना चाहता है उसका आदर्श बिन्दु रखकर ही उसे प्राप्त कर सकता है—जैन सिद्धान्त से यह बात स्पष्ट सिद्ध है कि आत्मा कर्मनोर्म उपधिधियोंसे सर्वत्रा तुषमावकी तरह भिज्जै।

* बखके द्वारा उपसर्गयुक्त मुनि

अर्थात्—वह अपने स्वरूप से शुद्ध चिदानन्द चैतन्य रूप प्रकाशमान ज्ञानवर्धन प्रमुख गुण वाला है परन्तु कर्म-नोकर्म उसमें आबरुणरूप है, ऐसा ध्यान करते और वैसी किया आबरुण करने वह अपने शुद्धरूप को प्राप्त हो जाता है।

यहां प्रकरण में भी साधक मनुष्य-शरीर दृष्टान्त के पक्ष आत्मभाव और कर्म-नोकर्म सहसा बन्नादि आबरुण समझ कर उन्हें मायक मुनि आबरुण में दूर करके वैसा ही ध्यान कर सकता है कि इस शरीर से बन्नादि जुड़े हैं उनको छोड़कर जैसे शरीर नष्ट हो जाता है, वैसे ही मर्त्य आत्मा इन कर्म-नोकर्म आबरुणों से जुड़ी हो सकती है। अर्थात् बन्ना-त्याग का आदर्श सम्मुख रखकर और वैसा चिंतन करने से साधक की साधकता प्राप्त हो सकती है। अतः बन्ना-त्याग में सहन-शीलता आदि गुणों के साथ यह भी एक अपूर्व मुख्य गुण है।

२ (ग) —“मुक्ति भी सम्प्रथ और निर्मय दोनों लोगों से कही गई है। “निर्मयतिग्नः सम्प्रथतिग्नो वा सिद्धिभूतपूर्वनेयापेक्षया” (त० सूत्र १० अध्याय ८ सूत्र सर्वार्थसिद्धि) यहां भूतपूर्व नयापेक्षया का अर्थः प्रायः ‘सिद्ध होने से अनन्तर पूर्व’ का है।”

समाधान—इस विषय में सर्वार्थसिद्धिकार ने यह लिखा है कि—‘तिग्नो केन सिद्धिः ? अवेद-त्वेन, त्रिभ्योः वा वेदेभ्यः सिद्धिर्भावतो, न द्रव्यतः, द्रव्यतः पुंस्तिग्नोर्नैव ।’

अर्थ—तिग्न से किससे सिद्धि होती है ? अवेदत्व से होता है अथवा तीन वेदों से सिद्धि है, यह भाववेद की अपेक्षा से, न कि द्रव्यवेद की अपेक्षा से। द्रव्य-की अपेक्षा से तो पुंस्तिग्न से ही सिद्धि होती है। इस तरह सर्वार्थसिद्धिकार के मत से स्पष्ट द्रव्यकी का

मोक्ष का निषेध है। द्रव्यकी को मोक्ष के निषेध में धक्काकार ने बन्ना का प्रतिबन्ध कारण माना है, यह पदस्यद्वयगतके सत्परूपणके ६३ सूत्र की धक्का टीका से स्पष्ट है। इससे यह बात सहजमें ही निकल आती है कि बन्ना सहित तो मोक्षसिद्धि है नहीं।

अब जो तिग्न शब्द से वेद की मुख्यता करके सर्वार्थसिद्धिकार ने ‘अथवा’ शब्द के द्वारा मोक्ष का विधान किया है, उसमें निर्मयतिग्न के साथ तो कुछ आपत्ति भी नहीं थी, इस लिये उसके साथ भूतपूर्व-नय की विवक्षा लगाई नहीं है क्योंकि उसमें तो न श्वेताम्बर समाज को ऐतराज है, न दिगम्बरसमाज को है, अर्थात् इस विषय में दोनों सम्प्रदाय एकमत हैं। सबल में दोनों सम्प्रदायों का मतभेद अवश्य है उसी को दूर करने के निमित्त प्रन्धकार ने भूतपूर्व नय की अपेक्षा की है। अर्थात्—भूतपूर्व नय से यह बात सिद्ध है कि जिसने मुक्ति के मार्ग में सबसे पैर रखा है वहां से यदि गणना की जाए तो पहले जिसने मायक के जन पावन किये हैं, वहां से वह गणना शुरू हो सकती है। बाद को फिर मुनितिग्न कारण कर मोक्ष की प्राप्ति की। ऐसी व्यवस्था में मायक जो सम्प्रथ तिग्न है वह मुक्ति के लिये भूतपूर्व नय की अपेक्षा से कारण होगा। वस, भूतपूर्व नय का यह ही अभिप्राय है।

आपने जो भूतपूर्व नय का सिद्धि होनेसे अनन्तर-पूर्व अर्थ किया है उसका तात्पर्य सिर्फ यह ही होता है कि ‘सिद्धि होनेसे अनन्तर रहित पूर्वका समय’ परंतु यह अर्थ वहां सम्मिलित नहीं हो सकता कारण कि एक तो पृथक्पाद स्थानी बन्ना-सहित मोक्ष मानते नहीं।

दूसरे ओकी दूरके सिद्धे आपकी बात किसी तरह

मान भी की जाय तो विनोदोत्पत्तिमें जो जैन न्याय का सिद्धान्त है उसका घात होता है। कारण कि जैन सिद्धान्त में एक पर्याय का नाश और दूसरी पर्याय की उत्पत्ति एक ही समय में मानी है। जैसे कि टछांतमें घड़ा फूटने का और कपाल (सर्पिकण) होने का एक ही समय है। इस सिद्धान्त से लिंग-नाश और सिद्धपर्याय की उत्पत्ति का समय एक ही पड़ता है। इस लिये 'सिद्धि के अनन्तर पूर्व' जो अर्थ किया है वह भूतपूर्वका अर्थ संगत नहीं होता। अतः सिद्ध है कि भूतपूर्व का अर्थ 'जिस अवस्था से मोक्ष प्राप्त की है उससे पूर्व की अवस्था' ही सम्भावित है।

ऐसा होने से यह ही अर्थ स्पष्ट आ जाता है जो सबका अवस्था है वह ही यहां भूतपूर्वनय का विषय है। अर्थात् जिस मनुष्य ने पहले आवश्यक अवस्था धारण करके पीछे मुक्ति अवस्था धारण कर सिद्धि प्राप्त की है उसमें जो आवश्यक अवस्था है उसके लिये ही भूतपूर्वनय लागू पड़ेगी।

यदि आचार्य के मत से सबका और अवस्था दोनों ही अवस्था से मोक्ष होती तो फिर आचार्य का भूतपूर्वनय के द्वारा सिद्धि दिखलाने की जरूरत ही नहीं पड़ती। कारण कि वैसा होने से वहां विनोदोत्पत्ति विषयक जैन सिद्धान्त एक क्षण का है वह घट ही नहीं सकता था।

दूसरे वहां एक बात और है जिस प्रकरण से 'भूतपूर्वनय' का क न किया जाता है, वहां 'प्रत्युत्पन्न' नय को चाहे आचार्य कहें, चाहे न कहें, परन्तु उम का विषय तो अवश्य आ ही जाता है क्योंकि दोनों बखन सापेक्षता को परस्पर लिये हुए हैं। इस लिये दोनों में से एक वा कथन होगा तो दूसरी जरूर ही सम्भवनी चाहिये। इस प्रकरण में यदि आप भूत-

पूर्वनय का विषय निर्ग्रन्थ और सन्मय दोनों ही अवस्था में लगा देंगे तो फिर प्रत्युत्पन्न नय का विषय कहाँ लगावेगे। यहां आपने दोनों दशा में ही जब भूतपूर्व का विषय लगा दिया है तो प्रत्युत्पन्न का जब दूसरा विषय जरूर बतलाना चाहिये। अगर आप उसके लिये दूसरा विषय नहीं बतला सकते तो फिर निश्चिन है कि निर्ग्रन्थ अवस्था प्रत्युत्पन्ननय का विषय है और भूतपूर्व का विषय सम्प्रन्थ अवस्था है।

इस सब कथन से यह स्पष्ट सार निकल आता है कि मोक्ष या सिद्धि निर्ग्रन्थ अवस्था से ही होती है। सम्प्रन्थ अवस्था में किसी भी दिग्भ्दर जैनाचार्य के मत में मोक्ष-सिद्धि नहीं।

सर्वार्थसिद्धि मुद्रित प्रति में निर्ग्रन्थ-किंगन के साथ 'ऐसा कोमा नहीं होने से आपको अपघटित कल्पना करने का समय मिला है, इस लिये वहां इनबर्टेड कोमा अवश्य होना चाहिये। जिससे कि गहरे विचार बिना, किसी दूसरे को आपकी ही अपघटित कल्पना ही न उठ सक।

यहां एक बात और भी ध्यान देने योग्य है—चार ज्ञानसे जिस जगह सिद्धि सर्वार्थसिद्धिमें बतलाई है वह कैसे सम्भावित है? वहां सिद्धांत भूतपूर्वनय के गति नहीं, वहां सिद्धि होने के 'अनन्तर पूर्व' अर्थ होगा तो केवलज्ञान बिना सिद्धि होगी क्या?

श्लोकवार्तिक ग्रन्थ में भी जो किंग से सिद्धि के विषय में श्लोक लिखा है उससे भी यही बात सिद्ध होती है कि भूतपूर्व नय का विषय सम्प्रन्थ के ही साथ है, निर्ग्रन्थ के साथ नहीं है। तथा मुक्ति से वह बात भी दर्शाती है कि मुक्ति निर्ग्रन्थ अवस्था के सिद्धांत दूसरी अवस्था से होती ही नहीं। श्लोकवार्तिक का वह श्लोक इस प्रकार है—

सा साधनान्धलिगेन परंपरासतोन्वयः ।

साक्षात् सन्निहितं सिद्धिं निर्मलता दृष्टा ॥६॥

अर्थ—निर्मलान्धलिग से साक्षात् सिद्धि (मोक्ष-प्राप्ति) होती है। और समग्रान्धलिग से परम्परा कर मोक्ष की सिद्धि होती है। यहां समग्रान्धलिग से परम्परा से मोक्ष की सिद्धि बतलाई है। इससे स्पष्ट सिद्ध हो जाता है कि भूतपूर्वनय का विषय समग्रान्धलिग के ही साथ है, न कि निर्मलान्धलिग के साथ। अर्थात् मोक्ष-सिद्धि के लिए जो पूर्व है वह ही भूतपूर्व है। आचार्य ने यहां परम्परा में समग्रान्धलिग को ही लिया है। अतः उस नयका विषय समग्रान्धलिग के ही साथ है।

श्लोक के उत्तरार्ध का अर्थ—

“यदि समग्रान्धलिग से ही साक्षात् सिद्धि हो जाय तो फिर निर्मलान्धलिग का धारण करना व्यर्थ ही है।” अर्थात् जो बन्धु सुगम मार्ग से प्राप्त की जा सकती है तो फिर उसके लिये कठिन मार्ग की आवश्यकता भी क्या है। इस श्लोक के उत्तरार्ध से यह बात स्पष्ट दिखता है कि निर्मलान्धलिग के सिवाय मुक्ति दूसरे लिए से नहीं होती तथा न हो सकती है।

३—“धवलाकार ने प्रमत्त-संयतां का स्वरूप बतलाते हुए जो संयम की परिभाषा दी है उसमें केवल पांच व्रतों का पालन का ही उल्लेख है ‘संयमो नाम हिसानृतस्त्यागप्रतिग्रहभ्यो विरतिः’ इस प्रकार दिगम्बर शास्त्रानुसार भी मुनि के लिये एकान्ततः वस्त्र-त्याग का विधान नहीं पाया जाता। हां कुन्द-कुन्दाचार्य ने ऐसा विधान किया है पर उसका उक्त प्रमाण ग्रन्थों से मेल नहीं बैठता।”

समाधान—इस प्रकार नं० ३ के प्रश्न से यह बात दो स्पष्ट नहीं होती कि संयम सबग्रान्धलिग से भी होता है। लिग की अपेक्षा न करके केवल संयम के

परिग्रह से ही संयम होना मानते हैं तो फिर कहना होगा कि निमित्त के बिना ही केवल उपादान से ही कार्य सिद्धि का होना ठहरता है। परन्तु यह बात कार्यकारण के न्यायसिद्धांत से सर्वथा विरुद्ध है, क्योंकि कि प्रत्येक कार्य की उत्पत्ति में नियमसे उपादान और निमित्त दोनों कारणों से ही कार्यसिद्धि का नियम है, जो कि अनुभव-सिद्ध है। दृष्टांत से भी यही बात सिद्ध है कि वृत्तिक में घट बनने की शक्ति है परन्तु उसके साथ पानी का सम्बन्ध हुए बिना तथा कुम्हार, चक्र, चीवर आदि निमित्त कारणों के बिना वृत्तिका का घट नहीं बन सकता। इसी तरह चावल में ओदन (भात) बननेकी शक्ति है, परन्तु पानी, अग्नि संयोग, पटलोई आदि कारणों के बिना चावल का भात नहीं बन सकता।

इसी तरह दूर-दूर भव्य में शक्ति की अपेक्षा से भव्यत्व गुण है, परन्तु उसको कभी भी रत्नत्रयकी उत्पत्ति के साधन नहीं मिलते, इस लिये उसकी भव्य-व्यवस्था में ही गणना होती है। ठीक यही दृष्टान्त प्रकृत विषय संयम का है। अर्थात् जब तक प्रगुल वस्त्र के साथ अन्य परिग्रहों का त्याग नहीं होगा तब तक संयम गुण ही प्रकट नहीं हो सकता।

दूसरे आप इस विषय में धवला टीका का प्रमाण देते हैं सो उसमें तो यह बात सिद्ध ही नहीं हो सकती कारण कि ‘संयम’ से छठ आदि गुणस्थान का प्रमाण है परन्तु धवलाकार तो सत्प्रकरण के ६३ वें सूत्र की टीका में ही यह बात स्पष्ट लिखते हैं कि अपेक्षाक अवस्था के बिना छठा आदि गुणस्थान नहीं होता है। अर्थात् जो अपेक्षा है उसके पांच गुणस्थान तक हो सकते हैं। और पांचवें गुणस्थान को संयम (संयत) में लिया ही नहीं है। अतः धवला से

भी यह ही बात सिद्ध है कि सबर्वात्मि की संयम (संबत) में परिगणना नहीं।" यदि 'संयम' से अपूर्ण संयम का आपका अभिप्राय हो तो वह भावकों का किंग होता ही है किन्तु मुनि-किंग नहीं होता। जिनको 'संयत' अर्थात् छठे आदि गुणस्थान का निवेश भी बीरसेन स्वामी ने किया वह सबर्वात्मि की मुख्यता से ही तो किया है। इससे कहना होगा कि संयम के लिये जो बीरसेन स्वामी के मत से सबर्वात्मि सिद्ध करने का प्रयत्न किया है वह विफल प्रयत्न है।

इस प्रकार के उपर्युक्त आपक माने हुए दिगम्बर शास्त्रों के आधार से तथा अनुभव और युक्तियों से अन्वेषी तरह सिद्ध है कि मुनि अवस्था सबर्वात्मि अवस्था नहीं है किन्तु अचैतन्य अवस्था ही है। जो कि मोक्ष की प्राप्ति की साक्षात् कारण है। इस विषय में श्लोकवार्तिक में स्पष्ट लिखा है कि 'यदि सबर्वात्मि अवस्था ही मुनि अवस्था है तो कौन का आशान भी मुनि अवस्था में क्यों नहीं है।' सबर्वात्मि दशा में हाँस मञ्जर आदि की बाधा होती नहीं यदि उससे ही अर्थात् मुख्य उपाय से ही मोक्ष की प्राप्ति हो जाय तो फिर मुख्य उपाय से मोक्ष का प्रयत्न भी क्यों किया जाय इत्यादि। मुनिपद के लिये सबर्वात्मि स्वरूप के भूषणधार, आदि पुराण, अनागार-वर्मावृत वगैरह अनेक ग्रन्थ प्रमाण हैं, जिनसे यह स्पष्ट सिद्ध है कि वस्त्रावस्था ही मुनिपद की अवस्था है, जिससे कि मोक्ष का साक्षात् सम्बन्ध है। किन्तु अपवाद अवस्था मुनि का किंग नहीं है वह अवस्था केवल भावक का चिह्न है। इस प्रकार संयमी और वक्ता-भाग का प्रकरण पूर्ण हुआ।

केवली के भूख-प्यासा की — वेदना —

प्रोफेसर साहब लिखते हैं कि—

“कुन्दकुन्दाचार्य ने केवली के भूख-प्यासा की वेदना का निवेद किया है। पर तत्त्वार्थसूत्रकार ने सबर्वात्मि से कर्मसिद्धान्तानुसार यह सिद्ध किया है कि वेदनीयों-जन्म श्रुति-विप्रासादि ग्यारह परिषद केवली के भी होते हैं। (द्वितीय अध्याय ६ सूत्र २-१७)। सर्वार्थसिद्धिकार एवं राजवार्तिककार ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि मोहनीय कर्मों-जन्म के अभाव में वेदनीय का प्रभाव उत्पन्न हो जाता है, इससे वेदनाएं केवली के नहीं होती। पर कर्म-सिद्धांत से यह बात सिद्ध नहीं होती। मोहनीय के अभाव में रागद्वेष परिणति का अभाव अवश्य होगा पर वेदनीय-जन्म वेदना का अभाव नहीं हो सकेगा। यदि ब्रह्मा होता तो फिर मोहनीय कर्म के अभाव के पश्चात् वेदनीय का उदय माना ही क्यों जाना? वेदनीय का उदय मयोगी और अयोगी गुणस्थान में भी आयु के अन्तिम समय तक बराबर बना रहता है। इसके मानते हुए तत्सम्बन्धी वेदनाओं का अभाव मानना शास्त्र-सम्मत नहीं ठहरता।”

समाधान—प्रोफेसर हीरालाल जी साहब की उपर्युक्त बात को (शास्त्रों को) उत्पन्न करने वाला तत्त्वार्थसूत्र नवमे अध्याय का “एकादश जिन” यह ग्यारहवां सूत्र है। उसमें तेरहवें गुणस्थानवर्ती और चौदहवें गुणस्थानवर्ती सबोगी और अयोगी जिन के ११ परिषदों का विधान है क्योंकि उनके अवास्तविक कर्मों का सम्भाव है, इस लिये उनमें से वेदनीय के

उदयके सद्भाव होने से ११ परीपह जिनेन्द्र भगवान के होती है, ऐसा नं० ११ वें सूत्र का अभिप्राय है। यह ही कर्मसिद्धान्त का विषय प्रोफेसर साहब के मन्तव्य का विषय है। इस सूत्र की व्याख्या करने वाले पूम्बपाद् (देवन्त्री) ने और अकन्नकदेव ने अपने अपने ग्रन्थ सर्वाधिसिद्धि और राजवार्तिक में जिस तरह से व्याख्या की है वह प्रोफेसर साहब को मान्य नहीं है, कारण कि उन व्याख्याओं में यह बात दिखलाई है कि 'जिस वेदनीय कर्मके उदय से ये परीपह जिनदेवके माना हैं, उसका उदय अपनी केवल हयाति (रूपा) के उदयकाल में होता फल नहीं देता है जैसा कि मोहनीय कर्म के साथ देता है।

प्रोफेसर साहब इस बात को मानते नहीं—कारण कि उमास्वामी ने जिनेन्द्र भगवान के ११ परीपह का विधान किया है और वह विधान भी वेदनीय कर्म के मद्भाव से है और वेदनीय कर्म वहां मौजूद है ही तथा उसका उदय भी है। अतः जिनेन्द्र के क्षुधादि परीपह होनी चाहिये और परीपहों के सम्यग्रूप से उनके दुःख भी होना चाहिये। यह सीधा कर्मसिद्धान्त है। उस में मोहनीय कर्म का पचड़ा लगाकर जो जिनेन्द्र के परीपह का अभाव बतलाया है वह कर्मसिद्धान्त नहीं है, यह आपका रीष्ट अभिमत है। परन्तु यह अभिमत आपका उमास्वामी के आधार वाक्यों में तथा कर्मसिद्धान्त को प्रतिपादन करने वाले ग्रन्थों के कथन से ही खिन्न हो जाता है। यहां पहले आपके विचार की समाधानी उमास्वामी के वाक्यों में ही करना ठीक है इस लिये पहले उनके वाक्यों में ही आपकी समाधानी की जाती है।

श्री उमास्वामी महाराज अपने सूत्र के आठवें अध्याय में—'आद्यो ज्ञानदर्शनवरयवेदनीय-मोह-

वा नामगोत्रान्तराद्याः ॥४॥' सूत्र द्वारा कर्म-विधियों का क्रम लिखते हैं। इस क्रम में चाहिये तो यह वां कि पहले पातिया कर्मोंको लिखकर पीछे से अपातिया कर्मोंको लिख देते, परन्तु ऐसा न करके उनमें मोहनीय पातिया कर्म के पूर्व वेदनीय अपातिया कर्म का उल्लेख किया है और अपातिया कर्मों के अंत में अन्तराय पातिया कर्म का उल्लेख किया है। आचार्य ने ऐसा क्रम क्यों किया है, इसका कुछ न कुछ रहस्य अवश्य है। आचार्य उमास्वामी ने केवल क्रम ही इस तरह का किया हो यह ही बात नहीं है किन्तु उस क्रम के अनुसार ही इन कर्मों के भेदों का भी अनुक्रम वैसा ही लिया है इस लिये इसका रहस्य अवश्य ही कुछ जरूर है। उस रहस्य का स्पष्टीकरण कर्मसिद्धान्त का जो मुख्य ग्रन्थ गोम्पटसार कर्मकांड है उसमें इस प्रकार किया है। उसमें पहले अन्तराय कर्म के लिये गाथा दी है—

पादि वि अपादि वा शिस्सेसं पापये असक्कावो।

यामतिवणिमितावो विग्घं पडिदं अपादिचरिमिदं १७

अर्थ—अन्तरायकर्म पातियाकर्म है तो भी समस्तपने में जीव के गुणपातेने में समर्थ न होने से अपातिया कर्मों की तरह है। परन्तु यह नाम, गोत्र और आयु के निमित्त से अपना पातियापने का कार्य करता है, इस लिये इसका अपातियाओं के पीछे पाठ रक्खा है। वेदनीय के विषयमें भी क्रम उल्लङ्घन का हेतु इसी ग्रन्थ में इस प्रकार है—

पादि वेदयायं मोहमसंज्ञेण पादे जीव।

इति धामीणं मज्जे मोहस्मादिदं पडिदं तु ॥१४॥

अर्थ—वेदनीय कर्म मोहनीय कर्म के दल में ही पातिया कर्मों की तरह जीव को पातना है, इस लिये पातियों के मध्य में और मोहनीय कर्म की पादि में

उसका पाठ रक्खा है।

इन गाथाओंके अभिप्रायसे वह बात स्पष्ट समझ में आ जाती है कि मोहनीय कर्म के बिना वेदनीय अपने कर्म में समर्थ नहीं है, इस लिये इस का जो कार्य सुख और दुःख है वह मोहनीय की सहायता से होता है।

भी उमास्वामी ने अपने सूत्र में जो कर्म रक्खा है वह इसी अभिप्राय को लिये रक्खा है, इसके सिवाय दूसरा कोई अभिप्राय संभावित नहीं है। इस लिये यह बात स्पष्ट हो जाती है कि टीकाकारोंने जो 'पक्षपात जिन' सूत्र का अर्थ किया है वह उमास्वामी के सिद्धान्त से सम्मत है उनके सिद्धान्त से बाह्य का अर्थ नहीं है। इस लिये प्रमाणीक है, पक्षपात का दृष्टि से कल्पित या अग्रमाणीक नहीं है।

दूसरे वेदनीय कर्म के कार्य को दिसलाते हुए वेदनीय का जो लक्षण किया है वह भी स्पष्ट मनन करने का विषय है। गोम्मटस्वर कर्मकांड की नं० १४ की गाथा इस प्रकार है—

अकलायां अनुभवयां वेदणियं सुहसरुषयं सारं ।

दुक्खसरुषमसातं तं वेदयदीदि वेदणियं ॥१४॥

अर्थ—वेदनिर्णयों के विषय का अनुभवन रूप वेदन करना है, उसे वेदनीय कहते हैं। वह दो प्रकार है। एक साता, दूसरा असाता। उसमें से सुख-रूप अनुभवन साता वेदनीय और दुःखरूप अनुभवन असाता वेदनीय है।

वहां पर अनुभव शब्द लक्ष्य में देने लायक है। अनुभवन जो होता है वह एक विरहित बातका सूचक है। अनुभवन में क्वचि और अक्वचि ये दो अंश प्रतिभासित हैं, अर्थात् साता में क्वचि और असाता में अक्वचि, (क्वचि और अक्वचि) है इसी को मोहनीय की

अवस्था कहते हैं। अतः अनुभवान् शब्द-का स्पष्ट सूचित होता है कि मोहनीय की सहायता से वेदनीय अपना सुख कार्य करता है।

उद्य की बात ऐसी है कि जो सत्ता में कर्म है उसका उद्य तो अवश्य ही होता है। वह उद्य किवात्मक है। उसका दृष्टान्त राजवार्तिक-कथित विपैली वस्तु का ज्वि मारने से जैसा लाने पर परिणाम होता है वैसा ही मोहनीय कर्म की महायता-रहित वेदनीय का उद्य समझना चाहिये।

सूत्रकार ने भी मोहनीय कर्मकी वेदनीय कर्म में सहायता को लक्ष्य में रखकर कर्मों के क्रम का सूत्र में पाठ रक्खा है तथा उन्नी बात को उद्य में रख कर व परीयह सहन के कार्यकी सफलता को लक्ष्यमें रखकर ही उमास्वामी ने तत्त्वार्थसूत्रके नवमे अध्याय के 'मार्गाव्यव्रजननिजोराधं परिबोद्धव्याः परीयहाः॥८॥' इस सूत्रका निर्माण किया है।

अरहंत अवस्था में मार्गसे श्रुत होने का कारण ही नहीं तथा परीयह द्वारा निजोरा का कारण ही नहीं तो फिर इस सूत्र का यहां विषय भी क्यों लागू हो सकता है ? यहां तो कर्म-निजोरा का कारण शुक्ल-ध्यान ही है। अतः इस सूत्र के विधान में मात्तम पक्ता है कि परीयहों का विषय इन कर्मों के लिये मोहनीय की सत्ता तक ही है। जब मोहनीय की सत्ता तक ही है तो स्पष्ट है कि वेदनीयका उद्य अपना सुख-दुखरूप कार्य मोहनीय की सहायता से ही करता है, बिना सहायता के राजवार्तिक में नष्ट-विष अर्थात् के दृष्टान्त समाप्त काय का कर्ता है। इस सब कथन से यह बात स्पष्ट ही में मिट हो जाती है कि सर्वाप्यांतर्गत और राजवार्तिक टीका का जो अभिप्राय है वह ही सूत्रकार का अभिप्राय है।

आगे और भी लक्षण, न का इस विषय में मत देखिये—अप्पाय दो में जीव के निम्न तत्त्व पांच बतलाये हैं, उनमें एक औदयिक भाव भी है। उस औदयिक भाव में जीव-विपाकी प्रकृतियों का उदय जीव में बतलाया है। परन्तु सूत्र—'गति-कषाय-लिंग—मिथ्यादर्शनाज्ञानासंयतासिद्धलेशया—अतुल्य-लये-कैटकेक-पद्मदाः ॥६॥' में जीव-विपाकी वेदनीय प्रवृत्ति के औदयिक भावों को सूत्रकार ने नहीं गिनाया है। काथायें स्वामी की दृष्टि में यह बात थी, इसी लिये वेदनीय के औदयिक जो माता-अराता (सुख-दुख) भाग हैं उनको नहीं गिनाया है। अतः सूत्रकार के मत से यह बात स्पष्ट मिथ है कि वेदनीय कर्म बिना मोहनीय की सहायता के कुछ भी कार्यकारी नहीं है।

केवलज्ञान अवस्था में मोहनीय कर्म के अभावसे अनन्त सुख नाम का आत्मीक गुण प्रगट होता है। और वेदनीय के उदय से अज्ञ (इन्द्रिय जीव) सुख-दुख होता है। परन्तु जिस समय मोहनीय का सर्वथा नाश हो जाता है उस समय केवली के अज्ञ सुख ही नहीं रहता। फिर अज्ञ-वेदनीय भूत्व-व्यास आदि में जायमान, वहां सुख-दुख और भूत्व-व्यासादि परीषद भी कैसे सम्भवित हो सकती हैं। अन्तराय कर्म का सर्वथा नाश होने से भीयें नामक गुण और सार्विक लक्ष्मियां ही जिनेन्द्र के उत्पन्न होती हैं। उनमें से लाभोतराय नामक कर्म के सर्वथा क्षय से शरीर की स्थिति को कारण कबलाहार किया से रहित केवली भगवान को जो अन्य मनुष्यों को असाधारण है ऐसी परम शुभ और मूढम नोकर्म वर्गवाच्य भगवान के शरीर से सम्बन्धित होती रहती है, वही भगवानके नोकर्मोहार होता है। सब

प्रणियों के जीवन के लिये कबलाहार ही होवे ऐसी बात भी नहीं है। कारण कि आहार ६ (ब्रह्म) प्रकार के माने हैं। वे इस प्रकार हैं—

शोकर्म कर्महारो कबलाहारो व लेपमाहारो।

उगममणोषि व कमसो आहारो ब्रह्महो योषो ॥

(संराय वदन विचारण)

अर्थ—नोकर्म आहार १, कर्म आहार २, कबलाहार ३, लेपमाहार ४, भोजमाहार ५, मानसिक आहार ६। इस प्रकार के आहार हैं। उनमें से कौन किस के होता है उसकी गाथा—

शोकर्म तित्थवरे कर्मण्यारे माणसो अमरे।

कबलाहारो एरवसु उगमो पक्कीय इति। योषो ॥

(संराय वदन विचारण)

भी केवली तीर्थङ्कर के नोकर्म आहार होता है, नारकियों के कर्म आहार होता है, देशों के मानसिक आहार होता है, मनुष्य और पशुओं के कबलाहार होता है और पक्षियों के भोज आहार होता है और वृक्षां के लेप्य आहार होता है।

इस गाथा से स्पष्ट है कि केवली भगवान के नोकर्म ही आहार होता है उसी से उनके शरीर की स्थिति कायम रहती है।

रवेताम्बर सम्प्रदाय में केवली भगवानका शरीर साधारण मनुष्य का सा शरीर माना है, परन्तु उन की कबलाहार किया दीक्षती नहीं, यह जादू मरा सरीखा कृत्य कैसा है सो बहुत ही आश्चर्यजनक है। नया नम्रता में भी ऐसा ही उनके यहां कथन है कि भगवान नम्र तो हैं पर नम्रता दीक्षती नहीं है।

भूत्व-व्यास का कारण वेदनीय कर्म की उदीरणा है सो वह उदीरणा तो छूटे गुणस्थान में ही हो जाती है। गच्छता—

अवस्थान्तरविवर्तनीयं प्रमत्त विरदे उदीरणा होति ।

एतत्स्थितिः उदीरणा उदयपवडीगं ॥२८०॥

अर्थ—सातावेदनीय असातावेदनीय और मनुष्य आयु इनकी उदीरणा प्रमत्त विरत नामक जड़ें गुण-स्थान में होती है। अयोग केवली के उदय प्रकृतियों की उदीरणा ही नहीं है। इसका स्पष्ट आशय यह है कि अप्रमत्तादि गुणस्थानों के आगे कबलाहार ही नहीं है। आहार होता है वह निम्नलिखित कारणों से होता है। गोम्मतसार जीवकांड संज्ञाप्रकरण-विकार—

आहारसंयोगे य तस्सुवजोगेण ओमकोटाप ।

सादिदउदीरणाए हवति तु आहारसयणा तु ॥१३४॥

अर्थ—आहार के देखने से अथवा उसके उप-योग से और पेट खाली होने से और असाता वेदनीय कर्म की उदीरणा होने से आहार संज्ञा होती है अर्थात् आहार की बांझा होती है। परन्तु असाता वेदनीय की उदीरणा की व्युत्पत्ति तो जड़ें गुणस्थान में ही हो जाती है। इस लिये ऊपर के गुणस्थानों में न भूल है और न तत्काल वेदना ही है। जब वेदना नहीं तो कबलाहार भी वहां नहीं है।

श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती गोम्मतसार कर्मकांड की निम्नलिखित तीन गाथाओं से केवली भगवान के विषय में कुछ मुख्य बातों का इस प्रकार वर्णन करते हैं—

शुद्धाय रावदोसा इंदियाणं च केवलीज्ज अदो ।

तेण दु सा सातादज सुदुक्खं एत्थि इंदियजं २३३

जिस कारणसे अर्थात् मोहनीय कर्म और ज्ञानावरणीय कर्म के नाश से राग, द्वेष तथा इन्द्रियज्ञान नष्ट हो जाता है। उसी कारण से इन्द्रिय—सम्बन्धी साता और असाता से जायमान सुख—दुःख केवली

भगवान के नहीं होता है।

वेदनीय कर्म केवली भगवान के सम्बन्ध में सुख दुःख का कारण नहीं है। इसी बात को सिद्ध करने के लिये कहते हैं—

समयद्विदिगोबन्धो सादस्सुदयप्पिगो अदो तस्स ।

तेण असादस्सुदधो सादस्सरूपेण परिणवदि ॥२७४॥

अर्थ—जिस कारण से अर्थात् मोहनीय कर्म का संबंध अभाव होने में उन केवली भगवान के साता का बन्ध उदय स्वरूप समय स्थिति वाला होता है। 'तेन' उसी कारण से पृथक्स्थित अमाना कर्म का उदय साता स्वरूप से परिणमिन होत है अर्थात् सातारूप उदय में जाता है।

इसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है— बन्ध* चार प्रकार का है १-प्रकृतिबन्ध, २-स्थितिबन्ध, ३-अनुभागबन्ध, ४-प्रदेशबन्ध। इनमें से योग स प्रकृति और प्रदेश, दो प्रकार का बन्ध होता है अवशिष्ट स्थिति और अनुभाग कषाय से होते हैं। भगवान के दशके गुणस्थान से आगे कषाय का अभाव होने से स्थिति और अनुभाग और उदय एक समय के ही काय हैं। उममें वेदनाय का साता स्वरूप से ही उन दोनों के साथ काय होता है, वह क्यों? जब कषायों के अभाव से आत्मा आत्मांक सुख शान्तिरूप परणमन को प्राप्त हो जाता है, इसी कारण से जो नवीन प्रकृतियां आती हैं वे सभी शुभ रूप ही होकर आती हैं। उपयुक्त इसी भाव को मन में रखकर श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती ने गोम्मतसार कर्मकांड की गाथा द्वारा जो भगवान केवली के

* पर्यदिद्विद्विषयुभागाप्यदेसभेदा दुषदुविषयोबन्धो ।

जोगा पर्यदिपदेसा द्विद्विषयुभागा कसायदो होति

(इन्द्र संवाद)

परीषद्‌ओं के नहीं होने का वर्णन किया है वह गाथा रूप से निम्न प्रकार है—

पदेय अरयेणदु सादस्तेवदु गिरंतरो उदयो ।

तत्कालमस्मिन्परीसदा जिह्वारे एत्थि ॥२७५॥

अर्थ—इसी कारण से अर्थात् उपयुक्त कारण के सद्भाव से जिनेन्द्र केवली भगवान के निरंतर सात् का ही उदय होता है, इसी कारण के निमित्त से उनके परीषद्‌ नहीं होती हैं। अर्थात् परीषद्‌ओं के जब सर्व कारण पूर्व ही विनाशभाव को प्राप्त हो गये तो फिर जिनेन्द्र के परीषद्‌ओं का होना भी कैसे सम्भवित हो सकता है। भावार्थ किसी भी प्रकार से उनका होना सम्भवित नहीं है।

इस प्रकार उपयुक्त सर्व कथन का पर्यालोचन निष्पन्न साधु दृष्टि से किया जाता है तो यह बात सहज ही समझ में आ जाती है कि इस विषय में जो श्री कुन्दकुन्द स्वामी का मत है वह ही तत्वाथसूत्र के कर्ता उमास्वामी का और उस ग्रन्थ के टीकाकर्ता पूज्यपाद स्वामी, अकलंकदेव और विद्यानन्द आदि प्रामाणिक पूज्य आचार्यवर्गों का मत है तथा कर्म-सिद्धान्त ग्रन्थ के विधाता भी नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती का भी वह ही मत है जो कि उपयुक्त आचार्यों का मत है। तथा अनुभव से भी यह ही बात प्रनिभासमान है। इस लिये कहना होगा कि यह श्री पूज्य कुन्दकुन्द भगवान का प्रतिपादित विषय सर्व शास्त्र मम्मन है, इसमें जरा भी अन्तर नहीं है।

आगे आपने आप्त मीमांसा के ६३ वें श्लोक का आश्रय लेकर केवली भगवान के सुख-दुःख होने की सम्भावना प्रगट की है—

‘दूसरे, समन्तभद्र स्वामी ने आप्तमीमांसा में धीतराग के भी सुख और दुःख का सद्भाव स्वीकार किया

है। यथा—

पुष्यं भुवं स्वतो दुःखात्पापं च सुखतो यदि ।

धीतरागो मुनिर्विद्वांस्ताभ्यां ॥६३॥

इसका अर्थ यह है कि—

स्वतः स्वस्मिन्-अपने में, दुःखात्-दुःख कर्तृ-त्वात्-दुःख का कर्तृत्व होने से, भुवं एकान्तेन-सर्वथा यदि-जो, पुष्यं-पुण्यात्परो बन्धो वा-पुण्यात्पुत्र वा पुष्यबन्ध होय च-और, सुखतः सुखकर्तृत्वात्-सुख कर्तृत्व होने से, पापं-पापात्परोबन्धो वा-पापात्पुत्र वा पापबन्ध होय तो, विद्वान् धीतरागो मुनिः-विद्वान् धीतराग मुनि-तपश्चर्याजन्य कार्यक्लेशादि के निमित्त से पुण्यात्पुत्र वाला होगा और शान्ति सन्तोष स्वरूप आत्मभावना के निमित्त से पापात्पुत्र वाला होगा।

यह इस श्लोक का तात्पर्य है। इस श्लोक का सम्बन्ध पूर्व श्लोक से है। पूर्व श्लोक—

पापं भुवं परे दुःखात् पुष्यं च सुखतो यदि ।

अचेतनाकषायौ च बन्धेयातां निमित्ततः ॥६२॥

यहाँ अन्यमें दुःख का विधान होने से इसका तात्पर्य यह ही होता है जो कि ऊपर की गाथा से कहा गया है—

परे दुःखात्-पर को दुःखोत्पादक होने से, तथा परे सुखात् परमें-सुख होने से। इसका तात्पर्यभी यह ही निकलता है कि पर को सुखोत्पादक होने से, अचेतन-दुःखद और सुखद जड़ पदार्थ और अकषाय-विद्वान् मुनि, पुष्य और पाप में बन्ध जायगे।

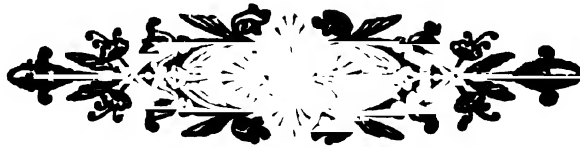
जब इस श्लोक में पर के लिये दुःख और सुख का कर्तृत्व स्वसम्बन्धी निमित्त कर्ता को जाता है तो इसी श्लोक से सम्बन्ध रखने वाले ६३ के श्लोक में भी वह ही कर्तृत्व सम्बन्धी निमित्त का सम्बन्ध अवश्य हो जायगा।

इस लिये कहना होगा कि प्रोफेसर साहब ने ६३ वेंके श्लोक में 'निमित्त' शब्द से जो सत्ता में बैठी हुई वेदनीय की असाता रूप, साता रूप वर्णना का अर्थ समझा है, वह पूर्वापर का विचार बिना किये ही समझा है। यदि पूर्वापर का विचार करते तथा कर्मसिद्धान्त के रहस्य और तद्विषयक भागमों की तरफ लक्ष्य विशेषता से रखते तो कभी भी इस श्लोक का मनोनीत अर्थ न करते।

इस श्लोक की वृत्त टीका अट्टसहस्री है उसमें भी यह ही अर्थ किया है तथा पं० जयचन्द्र जी साहब ने भी यह ही अर्थ किया है जो कि पूर्व श्लोक के सन्बन्ध से इस श्लोक का अर्थ होता है। इस विषय में विशेष यह है कि आत्मा और सत्ता असाता रूप वेदनीय कर्म जुड़े जुड़े पदार्थ हैं। यदि आत्मा में वेदनीयजन्य सुख-दुःख मानकर पाप-

पुण्य आत्मन मान लिया जाय तो वह स्वका विषय न आकर पर विषय की प्रतिपादन करने वाले ६३-के श्लोक का विषय इस श्लोक में आ जायगा। अतः यह ६३ का श्लोक व्यर्थ हो जायगा। इस लिये स्पष्ट है कि जो विषय अट्ट-का में इस श्लोकका लिखा है तथा पं० जयचन्द्र जी साहब ने जो अर्थ किया है वह ही ठीक है। इस लिये प्रोफेसर साहब ने इस श्लोक के निमित्त का अर्थ साता असाता-वेदनीय समझा है सो ठीक नहीं है।

इस सब लिखावट में प्रोफेसर साहब की इस 'केवली को भूख-प्यास आदि की वेदना' के मन्तव्य विषयक प्रश्न का उत्तर हो जाता है जो कि उन्हीं के मान्य आत्म-प्रमाण से और समुचित अनुभवसे किया गया है। इस प्रकार 'केवली के भूख-प्यासादि की वेदना' के उत्तर का विषय समाप्त हुआ।



-: पारशिष्ट :-

[श्रीमान् प्रोफेसर हीरालाल जी एम० ए०, एल-एल० बी० द्वारा लिखे गये जैन सिद्धान्त भास्कर भाग १० क्रिस्त २ दिसम्बर १९४३ में 'क्या तत्त्वार्थसूत्रकार और उनके टीकाकारों का अभिमत एक नहीं है ?' शीर्षक लेख का समाधान ।]

सूत्रम सांपराय नामक दशवें गुणस्थानमें सूत्रकार ने १४ परीपक्ष मानी हैं, परन्तु वहां जब सूत्रम लोभ जो कि चारित्र मोहनीय वमें का भेद है उसके सम्भावोदय में नाम्य और दांचा आदि लोभ सम्भवित परीपक्षों की सम्भावना करते हुए जो १४ परीपक्ष ही मानी हैं उसी का समाधान टीकाकारोंने अपनी टीकाओं में किया है। वहां लोभ इतना सूत्रम हो जाता है कि जो आतिक्रियाके कारण सशक्त न होनेसे में याचना आदि परीपक्षों को उस स्वरूप में व्यक्त नहीं कर सकता, जैसा कि बादर सांपरायकी परीपक्षों का स्वरूप है अर्थात् वहां परीपक्षत्रय कार्यता का अभाव होने से दृष्टस्थ वीतराग गुणस्थान का सादृश्य टीकाकारों ने दिखलाया है। जो कि कारण कार्य न्यायसंगति संगत ही है। यदि ऐसी कार्यकारण संगति टीकाकार नहीं दिखलाने को सूत्रकार के ऊपर दशवें गुणस्थान में १४ परीपक्षों के मानने का आरोप रह जाता क्योंकि वहां चारित्र मोहनीय के भेद लोभ का सम्भाव होने से १४ परीपक्षों कैसे सम्भवित होती। सूत्रकार ने उनको माना और टीकाकारों ने उनको युक्ति संगति संगत किया है। फिर कैसे कहा जा सकता है कि सूत्रकार और टीकाकारों

का अभिमत एक नहीं है।

टीकाकार ने इस विषय में सर्वार्थसिद्धि के देख का जो दृष्टान्त दिया है वह उसी अनुरूप है, वहां भी लोभजन्य आकांक्षा का अभाव सरीखा होने से मित्र अप्रिय वस्तु के देखने, सुनने, आस्थाप लेने, सूंघने, स्पर्श करने की अति अभिलाषा न होनेसे गमनराहित होकर भी नहीं गमन करते। अर्थात् अपने स्थान पर ही रहते हैं। इसी तरह दशवें गुणस्थान में अत्यन्त सूत्रम लोभ होने पर भी याचना आदि परीपक्ष उस लोभ-जनित सम्भवित हैं तथापि अति-सूत्रमता के कारण अपनी शक्ति की व्यक्ति नहीं कराती हैं।

पहली रांका के समाधान में 'कैचित् कल्पन्ते' यह टीका का कथन सूत्रके साथ सम्बन्ध होने के लिये परमवकी अपेक्षाको लेकर है। जैसे कि 'कालम्' सूत्र में कालके साथ—'इत्येके आचार्याः' का है। और 'न संति' यह स्वमतकी अपेक्षासे है। इस निवेदन कथन का तात्पर्य यह है कि सूत्रमें ये वाक्य नहीं दीकते हैं। परन्तु सूत्रकारकी कथन रीती वैसी ही है जिससे कि अनायास सूत्रमें वैसे पाठ मानने ही पड़ेंगे। सूत्रकार की वैसी रीती (पद्धति) स्वतः के हीन सूत्रों से प्रगट

होती है। उनमें से एक तो दूसरे अध्यायके छठे सूत्र 'गति कषायक्षिणेत्यादि' और दूसरे आठवें अध्यायके पाँचवें सूत्र 'माषो ज्ञानदर्शनावरण—वेदनीय—मोहनी-यायुर्नामगोत्रान्तरायाः' और तीसरे नवमं अध्यायके आठवें सूत्र 'मार्गाव्यवहननिर्जराय परिपोढव्याः परी-पदाः' इन सूत्रों से 'न संति' 'कैश्चिन् कल्पन्ते' की अनुवृत्ति को सूचित करती है। जो कि मूत्रकार की विशेष शंती के अनुसार क्यों है। इसका स्पष्टीकरण पीछे अच्छी तरह किया है वहाँ में देखना चाहिये।

आपने 'कैश्चिन् कल्पन्ते' और 'न संति' इन वाक्य शेषों का मूत्र के साथ टीकाकारों द्वारा संबंध जोड़ने से जो शंकायें उपस्थित की हैं वे पूर्वापर दृष्टि के विचार से रहित हैं। कारण कि वेदनीय के सङ्काश में ११ परीपद होती हैं। और परीपद-विधायी कर्म भगवान के केवल वेदनीय है। अतः कर्मों की सम्भावना से उनका निषेध शेषवाक्यों से होता है वह क्यों होता है? इसका सविस्तर समाधान पूर्वोक्त कथन द्वारा ट्रैक्ट में ही पर्याप्त है। क्योंकि वहाँ का विषय और १०-११-१२ वें गुणस्थान का विषय भूतपूर्व नय की अपेक्षा से मात्र उपचार का ही है।

दूसरी शंका का समाधान यह है कि दशवें गुणस्थान में संकमण शक्ति से जो वेदनीय असाता रूप था वह प्रायः सातारूप हो जाता है। इस लिये दूसरी शंका को जगह ही नहीं रहती, अर्थात् वहाँ परीपद होती ही नहीं है। केवल एक देशीय कर्म की सत्ता से शुक्लक्षेत्रया की तरह उपचार मात्र है, जो कि भूत प्रज्ञापन नयसे सिद्ध है।

तीसरी शंका का समाधान दूसरी शंकाके समाधान से हो जाता है। शक्ति और व्यक्ति का अभि-

प्राय ऊपर स्पष्टता से दिया है।

तदनन्तर दूसरा समाधान वेदनीय कर्म की फलदान शक्ति इन्द्रियज है और भगवान के वात्स्या कर्म का नारा होने से क्षाणिक शक्ति प्रगट होती है, अतः वहाँ इन्द्रियज फलदान अपना कुछ भी कार्य नहीं करता। लाभान्तराय कर्म के ज्ञय से क्षाण्य प्रगट होती है वह भी सुख रूप ही है। अतः उनका अमाता के साथ साम्य भी कैसे। जब कि उनके वे सुख रूप क्षाण्यता प्रगट होती हैं तब तो उनके वेदनीय साता ही माना जा सकता है। असाता की तो गति ही कहाँ है?

सपक के वेदनीय कर्मका स्थिति बन्ध अमंगलान-वर्ष का नहीं हो सकता है किन्तु संन्यास वषों का हो सकता है।

यहाँ 'एकादश जिने' सूत्र में कर्मस्थिति घटाने का सवाल भी कहाँ है। परीपद होने और न होने का सवाल है। सो उसका समाधान ऊपर दिया ही है।

चौथी शंका के प्रथम पक्ष में आपने शक्ति का सङ्काश होने हुए उपयोग के अभाव में प्रतिबन्ध कारण माना है सो ठीक है, परन्तु सर्वार्थसिद्धि के देव के सातवीं पृथ्वी तक गमन न होनेमें वेदनीय उदय का अभाव लिखा है, वह किम शास्त्र के आधार से लिखा है कुछ समय में नहीं आया। जरा इस विषयमें शास्त्र का आधार देखें तो अच्छा था। वेदनीय कर्म के उदय का कार्य तो सुख-दुःख का अनुभव है। न कि गमनागमन। गमन का कार्य तो नामकर्म के भेष रूप विहायो गति कर्म का कार्य है। अतः ४ नम्बर की पक्षी शंका विषयक जो वक्तव्य है वह भी संगत नहीं है।

सर्वार्थसिद्धि के देवों के इच्छा का अति कुरापन

सातवीं पृष्ठी में गमन का प्रतिबन्धक है। इसलिये उनके वहां तक जाने की शक्ति होने पर भी शक्ति का व्यक्तिरूप उपबोग नहीं होता। सयोग केबली के कर्मों की निर्जरा में उनका गमन यदि कारण है तो फिर उनकी स्थिति में वह निर्जरा कार्य न होना चाहिये। परन्तु ऐसी बात है नहीं। औदहर्षेण गुण-स्थान में वे एक जगह स्थिर होकर ही कर्म निर्जरा कर सकते हैं तथा तेरहवें गुणस्थान में भी वे सर्वदा गमन ही करते रहते हों, यह भी तो नहीं है। अतः तीसरी शंका में 'सयोगी जिन विहार करते हुए कर्म-प्रदेशों की निर्जरा करते हैं' यह लिखना निराधार होने से असंगत है। वहां निर्जरा में कारण गमन-गमन नहीं है किन्तु उनके शुक्लध्यान-कृत विशुद्ध परिणाम हैं।

चौथी शंका के दूसरे पक्ष में विषयवृत्त की विवेची शक्ति नष्ट करने में मन्त्रोपधियों को कारण बतलाकर श्री अकलंकदेव ने असाता को साता के परिणामन में जो दृष्टान्त दिया है वह आपने अवगत नहीं किया इसका कारण केवल यह ही है कि 'कर्म विषयक दश अवस्थाओं में की जो संक्रमण अवस्था है उसकी दशावें गुणस्थान तक ही क्यों स्थिति है, आगे क्यों नहीं है' इस विषय का आप ने अच्छी तरह में मनन नहीं किया है। तथा वेदनीय का इन्द्रियत्रय विषय रूप जो अनुभवन है वह किसको सम्भविन है, इस विषय का भी विचार आपने उस दृष्टि में नहीं किया है। इसी लिये यह सब विषय आपको समझने में दुष्ट हो रहा है।

तथा दृष्टान्त और दार्ष्टान्त के विषय पर भी जितना चाहिये उतना ध्यान नहीं दिया है। वहां विषयवृत्त में विवेकी शक्ति के समान वेदनीय की

असाता स्वरूप परिणति के नारा करने में मन्त्रोपधि सदरा विशुद्ध आत्म-परिणाम की उपबोगिता का दृष्टान्त है, न कि एक कर्म का अभाव दूसरे कर्म की शक्ति के नारा का दृष्टान्त है। वहां दृष्टांत है मन्त्रोपधि के सङ्गाव का इस लिये उसका अभाव के साथ सदरय विशुद्ध आत्म-परिणति के साथ ही हो सकता है। कारण कि सङ्गाव का सङ्गाव के साथ ही मेल बैठता है। न कि सङ्गाव का अभाव के साथ। संसारमें एक पदार्थके अभाव से दूसरे पदार्थ की शक्तिके अभावका दृष्टांत भी मिलता है। जैसे कि चन्द्रकांत मणि के सद्भाष-जन्य अग्नि की ग्लान-शक्ति के अभाव में सूर्यकांत मणि के अभाव का दृष्टान्त प्रसिद्ध है।

इसी तरह आपके द्वारा दी गई पांचवीं आपत्ति में भी कुछ सत्य नहीं है। कारण कि ध्यान का लक्षण जो 'एकाम चित्ता निरोध, है वह सूक्ष्म क्रिया-प्रतिपाति और 'व्युपरत क्रिया निवृत्ति' इन आत्मीक दो अवस्थाओं में जाता नहीं, हम लिये वे मुख्यध्यान के लक्षणसे शून्य होनेके कारण उपचरित ध्यान हैं।

इनको फिर ध्यान भी क्यों माना जाय ? तथा उपचरित मानने का फल भी क्या ? ये दो शंकाएँ हो सकती हैं। उनमें से पहली शंका का समाधान यह है, यहां कार्य में कारण का उपचार है अर्थात् पृष्ठ के 'पृथक्त्व तर्क विचार' और 'एकत्व—वितर्क अविवार' ध्यान के सम्बन्ध में आत्मा के परिणाम जैसे हो गये कि जिनसे बादर अथ योगादि जो थे वे सूक्ष्मरूप और व्युपरत क्रिया निवृत्ति रूप हो गये। इस परिणति में कारण ऐसे आत्म-परिणाम हुए वे पूर्व ध्यानों के कार्य हैं, इस लिये कार्य में कारण का उपचार होने से अन्त के दोनों ध्यान उपचरित ध्यान

हैं। और कर्म लक्षण— ध्यान का फल इनमें आत्म-परिणामाधीन है। इस लिये इन की उक्त कल्पने सम्भवता भी है।

इन्हीं बातों का विचार करके श्री अकनकदेव ने इन ध्यानों में ध्यान का साक्षात् मुख्य लक्षण न देख कर इनको उपचरित माना और इनका परिणहों की उपचरितता में दृष्टान्त दिया।

इसी तरह परीषहों में सामान्य वेदनीय कर्म के कार्य को विशेष साता का कार्य माना जाय तो वह पञ्चाभाव से केवल उपचारमात्र ही है। जैसे कि केवली के शुक्ल लेखा का सङ्काय पञ्चाभावमें केवल उपचारमात्र है। क्योंकि सूत्रकार ने ११ परीषहों में काय वेदनीय सामान्य को लिखा है, विशेष असाता को नहीं लिखा है। परन्तु दूसरे सूत्रों के सम्बन्ध से जाना जाता है कि वह विषय सामान्यका न होकर विशेष असाता का है। परन्तु केवली में वह बात है नहीं।

टीकाकारों ने सूत्र 'एषादरा जिने' का जो अर्थ लिखा है वह परीषह-सत्त्व-सापेक्ष भूतपूर्व प्रकापन का विषय है और प्रत्युपलब्ध नय की अपेक्षासे वहाँ उनकी सत्ता का अभाव है। इस लिये सिद्ध है कि सूत्रकार और उनके टीकाकारों का मत संबंध एक ही है। नय-विषय और शास्त्रीय-व्यवस्था पर ध्यान नहीं देने से ही दोनों के एकमत न होने की प्रतीति है। वह समीचीनता के भाव से कोसों दूर है।

ध्यान अवस्था में ध्यानी साधु को भूत-व्यास्तदि का अभाव और बहुत कम तक जीवनकी स्थिति से अन्ध धर्मों भी मानते हैं, क्योंकि उनके साधु समाधि पड़ा जाते हैं तो समाधि अवस्था में भ्रुषा-वृषा उन को सहायी नहीं है, इस लिये अमादायी होकर भी

बर्षों-पर्यंत जीते हैं। वह लोगों की देखी और अनुभव की हुई सत्यता है। फिर भी अर्थात् अगवान की कोटि तो उनसे बहुत ही ऊँची है, वहाँ तो उस बात का अभाव भी कैसे सम्भवित है। इसका विचार-शील ही अनुभव कर सकते हैं।

श्री प्रोफेसर हीरालाल जी साहब ने जिस आत्ममीमांसा के श्लोक ६३ वें के आशय से केवली के भ्रुषा-वृषा वेदना का सङ्काय लिखा है उसका अमली अर्थ न समझकर ही लिखा है। उस श्लोक का बहुत कुछ स्पष्टीकरण मेरे पहले लेख में है, फिर भी विशेषता से उस श्लोक का विशद अर्थ सर्वमाधारण की जानकारी के लिये तथा प्रोफेसर साहब को समझने के लिये अधिक परिश्रम न करना पड़े, इस लिये यहाँ लिखा जाता है।

पुण्यं भुवं स्वतो दुःखात्पानं च दुःखतो यदि।

वीतरागोऽनुनिर्विहङ्गास्तस्यां युज्यमानिमित्ततः॥

—आत्ममीमांसा

इस श्लोक में प्रोफेसर हीरालाल जी के मत से 'निमित्ततः' शब्द का अर्थ असाता वेदनीय और साता वेदनीय माना जाय ता असाता वेदनीय और साता वेदनीय स्वतः तो दुःख और सुख हैं नहीं, किन्तु दुःख और सुख को पैदा करने वाले साधन हैं, इस लिये श्लोक का अर्थ दुःख और सुख पैदा करने वाला जो

निमित्त है उससे अपने में दुःख होने से निश्चय आत्मा और कर्म जुड़े जुड़े पदार्थ हैं। इस करके पुण्य बन्ध होता है और सुख से अपने लिये प्रोफेसर हीरालाल जी साहब ने जो में पाप बन्ध होता है। ऐमा विभक्त्यर्थ है। 'निमित्ततः' शब्द का अर्थ 'असाता वेदनीय और साता वेदनीय' समझ रखता है, वह

इसका तान्पर्य यह होता है कि असाता श्लोक के प्रकरण से कुछ भी सम्बन्ध नहीं वेदनीय पुण्यबन्ध स्वतः अपनेको करता है'। रखता। अतः वह अनर्थ और असम्बद्ध है। ऐमा अर्थ होने से अपने पुण्य-पाप बन्ध का इस लिये इस श्लोक का जो अर्थ विद्यानन्दि कर्ता स्वयं वेदनीय स्वतः ही हो जाता है, आदि आचार्यों ने अष्ट-सहस्रा आदि ग्रन्थों में परन्तु यह सम्भव नहीं है, कारण कि अचेतन किया है वह ही उसका वास्तविक अर्थ है के पुण्य-पाप बन्ध होता नहीं। और वह ही अर्थ 'स्व' से सम्बद्ध है।

यदि वहाँ पर वीतराग विद्वान् मुनि लिये जाय तो वे 'पर' हैं 'स्व' नहीं हैं, क्योंकि

१

[श्रीमान् प्रोफेसर हीरालाल जी एम० ए०, एल-एल० बी० द्वारा लिखे गये जैन सिद्धान्त भास्कर भाग ११ किरण १ जून १९४४ में प्रकाशित 'क्या बट्खण्डागमके सूत्र-कार और उनके टीकाकार वाग्सेनाचार्यका अभिमत एक ही है?' शीर्षक लेखका समाधान]

आपके इस लेख का समाधान पहले लेख में अच्छी तरह किया जा चुका है। इस लेख में कुछ विशेष बातें जो आपने दर्शायी हैं उन्हीं पर इस परिशिष्ट द्वारा प्रकाश डाला जाता है।

मनुष्यवर्णियों में भस्त्रवर्णों प्रथम पुस्तक के ६३ वें सूत्र को छोड़कर कहीं पर भी जहाँ कि मनुष्य-वर्णियों के १४ गुणस्थान गिनाये हैं, वहाँ के सूत्रों में पर्याप्त भस्त्रवर्णों नहीं लिखा है। पर्याप्त का अर्थ पुद्गल स्वरूप जो द्रव्य—पर्याप्त हैं उनसे बने हुए शरीर को पर्याप्त अर्थात् द्रव्य शरीर कहते हैं। वह

पर्याप्त शब्द चोदह गुणस्थानों के सम्बन्ध से मनुष्य के ही साथ प्रत्येक सूत्र में है, मनुष्यवर्णों के साथ नहीं है। इससे स्पष्ट है कि द्रव्य ही के मनुष्य १४-गुणस्थान होते हैं। द्रव्य की के नहीं होते।

द्रव्यमनुष्य भाववेद की अपेक्षा कैसा भी वेद रखता हो परन्तु चोदह गुणस्थानों की प्राप्ति करेगा तो उसको वह द्रव्यवेदसे ही होगी। द्रव्यकी या द्रव्य-नपुंसक, भावपुद्गल होने पर भी १४ गुणस्थान प्राप्त नहीं कर सकता। यह पर्याप्त शब्द होने, न होनेका अभिप्राय है।

अर्थात् द्रव्यकी भाव की अपेक्षा पुरुष भी मने हो जाय, परन्तु उसका द्रव्यवेद तो की ही है। द्रव्य-वेद की होने से उसके पाँचवें गुणस्थान से ऊपर का गुणस्थान नहीं होता। अतः द्रव्यवेद की मुख्यता से कहा जा गति की मुख्यता से कहा दोनों का अभिप्राय एक ही है।

सूत्रों में जिस जगह भी वीरसेन स्वामी ने पर्याप्त शब्द देखा है वहाँ द्रव्यलिंग में ही व्याख्या की है और जहाँ पर्याप्त शब्द नहीं देखा है वहाँ भावलिंगमें ही व्याख्या की है जो कि यथार्थ है। क्योंकि शरीर सम्बन्ध से पर्याप्त ही द्रव्य है दूसरी कोई वस्तु नहीं है। इस लिये भी पुष्पदन्त भूतबली आचार्य ने सूत्रों में पर्याप्त शब्द को रक्खकर गुणस्थानोंका नियम रक्खा है। और भी वीरसेनादि दूसरे आचार्यों ने स्पष्टता के क्वाल से उसके लिये द्रव्य शब्द रक्खकर गुणस्थानों का नियम रक्खा है। अतः भी पुष्पदन्त और भूतबली आचार्य और वीरसेन स्वामी आदि आचार्योंका अभिप्राय एक ही है। जुवा कोई अभिप्राय नहीं है।

चौदह गुणस्थानों के साथ केवल मनुष्यलिंगी जिलने का अभिप्राय यह ही सूचित करता है कि भाववेद का वैषम्य भी होता है। नहीं तो मनुष्यलिंगी के साथ पर्याप्त शब्द न होने से भावकी को छोड़कर उसे दूसरा क्या समझ जाय। यदि भावकी का संबंध द्रव्यकी से ही सम्बन्ध होता तो वहाँ चौदह गुणस्थानों के त्रिधान में पर्याप्त मनुष्यलिंगी (द्रव्यकी) का ही कथन सूत्रकार करते, क्योंकि आपके मत से 'अपने द्रव्यको छोड़ कर अपना भाव उत्लंघन करता ही नहीं है।' परन्तु सूत्रकार ने पर्याप्त मनुष्यलिंगी न लिखकर केवल मनुष्यलिंगी ही लिखा है। उसका

सत्यर्थ सिर्फ इतना ही है कि भाव कभी कभी अपने द्रव्य लिंग को छोड़कर दूसरे द्रव्यलिंग के साथ भी रहता है, इस लिये वेद-वैषम्य में भी सूत्रकार और टीकाकार तथा अन्य आचार्य एक मत ही हैं।

द्रव्यकी यदि मोक्ष जाने की योग्यता वाली होती तो तत्त्वार्थसूत्रकार भी उमास्वामीने जैसे "स्त्री" परीकह मानी है, जैसे ही एक 'पुरुष' परीकह भी मानते। परन्तु उनमें यह मानी नहीं। इसी लिये परीकह गणना-विधायी सूत्र में उसका उल्लेख भी नहीं किया। इस लिये तत्त्वार्थसूत्रकार उमास्वामीका मत भी द्रव्यकीको मोक्ष न होने में स्पष्ट है। जो कि पुष्पदन्त, भूतबली, वीरसेन, नेमिचन्द्र सिद्धान्त-चक्रवर्ती आदि आचार्यों का मत है।

वहाँ पद्लक्षणगम सम्बन्धी चौदह गुणस्थान-विधायी सूत्रों के प्रकरण में भावकी को गीया होनेसे केवल द्रव्यमात्र की अपेक्षा में है। अर्थात् भावकी अपेक्ष्य है क्योंकि जड़ें गुणस्थान से लेकर नवमे गुणस्थान तक उसकी सत्ता है परन्तु वह अपलोदयो है। उस लिये वह द्रव्यपुरुष सामर्थ्य की बाधक नहीं है। फिर आग के गुणस्थानों में तो उसका संबंध भी भाव ही है। अतः यह द्रव्यपुरुष सामर्थ्य ही उत्तम रहनन की मूचक है। जिसकी कि प्राप्ति पुरुष शरीर को ही होती है, जो और नपुंसक शरीर को नहीं होता।

सत्वरूपणा के ६३ वें सूत्र में जो सम्पादकोय 'संज्ञ' टिप्पणी लगाई गई है वह धवलाका अशुद्ध पाठ देखकर निर्वाण शब्द के अर्थपर ध्यान न देकर व पूर्वापर विचार न करके ही लगायी गयी है।

उसका विशेष विस्तार से स्पष्टीकरण मेरे पिछले लेख में है। इस विषय में पद्लक्षणगम के इस ६३ वें सूत्र की रचना और दूसरे मनुष्यलिंगी के लिये

१४ गुणस्थान-विभागी सूत्रोंकी रचना भी यह प्रकट होती है कि इस सूत्र में 'संज्ञ' शब्द न होना चाहिये। इसका स्पष्टीकरण निम्न प्रकार है—

सत्परूपणाद्वार में जो योगप्ररूपणा है उसका सूत्र—सम्भामिच्छाद्वि संज्ञासंज्ञरूपणे शिष्यामा पञ्जतिषाओ ॥३३॥

इस सूत्र की रचना में पर्याप्त स्त्रीके जितने गुण-स्थान होते हैं वे अलग २ नाम पूर्वक गिनाये हैं। यदि यहाँ इन गुणस्थानों से अधिक गुणस्थान द्रव्यस्त्री के सम्भवित होते तो ग्रन्थकार इस सूत्र का निर्माण 'मणुस्सिखीसु सामणसम्भामिच्छाद्वि पटुडि जाव अजोग-केवलिनि दव्यपमाशण केवलिआ संखेज्जा ॥४८॥ दव्यपमाशुग मणुस्सगदि। पमाण पत्तवण।

मणुस्सगदिप-मणुस-मणुसपञ्जत-मणुसिखी-सु निच्छाद्वि पटुडि जाव अजोगकेवली केवलि जेने जोगस्स अमंखेज्जदिभागे ॥११॥ जेव पत्तवण।'

इत्यादि सूत्रों की पद्धति अनुसार करते। ऐसा करने में सूत्र में अक्षर और शब्द थोड़े होने में सूत्र का जो लक्षण है वह भी महत्त्वशाली होता। परन्तु १३ वें सूत्र का इस पद्धति से निर्माण किया नहीं। इसमें भी स्पष्ट मालूम होता है कि द्रव्यस्त्री के जितने गुणस्थान सम्भवित हो सकते हैं उनमें ही सूत्रकारने गुणस्थान गिनाये हैं। नहीं तो यहाँ भी सूत्रकार 'सम्भामिच्छाद्वि पटुडि जाव अजोगकेवली शिष्यामा पञ्जतिषाओ' ऐसा सूत्र निर्माण करते। परन्तु वह सूत्रकारने किया नहीं। अतः इस निर्माण पद्धति के भेद से भी यही बात सिद्ध होती है कि सूत्रकार के मत से द्रव्यस्त्री के आदिके पाँच ही गुणस्थान होते हैं

'पर्याप्त स्त्रीका दो द्रव्यस्त्री अर्थ है' ऐसी

भी बीरसेन स्वामी की स्पष्ट वाक्यव्युक्ति—

सम्भामिच्छाद्वि-इत्यादि १३ वें सूत्र के भाष्य की जो 'अस्मादेवार्पाद् द्रव्यस्त्रीका नि-
र्वाचिः सिद्धयेदिति चेन्न' यह पंक्ति है।
उममें 'निर्वाचि' शब्दका अर्थ जो 'शुक्ति' किया
गया है वह अमात्मक है। कारण कि कोषमें
'निर्वाचि' शब्दका अर्थ शुक्ति होता है, न कि
'निर्वाचि' द्वित्वतकारवाले 'निर्वाचि' शब्दका।
इसका अर्थ तो 'निष्पत्ति' होता है। तथा 'इति
चेन्न' शब्द के 'न' शब्द का सम्बन्ध अगाधी
के वाक्य 'मवाप्तस्त्वाद्' इत्यादि शब्दके आदि
में होने से भाष्य का अर्थ इसी भाँचे सूत्र से
'द्रव्यस्त्री की निष्पत्ति' सिद्ध है।

अर्थात् सूत्रमें 'पञ्जतिषाओ' शब्द आया
है उममें भाष्यकार बीरसेन स्वामी ने दो बातें
मिथ की हैं। एक तो स्त्री की अपर्याप्त अव-
स्था में मध्यक्त्व नहीं होता। यह बात
'द्वयद्वयमपिषाणय्यां' इत्यादि भाष्य से सिद्ध
कीनी है। और 'अस्मादेवार्पाद्' इत्यादि आगे
की पंक्ति से यह सिद्ध किया है कि इसी भाँचे
सूत्र के 'पञ्जतिषाओ' शब्द का 'द्रव्यशरीर'
अर्थ है। वास्तवमें देखा जाय तो यह अर्थ ठीक
है क्योंकि पर्याप्तियां पुद्गल द्रव्य ही तो हैं।
अब अब भाष्य का संयुक्त अर्थ नीचे लिखे

प्रमाण इस प्रकार है—

‘अस्मादेवापार्ह द्रव्यस्त्रीणां निर्वृत्तिः
सिद्ध्येत्’ इमी श्रुति-प्रस्ताव प्रमाण से द्रव्य-
स्त्री का पर्याप्ति सिद्ध है। अर्थात् इस सूत्र के
‘पञ्चसियाओ’ शब्दका अर्थही ‘द्रव्यस्त्री’ होता
है। भाष्यकार द्वारा ऐसा अर्थ करने से शंका-
कार कहता है कि—

‘इति चेत्’ यदि ऐसा है तो ‘न सवास-
स्त्वाद् अमत्यास्यास्थान-गुह्यस्थितानां मय-
मानुष्येः’ यानी-वस्त्र सहित होने से जो पंचम
गुह्यस्थानी है (अर्थात् द्रव्यस्त्रिण से भले ही
वह स्त्री पंचम गुह्यस्थान वाली है) उसके
संयम की अनुपपत्ति (अप्राप्ति) नहीं है।
कारण कि ‘भावसंयमस्मात् सवामसामप्य-
विरुद्धः’ भावसंयम तो वस्त्र-सहित होने पर भी
उनके विरुद्ध नहीं है। अर्थात् भले ही नाग्न्य
रूप धुनिरूप उनके न हो परन्तु भावसंयम रूप
परिवृत्ति तो उनके हो सकती है।

इस शंका का समाधान ‘इति चेत्’ यदि
ऐसा है तो फिर आचार्य कहते हैं कि ‘न ता-
सां भावसंयमोऽस्ति भावासंयमाविनाभावि-

वस्त्राद्युपादानान्यमानुष्येः’ उनके भाव-
संयम नहीं होता है कारण कि भाव-असंयम
का अविनाभावी वस्त्र का वहां ग्रहण है।

इस सर्व भाष्य के कथन का निष्कर्ष यह
है कि द्रव्यस्त्री वस्त्र का परित्याग नहीं कर
सकती। इस लिये उसके भावसंयम नामक
छटा आदि गुह्यस्थान नहीं हो सकता। जहां
जहां वस्त्र रहेगा वहां वहां छटा गुह्यस्थान न
होकर पांचवां ही गुह्यस्थान रहेगा। इस भाष्य
की विशद सत्य व्याख्यासे यह स्पष्ट हो जाता
है कि जो सूत्रकार का मत है वह हा टीका-
कार बीरसेन स्वामी का मत है।

मैंने पहले लेख में इसी बात को सिद्ध
किया है कि धनला के मन्वादकी द्वारा जो
‘निवृत्ति’ शब्दका ‘श्रुति’ अर्थ किया गया है
उसके आशय को लेकर हां सिद्ध किया है उस
दृष्टि से वह समाधान भी प्रकृत वस्तु का हां
अनुकरण करना है परन्तु ‘निवृत्ति’ शब्द का
‘श्रुति’ अर्थ होता नहीं है इस लिये यह उप-
श्रुति परिशिष्ट भाग का समाधान हां मर्या-
वस्तु प्रदर्शक है।

पंजाबी मान्यता

श्री कुन्दकुन्द स्वामी ने शिवभूति और शिव-कुमार को जो भावभ्रूण जिका है उसका तात्पर्य सिर्फ अभ्यात्मदृष्टि को लक्ष्य करके है, वे दोनों यद्यपि ग्यारह वं। और १४ पूर्व के ज्ञाता न थे, परन्तु तुल्यमात्र की निष्ठा के समान शरीर व कर्मसे आत्मा की भिन्नता का अनुभव करते हुए परमधाम जो शिव है उसको प्राप्त हुए।

परन्तु भावसेन नाम के मुनि अंग और पूर्व के ज्ञानी होकर भी भाव-भ्रमण नहीं थे। इसका तात्पर्य यह ही है कि उनकी दृष्टि अभ्यात्म-दृष्टि नहीं थी अर्थात् अभ्यात्म दृष्टि के न होने से अंग पूर्व विद्या के पारगामी होते हुए भी भावभ्रमण नहीं हुए।

इस विषय की भावपाहुक की ५१-५२-५३ वीं गाथायें यह कुछ भी सूचित नहीं करती कि ये मुनि ब्रह्मसाहित्य थे। यदि श्री कुन्दकुन्द स्वामी के मत से ब्रह्मसाहित्य होते हुए भी भाव में मोक्ष प्राप्ति होती तो फिर वे मोक्ष-साधन में अर्थात् अचेतक लिंग का ही जोर से विधान क्यों करते? जैसा कि उनमें बांध-पाहुक की ५१ वीं गाथा में प्रवृत्त्या के रूप से सूचित किया है।

वधा—मूत्रपाहुक की सातवीं गाथा से सम्बन्ध रखने वाली १० वीं, १३ वीं, १७ वीं, १८ वीं, २३ वीं गाथाओं के प्रकरा में मोक्ष के लिये अचेतकलिंगही

का विधान किया है।

यदि आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी सबल्लिंग से ही भाव-दृष्टि के द्वारा मोक्ष का विधान करते तो यह सब उपयुक्त निबन्ध-विधानका कथन व्यर्थ जाता, या पूर्वापर त्रिकल पड़ता। परन्तु ऐसी बात इतने बड़े आचार्य के कथन में हो नहीं सकती।

और भी देखिये वही पर वरान पाहुक की गाथा १४-१८-२४-२५-२६ के प्रकरा में भी यह ही बात है कि गगन स्वरूप से स्थित होकर जो भाव-भ्रमण अभ्यात्म रस का रसिया है वह ही सिद्धि को प्राप्त करता है।

दूसरी मान्यता में आपने जो 'यदि ब्रह्म धारण करके भी भाव संयमी हो सकता है' ऐसा लिखा है उसका ऊपर के कथन से समाधान हो जाता है।

अब रही कीमुक्ति की बात सो उसका व्यवहन भी मूत्र पाहुक की २४-२५-२६ वीं गाथाओं से हो जाता है। कुन्दकुन्द महाराज 'इनको प्रवृत्त्या (महाव्रत-चर्या) कारण विशेषों से नहीं होती है'। ऐसा लिखते हैं। अब इनको प्रवृत्त्या ही नहीं हो सकती तो उन्हें मोक्ष कैसे हो सकता है? इसी लिये उनका जो मत है वह उपचार से महाव्रत है। उनकी आ-विद्या संज्ञा है वह ऐतक की आर्य संज्ञा के समान है। आर्यिक ब्रह्म-साहित्य होने से अकल व्यक्तिक

ही है, जैसे ऐलक उत्कृष्ट आवक है। आर्यिका को गणिनी तो इस लिये कहा जाता है कि स्त्रियों में त्रयी का ऊँचा पद उससे दूसरे का है नहीं। पुरुषों में तो ऐलक से ऊँचा पद मुनि का है इस लिये ऐलकको गणी न कहकर मुनि को ही गणी कहा जाता है।

आर्यिका संघ में आर्यिका संघ की पृथक् व्यवस्था का यह उद्देश्य है कि क्षीपर्याय में आर्यिका में ऊँचा दर्जा न होने के कारण सबमें ऊँचे दर्जे वाले का क्षीपर्याय में एक संघ जुदा और उससे नीचे दर्जे वाले का दूसरा जुदा संघ होता है। इस तरह में व्यवस्था बन जाती है। परन्तु पुरुषों में यह व्यवस्था ऐलक की और उससे नीचे दर्जे के आवकोंकी अपेक्षा नहीं बन सकती, क्योंकि पुरुषों में ऐलक में ऊँचा दर्जा मुनिराज का मौजूद है। इसलिये ऐलक तक आवककी व्यवस्था और ऊपर मुनिकी व्यवस्थाही बनेगी।

तीसरी मान्यता का जबाब विशद रीति में पं० मक्सनलाल जी, पंडित पन्नालाल जी, पं० मन्मन-लाल जी के व मेरे पूर्व लेखों में है।

इस मान्यता में आप जो लिख रहे हैं कि “पुरुष विषाकी नाम कर्म में वेदोदय की सत्ता बिना पुरुष व क्षीणिगों की रचना की समता नहीं है, क्योंकि ऐसी पृथक् प्रकृतियाँ अंगोपांग नाम कर्म में है ही नहीं” इसका समाधान निम्न इतना ही है कि अंगोपांग का उदय अपने सजातीय शरीर नाम कर्म के उदय से पृथक् नहीं है, परन्तु विजातीय से भी संबंध पृथक् नहीं है। इस नियम का विघटन तो विजातीय क्षिण के साथ वेद-वैषम्य से स्पष्ट है। क्योंकि अनेक जगह क्षीवेद का उदय गुण द्वारा व्यवहार कराने आदि के कार्य में प्रसिद्ध है। दूसरे वेदोदय का

स्थान मन है। क्योंकि वेदोदय का नाम ‘मनोमू’ कामदेव है। इसलिये वेदोदय के लिये द्रव्यक्षिण हो यह बात भी नहीं। अर्थात् वेदोदय तो मनके अव-स्थान से ही होता है। ऐसा होते हुए भी उसकी शांति वैषम्य में भी होती है। इसके प्रत्यक्ष दृष्टान्त सर्वांग स्फुरण और उसके अनंग द्वारा काममेवन-शान्ति-विधायी प्रकार हैं।

आगे आप जो यह लिख रहे हैं कि ‘नामकर्म की कोई भी प्रकृतियाँ अपने कार्य में संबंधा स्वतन्त्र व अन्य-कर्म निरपेक्ष नहीं हैं।’

(समाधान)—परन्तु ऐसा संबंधा नहीं है। कारण कि आनुपूर्वी का उदय है, वह किम कर्मादय—सापेक्ष है? यदि गति कर्मादय—सापेक्ष है तो प्रथम वह सजाति कर्मादय सापेक्ष है, क्योंकि दोनों गति और आनुपूर्वी नामकर्म ही हैं। थोड़ी दूर के लिये हम सजाति की अपेक्षा भी कर दें, गति कर्मादय—सापेक्ष ही मान लें तो फिर आपने जो यह लिखा है कि—‘गति का उदय आयुर्कर्म के अनुसार ही होगा’ इस नियम का विघटन विग्रह गति में हो जाता है कारण वहाँ आयुर्कर्मादय नहीं है।

आगे आपने जो यह लिखा है कि ‘जातिका उदय मति ज्ञानावरणीय के क्षयोपशम का ही अनुगामी होगा’ यह लिखना भी ठीक नहीं है। कारण कि मति ज्ञानावरणीय का क्षयोपशम तो विग्रह गतिमें भी होता है, परन्तु वहाँ तो जाति नामकर्म के उदय से रचना नहीं है। तथा एकेन्द्रिय और विकल्पश्रव के मति ज्ञानावरणीय क्षयोपशम तो है परन्तु इन्द्रियों की पूर्णता नहीं है और मतिज्ञान के साथ अज्ञान हमेशा ही रहता है। कारण कि एक समय में मति और अत वे दो ज्ञान हमेशा साथ ही रहते हैं। इस

द्विजे एक इन्द्रिय विकलत्रय और असंख्य संश्लेषित कर्म का क्षयोपराम होनेसे अतृप्तता तो है परन्तु उसके विषय का ग्रहण कराने वाला इन्द्रिय मन नहीं है। अतः आपका कहना जो 'गति-नामकर्म का उदय मतिज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपराम का अनुगामी होगा' यह सिद्धान्त—विकल कथन होने से केवल आपकी मनोनीत असन्—कल्पना का विषय है।

दूसरे जब कथाबोध होता है उस समय सर्व शरीर में विकृति हो जाती है। इसी तरह जब वेदोदय होता है तब भी सारा शरीर व्याकुलित होने में विकृत हो जाता है और मन पर विशेष विकृति का परिणाम नजर आता है उस समय वह व्याकुलता—जन्म विकृति जिस किसी भी मार्ग में शान्ति प्राप्त करती है। बाहुल्य से तो नियत लिंग मार्ग से ही उसकी उपशान्ति होती है परन्तु वैषम्यमें वह नियति का नियम भी नहीं है। ये सब शास्त्रों का कथन है और लोक में दृष्टिगोचर होने में प्रसिद्ध भी हैं।

झूठे आदि ऊपर के गुणस्थानों में परिणामों में विशेष विशेष उपशान्ति होनेसे केवल मूढम अफस-उदयमात्र कायें शेष रह जाता है। अप्रमत्तादि स्थानों में आत्मध्यान का प्राबल्य होने में वेदोदय तथा कथाबोध की उद्भूति भी अनुभव गोंचर नहीं हुआ करती है।

इस तीसरी आपत्तिगत दूसरी कोटि का समाधान पहले आपत्ति के पूर दिया जा चुका है। अध्यान की शरीर में पुरुष वेद का उदय होने पर भी पुरुष की सी दृढ़ता, धीरता, शक्ति-विशेषता और लज्जा का सर्वथा अभाव गुण उच्च उत्कर्षता को नहीं पहुँचते जो कि पुरुष के शरीर बृंहन-साध्य प्रवृत्तियों के लिये

प्राप्त होते हैं। और इसी तरह पुरुषों में वेद संबंधी वैषम्य होने से विषयों के स्वाभाविक धर्म भी नहीं हो जाते कि जिनसे वे सर्वथा की हो जाते हों।

शास्त्रकारों का असली कथन तो गति-सापेक्ष है, जिसका कि अभिनाभावी सम्बन्ध शक्ति को लिये हुए है। और वेददृष्टि से जो कथन है वह गतिजन्य जो शक्ति है उसकी हीनता तथा दृढ़ि का साधक नहीं है। इस अभिप्राय को लेकर ही वीरसेनादि आचार्यों का कथन है जो कि पुण्यदन्त भूतबलि आचार्य के सूत्रोंमें मनुष्यों के साथ १४ गुणस्थानों के नियम के कथन में 'पर्याप्त' शब्द होनेसे है। अतः वीरसेन आचार्य का कथन पदलक्षणगम सूत्रों के अभिप्राय से एक ही पड़ता है।

चौथी मान्यता में चौथी और पाँचवीं शांछर्षेय समाधन ऊपर इस परिशिष्ट में आ चुका है तथा मेरे ट्रेक्ट और अन्य विद्वानों के ट्रेक्टों में आगम और युक्ति में परिपूर्ण है।

असंख्ययत्न में बात यह है कि ध्वलाकार ने नवमं गुणस्थान से ऊपर भावमनुष्यिणी को मनुष्यिणी नहीं माना है, वे तो नीचे के गुणस्थानोंमें तथा ऊपर के गुणस्थानों में मुख्यता से गति कथन पर ही आरुढ़ हैं। उपचार कथन से आपकी दृष्टि में उन के कथन की कच्चाई मालूम पड़ती है तो आप उस उपचार को छोड़ कर उनके मुख्य कथन को ही मान्य कीजिये। वे वास्तव में अपने कथन से यह ही तो सूचित करते हैं कि चौदह गुणस्थानोंकी अपेक्षा से मनुष्यिणी का कथन नहीं है। अतः ही नौ गुणस्थानों तक वह कथन हो जिनका कि आगे के गुणस्थानों में नय विवक्षासे वस्तु-स्थिति मात्र फल है, न कि कार्य की सफलता।

इस कारण की कार्यता तो वहाँ समझी जाती है, जहाँ कि कार्य निष्पत्ति तक भी उसका सम्बन्ध होता है। मनु-स्थिति के लिये उपचार में कथन तो जैन शास्त्रों में सर्वत्र ही आते हैं। उमास्वामी ने भी दशवें अध्याय के अन्त के सूत्र में जो मिश्रों में भेद बतलाया है वह उपचार को लेकर ही तो बतलाया है नहीं तो मिश्र अवस्था में वास्तविक भेद ही क्या है। उपचार का जो कथन है वह काल-मापेक्ष, क्षेत्र-मापेक्षता को लिये होता है, केवल द्रव्यमापेक्ष जो कथन है वह मुख्य भाव की अपेक्षा में मुख्यता को लिये होता है।

अतः नय विवेक्षा में इस कारण कार्य की समझी के विचार में धीरसेन स्वामी का कथन है, वह उनके कथन की पूरी पक्काई का साधक है, न कि कच्चाई का साधक। कच्चाई का साधक उन्हीं की दृष्टि में हो सकता है, जिनकी कि दृष्टि कारण कार्य के अविनाभावी सम्बन्ध पर नहीं गई है।

न्याय का यह अटल सिद्धान्त है कि कार्य के समय जो कारण उपस्थित होगा वह ही मुख्य कारण समझा जायगा। अपने वक्तव्य में भी धीरसेन स्वामी ने आदि में अन्त तक वह ही बात बतलाई है जो कि एदुरुहदागम के सूत्रों में है। अतः उनके कथन में कच्चाई समझना पूर्वोक्त के विचार न होने का सूचक है।

श्री धीरसेन स्वामी ने गुणस्थान व्यवस्था का गति की प्रधानता से वर्णन करके उस व्यवस्था को सबल और निर्णीय सिद्ध कर दिया है। कारण कि बौद्ध गुणस्थानों के सङ्काश का अविनाभावी सम्बन्ध पर्याप्त मनुष्य गति के साथ ही है, वेद के साथ नहीं है, वेद का सम्बन्ध तो सिर्फ नवमें गुणस्थान तक ही है

अतः आगे जो वेद का कथन है वह भूतपूर्व नव के द्वारा उपचार से ही है। जैसा कि दशवें गुणस्थान से ऊपर शुक्ल लेश्या का उपचार से कथन है। अतः जिस व्यवस्था में धीरसेन स्वामी का कथन है, वह मिश्रान्त की जड़ की मजबूती का खास सूचक है। यदि उपचार में कथन माना ही न जाय तो फिर दशवें गुणस्थान में ऊपर शुक्ललेश्या भी न माननी चाहिये। परन्तु वह मिश्रान्त में मानी गई है, इस लिये उपचार को न माना जाय यह तो बन नहीं सकता।

वास्तविक दृष्टि से देखा जाय तो यहाँ उपचारने ही मूत्रकार के कथन की जड़ की मजबूती किया है। कारण कि मनुष्यगति के साथ पर्याप्त शब्द न होनेसे द्रव्य मनुष्यगति तो ली नहीं जायगी। अवशिष्ट में भाव-मनुष्यगति ही वहाँ ली जायगी। ऐसी हालत में मनुष्य शरीर के जीव को स्त्रीवेद होनेके विवाय छुटकारा ही नहीं है। अतः मिश्र है कि मूत्रकार ने जिस व्यवस्था में मूत्रों का गुम्फन किया है वह ही व्यवस्था टीकाकार धीरसेन स्वामी ने रक्खी है। अतः मूत्रकार में टीकाकार का मन विरुद्ध न पड़कर सर्वथा एक ही पड़ता है। ऐसी दशा में जब मूत्रकार ने सिद्धान्त की जड़ को ढीला नहीं किया है तो फिर मूत्रानुसारी टीकाकार पर सिद्धान्त की जड़ ढीला या निबल करने का आक्षेप लगाना न्यायसंगत नहीं है।

आगे आप लिखते हैं कि 'वेद की प्रधानता छोड़ कर गति की प्रधानता से कथन करना था तो वेद के अनुसार यहाँ भेद ही क्यों किये ?'

समाधान—वेद के अनुसार वहाँ भेद तो बों किये कि वेद की अपेक्षा में जो द्रव्यपुरुष में स्त्रीभाव है वह मोक्ष का अधिकारी है कि नहीं, ऐसी प्रश्ना का

क्या। ननु च। बिना वेद के भेद किये होता भी कैसे ? क्योंकि सूत्रकारने १४ गुणस्थान जिसके हों उन सूत्रों में केवल मन्विष्यी शब्द लिख कर ही वेद के दैपव्य भेद की स्वयमेव सूचना दे दी। ऐसी अवस्था में टीकाकार ने जो मुख्य गौण की व्यवस्था लेकर कथन किया है वह सर्वांग से सर्वथा योग्य ही है।

आगे आपने जो 'यथार्थतः प्रस्तुत प्रकरणमें योग मार्गणा चल रही थी और वाययोग के मिलसिले में इन विभागों के अनुसार कथन किया गया है। मनुष्य गति की प्रधानतामें तो गति मार्गणा में सूत्र २७ में गुणस्थान प्रकरणमें किया जा चुका है। वेदमार्गणा-नुसार प्रकरण आगे के सूत्र १८१ आदि में किया गया है और वहां अनिवृत्तकरण गुणस्थान तक ही वेदों के आधार में कथन है उसमें आगे के गुणस्थान को 'अपगत वेद' कहा है।'

समाधान—यह सर्व लिखना आप का प्रकरण के अमली स्वरूप पर लक्ष्य नहीं देने में केवल मात्र भ्रम है। कारण कि वाययोग मार्गणा के प्रकरण का जो दाय है वह मनुष्य और मनुष्यगता के शरीर को लक्ष्य करके कथन है अर्थात् यहां द्रव्य की अपेक्षा में कथन है, न कि भाव की अपेक्षामें वह कथन है। जब कि द्रव्य की अपेक्षा में कथन है तब आपके मतानुसार गुणस्थान अपेक्षा में द्रव्यपुरुष और द्रव्यस्त्री में कोई भेद नहीं है। ऐसी हालत में सूत्रकार ने दोनों के लिये अलग अलग सूत्रों की रचना क्यों की और स्त्री की पर्याप्त दशा में सम्यगु-मिव्या-दृष्टि तीसरा और असंयत सम्यग्दृष्टि चौथा ये दो गुणस्थान अप-र्याप्त मनुष्य के समान क्यों नहीं लिखे। सूत्रकार के सूत्रोंकी इस प्रकारकी शैली होनेमें स्पष्ट है कि द्रव्यस्त्री का दत्ता द्रव्यमनस्य के अकार का नहीं है।

इसी बात को लक्ष्य में रखकर सूत्रकारने द्रव्य-पुरुष और द्रव्यस्त्री के गुणस्थानों का पृथक् पृथक् सम्मिलित रूप से वर्णन किया है। तथा ६३ वें सूत्र में जो पांच गुणस्थानों का पाठ है वह ही द्रव्यस्त्री के लिये है। जो कि सूत्रकारसम्मत पाठ है।

धनलामें जो 'अस्मादेवशापि' निवृत्तिः सिद्ध्यति चेन्न' इस पंक्ति के आशय से जो सूत्र में 'संज्ञ' शब्द लगाया है वह सब बल्लेवा भ्रम का परिणाम है। कारण 'निवृत्तिः' शब्दका अर्थ जो (मुक्ति) किया है। और 'न' का सम्बन्ध आगे का वाक्य में नहीं जोड़ा है। उसका सब विपरिणाम भ्रम का कारण है। यहां पाठ किम बात की यथार्थ सूचना देता है उसका सम्बन्ध अर्थ इसी परिशिष्ट में आगे लिखा गया है। उसके प्रकार में आपकी सर्व शंकाओं का पूरन उड़ जाती है। असलियत में देखा जाय तो द्रव्यस्त्री को मोक्ष के निषेध में स्वाम सूत्रकार ही सम्मत हैं। कैसे सम्मत हैं इसका विवेचन पूर्व लेख और परिशिष्ट में पर्याप्त है। आशा है उसे आप विचार कर यथार्थ निर्णय करेंगे।

चौदह गुणस्थानों की प्राप्ति गति मार्गणा में ही होती है, न कि योगमार्गणा में तथा वेदमार्गणा में। अतः मुख्य मार्गणाओं की अपेक्षा में सम्मिलित गुणस्थानों का कथन मुख्यता से है। और गौणमार्गणा की अपेक्षा में गुणस्थान कथन उदाहार नय के आशय में है। इस लिये धीरसेन स्वामी के कथन में कहीं सूत्र में बिच्छु कोई भी दोष नहीं आता। अतः उन का कथन सूत्रकार के मत में सर्वथा मिलता हुआ सम्बन्ध है, इस लिये दोनों का एक ही मिथान्त होने में दोनों एकमत हैं।

इसी चौथी मान्यता में अपने अपने मत की

गुणों का जो दृष्टान्त दिया है वह अत्यन्त व्यास है। क्योंकि जब दृष्टान्त की प्रकृत कवन के साथ कोई भी संगति नहीं है। कारण कि प्रथम वर्ग तो जो वेद-मार्गका सहित गति मार्गका है उसमें नौ पुस्तकपत्र नौ ही गुणस्थान हैं। फिर उसके आगे केवल गति मार्गका है, वहां पांच पुस्तकपत्र पांचही गुणस्थान हैं। उनमें पहली श्रेणी है, वह मिश्रण भाग को लिये हुए है। परन्तु कव्यम में पहली श्रेणी मिश्रण भाग को लिये हुए नहीं है। अतः प्रकृत विषयमें यह पुस्तकका दृष्टान्त जागू न होने में दृष्टान्ताभास है।

विशेष-आपके दृष्टान्तमें - अत्यन्त व्यास के दो भेद हो जाते हैं, इस लिये वहां एक वस्तु के दो भेद हैं। परन्तु दृष्टान्त में दो मिश्रित निरासी बातें हैं। अतः एक का नीचे सम्बन्ध बढ़ने से ऊपर अवशिष्ट शुद्ध एक ही अवस्था रह जाती है। इस लिये दृष्टान्त में तरतम भाव है, जो कि वह एक ही वस्तु में हो सकता है, परन्तु दृष्टान्त में दो वस्तु होने से सम्बन्ध बनता नहीं। इस लिये आपके दृष्टान्त को प्रकृत विषय का अनुयायी न होने से दृष्टान्ताभास न कहें तो और क्या कहें।

४

[भारतवर्षीय अनावरणक जैन मासायटों, दयागंज देहली द्वारा प्रकाशित अष्टाष्टक की प्रस्तावना विषयक असंबद्ध और अमंगल कल्पनाओंका महेतुक निराकरण]

इस ग्रन्थ की प्रस्तावना के लेखक श्रीमान बाबू जगन्मल जी एम० ए०, बी० एस-सी०, आई० ई० ए० जी० पी एल टी० हैं। आपने ग्रन्थका अनुवाद और प्रस्तावना इंग्लिशमें लिखी है। अनुवाद का हिंदी में उल्हा श्रीमान पं० पाररावास जी जैन न्यायनीर्ध ने किया है। और प्रस्तावना का हिंदी भाषा में अनुवाद श्रीमान लाला राजकिशान जी देहली निवासी ने किया है। उसके भी गणेश में ही अध्याय ३ गाथा १४ में जो 'सं' उपसर्ग है वह पुर्न वाक्य में चला गया है, उस विषयक अष्टाष्टक की तरफ जो आपका ज्ञापन किया है वह खिन्न प्रेस की असावधानीका कारण है। ऐसा ही प्रसंग १३ वीं गाथा में भी आया है। उस तरफ आपका ज्ञापन नहीं गया है। अर्थ में कोई भी गलती न होने से कि प्रेस की प्रमादता पर ज्ञापन

जाना बाल की लाल निकालने के विषय और क्या हो सकता है।

"पं० रामप्रसाद जी की रचना में अत्यन्त खूब प्रतियों के मिलान का उल्लेख नहीं है" यह लिखना सुन्दर तभी होता जब कि मुद्रित प्रतिमें कुछ अशुद्धता का प्रतिभास दिया जाता। मिलान का उल्लेख करना यह विद्वान पाठकों को अष्टाष्टक की भद्रामात्र में अशुद्धता की तरफ लक्ष्य न देने की असावधानता को उद्भाटन देना है।

'प्रशस्ति करने पर भी ध्यान नहीं दिया।' यह वाक्य निर्हेतुक होने पर कुछ भी अपनी प्रमाण पद्धति का सूचक नहीं है।

आगे आपने जो यह लिखा है कि 'ऐसा प्रतीत होता है कि किसी व्यक्ति ने अत्यन्त भी शब्द की मनो-

नीति परिभाषा करने के लिये गाथा को दूसरे ही प्रकार लिख दिया है, उनका प्रवास भुतज्ञानी और भुतकेवली को समान मानना है।'

समाधान—आपके द्वारा उठाया हुआ यह विषय बोध-पाहुड़ की गाथा ६१-६२ से सम्बन्ध रखता है। उन गाथाओं के विषय को आप पूर्ण भुत ज्ञान का रूप न देकर सामान्य भुतज्ञानके रूप देने का खयाल कर रहे हैं तथा 'द्वितीय भद्रबाहु की पात्रता का सन्निवेश प्रथम भद्रबाहु में किसी ने कर दिया' यह सब इतिहासाभास सामग्री—अन्य विपर्यय-परिणति का प्रतिफल है। कारण कि वहाँ ग्रन्थकार-निर्मिष्ट स्वकृति विषयक निरहंकार मूचकलघुताके साथ प्रबंकार द्वारा अपने रुच्ये स्वरूप-प्रदर्शन विषय की तरफ आपके लक्ष्य का न जाना ही यह आपकी मनोनीत रचना का विषय है।

अव्यसेन मुनि पांच पूर्व की कमी से अपूर्ण भुतज्ञानी थे, इतनी ही बात नहीं है किन्तु उनमें आध्यात्मिकता नहीं थी, इस लिये वे मोक्ष मार्ग के उद्देश्य से भुतज्ञानी ही नहीं थे, यह ग्रन्थकर्ता का तात्पर्य है। अध्यात्मज्ञान न होने से ही वे द्रव्य-लिंगी थे। द्रव्य-लिंगी को पूर्ण भुतज्ञान होता ही नहीं है। यह जैन सिद्धान्त के ग्रन्थों का अभिप्राय है। उसको बिना समझे ही बहू वा तद्वत् लिखना न्यायसंगत नहीं है।

द्वितीय भद्रबाहु को अंगज्ञान भी नहीं था, इस लिये उनको पूर्वभद्रबाहु की कोटि में इन गाथाओं से सम्मिश्रित कर दिया। अथवा 'कुन्दकुन्द स्वामी को छोड़कर किसी दूसरे की कृति रूप गाथायें हैं।' ये सब आपके चेपाप के निर्दोष इतिहासाभास-अन्य खयालात हैं।

जिस तात्पत्र के अन्तर्गत से श्री कुन्दकुन्द स्वामी

को पहली शताब्दी का माना जाता है। मन्त्रालयी तात्पत्र द्वारा पहली शताब्दी से पहले का उन्हें क्यों न माना जाय? जब कि उस तात्पत्र में पहली शताब्दी के मिश्रित होने के मुख्य विषय को लिये हुए कोई खास कारण ही निदिष्ट नहीं है। यदि वह कोई खास कारण है तो उसका स्पष्ट उल्लेख करना चाहिये। केवल अटकलपट्टी की असंगत गोल-माल से स्वतः आचार्य द्वारा लिखे गये, उनके स्वतः के परिचय को असंगत या खोस ठहराना कहाँ तक साध्य की सिद्धि का विधायी है। इसका लेखक महा-नुभाव अपनी न्याय तराजू में १०० माप करने के अधिकारी हैं।

श्रीमान जाला जगन्प्रसादजी साहब एक सामान्य-वादी पुरुष प्रतीत होते हैं। कारण कि एक सामान्य-वाद की हवा ही ऐसा प्रचलित हुई है कि उनको विरोधवाद अच्छा ही नहीं लगता है। इस विषयक परिचय सूत्र पाहुड़ की २४-२५-२६ वीं गाथाओं का आपके द्वारा अनुवाद का नहीं होना ही सूचित करता है। अंग्रेजी प्रस्तावना के अनुवादक जाला राज-किशन जी को यह बात खटती है, इस लिये पत्र ६ में उनसे लिखा है कि २४-२५-२६ वीं गाथायें अंग्रेजी अनुवाद में जोड़ दी गई हैं जिनकी किंवा का आवश्यकता है इत्यादि।

मान्य होता है कि जाला जगन्प्रसाद जी ने जो अनुवाद और प्रस्तावना लिखी है वे दूसरे सामान्य-वादियोंके लेखों को अवलम्बन करके ही शायद लिखी हैं। यदि उसमें स्वावलम्बन है तो जान बूझ कर सामान्यवाद की स्थिति कायम करने की अभि-लाषा का विषय है, वह प्रतीति-कर प्रतीत होता है। श्रीमान प्रोफेसर नेमिनाथ आदिगोत्री जी उपाध्याय

का- ५२ ने अपनी समझके अनुसार जिन पाहुन की गाथाओं से भागमन में जनकाल, द्रव्यही, नीच कुलोत्पन्न का निषेध किया है और उनको सैनिक और अन्य को संग्रह बतलाया है। वह भी सामान्यता की भेदबोधमान का ही परिणाम है। कारण कि यह कार्य कारण के सम्बन्ध पर ध्यान न देना है।

इनने सांगोपांग जैन सिद्धान्त का सम्बन्ध गुण-स्थान और कर्मसिद्धान्त विषय का सांगोपांग जैन पद्धति से मनन नहीं किया है, नहीं तो यह तद्विषयक कार्यकी योग्यताका विषय उनकी बुद्धिसे बाहर क्यापि न होता।

जब किसी एक गुण भंग या कुटुम्ब में दूषित वातावरण उपस्थित हो जाता है तब उसमें सर्वोप और निर्दोष अंशों के जुड़ा होने का मोक्ष उपस्थित हो जाता है। निर्दोष अंश का नेतृत्व अपने अंश को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिये जो पहले आलोचना करता है वह ही आलोचना का विषय हमेशा रहता है। क्योंकि वह आलोचना का विषय सत्य सिद्धा-न्तास्पद है। उसके विषय में यह कल्पना करना कि उस आलोचना का प्रथम अवस्था-विषय कदाई को लिये हुए नहीं होकर पीछे वह सफलता से राग-द्वेष का विषय बन कर अपने विषय को तीव्रता में परिणत हो जाता है, यह कल्पना केवल भ्रमात्मक है कारण कि निर्दोष सत्यांश सिद्धि की हेतुता में हमेशा ही आदि से अन्त तक जो विषय रहता है वह ही अपने कार्य की मफल उन्नति में कायम रहता है।

मान लो कि थोड़ी देर के लिये अचेलक अंशने अपनी दिगम्बरता कायम रखने के लिये सचेल अंश की कक्षा निषेधता रूप आलोचना की परन्तु मोक्षमार्ग में निषेध के लिये शत्रु वर्ग को क्यों लिया। क्या

वे लोग नष्ट होकर मोक्ष को नहीं साध सकते थे ? इस लिये मानना होगा कि इस दिगम्बर जनसिद्धान्त में जो बात है वह योग्यता की मुख्यता को लेकर सचाई के मार्गपर स्थित है। उसमें आद्य समय की नर्माई का और पिछले समय में कदाई का खयाल करना उचित नहीं है।

पदस्वल्पागम मूत्र जाँ कि सामान्यवादियों की दृष्टियों में बहुत पुराना माना जाता है, उसमें द्रव्य-ही के लिये पांच ही गुणस्थान लिखे हैं, वह अचेल-कता को ही मोक्ष की सिद्धि में प्रदर्शित करता है। इस लिये प्राचीनता के मवाल में वह ही योग्यता दृष्टिगोचर होती है।

इस विषय में एक बात और भी विचार करने की यह है कि जो साध्य सुगम साधनों से सिद्ध हो सकता है उसके लिये फिर कठिन साधनों का ही विधान निर्माण करना यह विचारणा से बाहर का विषय है। नीति का सिद्धान्त है कि 'प्रयोजनमनु-हरिण मशोऽपि न प्रवर्तते'।

दिगम्बरचार्यों को जो कठिन दिगम्बर-वृत्ति है वह सत्यमार्ग की कृति दिखलाने में राग-द्वेष परिणति को लिये नहीं हो सकती। किन्तु सत्यमार्ग की स्थिरता के लिये हो हो सकती है। आचार्य कुन्द-कुन्द स्वामी ने जो अचेलकत्व आदि विषय की गाथायें लिखी हैं, वे उनके स्वतः दिगम्बरत्व की सूचक हैं और सत्यमार्ग स्थिति की साधक हैं—उनके विषय में जो सैनिकता को कल्पना है वह पूर्वोपर परिस्थिति की गहरी विचारणा नहीं।

दर्शनपाहुन को २४ वीं गाथा को आपने सैनिक नहीं लिखा है जिसका कि स्वरूप आगे दर्शनपाहुनकी गाथाओं से देख्यभाष का सूचक है। इस पूर्वोपर-

विकट समालोचना को किस तरह समुचित कहा जा सकता है ?

दर्शनपाहुड़ की २४ वीं गाथा के आगे की कोई भी ऐसी गाथा नहीं है जो असंबद्ध हो, फिर भी उन को असंबद्ध लिखा जाय तो वह भूल-भरा कार्य है। हाँ वे गाथायें सामान्यवाद की तो अवश्य ही बाधक हैं इसी लिये उन्हें असंबद्ध समझा हाँ तो वह दूसरी बात है।

प्रस्तावना लिखने वाले महाशयने जो यह लिखा है कि 'भी बुद्ध' में पहले भी भद्रबाहु प्रथम ने अंगरचना को स्वीकार नहीं किया' इसका तात्पर्य सिर्फ़ यही निकलता हो कि अंगों का विस्तार इतना बढ़ा है जो कि वह शब्द रचना की शक्ति से बाध है अतः प्रथम में अंग रचना असंभवतामें कैसे न हो, इसका तो सिर्फ़ धारण करना ही हो सकता है जो कि कृतादरण के अपूर्व क्षयोपशम रूप विशिष्ट श्रद्धा में हो सकता है। अर्थात् अक्षर रूप लिपि में वह नहीं आ सकता। ऐसा यदि 'अंग रचना को स्वीकार नहीं किया' शब्द का तात्पर्य हो तो ठीक है। और यदि इस वाक्य का यह तात्पर्य हो कि भावात्मक अर्थ रचना कोई वस्तु ही नहीं थी तथा वे ग्यारह अंग और चौदह पूर्व के पाठो ही नहीं थे तो यह लिम्बना सिद्धान्त और जैन संस्कृति के विकट अनैतिहासिकता का है। कारण कि जैन परम्परा रूप संस्कृति आप ही इस उत्तर सम्मति से सम्मत नहीं है।

दर्शनपाहुड़ की २५ वीं गाथा सिर्फ़ असंयत की निन्दापरक है इसका तात्पर्य सिर्फ़ इतना ही है कि कुलीन मुजाति भी कोई हो, परन्तु संयत न हो तो पूजनीय नहीं है। अर्थात् उन कुलीनादिक की संयत होने से शोभा है। इसका तात्पर्य वह ही है कि जो

संयत होगा वह कुलीन और मुजाति ही होगा, न कि अकुलीन शूद्र। यदि कुल एवं मुजाति भेद न होते तो आचार्य एक गाथा ऐसे भाव की लिखते कि 'संयत यदि चांढाल होय तो वह बंदनीय है' परन्तु आचार्य ने ऐसे भाव की कोई भी गाथा नहीं लिखी। इससे कैसे समझा जाय कि नीच चांढालादि भी संयत होता है ?

सम्यग्दर्शन के सम्बन्ध से चाण्डाल को सम्मत्-भद्र स्वामी ने—

'सम्यग्दर्शनसम्पन्नमपि मातंगदेहजम्।

देवा देवं विदुर्भेष्मागूढाङ्गारांतरौजसम्॥

इम रत्नकरण्ड के श्लोक से 'देव' कहा है। उस का अर्थ यह नहीं है कि वह अदंत या सिद्ध हो गया। किन्तु वह देव होने के मार्ग में लग गया है। वहाँ सिद्धान्त-सम्मत आचार्य का अभिप्राय भावि नैगम-परक है। अर्थात् वह मोक्षमार्ग के प्रथम पाये पर प्रवेश कर गया है। कदाचित् वह व्यक्ति उस पाये से किसल भी जाता है, तथापि उसने एक बार उसे सृष्टि में प्राप्त कर लिया है। इस लिये वह उसपर फिर भी आरुढ़ हो सकता है। अतः इस कथन का आशय यह नहीं है कि वह संयत भी उसी शरीर से हो जाता है।

श्री अमृतचन्द्र मूर - एक अध्यात्म प्रेमी होकर दार्शनिक थे, इस लिये जिन गाथाओं की उनने टीका नहीं की है उसका तात्पर्य उनने यह ही समझा होगा कि दार्शनिक विषय से इन सिद्धान्तिक गाथाओं का कुछ विशेष सम्बन्ध नहीं है तथा अचेलक लिंग से मोक्ष विधान आदि की गाथाओं का अनुवाद बिना भी अर्थ किये सिद्धान्तिकों के मुगम है। दार्शनिक दृष्टि का विषय युक्ति से सम्बन्ध होता है, इस विषयक जो

दार्शनिकता है वह म्याम ग्रंथों में पल्लवित है ही अतएव पुनः वहाँ भी दार्शनिक दृष्टि का प्रवचन सिर्फ़ पिट पेक्क ही होगा। इन्हीं सब बातों का विचार कर इस स्थल में अनुवाद को अनावश्यक समझ कर ही अनुवाद का न करना मात्स्य पड़ता है।

ग्रन्थकार और टीकाकारों की रीति भिन्न २ हुआ करती है। अपने पक्ष की जिन बातों में उन्हें अबाधता होती है उसी विषय को वे अपनी कृति में लेते हैं। सैद्धांतिक विषयों में सर्वत्र दार्शनिकता नहीं पटित की जाती है। मोक्ष में द्रव्यस्त्री-निषेध आदि के जो विषय हैं वे मुख्य सैद्धांतिक होने से दार्शनिक विषय में वे वैसे इस प्रकरण में उपयोगी नहीं हैं। अतः उनकी टीका नहीं की। इस लिये 'ये गाथायें ग्रन्थ का अंग नहीं हैं' यह विचार आपका सुसंगत कैः समझ जाय ?

आठवां ग्रंथ जो शीलपादुद (श्रवण) है उसकी २६वीं गाथा को प्रस्तावनाकार ने जो अप्राकरणीय और असंगत लिखा है ठीक नहीं। देखिये—

सुदृषाण गदहाण य गोपसुमहिलाण दीसदं मोक्खो,
जो सोधन्ति चङ्गं पिच्छज्जंता जणेहि सन्वेहि ।

इसमें 'सुदृषाण' की संस्कृत छाया 'शुना' और अर्थ 'कुत्तों' किया है वह बिल्कुल भूलभरा है कारण कि 'सुदृषाण' के अर्थ—सुख और ज्ञान होंगे अथवा 'शुभज्ञान' यह अर्थ होगा। तथा 'गदहाण' की छाया 'गर्दभाणां' और अर्थ 'गधों' किया है वह भी ठीक नहीं है क्योंकि 'गदहाण' की छाया 'गृद्धिहानं' और अर्थ—'गृद्धि यानी आकांक्षा उसकी हानि' यह होगा। जब इन दोनों पक्षों का ऐसा अर्थ होगा तब फिर गाथा का समग्र अर्थ ऐसा होगा कि—

"शुभज्ञान या सुख और ज्ञान तथा गृद्धि की

हानि तो गो पशु स्त्रियों में भी देखी जाती है। परन्तु जो चतुर्थ मोक्ष पुरुषार्थ को साधते हैं वे ही सर्वज्ञों के प्रेरकमान अर्थात् आदरणीय होते हैं।"

यदि यहाँ पर 'गदहाण' की छाया 'गर्दभाणां' करके 'गधों' ही अर्थ करना हो तो उस गर्दभ को भी पशु और महिला के साथ सम्बन्ध जोड़ कर वह अर्थ हो जायगा कि "गधे गो पशु स्त्रियों में भी सुख (संतोष) ज्ञान, शुभज्ञान देखा जाना है परन्तु जो मोक्ष को साधन करते हैं वे आदरणीय होते हैं।" ऐसे गाथा का असली अर्थ हो सकता है।

जब ऐसा अर्थ होता है तो यह श्लोक न अप्राकरणीय ही पड़ता है और न असंगत ही पड़ता है, कारण कि इसकी पूर्वगाथा में शील का मुख्य फल निर्वाण लिखा है अतः यह गाथा पूर्व गाथा की पुष्टि की सूचक है। इस गाथा में यह भाव दिखलाया है कि स्वर्गादि सुख का कारण शील है वह तो पशु स्त्रियों में भी हो सकता है अतः उम शील से क्या प्रयोजन, शील में तो उसी में प्रयोजन है कि योग्यता होने पर जिससे मोक्ष की प्राप्ति हो।

इस गाथा में ऐसे अभिप्राय का लिये जो कां राज्य आया है उससे स्पष्ट सूचित होता है कि ग्रन्थकार के मत से द्रव्यस्त्री को छूटा आदि गुणस्थान नहीं होता है और न मोक्ष ही होता है।

इस लिये स्पष्ट है कि प्रस्तावनाकार ने ग्रन्थ की इस विषयक जिन गाथाओं को छेपक लिखा है वह पूर्वापर का अन्धा विचार न करके ही लिखा है। अतः उनकी भूमिका का यह प्रकरण सब ही असंगत और उपेक्ष्य है।

इस भूमिका वाली अष्टपादुकी प्रतिमें गाथा का 'सुदृषाण' पाठ है परन्तु दूसरी प्रतिमें 'गदहाण'

पाठ है उसकी छाया 'शुना' होकर कुत्ता अर्थ हो जाता है ऐसी हालतमें कुत्ते को गव्हेके समान सम्बन्ध जोड़ अर्थ यों है—'कुत्ता गधा गो पशु महिलाओं को भी शील की प्राप्ति तो हो जाती है परन्तु उससे क्या उन्हें तो मोक्ष की अयोग्यता से स्वर्गादि की प्राप्ति होती है। यदि योग्यता होने पर शील धारण कर मोक्ष प्राप्ति की जाय तो वह शील धारण का सत्त्वा पक्ष है।' इस गाथा में नीचे की गाथा से शील की अनुवृत्ति का सम्बन्ध है इस लिये इस ऊपर की गाथा में शील के अर्थ का सम्बन्ध हो ही जाता है।

केवलज्ञान के विषय में—श्री कुन्दकुन्द स्वामी की प्रवचनसार की १४७वीं गाथा का और उसके आगे की दो गाथाओं का तथा नियमसार की १५६वीं गाथा का जो अर्थ जिन नयों की विवक्षा में अष्टपादक के प्राक्कथन में लाला जगन्प्रसाद जी का प्रस्तावना के आश्रय में किया गया है वह अर्थ इन गाथाओं का नहीं हो सकता। क्योंकि वहाँ व्यवहार नय से संग्रह की साधो व्यवहार नय ली गई है और 'अप्पाण' में व्यवहार नय की आत्मा संग्रह नय के विषय को लिया है।

उमका स्पष्ट तात्पर्य यह है कि 'ज्ञान में विशेष पदार्थ अथवा सब पदार्थ प्रतिभासित होती हैं। और दर्शन में पदार्थ सामान्य का ही बोध होता है।' अतः गाथाओं में जिस जगत् ज्ञान का कथन आया है वहाँ 'जाणदि' किया आई है और जिस जगत् दर्शनका कथन आया है वहाँ 'अस्सि' किया आई है अतः इन सभी गाथाओं का अर्थ हो जाता है कि जो एक अर्थानु संग्रह नय विवक्षित सामान्य को जानता है वह त्रिकालवर्ती सब पदार्थों को जानता है और जो त्रिकालवर्ती सब पदार्थों को जानता है अर्थात्

व्यवहार नयान्वित सब पदार्थों को जानता है वह एक संग्रहनय विवक्षित सामान्य को जानता है अर्थात् भगवान् के केवलज्ञान और केवल दर्शन साथ होते हैं और एक काल में होते हैं तथा हमेशा साथ ही रहते हैं।

समस्त दिग्गम्बर तथा श्वेताम्बर ग्रन्थकारों ने ज्ञान में प्रत्यक्ष और परोक्ष दो भेद माने हैं वे बाह्य पदार्थ के अवलम्बन की अपेक्षा से ही माने हैं। नहीं तो 'रूपिष्वक्षयेः' इत्यादि श्रुति-वाक्यों की शरितार्थता ही नहीं हो सकती। सत्य बात तो यह है कि आत्मानुभवन तो चतुर्थ गुरुस्थान में ही हो जाता है जो कि पर-पदार्थ-निरपेक्षता से उसे प्रत्यक्ष माना है और अबाधिज्ञान मनःपर्यय ज्ञान को परावलम्बन के अभाव में पर पदार्थ के ज्ञान होने से प्रत्यक्ष माना है। अब निश्चय और व्यवहार का जो विषय आप समझ रहे हैं वह इन ज्ञानों में कैसे पटित हो सकता है क्योंकि इन दो ज्ञानों का विषय तो आत्मज्ञान ही नहीं है केवल पुद्गल ही विषय है।

आप शायद इसके लिये यह कहें कि निश्चय और व्यवहार का विषय केवल सात्विक ज्ञान में ही लगाया जा सकता है तो उमका उत्तर यह है कि—शास्त्रकारों ने वहाँ व्यवहार नय को भूतार्थ कहा है और निश्चय नय को भूतार्थ कहा है। वहाँ ही व्यवहार को साधन (कारण) और निश्चय को साध्य ग्रन्थकार ने कहा है। परन्तु जब केवलज्ञान अवस्था हो जाती है तब वहाँ साध्य क्या रह जाता है? वहाँ तो जो माध्य पूर्व अवस्था में था वह वर्तमान अवस्था में मिट्ट हो जाता है। अतः यह स्थान निश्चय और व्यवहार का विषय ही नहीं रहता है। जब कि इस यगु का स्वभाव ही स्व और पर को विषय करना है

अर्थात् जानना है। नो वहाँ अभूतार्थ का विषय ही कैसे स्थिर रह सकता है। क्योंकि स्वभाव में अभूतार्थता होती ही नहीं है।

दूसरा अभूतार्थ का अर्थ यह होता है कि जिस का भूत पदार्थ विषय नहीं हो। परन्तु केवलज्ञान में तो भूत विषय भी प्रतिभासित होता है अतः वहाँ अभूतार्थ इस दृष्टि में भी नहीं टहरता। आपके अर्थ में एक को जानने का अर्थ आत्मा को जानना होता है, परन्तु आत्मा का ज्ञान तो चतुर्थ गुणस्थान में ही हो जाता है। वहाँ आत्मा के सर्वांशों का ज्ञान तो होता नहीं। यदि वहाँ आप ऐसा कहें कि जिस जगद् एक के एकांश का ज्ञान होता है उस जगद् एक का ज्ञान होता है और जहाँ एक के अनेक अंश का ज्ञान होता है वहाँ अनेक का ज्ञान होता है। ऐसा अर्थ होने से भेद व्यवस्था आ जाती है परन्तु भेद व्यवस्था निश्चय नय का विषय नहीं है। अतः ऐसा अर्थ करने में अनेक दोष उपस्थित होते हैं। इस लिये वहाँ नियमेन का अर्थ निश्चय नहीं है। किन्तु नियमेन का अर्थ वस्तु की सर्व अवस्थाओं को लेकर वस्तु स्थिति रूप समूह नय ही अर्थ है। जिस का स्पष्टीकरण में ऊपर कर चुका हूँ।

‘प्राचीन कथाओं के अनुसार श्री भद्रबाहु प्रथम के समय दोनों सम्प्रदायों में मतभेद शुरू हो गया। यह लिखना इस बात को सूचित करता है कि “दोनों सम्प्रदाय तो पहले से थी पर दोनों में मतभेद प्रथम भद्रबाहु के समय हुआ।” यह लिखना प्राचीन कथाओं के विरुद्ध है। क्योंकि प्राचीन कथा तो यह सूचित करती है कि श्री भद्रबाहु प्रथम के समय तक नम साधु संघ के रूप में तथा उनके अनुयायी गृहस्थ वर्ग के रूप में एक ही जैनधर्म था परन्तु १२ वर्ष

के दुष्काल के समय शिथिलाचार के अभ्यासी कुछ साधुओं ने भद्रबाहु के स्वर्गवास के बाद वसू पहन कर सम्प्रदायवाद को जन्म दिया।

‘विहार में घोर अकाल पड़ने पर श्री भद्रबाहु स्वामी का दक्षिण भारत में जाना तथा उनकी अनुपस्थिति में कुछ मुनियों का दिनचर्या के घोर नियंत्रण को ढीला करना’।

इस कथन में जो बात उन कथाओं से ली गई है वह बात अकाल के सम्बन्ध से केवल भद्रबाहु स्वामी का दक्षिण जाना आपने माना है, किन्तु उनके साथ बहुत ना संघ भी दक्षिण भारत को गया था, इस बात को आपने छोड़ दिया है और मुनियों की मूचर्या जो दिगम्बर वृत्ति की थी उसे छोड़कर जो दिनचर्या के घोर नियंत्रण को ढीला करना लिखा है वह कथाओं का विषय नहीं है वह आपका अपना मनोनीत विषय है।

कथाओं का तो स्पष्ट उल्लेख है कि “भद्रबाहु के संघसहित दक्षिण भारत जाने के बाद भयंकर दुष्काल के प्रभाव में उत्तर भारतका जो मुनि संघ था वह दिगम्बर चर्या छोड़कर साम्बरचर्या वाला हो गया। “दुष्काल बीत जाने पर भी उस शिथिलाचारका उस साधु संघ ने त्याग नहीं किया। तब से ही श्वेताम्बर संघ चल पड़ा।” यह सब कथाओं की सच्ची बात है उसको आपने स्पष्ट नहीं लिखा। यह चित्तपर अक्षित सामान्यवाद की परिणति का परिणाम है। यदि ऐसी मनोनीत बात न लिखी जायगी तो फिर आचार्य श्री कुन्दकुन्द स्वामी की मुख्य गाथाएँ जो कि उनके खास दिगम्बरत्व को सूचित करती हैं उन को छेपक का कैसे करार दिया जायगा। जब कि प्रस्तावनाकार उनको दिगम्बर आचार्य मानते हैं और

फिर उनकी दिगम्बरत्व कृति को स्नेपक बटलाते हैं तो फिर वे किस आधारसे उन्हें दिगम्बराचार्य सिद्ध करते हैं। यदि दिगम्बराचार्य थे तो उनकी वस्त्र-त्याग से मोक्ष-विधानकी जो कृति है वह स्नेपक भी कैसे ?

इसी तरह कुन्दकुन्द स्वामी को प्रथम भद्रबाहु का शिष्य न मानना भी अयुक्त है। जब कि कोई भी शिलालेख या प्राचीन ग्रन्थ असंदिग्ध रूप से ईसाकी पहली सदी का उनका अस्तित्व नहीं बताता और स्वतः कुन्दकुन्द स्वामी अपनी कलम से अपनी लघुता के साथ अपने को 'द्वादशांग ज्ञाता भद्रबाहु स्वामी का शिष्य' लिख रहे हैं। फिर उनको अपनी कल्पनामात्र के आधारसे भी भद्रबाहु स्वामीके गुरुभावेमें उनके शारीरिक शिष्यपदने का सम्बन्ध न स्वीकार करके आत्मिक शिष्य-सम्बन्ध स्वीकार करना यह एक निराधार कल्पना है।

यदि आत्मिक शिष्यता ही उनकी होनी तो वे अपने को भद्रबाहु का ही शिष्य क्यों लिखकर, श्री महाश्वीर भगवान का ही शिष्य क्यों न लिख देंगे ? परन्तु उनमें संमा लिखा नहीं। अतः मालूम होता है कि उनमें अपने को जिनका शिष्य स्वीकार किया है उनके ही वे शारीरिक सम्बन्ध से ही साक्षात् शिष्य थे।

तथा भुतज्ञान के सम्बन्ध में जो उनका मन्तव्य है वह ही सच्चा मन्तव्य है, अर्थात् पूर्ण द्वादशांग का जो ज्ञाता है वह ही पूर्ण भूत केवली है। यह पठति पूणेता से भद्रबाहु स्वामी तक ही रही, बाद को उत्तर-रंतर उसका ह्रास होता गया। ह्यास मार्ग से सभी अंश उसका न चला जाय तथा ह्रास से उस आर्य कथन की आगे स्मृति ही न रहे, इस भय से उस द्वादशांग भूत के आधार से उनमें अपनी बुद्धि को

शास्त्र-लेखन की तरफ लगाया। जिसका परिणाम आज तक अभ्युपेक्षण उसकी स्मृति दिला रहा है तथा सत्यमार्ग का दर्शन करा रहा है।

आगे नियमसार की गाथा देकर जो कुछ अभिप्राय प्रस्तावनाकार तथा उनके सहयोगियों ने लिखा है उसका अभिप्राय सिर्फ यह है कि वे अपनी द्वार-जोत का सवाल शास्त्रार्थ का सा न रखकर जो सच्ची बात थी उसे कह देते थे। बाद-विवाद उनको पसंद नहीं था क्योंकि वे निष्पृष्ठ वीतरागी सच्चे साधु थे, इस लिये उनकी जो सच्ची चर्चा थी उसी का दिग-दर्शन उमने—

नाना जीवा नाना कर्म नाना विधा भवेत्सत्त्वः ।

तस्माद् वचनविवादः ऽपरसमयैः वर्जनीयः ॥

इस नियमसार के श्लोक में सूचित किया है कि 'बाद-विवाद में परिणामों को कलेश पहुँचता है और इससे बिगुल वृत्ति में क्षति आती है, इस लिये किसी को कुछ सत्यमार्ग समझना हो वह उसे सरलमार्ग से समझना चाहिये।' श्लोक का सिर्फ अभिप्राय बड़ी है, न कि किसी के सामने सच्चा पदार्थ भी न रखना।

आपने प्रस्तावना में जो यह लिखा है कि "क्षी-मुक्ति के विषय पर कोई प्राचीन ग्रंथ निश्चित रूप से इस समस्या को हल नहीं करता, यदि ऐसा कोई ग्रंथ होता तो तत्त्वार्थाधिगम सूत्र के रचयिता स्वामी उमा-स्वामि इस विषय की उपेक्षा न करते। दिगम्बर सम्प्रदाय ने इस प्रश्न को युक्तियुक्त हल नहीं किया बल्कि ऐसा आशय निकाल लिया।"

इस लिखानका युक्तियुक्त समाधान इतना ही पर्याप्त है कि आपने यह बात जो लिखी है वह गहरे विचार में प्राचीन ग्रंथों का असंश्लेषण न करके लिखी है।

प्राचीन ग्रन्थों में जो पदस्वरागम है उसके सन्-प्रकृष्टता के ६३ वें सूत्र से तथा अन्य सूत्रों से भी यह ही बात निकलती है कि द्रव्यस्त्री को पांचवें गुणस्थान से ऊपर का गुणस्थान नहीं होता, जब ऊपर का गुणस्थान ही नहीं होता तो उसको मोक्ष भी कैसे सम्भवित है।

प्राचीन पदस्वरागम के सूत्रों में मैंने प्रोपेसर हीराकाल जी के ग्रन्थों के समाधान में इस परि-शिष्ट में यह बात अच्छी तरह मिथ कर दी है। वहां से यह बात जान कर प्रस्तावनाकार को जो सत्य बात प्राचीन मत में है उसका निश्चय अवश्य करना चाहिये। तथा तत्त्वार्थधिगमसूत्र के कर्ता उमास्थानि महाराज ने भी इस विषय की उपेक्षा नहीं की है कारण कि उन्होंने परीपहों के सूत्र में बाधोस परीपह लिखी हैं वहां 'स्त्री' परीपह का तो विधान किया है परन्तु 'पुरुष परीपह' का विधान नहीं किया है इसमें साक्ष्य होता है कि-स्त्री यदि प्रवृज्या और मोक्ष की अधिकारिणी होती तो आचार्य 'स्त्री' परीपह की तरह 'पुरुष परीपह' भी लिखते, परन्तु उनसे ऐसा

नहीं किया है।

इससे स्पष्ट है कि तत्त्वार्थसूत्रकार द्रव्यस्त्री को मोक्ष होने की अधिकारिणी नहीं मानते हैं। प्राचीन आचार्यों के जो अभिप्राय होते हैं वे किसी न किसी रूप से अपनी कृति में व्यक्त कर ही देते हैं। प्रकृत में वह ही ज्ञान उमास्थानि महाराज ने अपनी इस प्रकृत सूत्र की कृति में व्यक्त की है जो कि विचार-शील अन्वेषकों के लिये उनकी संकेत कृति से उस विषयक ज्ञान के लिये पर्याप्त है।

ऐसे सब उद्धरणों को लेकर जो प्रस्तावना लाला जगनप्रसाद जी ने लिखी है वह ठीक नहीं है उसमें पर्याप्त त्रुटियां हैं। अच्छा होता कि ऐसे विचार प्रस्तावना में न लिख कर अन्यत्र लिखे जाते। कारण कि प्रस्तावनागत जो विवादस्थ और अनुपयुक्त विषय है वे सर्वसाधारण की युक्तिगत न होने विपर्यय फल-प्रदायी होने से ग्रंथ के महत्व के बाधक हो जाते हैं। इस लिये पुस्तक के अंग रूप प्रस्तावना में ऐसे सांदिग्ध विषय रखना उपयोगी नहीं।



क्या निर्युक्तिका भद्रबाहु और स्वामी समन्तभद्र एक हैं ॥

(ले०-न्यायाचार्य प० दरबारीलाल जैन कोठिया)



हालमें श्रीमान प्रो० हीरालाल जी जैन एम० ए० अमरावती ने 'जैन इतिहास का एक विचित्र अध्याय' नाम का निबन्ध लिखा है, जो गत जनवरी मास में बनारस में होने वाले अखिल भारतीय प्राच्य सम्मेलन के १०वें अधिवेशन पर अंग्रेजीमें पढ़ा गया और जिसे बाद को आपने स्वयं हिन्दी में अनुवादित करके एक अलग ट्रैक्ट के रूप में प्रकाशित किया है। इस निबन्ध में खोजरूबेरू जो निष्कर्ष निकाले गये और जो सभी विचारणीय हैं उनमें एक निष्कर्ष यह भी है कि श्वेताम्बर आगमों की १० निर्युक्तियों के कर्ता भद्रबाहु द्वितीय और आप्तमीमामा (देवागम) के कर्ता स्वामी समन्तभद्र दोनों एक ही व्यक्ति हैं—भिन्न भिन्न नहीं, और यही मेरे आज के इस लेख का विचारणीय विषय है। इस निष्कर्ष का प्रधान आधार है, अवलोकणगोल के प्रथम शिलालेखमें द्वादशदशीय दुर्भिक्ष की भविष्यवाणी करने वाले भद्रबाहु द्वितीय के लिये 'स्वामी' उपाधि का प्रयोग और उधर समन्तभद्र के लिये अनेक आचार्य वाक्यों द्वारा 'स्वामी' पदवी का रूढ़ होना। पुनः प्रोफेसर साहब लिखते हैं :—

“दूसरा (द्वितीय भद्रबाहु द्वारा-द्वादश-वर्षीय

दुर्भिक्ष की भविष्यवाणी के अतिरिक्त*) 'महद्व-पूर्ण संकेत इम शिलालेख से प्राप्त होता है कि भद्रबाहु की उपाधि स्वामी थी जो कि साहित्य में प्रायः प्रज्ञानतः समन्तभद्र के लिये ही प्रयुक्त हुई है। यथार्थतः बड़े बड़े लेखकों जैसे विश्वामित्र और वादिराज+ सूत्रि ने तो उनका उल्लेख नाम न देकर केवल उनकी इस उपाधि में ही किया है और यह वे तभी कर सकते थे जब कि उन्हें विश्वास था कि उस उपाधि में उनके पाठक केवल समन्तभद्र को ही समझेंगे, अन्य किसी आचार्य को नहीं। इस प्रमाण को उपर्युक्त अन्य सब बातों के साथ मिलाने से यह प्रायः निस्सन्देहरूप में सिद्ध हो जाता है कि समन्तभद्र और भद्रबाहु द्वितीय एक ही व्यक्ति हैं।

यह आधार-प्रमाण कोई विशेष महत्व नहीं रखता; क्योंकि 'स्वामी' उपाधि भद्रबाहु और समन्तभद्रके एक होने की गारंटी नहीं है। दो व्यक्ति होकर

* यह ट्रैक्टके भीतरी आशय वाक्य लेखकका है
× 'स्तोत्रं तीर्थोपमानं प्रथितप्रथुपर्यं स्वामिमीमां-
सितम तत्'। —आप्तपरीक्षा

+ स्वामिनश्चरितं तस्य कस्य नो विस्रयावहम् ।

देवागमेन सबंधो येनैवापि प्रदर्श्यते ॥

—पार्श्वनाथचरित

भी दोनों 'स्वामी' उपाधि से भूषित हो सकते हैं। एम० ए० उपाधिधारी अनेक हो सकते हैं। 'व्याकरणाचार्य' भी एकाधिक मिल सकते हैं। 'प्रेमी' और 'शशि' भी अनेक व्यक्तियों की उपाधि या नाम देले जाते हैं। फिर भी इनसे अपने अपने प्रसंग पर अमुक अमुक का ही बोध होता है। अतः किमी प्रसंग में यदि विश्वानन्द और बादशर ने मात्र स्वामी पदका प्रयोग किया है और उसमें उन्हें स्वामी समन्तभद्र विवक्षित हैं तो इसमें भद्रबाहु और समन्तभद्र कैसे एक हो गये? दूसरी बात यह है कि विश्वानन्द ने जहाँ भी 'स्वामी' पद का प्रयोग समन्तभद्र के लिये किया है वहाँ आममीमांसा (देवागम) का स्पष्ट सम्बन्ध है। आप्तपरीक्षा के 'स्वामिमीमांसितं तन' उल्लेख में स्पष्टतः 'मीमांसित' शब्द का प्रयोग है, जिससे उनके विद्वत् पाठक भ्रम में नहीं पड़ सकते और तुरन्त जान सकते हैं कि आप्त की मीमांसा स्वामी ने—समन्तभद्र ने की है, उन्हीं का विश्वानन्द ने उल्लेख किया है। इसी तरह बादशर मूरि के 'स्वामिनभारित' उल्लेख में भी 'देवागमेन सर्वज्ञो येनाद्यापि प्रदर्श्यते' इन आगेके वाक्यों द्वारा 'देवागम (आप्तमीमांसा) का स्पष्ट निर्देश है, अतः यहाँ भी उनके पाठक भ्रम में नहीं पड़ सकते। श्लोक के पूर्वाध में प्रयुक्त स्वामी पद से और देवागम के कर्ता समन्तभद्र का ज्ञान कर लेंगे।

तीसरी बात यह है कि 'साहित्य में एतन्ततः' स्वामी पद का प्रयोग समन्तभद्र के लिये ही नहीं हुआ है। विश्वानन्द के पूर्ववर्ती अकलंकदेवने पात्रकेशरी स्वामी वा सोमधर स्वामी के लिये भी उसका प्रयोग किया है।* श्वेतान्वर साहित्य में सुधर्म गणधर के

* देखो, सिद्धिविनिश्चयका 'हेतुलक्षणसिद्धि' नाम का छटा प्रस्ताव, लिखित प्रति पत्र ३००।

लिये स्वामी पद का बहुत कुछ प्रयोग पाया जाता है। और भी कितने ही आचार्य स्वामी पद के साथ उल्लेखित मिलते हैं। स्वयं प्रोफेसर साहब ने आवश्यक मूत्रवर्णि और श्वेतान्वर पट्टावली में उल्लेखित 'ब्रह्म स्वामी' नाम के एक आचार्य का उल्लेख किया है और उन्हें भी द्वादश वर्षीय दुर्भिक्ष के कारण दक्षिण को विहार करने वाला लिखा है। यदि द्वादशवर्षीय दुर्भिक्ष की भविष्यवाणी करके दक्षिणको विहार करने और स्वामी नामक उपाधि के कारण ब्रह्मस्वामी भी भद्रबाहु द्वितीय और समन्तभद्र में भिन्न व्यक्ति नहीं है तो फिर इन ब्रह्मस्वामी की तीसरी पीढ़ी में होने वाले उन समन्तभद्र का क्या बनेगा। जिन्हें प्रो० साहब ने पट्टावली के कथन पर आपत्ति न करके ब्रह्मस्वामी का प्रपौत्र शिष्य स्वीकार किया है और समन्तभद्र तथा सामन्तभद्र को एक भी बन-लाया है क्या प्रपितामह (पड़नाबा) और प्रपौत्र (पड़पोता) भी एक हो सकते हैं? अथवा क्या प्रपौत्र की भविष्यवाणी पर ही प्रपितामह ने दक्षिण देश को विहार किया था? इस पर प्रोफेसर सा० ने शायद ध्यान नहीं दिया। अस्तु, यदि ब्रह्म स्वामी भद्रबाहु द्वितीय और समन्तभद्र से भिन्न हैं और स्वामी पद का प्रयोग पात्रकेशरी जैसे दूसरे आचार्यों के लिये भी होता रहा है तो स्वामी उपाधि का 'एतन्ततः समन्तभद्र के लिये ही' प्रयुक्त होना अव्यभिचारित तथा अभिमत नहीं कहा जा सकता और इस लिये 'स्वामी' उपाधि के आधार पर भद्रबाहु द्वितीय समन्तभद्र को एक सिद्ध नहीं किया जा सकता। इस प्रकार से सिद्धि का प्रयत्न बहुत कुछ आपत्ति के योग्य है।

इसमें सन्देह नहीं कि एक नाम के अनेक व्यक्ति

भी सम्भव हैं और अनेक नामों वाला एक व्यक्ति भी हो सकता है। इसी दुनियावद पर समन्तभद्र के भी अनेक नाम हो सकते हैं और समन्तभद्र नाम के अनेक व्यक्ति भी सम्भव हैं। परन्तु यहां प्रस्तुत विचार यह है कि आप्तमीमांसाकार स्वामी समन्तभद्र और दश नियुक्तियों के कर्ता भद्रबाहु द्वितीय क्या अभिन्न हैं—एक ही व्यक्ति हैं ? इसका ठीक निर्णय हम जितना अधिक इन दोनों ही आचार्यों के साहित्य का आख्यन्तर परीक्षण द्वारा कर सकते हैं उतना दूसरे भिन्न-कालीन उल्लेख वाक्यों, वाक्य-साधनों अथवा घटनाओं की कल्पना पर न नहीं कर सकते। इसी को न्यायाचार्य पं० महेन्द्रकुमार जो के शब्दों में यह कह सकते हैं कि—“दूसरे समकालीन लेखकों के द्वारा लिखी गई विश्वस्त सामर्थ्य के अभाव में ग्रन्थों के आन्तरिक परीक्षण को अधिक महत्व देना न्याय के अधिक निकट पहुँचनेका प्रयास मात्र है। आन्तरिक परीक्षण के सिद्धांत अन्य वाक्य साधनों का उपयोग तो स्वीचनान करके दोनों और किया जा सकता है तथा लोग करते भी हैं।”*

अतः इस निर्णयके लिये भद्रबाहु द्वितीय की नियुक्तियों और स्वामी समन्तभद्र की आप्तमीमांसादि कृतियों का अन्तःपरीक्षण होना आवश्यक है। समन्तभद्र की कृतियों में प्रोफेसर साहब रत्नकरराव भावकाचार भी नहीं मानते परन्तु मुस्तार भी पं० जुगलकिशोर जी के पत्र के उत्तर में उन्होंने आप्तमीमांसा के साथ युक्त्यनुशासन और स्वयम्भू—स्तोत्र को भी समन्तभद्रकी कृतिरूप से स्वीकार कर लिया है। ऐसी हालत में समन्तभद्र के इन तीनों ग्रन्थों के साथ

नियुक्तियों का अन्तःपरीक्षण करके मैंने जो कुछ अनुसंधान एवं निर्णय किया है उसे मैं यहां पाठकों के सामने रखता हूँ, जिससे पाठक और मान्य प्रो० साहब इन दोनों आचार्यों का अपना अपना स्वतन्त्र व्यक्तित्व और विभिन्न समयव्यक्तित्व सहज में ही ज्ञान सकेंगे कि दोनों ही आचार्यो भिन्न भिन्न परम्पराओंमें हुये हैं :—

(१) नियुक्तिकार भद्रबाहु केवली भगवान के केवलज्ञान और केवलदर्शन का युगपत्—एक साथ सह भाव नहीं मानते—कहते हैं कि केवली के केवलदर्शन होने पर केवलज्ञान और केवलज्ञान होने पर केवलदर्शन नहीं होता, क्योंकि दो उपयोग एक साथ नहीं बनते। जैसा कि उनकी आवश्यक नियुक्ति की निम्न गाथा (नं० ६७६) से स्पष्ट है—

न एभि र्संगमि अ इत्तो एगयरयमि उवजुता ।

सञ्जाम केवलिस्ता* जुगध दो नित्थि उवभोगा ॥

इसमें कहा गया है कि ‘सभी केवलियों के चाहे वे तीव्रकर केवली हों या सामान्य केवली आदि, — ज्ञान और दर्शन में कोई एक ही उपयोग एक ही समय में होता है। दो उपयोग एक साथ नहीं होते।’

आवश्यक नियुक्ति की यथा प्रकरण और यथा

* भद्रबाहुकृत दश नियुक्तियों प्रसिद्ध हैं और ये श्वेताम्बर परम्परा में प्रसिद्ध आचारांग सूत्र, उत्तराध्ययन सूत्र, आवश्यक सूत्र आदि आगम-सूत्रों पर लिखी गई हैं। उनमें सेः सूर्यप्रकृति नियुक्ति और श्रुतिभाषित नियुक्ति अनुपलब्ध है। ओष नियुक्ति और संसक्त नियुक्ति वीर-सवामन्दिर में नहीं है। बाकी ६ नियुक्तियों का ही अन्तःपरीक्षण किया गया है।

स्थानपर स्थित यह गाथा ऐतिहासिक दृष्टि से बड़े महत्व की है। और किसी ही उल्लेखों को मूल-ग्रन्थी है। इसमें तीन बातें प्रकाश में आती हैं— एक तो यह कि भट्टबाहु द्वितीय केवली को ज्ञान और दर्शन उपयोग में ले किसी एक में ही एक समय में उपयुक्त बतला कर क्रमपक्ष का सर्व प्रथम समर्थन एवं प्रस्थापन करते हैं। और इस लिये वे ही क्रम-पक्ष के प्रस्थापक+ एवं प्रधान पुरस्कर्ता+ हैं। दूसरी बात यह कि भट्टबाहु के पहिले एक ही मान्यता थी और वह प्रधानतया युगपनपक्ष की मान्यता थी जो दिगम्बर परम्परा के भूतबली, कुन्दकुन्द आदि प्राचीन आचार्यों के बाह्यसमय और श्वे० भगवतीमृत [५-४] तथा तत्त्वाध्याय [१-३१] में उपलब्ध है और जिस का कि जन्होंने (भट्टबाहु ने) इसी गाथाके उत्तरार्ध में 'जुगबं दो नत्थि उवओगा' कहकर खंडन किया है। और तीसरी बात यह कि नियुक्तिकार भट्ट-बाहु के पहिले या उनके समय में केवली के उपयोग-द्वय का अभेदपक्ष नहीं था। अन्यथा क्रमपक्ष के समर्थन एवं स्थापन और युगपनपक्ष के खंडनके साथ ही साथ अभेदपक्ष का भी वे अवश्य खण्डन करते।

+ यदि प्रज्ञापनामृत पद ३० मू० १३४ का क्रमपक्ष परक माना जाये तो सूत्रकार क्रमपक्ष के प्रस्था-पक और नियुक्तिकार भट्टबाहु उसके सर्वप्रथम समर्थक माने जायेंगे।

+ आ० हरिभद्र, अभयदेव और उपाध्याय यशो-विजय ने क्रमपक्ष का पुरस्कर्ता जिनभद्र गणेश समाभरण को बतलाया है, पर जिनभद्र गणेश जब स्वयं 'अरण्ये' कहकर क्रमपक्ष के मानने वाले अपने किसी पूर्ववर्ती का उल्लेख करते हैं, (देखो विशेषणवती गाथा १८४) तब वे त्रयं क्रमपक्षके पुरस्कर्ता कैसे हो सकते हैं ?

अतः अभेदपक्ष उनके पीछे प्रस्थापित हुआ फलित होता है और जिसके प्रस्थापक सिद्धसेन दिवाकर हुए जान पड़ते हैं। यही कारण है कि सिद्धसेन क्रमपक्ष और युगपनपक्ष दोनों का सम्मति मूत्र में जोरों से खण्डन करते हैं और अभेदवाद को प्रस्थापित करते हैं।+ हमारे इस कथन में जिनभद्रगणेश समाभरण की विशेषणवतीगत वे दोनों गाथायें* भी सहायक होती हैं, जिनमें 'केई' शब्द के द्वारा सर्वप्रथम युग-पनपक्ष का और 'अरण्ये' शब्द के द्वारा पश्चान क्रम-पक्ष और अन्त में दूसरे 'अरण्ये' शब्द से अभिप्राय का उल्लेख किया है, जो उपयोगवाद के विकासक्रम को ला देता है और उमाश्वाति, नियुक्तिकार भट्ट-बाहु तथा सिद्धसेन दिवाकर के समय का भी ठीक निर्णय करने में खास सहायता करता है।

यहां एक बात और खास ध्यान देने योग्य है और यह यह कि दिगम्बर परम्परामें अकलंकके पहिले किसी दिगम्बर आचार्य ने क्रमपक्ष या अभेदपक्ष का खण्डन नहीं किया। केवल युगपनपक्षका ही निर्देश किया है।* पुत्रपाद के बाद अकलंक ही एक ऐसे हुए हैं जिन्होंने इतर पक्षों क्रमपक्ष और अभेदपक्ष

+ देखो, सम्मतिमृत ८-४ में ८-३१ तक

* केई भण्ति जुगबं जाणइ पामइ व केवली शियमा अरण्ये एणंतरियं इच्छंति सञ्चोपमंगं ॥
अरण्ये ए चैव धीमुं दंसुणमिच्छंति जिणवरिदम्म जं चि य केवललःणं तं चि य स दंसिणं विंति ॥

— विशेषणवती, १८४, १८५

* इस बात को श्वेताम्बरीय विज्ञान भट्टेय पहिले मुखलाल जी भी स्वीकार करते हैं। देखो, ज्ञानविन्दु प्रस्ता० पृ० ५५

+ देखो, प्रष्टशती का० १०१ की वृत्ति और राज० ६-१३ =

५ देखो, राजवर्णिक ६-४-१४, १५, १६

का स्पष्टतया स्मरण किया और युगपन्नपक्ष का सपुष्टिक समर्थन किया है ।+ इससे यह फलित होता है कि पूज्यपाद के बाद और अकलंक के पहले कमल और अभेदपक्ष पैदा हुये तथा नियुक्तिकार भद्रबाहु और जिन भद्रगणि क्षमाश्रमण तथा अकलंक का मध्यकाल अभेदपक्ष के स्थापन और इसके प्रतिष्ठाता (मिथुसेन) का होना चाहिये ।x इसका स्पष्ट खुलासा इस प्रकार है—

रवेनाम्बर परम्परा में केवली के केवलज्ञान और केवल दर्शनोपयोग के सम्बन्ध में तीन पक्ष हैं—क्रम पक्ष =-युगपन्नपक्ष और तीसरा अभेदपक्ष । कुछ आचार्य ऐसे हैं जो केवली के ज्ञान और योगोपयोग को क्रमिक मानते हैं और कुछ आचार्य ऐसे हैं जो दोनों को योगपक्ष मानते हैं तथा कुछ आचार्य ऐसे हैं जो दोनों को अन्तर्गत—एक मानते हैं ।* किन्तु दिगम्बर सम्प्रदाय में केवल एक ही पक्ष है और वह है योगपक्ष का ।

आचार्य भूतवर्ती के पदग्रहण डायम में लेकर अब तक के उपलब्ध सम्मन दिगम्बर शास्त्रों में योगपक्ष पक्ष ही एक स्वर में स्वीकार किया गया है ।† प्रत्युत

+ देखा, राजधानिक ६-७-१८

x अद्वैत पं० मुखलात जी ने जो 'मिथुसेन' में जो पहले अभेदपक्ष की सम्भावना की है (ज्ञानविन्दु प्र० पृ० ६०) वह विचारणीय है; क्योंकि उसमें किनारा ही आनन्दता उद्भवित होती है ।

* देखा, मिथुने फुटनोट में उल्लिखित विशेषण केवली की १८४, १८५ नम्बर की गाथा ।

† यथा—

क-सर्व भयं चरणगुणगुणविविधं स-सर्वभूतोप-
सर्वज्ञां च सर्वभागे सर्वं समं जागृदि पम्सदि”

—पदसूचिका० पद्यविभाग ८० ७८

अकलंकदेव ने तो कमपक्षx और अभेदपक्ष+ का स्मरण भी किया है और युगपन्नपक्ष को मान्य रखा है । इतना ही नहीं किन्तु कमपक्ष मानने वालों को केवल्यवर्णवादी तक कहा है ।*

इतना प्रासङ्गिक कहने के बाद अब मैं नियुक्ति-कार भद्रबाहु की उपयुक्त गाथासे विरोध प्रकट करने वाले सम्मनभद्र के आश्रमीमांसा और स्वयंभूतोन्नत उन वाक्यों को रचना में जिनमें केवली के ज्ञान और दर्शन उपयोग के योगपक्ष का कथन किया है—

‘तत्त्वज्ञानं प्रमाणं ते युगपत्सर्वभासनम् ।

—आप्तमो० का० १०१

नाम युगपदस्थितं च सदा,

स्वामिं तलामलकवृद्धिबेदिष ।

—स्वयंभूतोन्न १२६

स्व युगवं वदतु गाथा केवलगाथासम्बन्ध में च तथा दिगम्बरपयासनापं जह वदतु तह मुणयवत्तं ॥

—मुनिपुं०, श्रुत्यम० गा० १५६

ग-पम्सदि जागृदि यतहा निर्गमविकाले सपञ्जए सद्धे तह वा लोमसमेन पम्सदि भयं च दिगत मोहो ॥
भावे समविमयस्थं मूर्खो जुगवं जहा पयासेइ ।
मद्वं चित्ता जुगवं केवलगुणं पयासेइ ॥

—निवायं, भगवन्नाआराध० गा० २१४१ २१४२
च-माकारं ज्ञानमनाकारं दर्शनमिति । तत्तु ज्ञाप्यं पुरु-
क्रमेण वर्तते । निराकरणेषु युगपत् । सर्वार्थ-
सिद्धि १ ६ ‘ज्ञानं पश्यन् समस्तं सममनुपरतं’

—पूज्यपाद, सिद्धम० ४

क-‘आवरणात्यन्तसंक्षये केवजिनि युगपत्केवल-
ज्ञानदर्शनोः साहचर्यं । आरुहरे प्रतापमकरा-
साहचर्येवम् ।’

—तत्त्वार्थराजवा० ६-४-१२

सन्वेऽपि एगदूसेण शिमावा जिएवरा चउवीसं ।
न च नम अएणलिंगे नो गिहिलिंगे कुलिंगं वा ॥

—आवरय० नि० गा० २२७

इस गाथा में बतलाया गया है कि 'सभी ऋषभ
आदि महावीर पर्यन्त चौबीसों तीर्थकर एक दूय-
एक बख के साथ दीक्षित हुये ।'

यहां भद्रबाहु तीर्थकरोंको भी एक बखरूप उपधि+
रखने का उल्लेख करते हैं, अन्य साधुओं की तो
बात ही क्या । पर इसके विपरीत समन्तभद्र क्या
कहते हैं, इसे भी पाठक देखें :—

अहिंसा भूतानां जगत् विदितं ब्रह्म परमं-
न सा तत्रारम्भोऽस्त्यशुरपि च यत्राभमविधौ ।
ततस्तस्मिन् यथं परमकरणं ग्रन्थमुभयम्-
भवानेवात्माकांक्ष च विकृतबेवोपधिरतः ॥

—स्वयंभू तोत्र ११६

यहां कहा गया है कि 'हे नर्मजिन ! प्राणियों
की अहिंसा—उन्हें घात नहीं करना प्रत्युत उनकी रक्षा
करना लोकविदित परमब्रह्म है—अहिंसा सर्वात्कृष्ट
आत्मा-परमात्मा है, वह अहिंसा उस साधुवर्ग में
कदापि नहीं बन सकती है जहां अणुमात्र भी आरंभ
है । इसी लिये हे परम कारुणिक ! आपने उस
परम ब्रह्मस्वरूप अहिंसा की सिद्धि के लिये उभय

+ यहां आ० हरिभद्र की टीका दृष्टव्य है—“सर्वे
ऽपि एक दूयेण एकबखेण निर्गताः जिनवरारच-
तुर्विशतिः, + + किं पुनः तन्मतानुसारिणो न
सोपधयः ? ततश्च य उपधिरासंक्षितो भगव-
द्भिः स साक्षादेवांक्षः, य पुनर्विनयेभ्यः स्वविर-
कल्पिकादिभेदभिन्नेभ्योऽनुक्तावः स कलु अपि-
राश्यान् ज्ञेय इति ।’

—आवर० नि० गा० २२७

प्रकार के ग्रन्थ का—परिमह का—साग किया और
विकृत वेप-अस्त्राभाषिक वेप (भस्माच्छादनादि रूप
में) तथा उपधि—ब्रह्ममें या आभरणादि में आसक्त
नहीं हुए ।’

जहां भद्रबाहु नियुक्ति में तीर्थकरों के उभय
परिमह को छोड़ देने पर भी उनके पीछे एक बख
रखने का सुस्पष्ट विधान करते हैं वहां समन्तभद्र
उभय परिमह के छोड़ देने और अणुमात्र भी आरंभ
का काम न रखने की व्यवस्था करते हैं । साथ ही
नग्नवेप के विकृत बख्सादि धारण को विकृतवेप और
उपधि× का धारण बतलाकर उसका निषेध करते हैं
और उनकी यह मान्यता स्वयंभू तोत्र के ही निम्न
वाक्य में और भी स्पष्ट हो जाती है :—

वपुर्भूपावेपव्यवधिरहितं शान्तिं (शांत) करणं-
यतस्ते संघटे श्मरशरविषातंकविजयम् ।

विना भीमैः शकैरव्यहृदयामर्षविलयं-

ततस्त्वं निर्माहः शरणमसि न शांतिनिष्पन्नः ॥१२०

इसमें नर्मजिन की स्तुति करते हुए बतलाया है
कि 'हे भगवन् ! आपका शरीर भूषा-जाभूषण;
वेप भस्माच्छादनादि लिङ्ग और व्यवधि-बख से रहित
है और वह इस बात का सूचक है कि आपकी कमल
इन्द्रियां शांत हो चुकी हैं जबकि इसी लिये वह शांति
का कर्ता है—लोग आपके इस स्वाभाविक शरीर के

× भद्रबाहु को भी 'उपधि' का अर्थ बख विवक्षित
है । यथा—‘अप्परेणिय वासं सत्त्वं उवहि
धुवंति जयणाए’ ।

पिंडनि० २६

‘पसे घोबण कसे उवहि बीसामए साहु’ पिंडनि० १८
‘वासासु अबोवये दोसा’

पिंडनि० २५

यथाज्ञात नमस्कृत्य को देखकर न तो वामनामय राग-भाव को प्राप्त होते हैं और न आपके शरीर पर आभूषणों के अभाव को देखकर द्विष्ट, लुब्धिम आदि का निमित्त ही होते हैं। क्योंकि द्वेष लोभादि के कारणभूत आभरणग्राहि हैं। अतः वे आपके इस निर्मम आहंकरादि विहीन शरीर को देखकर आपके 'वीतरागमय' शांति को प्राप्त करते हैं। और आप का यह ब्रह्मादिहीन शरीर कठोर अस्म-शब्दों के बिना ही कामदेव पर किये गये पूर्ण विजय को और निर्दोषी क्रोध के अभाव को भी भले प्रकार प्रकट करता है।'

यहां 'बभूवृषावेक्यविरहितं' और 'स्मरशर-विपातकविजय' ये दो पद खास तौर से ध्यान देने योग्य हैं, जो बतलाते हैं कि जिनेन्द्र का ब्रह्मादि से अनादिकादित अर्थान्तर नभ शरीर है और वह काम-देवपर किये गये विजय को घोषित करता है। अनमन शरीर से कामदेव पर प्राप्त विजय प्रायः प्रकट नहीं हो सकती—वहां विकार (लिङ्गस्पन्दनादि) द्विषा हुआ रह सकता है और विकार हेतु मिलनेपर उसमें विकृति (प्रत्यक्षजन) पैदा होने की पूरी सम्भावना है। सुनांचे भूयादिहीन जिनेन्द्र का शरीर इस बात का प्रतीक है कि वहां कामरूप मोह नहीं रहा। इसी लिये समन्तभद्र ने 'तत्तत्त्वं निर्माहः' शब्दों के द्वारा जिनेन्द्र को 'निर्माह' कहा है। ऐसी हालत में यह स्पष्ट है कि समन्तभद्र जिनेन्द्रों को ब्रह्मादि रहित बतलाते हैं और भद्रबाहु उनके एक बल के रखने का उल्लेख करते हैं, जो श्वेताम्बरीय आचारांग आदि सूत्रों के अनुकूल है। इतना ही नहीं पिंडनियुक्ति में 'परसंय' और 'धोवणं चैव' (गा० २५) बल प्रकाशन का विधान, उसके वर्ण-

काल को झोड़कर शेषकाल में धोने के दोष और 'वामामु अधोवणे दोसा' (पि० नि० २५) शब्दों द्वारा अग्रजानन में दोष भी बतलाते हैं। क्या यह भी समन्तभद्र को विवक्षित है? यदि हां, तो उन्होंने ने जो यह प्रतिपादन किया है कि 'जिस साधुवर्ग में अल्प भी आरम्भ होगा वहां अहिंसा का कदापि पूर्ण पालन निर्बाध नहीं हो सकता—अहिंसा रूप परम ब्रह्म की सिद्धि नहीं हो सकती है' (न सा तत्रारम्भोऽस्त्यणुरपि च यत्राभय—विधां) तब इसके क्या मायने हैं? क्या उनके उक्त कथन का कुछ भी महत्व नहीं है—और उनके 'अणु' 'अति' शब्दों का प्रयोग क्या यों ही है किन्तु ऐसा नहीं है, इस बातकी उनकी प्रकृति और प्रवृत्ति स्पष्ट बतलाती है। अन्यथा 'तत्तत्तन्मिदं यथं परमकलां प्रथमुच्यते' यह न कहने इस मान्यता भेद में भी समन्तभद्र और भद्रबाहु एक नहीं हो सकते। वे वास्तव में निम्न निम्न व्यक्ति हैं और जुड़ी जुड़ी दो परम्पराओं में हुए हैं।

(२) भद्रबाहु ने सूत्रकृताङ्ग नियुक्ति में स्तुति निवेदन के चार भेद पर के आगन्तुक (ऊपर से परिचरित) आभूषणों के द्वारा जिनेन्द्र की स्तुति करने को द्रव्यस्तुति कहा है।

धुङ्गणिकम्बेवा चउता आगंतुअभूषणोहि दवधुई ।

भावे संताण गुणाण कित्ता जे जदि भगिया ॥

मृत्त० नि० गा० २४

यहां तीर्थकरदेव के शरीर पर आभूषणों का विधान किया है और कहा गया है कि जो आगन्तुक भूषणों से स्तुति की जाती है वह द्रव्यस्तुति है और विद्यमान कथायोग्य गुणों का कानन करना भाव-स्तुति है। लेकिन समन्तभद्र स्वयं स्वयं ने इससे विच्छेद ही करते हैं और तीर्थकर के शरीर की आभूषण

बेष और उपधि रहित रूप से ही स्तुति करते हैं जैसा कि पूर्वोल्लिखित 'अधुभूषावेकमयवधिरहित' वाक्य में स्पष्ट है। इसी स्वयंभू स्तोत्र में एक दूसरी जगह भी तीर्थङ्करों की आभूषादि रहित रूप से ही स्तुति की गई है और उनके रूप को भूषणादि-हीन प्रवट किया है—

भूषावेपायुषत्यागि विषादमदयापरम ।

रुममेव तवाचट्टे धीर दोषविनिग्रहम् ॥६४॥

इसमें बतलाया है कि 'दोषों' आभूषणों, वेपों तथा आयुषों-अलंकारों से रहित और आभ्यन्तर में विद्या तथा इन्द्रिय निग्रह में तत्पर आपका रूप ही आपके निर्दोषपने को उद्दिष्ट करता है—जो बाह्य में भूषणों वेपों और आयुषों से सहित हैं और आभ्यन्तर में ज्ञान तथा इन्द्रिय निग्रह में तत्पर नहीं हैं वे अवश्य सशेष हैं।'

यहां समन्तभद्र शरीर पर के भूषणादि को स्पष्टतया दोष बतला रहे हैं और उनसे विरहित शरीरको ही 'दोषों का विनिग्रहकर्ता' दोष-विजयी (निर्दोष) ठहराते हैं, अन्यथा नहीं। लेकिन भद्रबाहु अपनी परम्परानुसार भूषणों के द्वारा उनकी स्तुति करना बतलाते हैं और उनके शरीर पर भूषणों का सङ्काव मानते हैं। यह मतमेव भी नियुक्तिहार भद्रबाहु और स्वयंभू स्तोत्र के कर्ता स्वामी समन्तभद्र के एक व्यक्ति होने में बाधक है।

(४) भद्रबाहु मुनिको 'कंबल' रूप उपधि का दान करने का विधान करते हैं और उससे उसी भव से मोक्ष जानें का उल्लेख करते हैं :—

विरुद्धं तैगण्ड्यमुचो कंबलगं चंदणं च दायिष्यमो ।
दातुं अभिषिष्यकं तो तेषां भवेण चंगमो ॥

—आवश्यक नि० गा० १०४

अब कि समन्तभद्र मुनि को उभय मन्त्र का त्यागी होना अनिवार्य और आवश्यक बतलाते हैं उस के बिना 'समाधि'—आत्मध्यान नहीं बन सकता है। क्योंकि पास में कोई मंत्र होगा तो उसके शंरक्षणादि में चित्त लगा रहने से आत्मध्यान की ओर मनोयोग नहीं हो सकता। इसी लिये वे कहते हैं कि—

'समाधितन्त्रस्तदुपोपपत्तये

द्वयेन नैर्मध्यगुणेन वायुजत् ।'

—स्वयंभू० १६

अर्थात्—हे जिनेन्द्र ! आप आत्मध्यान में लीन हैं और उस आत्मध्यान की प्राप्ति के लिये ही माद्य और आभ्यन्तर दोनों निमग्नता गुणों से युक्त हुए हैं।

(५) नियुक्तिहार भद्रबाहु कहते हैं कि केवली तीर्थङ्कर को प्रणाम करते हैं और तीन प्रदक्षिणा देते हैं :—

कंबलियो तिअण जिया तित्थपय्यामं च मग्गमो तस्स

—आवश्यक० नि० गा० ५५६

नियुक्तिहार के सामने जब प्रश्न आया कि केवली तो कृतकृत्य हो चुके वे क्यों तीर्थङ्कर को प्रणाम और प्रदक्षिणा देंगे ? तो वे इस प्रश्न का समाधान करते हुए कहते हैं :—

तत्पुत्रिया अरहया पृथक्पूवा व दियिष्यकम्मं च ।

कयकिमो वि जह कइ कइए एमए तहा तित्थं ॥

—आवश्यक० नि० गा० ५५०

लोकज समन्तभद्र ऐसा नहीं कहते। वे कहते हैं कि जो हितवी हैं—अपना हित चाहते हैं, अभी जिन का पूरा हित सम्पन्न नहीं हुआ है और इस लिये जो अकृतकृत्य हैं वे ही तीर्थङ्कर की स्तुति, चंदना प्रणाम आदि करते हैं।

(१) 'भवन्तमायाः प्रख्याता द्विविधिणः । स्वयं० ६५

(२) 'सुखं सुखन्ति सुखिणः । वह्नितृकानाः ।'

स्वयं० ८५

(३) 'स्वार्थानयनमनः सुधियः प्रणमन्ति

मंत्रमुखरा महर्षयः ।' स्वयं० १२४

ऐसी दशा में समन्तभद्र और भद्रबाहु दोनों एक नहीं हो सकते ।

(६) भद्रबाहु वर्तमान तीर्थह्वर के तपः कर्म (नप-
क्षया) को तो सोपसर्ग प्रकट करने हैं किन्तु
शेष तीर्थह्वरों के, जिनमें पारबेनाथ भी है, तपः कर्म
को निरूपसर्ग ही बतलाने हैं—

एवमेति तथोक्तम् निदशसमां तु दक्षिण्य त्रिणाणं ।

नवर्षं तु बहमाणस सोदसमां मुण्येयम् ॥

—आचारारं० नि० गा० २७६

श्वेताम्बर मान्यता है* कि भगवान महावीर
कुण्डग्राम में निकलकर जब दिन आसत होते कर्मार-
ग्राम पहुँचे तो वहाँ उनपर बड़े भयानक और बीभ-
त्स उपद्रव एवं उरसर्ग किये गये । आगमसूत्रोंमें+
भगवान महावीर पर हुये इन उपसर्गों का बहुत भया-
नक चित्र खीचा गया है क्या तिर्यञ्च क्या मनुष्य
और क्या देवदानव सबने उनपर मदान उपसर्ग
किये । बारह वर्ष ब्रह्म महीने और १५ दिन तक इन

* तथा च कुण्डग्राममुद्गतरा रिवस कनारः—
मवाप, तत्र च भगवानि स आरभ्य नानाविधा-
भिप्रक्षेपेण घोरान् परोक्षोपसर्गानरिसहमानो
महासत्तत्तया भजेत्तानन्तुपशमं नवर्षादशरर्षाणि
साधिकाणि ब्रह्मभ्यो मौनव्रतो तपश्चकार ।'

—शीलांघ्रपाचंदीका पृ० २७३

+ देखो, आचारारंग सूत्र पृ० २७३ से २८३, सूत्र
४६ से ६३ तक ।

उरसर्गों को मरने रहे, फिर उन्हें केवलज्ञान हुआ ।

भगवान महावीर के उपसर्गों का इतना बीभत्स
दर्शन करने हुए भी भगवान पारबेनाथ के उपसर्गों
का सूत्रों में या नियुक्ति में कोई उल्लेख तक नहीं
है । जब कि समन्तभद्र इसमें बिकट ही वर्णन करते
हैं । वे स्वयंभूतोत्र में पारबेनाथ के उन भयंकर
उपसर्गों का स्पष्ट और विस्तृत विवेचन करते हैं जो
दिगम्बर परम्परा के साहित्य में बहुलतया उल्लेख
हैं* यहां तक कि भ० पारबेनाथ की कथाविशिष्ट
प्रतिमा भी उसी का प्रतीक है, किन्तु भगवान महा-
वीर के स्तवन में उन उपसर्गों का जिनका श्वेताम्बरों
आगम सूत्रों में विस्तृत दर्शन है और नियुक्ति में
जिनका सुस्पष्ट विधान एवं समर्थन भी है, कोई
उल्लेख तक नहीं करते हैं । स्वयंभूतोत्र के उन
श्लोकों को नीचे प्रकट किया जाता है जिसमें भ०
पारबेनाथ के भयानक उपसर्गों का स्पष्ट चित्रण किया
गया है और इस लिये समन्तभद्र ने उनके ही तपः
कर्म को सोपसर्ग बताया है, वर्तमान के नहीं—

तमाज्जनालेः सधनुल्लिङ्गिणः

प्रकीर्णमीमाशनिवयुष्टिभिः ।

बलादकंदैरिदशैरुपद्रवो मश-

मना यो न चचाल योगतः ॥

पुष्टकणमण्डलमण्डपेन यं

मुरतटिर्गङ्गद्वयोःसर्गिणाम् ।

* प्रसिद्ध धवल-टीकाकार धीरसनाचार्य भी भ०
पारबेनाथ का मंगल-भिवादन सरलोपसर्ग-
चित्रयी रूप से करते हैं—

सरलोपसर्गणिबद्धा संवरणे शेष जस्य पिद्वन्ति ।

कासस्स तस्स एमिडं कासणियोधं पुरुवेमो ॥

—धवल, कासाखियोगद्वार०

जुगह नागो धरणी धराधरं

विरागसन्ध्यातद्विष्णुबो यथा ॥

स्वयोगिनिम्बि निरातधारया

निशात्य यो दुर्जयमोहविषमम् ।

अवापहार्हन्त्यमचिन्त्यमद्भुतं

त्रिलोकपूजातिशयास्पदं पद्मम् ॥

—स्वयंभू० १३१ से १३३ तक

पाठक देखिये, समन्तभद्र ने भ० पार्श्वनाथ के ऊपर अपने पूर्वज के बैरी वमठ के जीव के द्वारा किये गये उपसर्गों का कितने भद्दा कहर में वर्णन किया है, जिनका कि भद्रबाहु ने अपनी नियुक्ति में नामोल्लेख तक भी नहीं किया, प्रत्युत पार्श्वनाथ के तपः कर्म (तपश्चर्या) को निरुपसर्ग ही बतलाया है यदि नियुक्तिकार भद्रबाहु और स्वामी समन्तभद्र एक होते तो ऐसा स्पष्ट विरुद्ध कान उनकी लेखनी में कदापि प्रमत्त न होता । इतने सखे विरुद्ध कथनों की मौजूदगी में यह बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है कि समन्तभद्र और भद्रबाहु एक नहीं हैं, दो व्यक्ति हैं और वे क्रमशः दिगम्बर श्वेताम्बर दो विभिन्न परम्पराओं में हुए हैं ।

मैं समझता हूँ नियुक्तिकार भद्रबाहु और स्वा० समन्तभद्र को पृथक् पृथक् व्यक्ति भिन्न करने के लिये उपर्युक्त श्लोक में प्रमाण पथान्त हैं । जरूरत होने पर और भी प्रामुत किये जा सकेंगे ।

समन्तभद्र और भद्रबाहु को पृथक् सिद्ध करने के बाद अब मैं इनके भिन्न समय-वर्तित्व के सम्बन्ध में भी कुछ कह देना चाहता हूँ ।

समन्तभद्र, दिगम्बर (३४५-४०५ A. D.) और पुष्यपाद (४४०- A. D.) के पूर्ववर्ती हैं* यह

* देखो, 'समन्तभद्र और दिग्गंगा में पूर्ववर्ती कान' शीर्षक लेख 'अनेकाल' वर्ष ५ क्रियण १२ ।

निर्विवाद है । दौष्टतार्किक नागार्जुन (१८१ A.D.+) के साहित्य के साथ समन्तभद्र के साहित्य का अन्तः-परीक्षण करने पर यह मालूम होता है कि समन्तभद्र पर नागार्जुन का ताजा प्रभाव है इस लिये वे नागार्जुन के समकालीन या कुछ ही समय बाद के ही विद्वान हैं । अतः समन्तभद्र के समय की उत्तराव-बधि तो दिग्माग का समय है और पूर्ववर्ति नागार्जुन का समय है । अर्थात् समन्तभद्र का समय दूसरी तीसरी शताब्दी है जैसा कि जैनसमाज की आम मान्यता है । और प्रोफेसर साहू भी इसे स्वीकार करते हैं । अतः समन्तभद्र के समय सम्बन्ध में इस समय और अधिक विचार करने की जरूरत नहीं है ।

अब नियुक्तिकार भद्रबाहु के समय-सम्बन्ध में विचार कर लेना चाहिये । स्व० श्वेताम्बर मुनि विद्वान श्री चतुरध्विजय जी ने 'श्री भद्रबाहु स्वामी' शीर्षक अपने एक महत्व एवं खोजपूर्ण लेख में* अनेक प्रमाणों द्वारा यह सिद्ध किया है कि 'नियुक्तिकार भद्रबाहु' विक्रम की छठी शताब्दी में हो गये हैं वे जाति में ब्राह्मण थे, प्रसिद्ध उद्योतिपी चराहमिहर इनका भाई था x x x नियुक्तियाँ आदि सर्व कृतियाँ

+ देखो, तत्त्वसंग्रह की भूमिका LXVIII, भाव-न्याय में २५० A. D. दिया है ।

x अप्रकाशित 'नागार्जुन और समन्तभद्र' शीर्षक मेरा लेख ।

‡ देखो, स्वामी समन्तभद्र

* मूल लेख गुजराती भाषामें है और वह 'आत्मानन्द जन्म—शताब्दी ग्रन्थ में' प्रकट हुआ था । और हिन्दी अनुबाधित होकर 'अनेकाल' वर्ष ३ क्रियण १२ में प्रकाशित हुआ है ।

इनके दुष्टदैव से उत्पन्न हुई हैं × × × बराहमिह्र का समय ईसा की छठी शताब्दी (५०५ से ५८९ A. D. तक) है। इससे भद्रबाहु का समय भी छठी शताब्दी निर्दिष्ट होना है।

मैं पहिले यह कह आया हूँ कि भद्रबाहुने केवली के उपयोग के क्रमवाद का प्रस्थापन किया है और युगपतवाद का स्वरूपन किया है। ईसा की पांचवीं आर द्वादशवीं शताब्दी के विद्वान आचार्य पृथ्वीपाद ने अपनी लक्ष्यसिद्धि में (१-६) युगपतवाद का समर्थन मात्र किया है पर क्रमवाद के सम्बंध में कुछ भी नहीं लिखा। यदि क्रमवाद इनके पहिले प्रचलित हो चुका होता तो वे इसका अदृश्य आलोचन करते। जैसा कि पृथ्वीपादके उत्तरवर्ती अकलंक देश ने क्रमवाद का स्वरूपन किया है और युगपतवाद का ही समर्थन किया है। इससे भी मालूम होता है कि नियुक्तिवाद ईसा की पांचवीं शताब्दी के बाद के विद्वान हैं। उधर नियुक्तिवाद ने सिद्धसेन के अभेदवाद की कोई आलोचना नहीं की सिर्फ युगपत

वाद का ही स्वरूपन किया है। इस लिये इनकी उत्तरावधि सिद्धसेन का समय है अर्थात् सातवीं शताब्दी है। इस तरह नियुक्तिवाद का वह समय प्रामाण्य होता है जो भी मुनि चतुरविजय जी ने बताया है। अर्थात् छठी शताब्दी इनका समय है। ऐसी हालत में नियुक्तिवाद भद्रबाहु उपर्युक्त आपत्तियों के रहने हुए दूसरी बीसवीं शताब्दी के विद्वान स्वामी सनन्तभद्र के समकालीन कदापि नहीं हो सकते। समन्तभद्र के साथ उनके एक व्यक्तित्व की बात तो बहुत दूर की है। और इस लिये प्रोफेसर साहब ने बीर निर्वाण से ६०६ वर्ष के पर्याप्त निकट में ही अर्थात् दूसरी शताब्दी में नियुक्तिवाद भद्रबाहु के होने की जा कल्पना कर डाली है वह किसी तरह भी ठीक नहीं है। आशा है प्रोफेसर सा० इन सब प्रमाणों की रोशनी में इस विषय पर फिरसे विचार करने की कृपा करेंगे।

(अनेकान्त)



क्या रत्नकर एडम्ब्रा काचार स्वामी समन्तभद्रकी कृति नहीं है ?

(ले०—न्यायाचार्य पं० दरबारीलाल जैन कोठिया)

प्रोफेसर हीरालाल जो जैन एम० एम० ने, 'जैन इतिहास का एक विलुप्त अध्याय' नाम के निबन्ध में कुछ ऐसी बातों को प्रस्तुत किया है जो आपत्तिजनक हैं। उनमें से श्वेताम्बर आगमोंकी दश नियुक्तियों के कर्ता भद्रबाहु द्वितीय और आप्तमीमांसा के कर्ता स्वामी समन्तभद्र को एक ही व्यक्ति बतलाने की बात पर तो मैं पिछले लेख ('अनेकान्त' की गत संयुक्त किरण नं० १० ११) में विस्तृत विचार करके यह स्पष्ट कर आया हूँ कि नियुक्तिकार भद्रबाहु द्वितीय और आप्तमीमांसाकार स्वामी समन्तभद्र एक व्यक्ति नहीं हैं—भिन्न भिन्न व्यक्ति हैं और वे जुदी-दो विभिन्न परम्पराओं (श्वेताम्बर और दिगम्बर सम्प्रदायों) में क्रमशः हुए हैं—स्वामी समन्तभद्र जहाँ दूसरी तीसरी शताब्दी के विद्वान हैं वहाँ नियुक्तिकार भद्रबाहु छठी शताब्दी के विद्वान हैं।

अब मैं प्रोफेसर साहब की एक दूसरी बात को लेता हूँ, जिसमें उन्होंने रत्नकरएड-भावकाचार को आप्तमीमांसाकार स्वामी समन्तभद्र की कृति स्वीकार न करके दूसरे ही समन्तभद्र की कृति बतलाई है और जिन्हें आपने आचार्य कुन्दकुन्द के उपदेशों का समर्थक तथा रत्नमाला के कर्ता शिवकोटि का गुह संभावित किया है। जैसा कि आपके निबन्ध

की निम्न पंक्तियों से प्रकट है।

“रत्नकरएडभावकाचारको उक्त समन्तभद्र प्रथम (स्वामी समन्तभद्र) की ही रचना सिद्ध करनेके लिये जो कुछ प्रमाण प्रस्तुत किये गये हैं उन सब के होते हुए भी मेरा अब यह मत दृढ़ हो गया है कि वह उन्ही ग्रंथकार की रचना कदापि नहीं हो सकती जिन्होंने आप्तमीमांसा लिखी थी, क्योंकि उसमें दोष का जो स्वरूप समझाया गया है वह आप्तमीमांसाकार के अभिप्रायानुसार हो ही नहीं सकता। मैं समझता हूँ कि रत्नकरएड भावकाचार कुन्दकुन्दाचार्य के उपदेशों के परचाग उन्ही के समर्थन में लिखा गया है। इस ग्रंथ का कर्ता शिवकोटि का गुह भी हो सकता है जो आराधना के कर्ता शिवभूति या शिवाय के रचना कदापि नहीं हो सकती।”

यहां मैं यह भी प्रकट कर देना चाहता हूँ कि प्रोफेसर साहब ने आज से कुछ अर्से पहले 'सिद्धांत और उनके अध्ययन का अधिकार' शीर्षक लेख में, जो बाद को धवला की चतुर्थ पुस्तक में भी सम्मिलित किया गया है, रत्नकरएड भावकार को स्वामी समन्त-

+ क्षुत्पिपासाजरातृजन्मान्तकभयश्मयाः ।

न रागद्वेषमोहाश्च यस्याप्तः स प्रकीर्त्यते ॥

—रत्नकरएड० ६

अब कृत स्वीकार किया है और उसे गृहस्थों के लिये सिद्धान्त ग्रन्थके अध्ययन-विषयक नियंत्रण न करने में प्रधान और पुष्ट प्रमाण रूप में प्रस्तुत किया है। यथा—

“आ रत्नकरा का सबसे प्रधान, प्राचीन, उत्तम और सुप्रसिद्ध ग्रन्थ स्वामी समन्तभद्र कृत रत्नकरण्ड भावकाचार है, जिसे वादिराज सूरि ने, ‘अज्ञयसुखा-बह’ और प्रभाचन्द्र ने अखिल ‘सागारधर्म’ की प्रकाशित करने वाला सूर्य’ कहा है। इस ग्रंथ में भावकों के अध्ययन पर कोई नियंत्रण नहीं लगाया गया किन्तु उसके विपरीत.... ।”

—स्रोतपरानं० प्रस्ता० पृ० १२

किन्तु अब मालूम होता है कि प्रोफेसर साहब ने अपनी यह पूर्ण मान्यता छोड़ दी है और इसी लिये रत्नकरण्ड को स्वामी समन्तभद्र की कृति नहीं मान रहे हैं। असु।

प्रोफेसर साहब ने अपने निबन्ध की उक्त पंक्तियों में रत्नकरण्ड भावकाचार को स्वामी समन्तभद्र कृत सिद्ध करने वाले जिन प्रस्तुत प्रमाणों की ओर संकेत किया है वे प्रमाण वे हैं जिन्हें परीक्षा द्वारा अनेक ग्रन्थों को जाली सिद्ध करने वाले मुस्तार भी पं० जुगलकिशोर जी ने भाणिकचन्द्र ग्रन्थमार्ज में प्रकाशित रत्नकरण्ड भावकाचार की प्रस्तावना में विस्तार के साथ प्रस्तुत किया है।+ मैं चाहता था कि उन प्रमाणों को यहां उद्धृत करके अपने पाठकों को यह बतलाऊँ कि वे कितने प्रबल तथा पुष्ट प्रमाण हैं परन्तु वर्तमान सरकारी आर्किव्स के कारण पत्रों का कलेक्टर इतना कुरा हो गया है कि उनमें अधिक लम्बे लेखों के लिये स्थान नहीं रहा और इस लिये मुझे

+ देखो, प्रस्तावना पृ० ५ से १५ तक।

अपने उक्त विचार को छोड़ना पड़ा, फिर भी मैं यहां इतना जरूर प्रकट कर देना चाहता हूँ कि प्रोफेसर साहब ने अपने निबन्ध में उक्त प्रमाणों का कोई खण्डन नहीं किया—वे उन्हें मानकर ही आगे चले हैं। जैसा कि “उन सबके होते हुए भी मेरा अब यह दृढ़ मन हो गया है” इन शब्दों में प्रकट है। जान पड़ता है कि मुस्तार साहब ने अपने प्रमाणों को प्रस्तुत कर देने के बाद जो यह लिखा था कि “ग्रन्थ (रत्नकरण्ड भावकाचार) भरमें ऐसा कोई कथन भी नहीं है जो आचार्य महोदय के दूसरे किसी ग्रन्थ के विरुद्ध पड़ता हो” इसे लेकर ही प्रोफेसर साहब ने ‘दोष’ के स्वरूप में विरोध प्रदर्शन का कुछ चर्च किया है, जो ठीक नहीं है और जिसका स्पष्टीकरण आगे चलकर किया जायगा।

यहां सबसे पहले रत्नमाला के सम्बन्धमें विचार कर लेना उचित जान पड़ता है। यह रत्नमाला रत्नकरण्ड भावकाचार के निर्माता के शिष्य की ताँ कृति मालूम नहीं होती, क्योंकि दोनों ही कृतियों में शताब्दियों का अन्तर ल जान पड़ता है, जिससे दोनों के कर्ताओं में साक्षान्त गुरु शिष्य सम्बन्ध अत्यन्त दुर्घट ही नहीं किन्तु असम्भव है। साथ ही इसका साहित्य बहुत घटिया तथा अकर्म है। इतना ही नहीं इसमें रत्नकरण्ड भावकाचार से कितने ही ऐसे सैद्धान्तिक मतभेद भी पाये जाते हैं जो प्रायः साक्षान्त गुरु और शिष्य के बीच में सम्भव में प्रतीत नहीं होते। नमूने के तौर पर यहां दो उदाहरण प्रस्तुत किये जाते हैं :—

(१) रत्नकरण्ड में शिष्यामता के चार भेद बतलाये हैं। १-देशावकाशिक, २-सामायिक, ३-प्रोत्थोपवास और ४-वैश्वस्य। लेकिन रत्नमाला

में वैसाव्यशिक्ष को छोड़ दिया गया है—यहाँ तक कि उसको किसी भी मत में परिगणित नहीं किया और भारवाहिक सत्सेवका को शिक्षाप्रतों में गिनाया है । यथा—

रत्नकरण्ड का समयिकं प्रोपधोपवासो वा ।

वैबाहुत्यं शिक्षाभ्यानि चत्वारि शिक्षानि ॥

—रत्नकरण्ड० ६१

सामाविकं प्रोपधोपवासोऽतिथिमुपजनम ।

मारणान्विकसल्लेख इत्येवं तच्चतुष्टयम् ॥

—रत्नमाला १७, १८

(२) रत्नकरण्ड में उत्कृष्ट भावकके लिये मुनियों के निवामस्थान बन में जाकर प्रतों को ग्रहण करने का विधान किया गया है; जिसमें स्पष्ट मान्य होता है कि हि० मुनि उस समय बनमें ही रहा करते थे । जब कि रत्नमाला में मुनियों के लिये बनमें रहना मना किया गया है और जिन मन्दिर तथा ग्रामादि में ही रहने का स्पष्ट आदेश दिया गया है । यथा—
गृहसो मुनिवर्गमस्वा गुह्यकण्ठे मतानि परिगृह्य ।
भिक्षारं प्रतिपद्यन्नुत्कृष्टश्रेयसगृहधरः ॥

—रत्नकरण्ड० १४७

कज्ञो काले बने वामो वर्ज्यते मुनिमल्लभः ।

स्थीयते च जिनागारे ग्रामादिषु विशेषतः ॥

— रत्नमाला

इन बातों से मान्य होता है कि रत्नमाला रत्नकरण्ड आदिकार के कर्ता के शिक्ष की कृति नहीं जानें योग्य नहीं है । साथ ही यह भी मान्य होता है कि रत्नमाला की रचना उस समय हुई है जब मुनियों में वाक्ते शिक्षाचार आ गया था और इसी से पं० आराधर जी जैसे विद्वानों को 'वैबाहुत्यं-शिक्षाभ्यानि' बतौर प्रोपधोपवासो । शासनं जिनचन्द्रस्य

निर्मलं मालनी जम् ॥' कहना पड़ा । पर रत्नकरण्ड पर से रत्नकरण्ड के समय में ऐसे किसी भी तरह के शिक्षाचार की प्रकृति का संकेत नहीं मिलता और इस लिये वह रत्नमाला से बहुत शकनीय रचना है । रत्नमाला का सुख अध्ययन करने से यह भी ज्ञात होता है कि यह यशस्तिलक चम्पू के कर्ता सोमदेव से, जिन्होंने अपने यशस्तिलक की समाप्ति शक सं० ८८१ (वि० १०१६) में की है और इस तरह जो वि० की ११ वीं शताब्दी के विद्वान हैं, बहुत बाद की रचना है, क्योंकि रत्नमाला में आ० सोमदेव का आधार है और जिनमन्दिर के लिये गाय, जमीन, स्वर्ण और लेख आदि के देने का उपदेश पाया जाने से+ यह महारक्षीय युग की रचना जान पड़ती है । अतः रत्नमाला का समय वि० की ११ वीं शताब्दी से पूर्व सिद्ध नहीं होता, जब कि रत्नकरण्ड भावकाचार और उसके कर्ता के अस्तित्व का समय विक्रम की छठी शताब्दी से पूर्व का ही प्रसिद्ध होता है । अतः कि नीचे के कुछ प्रमाणों से प्रकट है—

१.—वि० की ११ वीं शताब्दी के विद्वान आ० वादिराज ने अपने पारश्वनाथ चरित में रत्नकरण्ड

* सर्वमेव हि जनानां दमाणं लौकिको विधिः ।

यत्र सम्यक्त्वदानिनं यत्र न प्रतदूपणम् ॥

—यशस्तिलक

सर्वमेव विधिर्जनैः प्रमाणं लौकिकः सताम् ।

यत्र न प्रतद्वानिः स्वात्सम्यक्त्वस्य च कण्डनम् ॥

—रत्नमाला ६५

+ गोभूमिस्वर्णकण्डादिशानं वसतवेऽर्द्धवाम ।

—रत्नमाला

ना आचार का स्पष्ट नामोरेल किया है।* जिस से प्रकट है कि रत्नकरण वि० की ११ वीं शताब्दी (१०८२ वि०) से पूर्व की रचना है और वह शताब्दियों पूर्व रची जा चुकी थी। सभी वह बादिराज के सामने इतनी अधिक प्रसिद्ध और महत्वपूर्ण कृति समझी जाती रही कि आचार्य बादिराज स्वयं इसे 'अक्षय मुक्तावह' बतलाने हैं और 'दिष्टः' कहकर उसे आगम होने का संकेत करने हैं।

२—११ वीं शताब्दी के ही विद्वान् और बादिराज के कुछ समय पूर्ववर्ती आ० प्रभाचन्द्र नेऽ प्रस्तुत ग्रन्थ पर एक क्ख्यात टीका लिखी है जो माणिक्यचन्द्र ग्रन्थमाला में रत्नकरण के साथ प्रकाशित हो चुकी है और जिससे भी प्रकट है कि यह ग्रन्थ ११ वीं सदी से पूर्व का है। श्री प्रभाचन्द्र ने इस ग्रन्थ को स्वामी समन्तभद्र कृत स्पष्ट लिखा है। यथा—

‘श्रीसमन्तभद्रस्वामी रत्नानां रक्षणोपायभूतरत्नकरणकप्रक्यं सन्ध्यावर्णनाविरत्नानां पालनोपायभूतरत्नकरणकप्रक्यं शास्त्रं कर्तुं कामो..... ।’

अतः इन दो स्पष्ट समाकालीन उल्लेखों से यह निश्चित है कि रत्नकरण ११ वीं शताब्दी के पहिले की रचना है, उत्तरकालीन नहीं।

३—आ० सोमदेव (वि० सं० १०१६) के यशस्तिलक में रत्नकरण आचकाचार का कितना ही उप-योग हुआ है जिसके दो नमूने इस प्रकार हैं—

स्मयेन योऽन्यानर्त्येति धर्मस्थान गदिताशयः ।

* स्वामी स एव योगीन्द्रः येनाक्षरमुखावहः ।

अधिने भव्यपार्थाय दिष्टः रत्नकरणकः ॥

‡ इनका सम १ पं० महेशकुमार जी ने ई० १८०० से १०६५ दिया है।

—न्यायकुमुद० द्वि० भाग की प्रस्ता०

सोऽप्येति धर्ममालीनं न धर्मो धर्मिकैर्विना ॥

—रत्नकर० २६

यो मयात्समयस्त्वांनमव देन मोक्षते ।

स नूनं धर्महा यस्मात्त धर्मो धर्मिकैर्विना ॥

—यशस्तिलक पृ० ४१४

नियमो यमश्च विहितो वृथा भोगोपभोगसंहारे ।

नियमः परिमितचक्रो यावज्जीवं यमो ध्रियते ॥

—रत्नकर० ८७

यमश्च नियमश्चाति वं त्याज्ये वस्तुनी स्मृतः ।

यावज्जीवं यमो ज्ञेयः सावधिनिधायः स्मृतः ॥

—यशस्तिलक पृ० ४०३

इससे साफ है कि रत्नकरण और उसके कर्ता का अगित्व सोमदेव (वि० १०१६) पूर्वका है।

४—विक्रम की ७ वीं शताब्दी के आ० सिद्धसेन दिवाकर के प्रसिद्ध ‘न्यायावतार’ ग्रन्थ में रत्नकरण आचकाचारका ‘आप्तोपक्रममुल्लङ्घ्य’ श्लो० ६ ज्यों का त्यों पाया जाता है, जो कि दोनों ही ग्रन्थों के संदर्भों का ध्यान से समीक्षण करने पर निःसन्देह रत्नकरण का ही पद्य स्पष्ट प्रतीत होता है। रत्नकरण में जहां वह स्थित है वहां उसका मूल रूप से होना अत्यन्त आवश्यक है। किन्तु यह स्थिति न्यायावतार के लिये नहीं है, वहां वह श्लोक मूल रूप में न भी रहे तो भी ग्रन्थ का कथन भंग नहीं होता। क्योंकि वहां परोक्ष प्रमाण के ‘अनुमान’ और ‘शाब्द’ ऐसे दो भेदों को बतलाकर के स्वार्थानुमान का कथन करने के बाद ‘स्वाध’ ‘शाब्द’ का कथन करने के लिये श्लोक ८ रचा गया है और इसके बाद उपयुक्त ‘आप्तोपक्रम’ श्लोक दिया गया है। परार्थ शाब्द और परार्थ अनुमान को बतलाने के लिये भी आगम स्वतंत्र स्वतंत्र श्लोक है अतः वह पद्य श्लोक ८ में बत

विषय के समर्थनार्थ ही रत्नकरण्ड से अपनाया गया है+ वह स्पष्ट है। और उसे अपनाकर ग्रन्थकार ने अपने ग्रन्थ का उसी प्रकार अङ्ग बना लिया है जिस प्रकार अक्षरकंदेव ने आ. भाभांसा की 'सूत्रान्तरितदूरार्थाः' कारिका को अपना कर अपने न्यायविनिश्चय में कारिका ४१५ के रूप में ग्रन्थ का अंग बना लिया है। न्यायावतार के टीकाकार सिद्धिपि ने, जिनका समय ६ वीं शताब्दी है, इस उक्त पद्य की टीका भी की है, इससे रत्नकरण्ड की सत्ता निश्चय ही ६ वीं और ७ वीं शताब्दी से पूर्व पहुँच जाती है।

५—ईसा की पाँचवीं (विक्रम की छठी) शताब्दी के विद्वान् आ० पूज्यपाद ने सर्वार्थसिद्धि में रत्नकरण्ड भावकाचार के कितने ही पद, वाक्यों और विचारों का शब्दशः और अर्थशः अनुसरण किया है जिसका मुस्तार भी जुगलकिशोर जी ने अपने 'सर्वार्थसिद्धि पर समन्तभद्र का प्रभाव' नामक लेख के द्वारा अच्छा प्रदर्शन किया है।^x यहाँ उसके दो नमूने दिये जाते हैं:—

क- 'तिर्यक्कृत्तेरावणियाहिसारम्भप्रलम्भनादीनाम् ।

कथाप्रसङ्गप्रसवः स्मृत्यः पाप- उपदेशः ॥

—रत्नकरण्ड ० ७६

'तिर्यक्कृत्तेरावणियाहिसारम्भप्रलम्भनादीनाम् पाप-संयुक्तं वचनं पापोदेशः ।'—सर्वार्थसिद्धि ७-२१

ख- 'अभिसंधिकृता त्रिरतिः' 'अतं भवति ।'

—रत्नकरण्ड ० ८१

'प्रथमभिसन्धिकृतो नियमः ।'

—सर्वार्थसिद्धि ७-१

+ विशेष के लिये देखो, 'स्वामी समन्तभद्र'

पृ० १२७ से १३२

x देखो अनेकान्त वर्ष ५ क्रि.श १०-११

ऐसी हालत में छठी शताब्दी से पूर्व के रचित रत्नकरण्ड के कर्ता (समन्तभद्र) ११ वीं शताब्दी के उत्तरवर्ती रत्नमाताकार शिवकोटि के गुह कदापि नहीं हो सकते।

अतः उपर्युक्त विवेचन से जहाँ यह स्पष्ट है कि रत्नकरण्डके कर्ता श्रीसमन्तभद्राचार्य रत्नमाताकार शिवकोटि के साक्षात् गुह नहीं हैं+ वहाँ यह भी स्पष्ट हो जाता है कि रत्नकरण्ड भावकाचार सर्वार्थसिद्धि के कर्ता पूज्यपाद (४५० A. D.) से पूर्व की कृति है।

अब मैं प्रोफेसर साहब के उस मत पर विचार करता हूँ जिसमें उन्होंने दोष के स्वरूप को लेकर रत्नकरण्ड भावकाचार और आप्तमीमांसार के अभिप्रायों को भिन्न बतलाया है और कहा है कि "रत्नकरण्ड में जो दोष का स्वरूप समझाया गया है, वह आप्तमीमांसाकार के अभिप्राय-सार हो ही नहीं सकता।" इसका आधार भी आरने यह बतलाया है कि समन्तभद्र ने आप्तमीमांसाकी कारिका+ ६३ में वीतराग मुनि (केवली) में सुख-दुःख की वेदना स्वीकार की है। इसपर मैं कहना चाहता हूँ कि 'दोष के स्वरूपके सम्बन्धमें रत्नकरण्ड और आप्तमीमांसाकार का अभिप्राय भिन्न नहीं है—एक ही है, और न स्वामी समन्तभद्र ने केवली भगवान में सुख-दुःख की वेदना स्वीकार की है। इसका सुझावा निम्न प्रकार है—

रत्नकरण्डभावकाचार में आप्त के लक्षण में एक लाख विशेषण 'उच्छिन्नदोष' दिया गया है और उस के द्वारा आप्त को दोष-रहित बतलाया गया है।

+ पुरयं भूवं स्वतां दुःखात्पापं च सुखतो वद ।

वीतरागो मुनिर्विहातामां पुण्याभिमितः ॥

आगे शेष का स्वरूप समझाने के लिये निम्न श्लोक रचा गया है—

श्रुतिप्राप्ताजरातकुम्भान्तकभयवन्मयाः ।

न रागदोषमोहादयः सन्त्यन्ते ॥६॥

इस श्लोक में प्रायः उसी प्रकार श्रुतिदिदोंको गिना कर शेष का स्वरूप समझाया गया है जिस प्रकार कुम्भकुम्भार्य ने+ नियमसार की गाथा में ६ में वर्णित किया है । अब देखना यह है कि आप्त-ममांसाधार को भी ये श्रुतिदिदों अभिमत हैं या नहीं ? इसके लिये हमें आप्तमीमांसाधार की दूसरी कृतियों का भी सूक्ष्म समीक्षण करना चाहिये तभी हम आप्तमीमांसाधार के पूरे और ठीक अभिप्रायको समझ सकेंगे । यह प्रसन्नताकी बात है कि प्रोफेसर साहब ने स्वयंभूतोत्र और सुवर्णसूत्रासन दो आप्त-मीमांसाधार स्वामी समन्तभद्र की ही कृतियाँ स्वीकार किया है । स्वयंभूतोत्र में स्वामी समन्तभद्र ने 'शेष' का स्वरूप रही समझाया है जो रत्नकराज में दिया है । यथा—

श्रुतिदुःखप्रतिकारतः स्थितिर्चेन्द्रियाद्यप्रभव-
स्वसौख्यतः । ततो गुणो नास्ति च देहदेहानोरित्तिद-
मिदं भगवान् व्यजिज्ञापय ॥

—स्वयंभू०—

पाठक देखेंगे कि समन्तभद्र कितने स्पष्ट शब्दोंमें

+ डा० ए० एन० उपाध्ये ने प्रवचनसार की भूमिका में आ० कुम्भकुम्भ का समय ई० ५१ पक्षी शताब्दी दिया है ।

* सुवर्णसूत्रासी रागो,
मोहो चित्ता जगज्जामिष्य ।

स्वेदं स्वेदं मयो रर-

विषयव्यतिरा जणुवेगो ॥

आप्तकेवली के आहारादि अभाव का और श्रुतिदिदों मुक्त दुःख वेदनाओं के अभाव का प्रतिपादन करते हैं । यहाँ तक कह देते हैं कि इनसे आत्मा का उप-कार होना तो दूर रहा, शरीर-रा भी कोई उपकार नहीं होता । जब इनमें कोई उपकार नहीं तो उनका प्रमाण क्यों होगा ? कथान नहीं होगा । 'श्रुतिदिदुःखप्रतिकारतः न स्थितिः' और 'ततो गुणो नास्ति च देहदेहानोः' ये तीन पद स्वास ध्यान देने योग्य हैं जिनके द्वारा जहाँ आप्त में श्रुतिदिदुःखों (शेषों) और इन्द्रिय विषय सुखों का अभाव बतलाया गया है वहाँ प्रतिवारम्बरूप भोजनार्थ से शरीर शरीरी के उपकार का अभाव भी प्रतिपादन किया गया है । दूसरी बात यह है कि भोजनार्थ करना और इन्द्रिय-विषयसुखों का अनुभव करना तो मध्य का स्वभाव है, मध्य-स्वभाव में रहित केवली भगवान का नहीं, वे उस स्वभाव में मर्यादा छूट चुके हैं । मनुष्य और केवली को एक प्रकृति का क्यों बतलाया जाता है ? स्वयं स्वामी समन्तभद्र क्या कहते हैं । देखिये

मातुपी प्रकृतिमध्यमोत्तमान-

देवतास्वपि च देवता यतः ।

तेन नाथ परिमामि देवता,

भयसे जिनवृष प्रसीद नः ॥

—स्वयंभू० ७५

इसमें यह निर्दिष्टाद प्रकट है कि समन्तभद्र आप्त को श्रुतिदिदो-रहित मानते हैं और जिसको प्रतिज्ञा-मामान्यविधान तो रत्नकराज के उक्त पद्य में किया है और युक्ति से समर्थन स्वयंभू-तोत्र के प्रस्तुत पद्य में किया है । यहाँ यह ध्यान देने योग्य है कि 'श्रुतिदिद' पद में प्रयुक्त 'आदि' शब्द से शेष श्रुतिदिदों का भी प्रमाण किया गया है और कनक

केवली में अभाव स्वीकृत है। महत्व की बात तो यह है कि समन्तभद्र ने शेष जन्मादि दोषों को और उनके केवली में अभाव को स्वयम्भूतोप के दूसरे पक्षों में भी बतला दिया है। यहां कुछ को दिया जाता है:—

अन्तकः क्रन्दको नृणां जन्म-ज्वरसखा सदा ।

त्वामन्तकान्तकं प्राप्य व्यावृत्तः वामदारतः ॥६३॥

‘ध्वासि कृणान्तचक्रम्’ (५६)

यहां अन्तक-मरण और उसके साथी जन्म और ज्वर (रोम) इन तीन दोषों का अभाव बतलाया है।

‘जन्म-जराजिह्मसा’ (४६) ‘ज्वर-जरा-मरणो-पशन्त्यै’ (८१) इनमें जन्म ज्वर और मरण तो पहले आ गये। ‘जरा’ का भी अभाव बतलाया गया है। यहां ‘जिह्मसा’ और ‘उरशान्ति’ शब्दों से केवली अवाधा पाने पर अभाव ही विवक्षित है, यह स्पष्ट है।

‘विरजो निजं वपुः’ (११२) ‘निर्मोहः’ (१२०) ‘द्वं त्रिनं गतमदमायः’ (१४१) ‘क्षीतरागं’ ‘विशान्त-द्वरे’ (५७) ‘भयकामद्वयो’ (३४) ‘भूयाद्भयलेरा-भयोपशान्त्यै’ (८०) इन पदों के द्वारा कही शब्दतः और कही अर्थतः प्रमत्त मल, मोह, मद, राग, द्वेष, (द्वेष), स्नेह, बलेश और भय इन दोषों का केवली भगवान में अभाव प्रतिपादन किया है।

यहां यह स्वयं स्मरण रखना चाहिये कि ऊपर दि० परम्परा-सम्मत ही दोषों का उल्लेख है—स्वे० परम्परा-सम्मत नहीं माना है। स्वैताम्बरो के यहां दोषों में क्षुधा, तृषा जन्म ज्वर, जरा को नहीं माना है। अतः यह स्पष्ट है कि रत्नप्रगल्भ आदि-चार-वार को जो दोष का स्वरूप क्षुधादि अभिमत है वही आप्त मीमांसाकार को भी अभिमत है—उनका

भिन्न अभिप्राय कदापि नहीं है। और इस लिये विशानन्द के व्याख्यान का भी, जो उन्होंने ने आप्त० कारिका ४ और ६ में किया है और जिसको पु० में प्र० सा० ने प्रमाण रूप में प्रस्तुत किया है, वही आशय लेना चाहिये। यह भी स्मरण रखना चाहिये कि वहां उनका दृष्टिकोण दार्शनिक भी है। अतः उसको लेकर उन्होंने दोष का विश्लेषण किया है। और दर्शनान्तरों में भी मान्य अज्ञान, राग और द्वेष को कण्टोक्त कहकर ‘आदि’ शब्द द्वारा अन्यो का प्रहण किया है। यदि ऐसा न हो तो उन्हीं के श्लो-कवातिक्रम (पृ० ४६२) व्याख्यान से, जहां सब-लता से क्षुधादि वेदनाओं का अभाव सिद्ध किया है। विशेष आवेगा, जो विशानन्द के लिये किसी प्रकार स्पष्ट नहीं कहा जा सकता।

समन्तभद्र का भिन्न अभिप्राय बतलाने के लिये जो यह कहा गया था कि ‘केवली में उन्होंने सुख-दुःख की वेदना स्वीकार की है’ उसका भी उपयुक्त विवेचन से समाधान हो जाता है; क्योंकि समन्तभद्र ने स्पष्टतः स्वयम्भू स्तोत्र का० १८ के द्वारा सुख-दुःख का केवली में स्वयं अभाव घोषित किया है और ‘शर्म शाश्वतमदाप शंकर’ (७१) ‘विषयसौख्यपराङ्मुखोऽभूत्’ (८०) कहकर तो दिक्कुल स्पष्ट कर दिया है कि त्रिनेन्द्र में शाश्वत—सदा कालीन सुख है विषय जन्य अलौकिक सुख नहीं। दो सुख एक साथ नहीं रह सकते; क्योंकि व्याप्यवृत्ति सजातीय दो सुख एक साथ नहीं रहते। और दुःख तो सुतर्क निषिद्ध हो जाता है। ऐसी हालत में सुख दुःख की वेदना स्वीकार करने पर केवली में ‘शाश्वत-सुख’ कदापि नहीं बन सकता। हमारे इस कथन की पुष्टि आप्त विशानन्द के निम्न पद्यन से भी हो जाती है—

‘पुरादिष्वेवमोदन्तुते नार्होऽन्त्येनान्त’

(श्रीमद्भाष्ये पृ० ४६२)

अब मैं यह भी प्रकट कर दूँ कि आ. भाषांसाकारिका ६३ में जो वीतराग मुनि में मुख-दुःख स्वीकार किया गया है वह बड़े आदि गुणस्थानवर्ती वीतराग मुनियों के ही बतलाया है न कि तेरहवें, चौदहवें गुणस्थानवर्ती वीतराग मुनि-केवलियों के। कारण कि समन्तभद्र को ‘वीतराग मुनि’ शब्द का अर्थ केवली या अरहंत विवक्षित नहीं है यह हम उनके पूर्वापर कथनों बर्णनों और संदर्भों के आधार पर समझ सकते हैं। वस्तुतः ‘वीतराग मुनि’ शब्द से यहाँ समन्तभद्र को वह मुनि विवक्षित है जिसके केशकोंचनादि कायकसेरा सम्भव है। और यह निश्चित है कि वह केवली के नहीं होता। ‘वीतराग मुनि’ शब्द का प्रयोग केवली के अलावा बड़े आदि गुणस्थानवर्तियों के लिये भी साहित्य में हुआ है। और यह तो प्रकट ही है कि वर्तमान विगम्बर जैन साधुओं के लिये भी होता है। स्वयं स्वामी समन्तभद्र ने ‘वीतराग’ जैसा ही ‘वीतमोह’ शब्द का प्रयोग केवली-मियों के लिये आत्ममी० का० ६८ में किया है इससे स्पष्ट है कि रत्नकरण और आत्ममीमांसा का एक ही अभिप्राय है और इस लिये वे दोनों एक ही मंत्रकार की कृति हैं और वे हैं स्वामी समन्तभद्र।

आत्ममीमांसाकार ही रत्नकरण के भी कर्ता हैं, इस बात को मैं अन्तःपरीक्षणद्वारा भी प्रकट कर देना

० क. सुविधिरपत्त्वमुचो संजमतवसंजुचो विगदरागो ।

समयो सममुहदुक्को भणियो मुहोवभोगो ति ॥

—प्रवच० १-१४

क. ‘पुराभाष्ये पञ्चमस्तु वीतरागवोच्यं परा’

—उत्तराच्येऽत्र ६-१०

बाह्य है ताकि फिर दोनों के कर्तृत्व के सम्बन्धमें कोई खटि का भ्रम न रहे:—

(१) रत्नकरण और आचार श्लोक ६ में शास्त्र के लक्षणमें एक खास पद दिया गया है। जो बड़े महत्व का है और जो निम्न प्रकार है:—
...‘अदृष्टाविरोधकम् । शास्त्रं’ रत्नक० ६

श्री स्वामी समन्तभद्र शास्त्र के इसी लक्षण को युक्त्यनुशासन, आत्ममीमांसा और स्वयंभूस्तोत्रमें देते हैं। यथा—

(क) दृष्टागमाभ्यामधिकतमार्थप्ररूपणं युक्त्यनुशासनं ते ।

—युक्त्यनु० ४६

(ख) ‘युक्तिशास्त्राविरोधवाक् ।

‘अविरोधो यदिष्टं ते प्रसिद्धेन न बाध्यते ।’—

—आत्ममी०

(ग) ‘दृष्टेष्टाविरोधतः स्याद्वादः’ स्वयंभू० १२८

यहाँ तीनों जगह शास्त्र का बड़ी लक्षण दिया है, जिसे रत्नकरण भवक आरम्भ कहा है और जिसे यहाँ तात्किरूप दिया है। पाठक, देखेंगे कि यहाँ शब्द और अर्थ प्रायः दोनों एक हैं।

(२) रत्नकरणमें ब्रह्मचर्य प्रतिमाका लक्षण करते हुए कहा गया है कि ‘पूर्तिगन्धि बोधतत्त्वम् ... अज्ञम्’ (रत्नक० १४३) और यही स्वयंभूस्तोत्र में सुपारब जिनकी स्तुति में कहा है— ‘जोवधृतं शौरम् । भीमस्तु पूति क्वचि—’ (श्लो० ३२)

यह दोनों वाक्य स्पष्ट ही एक व्यक्ति की भावना को बतलाते हैं।

(३) रत्नकरण भाष्यआचार में आत्मका लक्षण निम्न लिखित किया गया है जो खास ध्यान देने योग्य है:—

आमेनोद्भिन्नदोषेण सर्वज्ञेनागमेशिना ।

अवितर्क्यं नियोगेन अन्यथा ह्यामता भवेत् ॥

इस श्लोक को पाठक, आप्तमीमांसा की निम्न कारिकाओं के साथ पढ़ने का कष्ट करें—

सर्वेषामाप्तता भास्ति कश्चिद्देव भवेद्गुरुः ।

दोषावरणयाहानिनिशेषाऽस्त्यतिशयानाम् ।

कश्चिदथा स्वहेतुभ्यो ऽस्त्यतिशयः ॥

सूक्ष्मान्तरितदूरार्थाः प्रत्यक्षाः कश्चिदथा ।

अनुमेयत्वतोऽन्यादिरिति सर्वज्ञसंस्थितिः ॥

स त्वमेवासि निर्दोषो युक्तशास्त्राविरोधिवाक् ।

अविरोधो यदिष्टं ते प्रसिद्धेन न बाध्यते ॥

स्वन्मतामृतवाद्यानां सर्वार्थैकान्तवादिनाम् ।

आप्ताभिमानदग्धानां भवेष्टं दृष्टेन बाध्यते ॥

—आप्त० का० ३ से ७ तक

यहां देखेंगे कि रत्नकरण्ड में आप्त का आगमिक दृष्टि से जा स्वरूप बताया गया है उसे ही समन्तभद्र ने आप्तमीमांसा की इन कारिकाओं में दार्शनिकों के सामने दार्शनिक ढङ्ग से अन्ययोग्य-वर्द्धदपूर्वक रखा है और प्रतिज्ञात आप्त स्वरूप को ही अग्र्वं गली से सिद्ध किया है। 'आप्त' के लिये सबसे पहिले 'उक्लिन्नदोष' होना आवश्यक और अनिवार्य है, पर 'मन्त्रेण' और उसके बाद 'शास्त्रा' जो इन तीन बातों में विशिष्ट है। वही सत्त्वा आप्त है। इसके बिना 'आप्तता' संभव नहीं है। समन्तभद्र आप्तमीमांसा में इसी बात को युक्ति से सिद्ध करते हैं। 'दोषावरणयोः' कारिका के द्वारा 'उक्लिन्नदोष' 'सूक्ष्मान्तरितदूरार्थाः' के द्वारा 'सर्वज्ञ' और 'स त्वमेवासि निर्दोषो' तथा 'स्वन्मतामृत' इन दो कारिकाओं के द्वारा 'शास्त्रा-अविरोधिवाक्' कहा है। सबसे बड़े महत्वकी बात तो यह है कि रत्न-

करण्ड में 'आप्तत्व' के प्रयोजक क्रम-विकसित जिन गुणों का प्रतिपादन क्रम रक्खा है उसे ही आप्तमीमांसा में अपनाया और प्रस्तुत किया है। 'अन्यथा आप्तता न भवेत्' और 'मर्द्वामाप्तता नास्ति' ये दोनों पद तो प्रायः एक हैं और इस लिये जो एक दूसरे का ऐक्य बतलाने के लिये खास महत्व के हैं और जो किसी भी प्रकार उपेक्षणीय नहीं हैं। अन्यथा आप्तता क्यों नहीं बन सकती? इसका स्पष्ट खुलासा रत्नकरण्ड भावकाचार में नहीं मिलता और जिसका न मिलना स्वाभाविक है, क्योंकि रत्नकरण्ड आगमिक और विधिपरक रचना है, साथ ही में संक्षिप्त और विराट् गृहस्थाचार को प्रतिपादक एक कृति है। मुकुमारमति गृहस्थों को वे यहां युक्ति जान में आबद्ध करना (लपेटना) ठीक नहीं समझते, किन्तु वे इसका खुलासा आप्तमीमांसा की 'स्वन्मतामृतवाद्यानां' आदि कारिकाओं में करते हैं और कहते हैं कि 'उक्लिन्नदोषत्वादि' के न होने से मशोषता में आप्तता नहीं बन सकती है। अतः यह स्पष्ट है कि रत्नकरण्ड भावकाचार और आप्तमीमांसादि के कर्ता एक हैं और वे स्वामी समन्तभद्र हैं।

यहां यह शंका उठ सकती है कि रत्नकरण्ड-भावकाचार के भाषा-साहित्य और प्रतिपादन-शैली के साथ आप्तमीमांसादि के भाषा-साहित्य और प्रतिपादन-शैली का मेल नहीं खाता। रत्नकरण्ड भावकाचार की भाषा अत्यन्त सरल और स्पष्ट है प्रतिपादन शैली भी प्रसन्न है पर गहरी नहीं है जब कि आप्तमीमांसादि कृतियों की भाषा अत्यन्त गूढ़ और जटिल है थोड़े में अधिक का बोध कराने वाली है—प्रतिपादनशैली गंभीर और सूत्रात्मक है। अतः इन सबका क्या एक नहीं हो सकता? यह शंका

एक कर्तृकता में कोई बाधक नहीं है। रत्नकरण्ड-
भावकाचार आगमिक दृष्टि से लिखा गया है और
उसके द्वारा सामान्य लोगों को भी जैन धर्म का प्राथ-
मिक ज्ञान कराना लक्ष्य है। आप्तमीमांसादि दार्श-
निक कृतियाँ हैं और इस लिये वे दार्शनिक दृष्टि में
लिखी गई हैं उनके द्वारा विशिष्ट लोगों को—जगन
के विभिन्न दार्शनिकों को जैनधर्म के सिद्धान्तों का
रहस्य समझाना लक्ष्य है।

दूर नहीं जाइये, अकलंकदेव को ही लीजिये।
अकलंकदेव जब तत्त्वार्थसूत्र पर अपना तत्त्वार्थवार्तिक
भाष्य रचते हैं तो वहाँ उनका भाषा—साहित्य किन्ना
सरल और विशद हो जाता है, प्रतिपादनशैली न
गम्भीर है और न गूढ़ है। किन्तु वही अकलंक
जब लघीयश्रवण, प्रमाणसंग्रह, न्याय निनिश्चय, सि-
द्धिनिश्चय और अष्टशती इन दार्शनिक कृतियों की
रचना करते हैं तो उनकी प्रतिपादनशैली किन्ना
अधिक सूत्रात्मक, दुरवगाह और गम्भीर हो जाती

है। वाक्यों का विन्यास किन्ना गूढ़ और जटिल
हो जाता है कि उनके टीकाकार बरबस यह उठते हैं
कि अकलंक के गूढ़ पदों का अर्थ व्यक्त करने की हम
में सामर्थ्य नहीं है।* अतः जिस प्रकार अकलंक
देव का राजवार्तिक भाष्य आगमिक दृष्टि से लिखा
होने से सरल और विशद है और प्रमाण-संग्रहादि
दार्शनिक दृष्टि से लिखे होने से जटिल और दुरवगाह
हैं फिर भी इन सबका कर्ता एक है और वे अकलंक
देव हैं उसी प्रकार 'रत्नकरण्ड भावकाचार' आगमिक
दृष्टिकोण से लिखा गया है और आप्तमीमांसा,
युक्त्यनुशासन और स्वयम्भूत्वादि दार्शनिक दृष्टिकोण
में। अतः इन सबका कर्ता एक ही है और वे हैं
स्वामी समन्तभद्र।

—अनेकांत

* देवस्यानन्तवीर्याऽपि पदं व्यक्तं तु सर्वतः।

न जानीतेऽकलंकस्य चित्रमेतत्परं भुवि ॥

—अनन्तवीर्ये



शिवभूति और शिवाय अभिन्न नहीं है

(ले०—श्री० पं० रामप्रसाद जी जैन शास्त्री बम्बई)

श्रीमान प्रोफेसर हीरालाल जी साहय अमरावती ने अभी कुछ थोड़े समय में दो ट्रैक्ट प्रकाशित किये हैं उनमें एक तो 'शिवभूति और शिवाय' पहला ट्रैक्ट है और दूसरा 'जैन इतिहास का एक विलुप्त अध्याय' है। दोनों ट्रैक्ट आपने बड़े परिश्रम से अपनी बुद्धि के अनुसार गवेषणा को लिये हुए लिखे हैं। वे ट्रैक्ट वास्तव में अभी गवेषणा के मार्ग पर स्थित है न कि उन ट्रैक्टों का विषय एक कंठिरूप निश्चयता को लिए लिखे हुए है। गवेषणा के ऐसे विषय किसी अनिश्चित पदार्थ को विशद निरूपण करने की दृष्टि से विद्वानों के समक्ष रखे जाते हैं। इस लिये वे उपेक्षा के विषय नहीं होते, किन्तु वे त्यास एक विचारणा की दृष्टि के होते हैं। अतः उसी दृष्टि को रख कर उन दोनों ट्रैक्टों पर क्रमशः मेरा यह विचारणा का उपक्रम है।

आपने 'शिवभूति और शिवाय' नाम के प्रथम ट्रैक्ट में प्रथम ही श्वेताम्बर आचर्यक मूल भाष्य की नं० १४५-१४६-१४७-१४८ की गाथाओं द्वारा यह लिखा है कि—“शिवभूति नामके एक प्राचीन आचार्य थे, उनसे रहस्यी नगर के दीपक ज्ञान में आर्यकन्ध के समस्त 'बौद्धिक-बौतिक' मत की स्थापना की जो कि वह ही मत श्वेताम्बर दृष्टि से दिगम्बर माना

जाता है और जिसका समय भी वीरनिर्वाण से १०१ के अनन्तर पड़ता है।

मूलाराधना—भगवती आराधना जो कि हि० सम्प्रदाय का एक मुनिधर्म का मुख्य ग्रंथ है उसके कर्ता शिवाय हैं। इनमें 'आय' और शिवभूति में 'भूति' ये नाम के अंश न होकर उपाधि हैं। अतः 'शिव' नामके दोनों व्यक्ति एक ही हैं।” यह आपके ट्रैक्ट का मुख्य विषय है।

यहां पर प्रथम ही आपने 'आय' और 'भूति' इन दो शब्दों को नामांश न बतलाकर उपाधि बतलाई है उसके लिये कोई भी त्यास ऐसा प्रमाण उपस्थित नहीं किया कि जिसमें यह शब्द नामांश न होकर उपाधिरूप सिद्ध हो जाय, मेरी समझ से यहां वे दोनों उपाधि न होकर नामांश ही हैं। कारण कि यदि 'भूति' उपाधि होती तो श्वेताम्बर सम्प्रदाय के २५-३० आचार्यों के नाम के साथ यह अवश्य पायी जाती तथा यदि 'आय' भी उपाधि होती तो दिगम्बर सम्प्रदाय के आचार्यों के साथ भी बहुतों से नामांतर में पाई जाती। दूसरे श्वेताम्बर स्वविराजस्वी के गण की लिखावट से शिवभूति के गुह धनगिरि* हैं

* धरस्सणं अज्जर्थाणगरस्स वासिह्णस्स अज्ज-
सिवभूई धेरे अंतेवासी कण्ठगुत्ते ॥१६॥

और भगवती आराधना के कर्ता—शिवाय के गुरु+
जिननन्दिनी शिवगुप्तगणी और आर्यमित्रनन्दि है।
इस लिये ज्ञान होना है कि यदि शिवाय ही शिव-
भूति होने तो अपने महत्त्व के ग्रंथ भगवती आरा-
धना में अपने पूर्वगुरु धनगिरि का अवश्य आश्रय के
साथ उल्लेख करने। भगवती आराधना में शिव-
भूति के गुरु का उल्लेख नहीं है, इस लिये स्पष्ट है कि
शिवभूति और शिवाय एक व्यक्ति नहीं है। श्री
प्रोफेसर साहब ने जो यह लिखा है कि 'शिवभूति ने
दिगम्बर सम्प्रदाय के नन्दिसंघ में प्रवेश किया' इस
लिखावट में सिद्ध है कि दिगम्बर सम्प्रदाय पहले से
ही था, न कि श्वेताम्बर सम्प्रदाय के मन्तव्य में
शिवभूति ने दिगम्बर सम्प्रदाय का 'घोटक' नाम से
स्थापना की।

शिवाय के तीन गुरुओं में 'शिवगुप्त' नाम जो
दीख रहा है वह 'शिव' को गुप्त कर चन्द्रप्रभका प्रकट
करने वाले समन्तभद्र का सूचक ज्ञात होता है। इस
नाम से यह बात समझ में आ जाती है कि भगवती
आराधना के कर्ता शिवाय और शिवकोटि एक व्यक्ति
हैं न कि श्वेताम्बर मान्य शिवभूति शिवाय हैं।

श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने भावपाटुहकी ५३ वीं गाथा
में तुषमापन की घोषणा करते हुए भावविशुद्ध
जिन महानुभाव शिवभूति का उल्लेख किया है वे
पहले ब्रह्मजिगी (दिगम्बर) शिवभूति दूसरे थे, कारण

+ अउज्जिणयंदिगणि सम्बगुप्तगणि अउज्जिमि-
यंदिणि। अवगमिय पादमूले सम्मं सुतं च
अस्थं च ॥२१६१॥

× तुसमासं घोसंतो भावविशुद्धो महापुभावा य।

यामेण य शिवभूर्दे केवलणणी फुडं जावो ॥५३

(भा० पा०)

कि उनको केवलज्ञानी लिखा है। दिगम्बर सम्प्र-
दाय के अनुसार केवलज्ञान और मोक्ष की विद्विष्टि
जम्बू स्वामी के मोक्ष गये बाद हो गई थी। अर्थात्
जम्बू स्वामी के बाद फिर किसी को भी मोक्ष दिगम्बर
सम्प्रदाय में नहीं मानी गई है। और जम्बू स्वामी
तक ६२ वर्ष महावीर स्वामी के समय से लेकर समय
माना गया है और इन श्वेताम्बर मान्य शिवभूति का
समय वीर निर्वाणमें ६०६ वर्ष माना गया है अतः
कुन्दकुन्द सम्मन भावपाटुहकी शिवभूति दूसरे शिवभूति
हो सकते हैं जो कि महावीर स्वामी के समय से पूर्व
के होंगे अथवा उनके समय के ही कोई होंगे।

दूसरे—बात ऐसी है कि—शिवभूति या शिवाय
एक ही होने तो इन शिवभूति का कुन्दकुन्द प्रशंसा,
भी क्यों करते, क्योंकि उनसे तो अपवादरूप के वस्त्र
को भी मुनिर्लिंग माना है जिसका कि श्री कुन्दकुन्द
तीव्रतासे विरोध करते हैं। अतः इससे भी पाया
जाता है कि कुन्दकुन्द के वे शिवभूति नहीं हैं जिनको
कि आप समझ रहे हैं।

भगवती आराधना की गाथा+ ११२० का अभि-
प्राय कुन्दकुन्द की भावपाटुहकी ५३ नम्बर की गाथा में
कुछ विशेष अर्थ को लिये हुए है और कुन्दकुन्द का
बाल्मविक आम्नाय जो कि मोक्षोपयोगी है उसका
सूचक है। गाथा का अभिप्राय यह है—तुष द्रिलकें
के सहित तंदुल या धान्य में कुंदुआ नामक मल लग
जाता है वह तुष को दूर किये बिना तंदुल या धान्य
से जुड़ा नहीं हो सकता। इसका असली भाव, कर्म
नोकर्म से परस्पर सम्बन्धित है। अर्थात्—कर्म-
स्थानापन्न कुंदुआ मल और नोकर्म स्थानापन्न वस्त्रादि

+ जह कुंदुआ न मक्को मंवेदं तंदलम मनुतम्स।

तह जीवस्स ए . कं मोहमलं संगसत्तस्स ॥११२०

परिग्रह है—बानो बल्लावि परिग्रहका त्याग किये बिना
द्रव्यकर्म और भावकर्म मत दूर नहीं हो सकते। इस
प्रकार का गाथा का अभिप्राय मोक्षोपयोगिता है बल्ल
का सर्वथा त्याग सूचित करता है। और अन्यत्र
इस ग्रन्थ में मुनि अवस्था में बल्ल का ग्रहण है वह
अशक्तता में मुनिदशा की अभ्यासता का सूचक है।
परन्तु कुन्दकुन्द भावी-शैथिल्य की सम्भावना से
उसका भी जबरन निषेध करते हैं। इससे मालूम
होता है कि कुन्दकुन्द और शिवाय में मुनिमार्ग
स्थिति का कुछ मतभेद है परन्तु मोक्षोपयोगिता में
दोनों दिगम्बरता से एक हैं।

भावपादुङ्ग की ५१ वीं गाथा में भावभ्रमण शिव-
कुमार मुनि के लिये जो युवतिजनवेष्टित होकर संसार
से पार उतरने का कथन आया है। वैसा ही भग-
वती आराधना की ११०८ गाथा से १११६ गाथा में
बयान आया है। उससे आपने जो यह समझा है
कि भगवती आराधना के कर्ता शिवाय के लिये ही
कुन्दकुन्द के वे उद्गार हैं। परन्तु गाथा में संसार
को पार कर गये यह बात जो लिखी है वह शिवाय
के लिये नहीं हो सकती। कारण कि शिवाय का
समय मोक्ष जाने का साधन नहीं था। इस लिये
मानना पड़ेगा कि कुन्दकुन्द के शिवभूति और शिव-
कुमार भगवती आराधना के शिवाय नहीं हैं।

इस लेख से सम्बन्धित एक विषय
शिवभूति कोई श्वेतांबर सम्प्रदाय के आचार्य थे
उनने दिगम्बर मान्यता को भेद्य समझकर श्वेताम्बर
साधुओं को बोध कराने के लिये 'बोडिष' मत की
स्थापना की। 'बोडिष' का अर्थ 'बोधक' होता है
और वह ही अर्थ यापनीय का होता है। क्योंकि
'यापनीय' का 'ज्ञापनीय' अर्थ होता है। अतः
बोधक और ज्ञापनीय एक अर्थ के बोधक हैं। आप
ने 'बोडिष' शब्द का अर्थ 'बटेर' लिया है जिसके
कि पंख की पीछी की सम्भावना कर, भगवती आरा-
धना कथित पीछी का सादृश्य मिलता है वह किसी
तरह भी संभवित नहीं होता। कारण कि बटेर एक
चिड़िया के समान इतना छोटा पक्षी होता है कि
जिसके पंखों की पीछी बन नहीं सकती। वह पक्षी
यू० पी० में बहुलता से पाया जाता है जिसकी आंखें
बहुत ही फटी हुई सरीसृप जैसी हुई रहती हैं। अत-
एव यू० पी० में बटेर की सी आंखों की कल्पना
मराहूर है। भगवती आराधना में जो पिच्छी का
लक्षण लिखा है उसका मिलान दिगम्बर सम्प्रदाय
की मयूर-पिच्छ से मिलता है अतः स्पष्ट है कि भग-
वती आराधना के कर्ता मूल संघाम्नायी दिगम्बर थे
जो कि यापनीय संघ के स्थापक शिवभूति से जुड़े थे।
—मैन बोधक

शिवभूति और शिवार्थ ।

(प्रो० दीराजाल जी जैन, अमरावती)

उक्त शीर्षक मेरे लेख में मैंने श्वेतांबर स्वधिरा-
वल्ली व आचर्यक मूल भाष्य में उल्लिखित शिव-
भूति और भगवती आराधना के कर्ता शिवार्थ को
अभिन्न बतलाने का प्रयत्न किया है । इसपर सर्व-
प्रथम समालोचना पं० रामप्रसाद जी शास्त्री मुंबई ने
जनचेचक के ता० २२-३-४४ के अंक में प्रकाशित
अपने 'शिवभूति और शिवार्थ अभिन्न नहीं हैं' इस
शीर्षक लेख में किया है । पण्डित जी ने प्रथम ही
जो यह स्पष्टीकरण किया है कि मेरे ट्रेक्ट गवेषणाके
मार्ग पर स्थित हैं, उन्हें निम्न कोटि में नहीं लेकर
ऊपर विचार करना चाहिये । यह सर्वथा उपयुक्त
है । मैं पण्डित जी के इस मत से पूर्णतः सहमत हूँ
और उनके इस स्पष्टीकरण का स्वागत करता हूँ ।
किसी भी नये दृष्टिकोण को सन्मुख करने वाले लेख
अन्य विद्वानों के लिये विचार की सामग्री हुआ
करते हैं और विषय के अभिन्न निर्णय के लिये
विद्वानों को ऊपर अपना मत प्रकट करने का पूर्ण
अधिकार हुआ करता है जिसका आवश्यक उपयोग
करना चाहिये ।

किन्तु यह विचार प्रकटीकरण अभी निर्णय में
सहायक हो सकता है जब लेखक द्वारा प्रस्तुत किये

हुए मुरों पर ठवड़े दिल से निष्पक्ष दृष्टि द्वारा सौ-
जन्यपूर्वक पूर्वतः विचार किया जाय । लेख की
किसी बात को या तर्कणा के आवश्यक अंग को
बाहर या उसकी उपेक्षा करके किसी विषय का
खण्डन करना निर्णय में जरा भी सहायक नहीं हो
सकता, केवल पाठकों के दृष्टि-बिन्दु को विराभट
कर सकता है और उससे निरर्थक समय और शक्ति
का घात भी होता है । पण्डित रामप्रसाद जी के
लेख में कुछ ऐसा ही पाया जाता है जैसा कि निम्न
विवेचन से प्रकट होगा ।

पण्डित जी ने उक्त नामों के समीष्टकरण के
बिना जो पहली आरति उठाई है वह यह है कि
"शिवार्थ और शिवभूति इन दो शब्दों को नामांश न
बतलाकर उपाधि बतलाई है उसका लिये कोई भी
कास प्रमाण उपस्थित नहीं किया कि जिससे वे शब्द
नामांश न होकर उपाधि रूप सिद्ध हो जाय ।" २०
जी के इन शब्दों को पढ़कर मुझे खाल होता है कि
या तो पण्डित जी ने मेरा लेख ध्यान से पढ़ा ही नहीं
है और या यदि पढ़ा है तो वे जान बूझकर उसमें
दिये हुये विषय विवेचन को छिपा रहे हैं और मेरी
तर्कणा के दोष दिखाने का पक्ष लुट रहे हैं । पण्डित

जी की उक्त आपत्ति के उत्तर में केवल अपने लेख के एक अंश को उद्धृत कर रहा हूँ जो इस प्रकार है—

“अब हम यह देखने का प्रयत्न करेंगे कि क्या इन आर्य शिवभूति का दिगम्बर सम्प्रदाय के किसी आचार्य के साथ एकत्व सिद्ध होता है। उक्त नाम हमें आराधना एवं भगवती आराधना के कर्ता का स्मरण दिलाता है जिनके साथ उक्त एकत्व कदाचित् संभव हो, क्योंकि इन आचार्य का नाम ग्रंथ में शिवाय पाया जाता है। जिनके तीन गुरुओं के नाम आर्य जिननन्दिगणि, शिवगुप्तगणी और आर्य मित्रनन्दि कहे गये हैं। इन नामोल्लेखों से इतना तो स्पष्ट है कि आर्य नाम का अंश नहीं किन्तु एक आधारसूचक उपाधि थी जो स्वशिराश्री में सभी आचार्यों के नामों के साथ लगी हुई पायी जाती है। अतः शिवार्थ आर्य शिव के स्वरूप हैं जिसका एकत्व आर्य शिवभूति के साथ बैठाना कठिन नहीं है, क्योंकि नाम के उत्तरार्थ को छोड़ कर उल्लेख करना एक साधारण बात है, जैसा कि रामचन्द्र के लिये राम, कृष्णचन्द्र के लिये कृष्ण व भीमसेन के लिये भीम के उल्लेखों में पाया जाता है।

(शिवभूति और शिवार्थ पृ० ३-४)

इसपर मैं पाठक स्वयं विचार कर देखें कि मैंने ‘भूति’ को नामांश बतलाया है या उपाधि तथा आर्य को उपाधि तथा भूति नामांश को छोड़कर नाम के एकदेश के उपयोग के लिये प्रमाण उपस्थित किये हैं या नहीं।

परिहट जी की दूसरी आपत्ति यह है कि “यदि शिवार्थ ही शिवभूति होते तो अपने महत्व के ग्रन्थ भगवती आराधना में अपने पुरुष धर्मोक्ति का

आधार के साथ उल्लेख करते।” किन्तु मैं अपने लेख में बतला चुका हूँ कि शिवभूति ने स्व. संघ को छोड़कर “नन्दिसंघ में प्रवेश किया और उस संघ के आगम का जिननन्दि सर्वगुप्त और मित्रनन्दि इन तीन आचार्यों से उपदेश पाया।” इसी उपदेश के आधार से उन्होंने भगवती आराधना की रचना की। अतः उसमें उनके इन गुरुओं का उल्लेख करना स्वाभाविक था, न कि छोड़े हुए संघ के गुरुओं।

परिहट जी की तीसरी आपत्ति यह है कि कुंवरु ने अपने बोधपादु में जिन शिवभूति का उल्लेख किया है वे स्वशिराश्री में उल्लिखित शिवभूति से भिन्न और बहुत पूर्व के होना चाहिये, “क्योंकि उनको केवलज्ञानी लिखा है दिगम्बर सम्प्रदाय के अनुसार केवलज्ञान और मोक्ष की विच्छिन्न जन्म-स्वामी के मोक्ष गये बाद हो गई थी” किन्तु ऐतिहासिक गवेषणा में इस युक्ति को विशेष महत्व नहीं दिया जा सकता, क्योंकि यह विषय स्वयं विचारणीय है। कि केवलज्ञान तीर्थंकरत्व और मोक्ष के सम्बन्ध और व्युत्पत्ति की मान्यता किसनी पुरानी है। उदाहरणार्थ स्वयं कुंवरुनाचार्य ने सूत्रपादुकी गाथा २३ में कहा है कि जैनशासन में तीर्थंकर होकर भी यदि बख्तारी है तो वह सिद्ध प्राप्त नहीं कर सकता। इसी की टीका करते हुए भुतसागर जी ने कहा है कि कोई तीर्थंकर परमदेव भी हो जाय, उसके पंचकल्याणक भी हो जाय तो यदि वह बख्तारी है तो उसकी मुक्ति नहीं हो सकती। फिर अन्य अनगार व केवली आदि की तो बात ही क्या है। इससे विदित होता है कि बख्तारी अनगार भी हो सकता है केवलज्ञानी भी हो सकता है और तीर्थंकर भी हो सकता है आरच्य नहीं जो यह गाथा भी कुंवरु ने

शिवभूति को ही दृष्टि में रखकर लिखी हो। ऐसी अवस्था में पण्डित जी की उक्त आपत्ति में कोई बल नहीं मिलाई देता।

उसी प्रकार पण्डित जी ने जो यह कहा है कि प्राण-मात्र के संस्कार से शरीर उत्पत्ति की जो बात कुन्दकुन्द ने कही है वह "शिष्याय के लिये नहीं हो सकती कारण कि शिष्याय का समय मोक्ष जानने का साधन नहीं था।, इसमें भी कोई बल नहीं, क्योंकि ऐंम कथन बहुत मिलते हैं। अपने भावपाटु के अन्त में कुंभकुं ने कहा है कि जो कोई इस भावपाटु को पढ़े सुने और भावना भावे वह अविचल स्थान अर्थात् मोक्ष को प्राप्त होता है। इसमें भी यह आपत्ति उठाई जा सकती है कि जब आजकल का समय ही मोक्ष के योग्य नहीं तो तब फिर इस भावपाटु को ही पढ़कर कोई कैसे मोक्ष प्राप्त कर लेगा। जो समाधान यहाँ हो सकता है, वह पूर्णतः प्रकट रूप में भी उलगा हो सकता है।

पण्डित जी ने जो इसी विषय में एक और बात यह कही है कि वह "शिष्याय और शिष्याय एक हो जाते तो उन शिष्याय की कुम्भकुन्द प्रशंसा भी क्यों करते क्योंकि उमने तो अपवादरूप में बल को भी अभिहित माना है जिसका कि कुम्भकुन्द तीव्रता से विरोध करते हैं" इसका उत्तर यह है कि शिष्याय के निर्दिष्ट आधार से उतना मतभेद होते हुए भी कुम्भकुंदाचार्य ने इतनी उदारता और महानता की कि

वे अपने पूर्वजन्मी उन महापुरुषों के सद्गुणों की और ज्ञान की प्रशंसा करें, बचावतः उन्होंने शिष्याय का उदाहरण ही इसी लिये दिया है कि बाह्यजगत् न होने पर भी भाव की विद्युद्धि से वे केवलज्ञानी हुए इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है।

पण्डित जी की चौथी आपत्ति यह है कि बटेर के पंख छोटे होते हैं अतः उनकी पीढ़ी बन नहीं सकती है। पर यथार्थतः यह बात नहीं है, उनकी पीढ़ी बन सकती है, हां, यह बहुत छोटी होगी, शिष्याय ने भगवती आराधना में प्रतिलेखन के 'लघुः' को एक उसका आवश्यक गुण बतलाया है। अन्त में पण्डित जी ने जो बोद्धि का अर्थ बोधक एवं याज्ञीय का अर्थ ज्ञापनीय जिसका पुनः अर्थ बोधक किया है यह किस आधार पर और उससे प्रकृत विषय पर क्या प्रकाश पड़ता है यह कुछ समझ में नहीं आया। इस लेख को समाप्त करने से पूर्व मैं पण्डित जी को धन्यवाद दिये बिना नहीं रह सकता। क्योंकि उनके लेख की प्रथम आपत्ति में विषय को कुछ अन्वये में डालने की प्रवृत्ति होने हुए भी शेष भाग में उन्होंने लिख- बहुत सौजन्यपूर्वक है और पहले इस विषय की उद्भावोद्धार प्रारम्भ की है। आशा है पण्डितजी व अन्य विद्वान इस विषय को निर्णय की ओर बढ़ाने में हाथ बटावेंगे।

—अन बोधक

[७]

शिवभूति और शिवार्य अभिन्न नहीं है ।

(लेखक:— १० रामप्रसाद जी जैन शास्त्री बंबई)

उपयुक्त मेरा लेख ता० २२-३-४४ के जैन-बोधक संख्या ११ में प्रकाशित हुआ था, उसके प्रति-वाद सरोखा लेख प्रोफेसर हीरालाल जी जैन अमरावती का ता० ५-४-१९४४ के जैनबोधक संख्या १२ में प्रकाशित हुआ है । उसमें प्रथम ही आपने अपने ट्रैक्टरों की गवेषणा की स्थिति पर जिस मेरी सम्मति को उपयुक्त बतला कर उसका स्वागत किया है उसके लिये मैं आपका आभारी हूँ । परन्तु आगे चलकर उसी लेख में 'लेखक द्वारा प्रस्तुत किये हुए मुद्दों पर ठण्डे दिल से निष्पक्ष दृष्टि द्वारा सौजन्यपूर्वक पूर्णतः विचार किया जाय इत्यादि जो कुछ लिखा गया है, वह लिखान कदां तक ठण्डे दिल का तथा निष्पक्ष दृष्टि और सौजन्यपूर्ण हो सकता है इसका आप अपने शान्त दिल से स्वतः विचार कर सकते हैं, तथा इन दोनों लेखों के प्रकाश में पाठकगण भी विचार कर सकते हैं । आपकी दृष्टि से किसी भूल का होना तथा आपकर चर्चित किये गये किसी अनावश्यक विषयों को छोड़ देना, ये सब आपके द्वारा उपयुक्त उद्धृत उद्गारों के साथक नहीं हो सकते हैं, अतः यहां अनावश्यक उद्गार नहीं होने चाहिये थे, परंतु हो रहे हैं यह आश्चर्य है ।

अस्तु—मेरे उस लेख में प्रथम ही प्रकृत विषय

नामांश और उपाधि का है । शिवभूति के नाम में जिस तरह आप—कृष्णचन्द्र, रामचन्द्र, भीमसेन इनके लोकगृहीत संक्षिप्त पूर्व भाग का दृढाग्र देकर 'भूति' को उपाधि न बतलाकर नामांश बतलाते हैं उसी तरह शिवार्य का 'आर्य' उपाधि न होकर नामांश संभवित है । कारण कि 'आर्य' को जिस तरह उपाधि माना है वह सर्वत्र नामके आदि में देखने में ही माना है । जैनबोधक के ता० २२-३-४४ के अङ्क में मैंने यह ही बात दिखलाई थी परन्तु उस में गलती से 'नामान्तर' ऐसा छप गया है इसी कारण उस बात पर आपकी दृष्टि नहीं गई है । वास्तव में देखा जाय तो यहां प्रकृत में नामांश और उपाधि का कुछ भी महत्त्व का विषय नहीं है किन्तु शिवभूति और शिवार्य, इन दोनों से दोनों के 'शिव' शब्दों के सादृश्य से वा एकता से जो परीकरण करके दोनों को अभिन्न समझा है वह ही सब आपके ट्रैक्टर भर में किसी भी अकट्य युक्ति के न होने से सिर्फ बादरायण सम्बन्ध सरीली युक्ति को चरितार्थ कर दोनों की भिन्नता को ही सिद्ध करता है, कारण कि भगवती आराधना के मूल में तथा टीकाकारों की किन्हीं भी टीका में कहीं भी यह बात नहीं पायी जाती कि—जिन आर्यों शिवभूति ने बोधित (बोद्ध)

संघ की स्थापना की थी वे ही इस भगवती आराधना के कर्ता हैं। तथा उस संघ में तथा टीकाओं में भी—‘सिद्धगज, शब्द का अर्थ—शिवभूति नहीं किया है। बल्कि भगवती आराधना की २१६६ नम्बरकी गाथा की—मूलाराधनापदेषु नाम की टीका में ‘सिद्ध-गजेण’ शब्द का अर्थ ‘शिवकोट्याचार्येण’ किया है तथा रवेताम्बर सम्प्रदाय के भी किन्हीं ग्रन्थ और किसी भी आचार्य परम्परा में यह बात कही नहीं पायी जाती है कि शिवभूति ही भगवती आराधनाके कर्ता शिष्याय हैं। इस सब के होने से तथा अपने लेख में मैंने जो यह बात लिखी थी कि ‘महेश्वर के ग्रन्थ भगवती आराधना में अपने पूरे गुह—धन-गिरि का कही भी उल्लेख नहीं किया है’ इसका तात्पर्य सिर्फ़ यही है कि गुरुपरम्परा या संघ आदिक सूक्तों के सिवाय किसी भी व्यक्ति की अकड़ो तरह से जानकारी नहीं हो सकती—भगवती आराधना में कोई भी संकेत नहीं पाया जाता कि शिष्याय धनगिरि के शिष्य व उस संघ के गरीबर थे। वही तो जिन-नन्दिगणी, सर्वगुणगणी और मित्रनन्दिगणी गुहओं का नाम मिलता है। भगवती आराधनाकी २१६६ केनं की गाथा की टीका जो अपराजित सूत्र की विजयो-रत्ना है उसमें सर्वगुणगणी के संघ का कस्याण-कामना निमित्त उल्लेख है। यदि वहाँ शिष्याय का तथा उनके अन्य गुह (धनगिरि) का कोई दूसरा संघ भी होता तो टीकाओं में उसका भी कस्याण-कामना निमित्त उल्लेख पाया जाना परन्तु यह कही भी पाया जाता नहीं है, इससे स्पष्ट है कि शिवभूति ही शिष्याय नहीं थे किन्तु वे दोनों अपने अपने स्व-क्षेत्र को लिये जुड़े जुड़े व्यक्ति थे और शिष्याय सर्वगुणगणी (शिवगुणगणी) जो कि समन्वय

स्वामी संभवित हैं उनके संघ में के प्रधान शिष्य थे जिनका नाम शिवकोटि भी था, न कि शिवभूति नाम था। आपके ट्रैक्टर की लेखनकला यह बात भी सूचित करती है कि ‘बोडिअ’ उपाधि ही यापनीयसंघ की उद्भाषिका है और उसके प्रधान आचार्य शिव-भूति हैं। ऐसी दशा में यह बात आ जाती है कि भगवती आराधना आपके मतसे यापनीय संघ के आचार्य शिवभूति की बनाई हुई है। परन्तु यापनीय संघ जिस तरह दिग्गम्बर मुनिलिंग की मान्यता का पक्षपाती था उसी तरह मान्यता में रवेताम्बर आगमों की मान्यता का भी पक्षपाती था परन्तु भगवती आराधना में उन आगमों के पठन की तो क्या किसी अंश की भी उन विषयक वहाँ गन्ध नहीं है। इससे भी यह बात सिद्ध है कि भगवती आराधना शिवभूति की कृति न होकर दिग्गम्बर आचार्य समन्वय के शिष्य शिष्याय या शिवकोटि आचार्य की कृति है। इन सब उपयुक्त मेरी लिखावटों से स्पष्ट है कि केवल उभयत्र शिव और शिव नामांशों की समानता से जो एकीकरण शिवभूति और शिष्याय में किया गया है वह युक्तिगुण्यता से बादरायण सम्बन्ध की बातों को चरितार्थ करता है। भगवती आराधना में नन्दिसंघी शिष्याय के गुहओं को देखकर जो आप यह लिखते हैं कि—‘शिवभूति ने ही नन्दिसंघ में प्रवेश किया है’। यह लिखना भी केवल आपकी मात्र कल्पना ही है कारण कि इसके लिये भगवती आराधना में कोई भी आधार नहीं मिलता है तथा अन्यत्र भी इन विषय के कोई आधार मिलते नहीं हैं।

मैंने अपने लेख में जो यह लिखा था कि—
 श्री ~~...~~ स्वामी ने अपने अष्टाङ्गद्वय में जिन शिव-

भूति और शिवकुमार को जन्म देने और मोक्षगामी ब्रह्मा है। वे शिवभूति और शिवकुमार श्वेताम्बर स्वविरावली के गीते हैं और यह कि वह समय केवल-ज्ञान और मोक्ष का नहीं था।

सब कि जन्म स्वामी के बाद कोई भी केवल-ज्ञानी और भाग्यगामी हुआ ही नहीं है, यह दिगम्बर शास्त्रीय प्राचीन आम्नाय है, इसके खड्डन में आप लिखते हैं कि—“ऐतिहासिक गवेषणा में इस युक्ति को विशेष महत्व नहीं दिया जा सकता, क्योंकि वह विषय स्वयं विचारणीय है कि—केवलज्ञान, तीर्थंकरत्व और मोक्ष—सम्बन्ध और व्युत्पत्ति की मान्यता कितनी पुरानी है। जगद्गुरु—स्वयं कुम्भकुशचार्य ने सूत्रवाद की गाथा २३ में जैनशासन में तीर्थंकर होकर भी यदि वल्लभकारी है तो वह सिद्धि प्राप्त नहीं कर सकता।” इत्यादि लिखकर आप लिखते हैं कि—“आश्चर्य नहीं जो यह गाथा भी कुम्भ-कुन्द ने शिवभूति को दृष्टि में रखकर लिखी हो। ऐसी अवस्था में पण्डित जी की उक्त आपत्तिमें कोई बल दिखाई नहीं देता। पाठक गण विचार करेंगे कि अष्टपाद की गाथा में स्वविरावली के श्वेताम्बर शिवभूति को टांगने के लिये जो युक्ति मैंने दी है उसका खड्डन क्या आपकी ऐतिहासिक गवेषणा में संघठित हो सकता है? मैं तिल रक्षा हूँ कि जिन शिवभूति को आप अष्टपाद की गाथा में देल रहे हैं उन शिवभूति के लिये वह समय केवलज्ञान का तथा मोक्ष जाने का न होने से वे स्वविरावली के शिवभूति उस गाथा के शिवभूति नहीं हो सकते। परन्तु आप बखसहित युक्ति की बात की ऐतिहासिक गवेषणा की जाड़ में लेकर लिख रहे हैं। आपकी यह ऐतिहासिक गवेषणा क्या एक प्रष्ट विषय में

सम्बन्ध रखती है इसका ज्ञान स्वयं ही विचार कर सकते हैं। जन्म स्वामी के बाद न तो कोई वि० सम्प्रदाय की मान्यता से केवलज्ञानी हुआ और न श्वेताम्बर सम्प्रदाय की मान्यता से ही केवलज्ञानी और मोक्षगामी हुआ है। अतः मानना होगा कि इस दृष्टि में जो ऐतिहासिक गवेषणा है वह स्पष्ट युक्ति-युक्त महत्त्व के लिये दृष्ट है। अब रही बल की ऐतिहासिकता सो उसके ऊपर सिर्फ इतना ही प्रकारा काफ़ी है कि श्री कुम्भकुन्द अपने आपकी भद्रवाद-भक्तकेवली का शिष्य लिख रहे हैं, इस लिये वे बहुत प्राचीन आचार्य सिद्ध होते हैं और उनसे सबका अनगार का तोलना संनिधे किया है क्योंकि वह समय मोक्ष का तो था ही नहीं जिससे कि किसी सबका भी मोक्ष दृष्टि—गत हुई हो। केवल-संघ विभिन्न सं शिष्य द्वितीय संघ की वैसी मान्यता हो गई थी, उसको सम्बोधन के निमित्त जो महाधीर प्रभु की यानी मूल संघ के आम्नाय की साथ बात है वह लिखी है। अतः ऐतिहासिकता ने वहां भी अपना सम्बन्ध नहीं छोड़ा है। परन्तु वहां के प्रकरण में तो सबका का कुञ्ज भी सम्बन्ध नहीं था। उस तो आप जवरन में आये हैं और जो केवलज्ञान और मोक्ष के असमय सम्बन्ध का विषय था उसे आपने यहां संबंधों की जाड़ दिया है। इससे लेख के विषय का अन्वेषण में ठाककर पाठकों के दृष्टिबन्धु को दिशाभ्रष्ट करने के कारण लेख के प्रस्तुत किने-सुने पर क्या ठण्डे दिल से निष्पन्न दृष्टि के द्वारा

+ श्री कुम्भकुन्द स्वामी के गुरु पंचम भक्तकेवली भद्रवाद की है। इसका समाधान हेतु शिष्य के चरम में ‘जैन इतिहास का एक विद्वान् सम्प्रदाय नामक द्रष्टा के खड्डन में पीछे छोड़ा है।

सौजन्यपूर्वक वह विचार संभवित हो सकता है।

सूत्रपाट्ट की २३.वीं गाथा की टीका में जो भुतनागरसूर ने यह लिखा है कि—“जिसके पंच-करणाद्युक्त होगये हों तथा अनगार केबलीभी हो और यदि वह ब्रह्मसहित हो तो सिद्धि को प्राप्त नहीं कर सकता।” इसका तात्पर्य सबका को मोक्ष सिद्धि का तीव्र निषेध है वह इस विषय का भुतनागरसूर का कथन ऐसा है कि जैसे लोकौक्त में—मृत्यु पश्चिम दिशा में उदय हो तथा अग्नि कदाचित् अपने उष्ण स्वभावका त्याग कर दे, परन्तु बैसा नहीं हो सकता इत्यादि रूप से कह देते हैं बैसा ही यहां समझने का है। नहीं तो पंचकरणाद्युक्त में मोक्ष आपही आजाता है। फिर उसका अन्य करणाद्युक्तों के साथ कथन करना किस प्रयोजन का हो सकता है तथा केवलज्ञान बाद मोक्ष-सिद्धि अवश्य ही होती है। अतः वहां भी केवलज्ञानी लिखना किसी कैसे प्रयोजन को नहीं रखता है। अर्थात् उस सब का तात्पर्य सिर्फ यही है कि सबका के मोक्ष-सिद्धि नहीं है।

इस विषय के आगे—भावपाट्ट-रचित शिव-कुमार के मोक्ष सम्बन्धी विषय को लेकर मेरे द्वारा उल्लिखित विषय के सहज निमित्त आपने वर्तमान समय में मोक्ष-सिद्धि वाचन ऐसा लिखा है—“इसमें भी कोई बल नहीं है, क्योंकि ऐसे कथन बहुत मिलते हैं। “जैसाकि भावपाट्ट के अन्त में कुन्दकुन्द ने लिखा है कि जो कोई इस भावपाट्टको पढ़े सुने और भावना भावे वह अविवक्षित स्थान अर्थात् मोक्ष को प्राप्त हो सकता है।” इसमें भी यह भावगति उठाई जा सकती है जब आज्ञाकाल का समय मोक्ष के योग्य नहीं तब फिर इस भावपाट्ट कोई पढ़कर कोई कैसे मोक्ष प्राप्त कर लेगा जो समाधान वहां हो

सकता है वह पूर्वांक प्रकरण में भी लागू हो सकता है।”

मेरी समझ से यह सब आपका लिखना एकान्त दृष्टि को लेकर ही है, कारण कि श्री कुन्दकुन्द उधर तो सबका मोक्ष का निषेध करते हैं और इधर भावपाट्ट के पढ़ने आदि से भावशुद्धि में मोक्ष लिखते हैं। अतः इस सबका तात्पर्य स्पष्ट प्रतीत होता है कि—निबन्ध अर्थात् दिगम्बर होकर जो भावशुद्ध होगा तथा उसके साथ काल और क्षेत्र भी योग्य होगा तो वह मोक्ष को प्राप्त कर सकता है। न्याय का सिद्धांत है कि बिना द्रव्य, क्षेत्र, काल भाव आदि सामग्रियों के कार्य नहीं हो सकता है। इस तरह यहाँ बैसा ही समझना जरूरी है, कारण कि मोक्ष प्राप्ति भी एक मुख्य कार्य है उसके लिये भी जो साधन शास्त्रोक्त नियत हैं वे होने चाहिये। भावपाट्ट आदि का विषय इस सिद्धांत को लिये दिये है कि जिस पदार्थ का कथन जिस स्थान में किया जाता है उसका उस प्रकरण में सर्वोत्कृष्ट वर्णन किया जाता है। उससे फिर यह नहीं समझा जा कि अन्यत्र अन्य पदार्थ का जो उल्लेख वर्णन है वह कुछ भी कार्य का नहीं रहा। इस सर्व ग्रन्थ शैली के कथनका तात्पर्य सिर्फ इतना ही होता है कि कार्यसिद्धि में समस्त सामग्रियां अपने अपने विषय की पूर्णता को लिये होनी चाहिये प्रकृत में भावपाट्ट का विषय इसी जिज्ञान को लिये दिये है। अतः स्पष्ट है कि जिन शिवकुमार या शिवभूत का जो पाट्ट में मोक्षगानी या केवलज्ञानी का कथन है वे स्वविराजती के शिवभूत से सर्वथा पृथक् थे क्योंकि स्वविराजती के शिवभूत का जो समय है वह मोक्ष जाने का नहीं था। इस सर्व कथनसे स्पष्ट है कि जो मोक्षेश्वर साहब ने इस संबंधमें

लिखा है वह कुछ भी बलको लिये हुए नहीं है अर्थात् निस्सार है ।

आगे आपने स्थविरावली के शिवभूति की प्रशंसा के निमित्त जो यह लिखा है कि—‘शिवभूति के निश्चित आधार से उतना मतभेद होते हुए भी कुन्दकुन्द आचार्य में इतनी उदारता और महानता थी कि वे अपने पूर्ववर्ती उन महापुरुषों के सद्गुणों की प्रशंसा करें, यथाशक्तः उन्होंने शिवभूति का उदाहरण ही इसी लिये दिया है कि बाधलिंग न होने पर भी भाव की शुद्धि से वे केवलज्ञानी हुए । इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं’ प्रोफेसर साहब की यह लिखावट भी इस प्रकरण में कुछ भी सत्त्व नहीं रखती । कारण कि एक तो इस बात की पुष्टि में ही आपने कोई भी ऐसा प्रमाण उपस्थित नहीं किया है कि वे श्वेताम्बर स्थविरावली के ही शिवभूति हैं । जिनकी कि कुन्दकुन्द स्वामी प्रशंसा कर रहे हैं । कारण कि ‘स्थविरावली के शिवभूति केवलज्ञानी थे’ इस बात का प्रकरण किसी श्वेताम्बर ग्रन्थ तथा उनकी किसी पुरानी पट्टावली में भी नहीं आया है दूसरे द्रव्यलिंग के बिना केवल भावलिंग से ही शुद्धि होकर केवलज्ञान हो जाता तो फिर भी कुन्दकुन्द स्वामी का तीव्रता से ‘मन्त्र को केवलज्ञान और मोक्ष-सिद्धि का निषेध है’ वह व्यर्थ पढ़ जाना है । आश्चर्य है कि आपके मतमें कुन्दकुन्द स्वामी ने शिवभूतिकी प्रशंसा में बाह्य द्रव्यलिंग की कुछ भी अपेक्षा नहीं रखी और सरलता में होने वाले मोक्ष-निष्ठि के कार्य में बाध-निषेध का तीव्रता से निषेध किया । मेरी समझ से यह पूर्वापर विरुद्ध कथन का विधान भीनयज्ञ प्रौढ़ वीतराग अनार कुन्दकुन्द स्वामी का तो कभी भी नहीं हो सकता और यह बात किसी प्रज्ञावान की शुद्धि-

गम्य भी किसी प्रकार नहीं हो सकती । उदार और महान पुरुषों की उदारता और महानता की हद कहीं तक हो सकती है जहां तक कि—यथार्थ और मुख्य सिद्धान्त में किसी प्रकार का विरोध न आवे तथा उनकी वैसी कृति से सनातन मूल सिद्धान्त का ही उल्लेख न हो जाय । आश्चर्य है कि हमारे मित्र प्रोफेसर साहब इस निस्सार कल्पना की जाड़ लेकर कुन्दकुन्द स्वामी सरीखे महान पुरुषों में पूर्वापर विरुद्धता का विधान दिखाना रहे हैं जो कि वहां उस प्रकार की गंध भी संभवित नहीं हो सकती ।

भी प्रोफेसर साहब लिखते हैं कि—‘बटेर की पीढ़ी बन सकती है । हां ! वह बहुत ही छोटी होगी शिवाये ने भगवती आराधना में प्रतिज्ञेवन के “लघुत्व” को एक उसका आवश्यक गुण बतलाया है, इसका उत्तर सिर्फ इतना ही है कि—बटेर पक्षी का मिलना यदि कदाचिन् उस समय सुलभ भी होगा फिर भी उसके पंखों की पीछी तो किसी हाकतमें बन नहीं सकती । शायद छोटी से छोटी कूँ भी भले ही बन सके । दूसरे बटेर जल्दी पकड़ में नहीं आता शायद ही कोई बड़े परिभ्रम से उसे पकड़ सकता है इसी लिये उसकी दुर्लभ प्राप्ति होने के सबब किसी मनुष्य को अलभ्य पदार्थ की प्राप्ति में ‘बटेर इसके हाथ आ गई’ ऐसा कहानन मशहूर है । इससे उस के पंखों की पीछी का सुलभ होना भी अत्यन्त दुस्साध्य है । भगवती आराधना में ‘पीछे के गुणों में जो ‘लघुत्व’ गुण का बण्ण है उसका तात्पर्य सिर्फ हलकापन होता है । मयूर के पंखों की पीछी इसकी भी होती है तथा जिस तरह वहां पीछी का गुण हलकापन (लघुत्व) बतलाया है उसी प्रकार वहाँ का मोल होना वैसा ही पक्षीना आदि न लगभग आदि

और भी गुण वस्तुमान हैं। वे सब मयूर पिच्छी के सिवाय दूसरी जाति की पिच्छी में जैसे पाये नहीं जा सकते। अतः सूक्ष्मप्राधना (भगवती आराधना) के कथन से मयूर पिच्छी का ही वहां प्रदण हो सकता है। दूसरी जाति की पिच्छी का किसी अंश में भी प्रदण नहीं हो सकता। अपने टुकट में आपने 'बोटिक' शब्दको लेकर शब्द परिवर्तनों के रूपसे जो बटेरकी कल्पना की है वह अजीब और विचित्र होनेसे एक असम्भव ही कल्पना है, क्योंकि वह दुष्कर होने के कारण निस्सार है। आगे आपने जो यह लिखा है कि—'बोडिअ' का बोधक और 'यापनीय' का ज्ञापनीय अर्थ किया है वह किस आधार पर और उससे प्रकृत विषय पर क्या प्रकाश पड़ता है समझमें नहीं आता, इसमें पहले अंश का उत्तर यह है कि—बोडिअ का विकृत रूप लेखन विचित्र कला से 'बो-डिअ' बन गया मालूम होता है कारण कि 'ह' की 'र' ऐसी पूंछ रेखा ऊपर चढ़ जाने से 'डि' ऐसा हो जाना स्वाभाविक है। और 'बोडिअ' का अर्थ 'बोधक' होता ही है जब कि बोडिअ का अर्थ 'बो-डिअ' करने में कुछ भी सार्थकता में उपाधि से संबंध

नहीं रखता। और 'ज्ञापनीय' 'जा' गत्यर्थक और प्रात्यर्थक धातु से बनता है। व्याकरण में जो गत्यर्थक धातुएं होती हैं उनका ज्ञान, गमन, प्राप्ति अर्थ होता है। इस लिये यापनीय का अर्थ ज्ञापनीय हो ही जाता है। ऐसे अर्थों का इस प्रकार से वह सम्बन्ध होता है कि जो बोधक उपाधि है वह साधुता सूचक करने निमित्त यापनीय संब को समानार्थ बोधिका होने से मुख्यतया विशिष्टता हो सकती है जो कि वहां वही संभवित है; न कि 'बो-डिअ' के बटेर सम्बन्धी अमंभावी कल्पना संभवित है। श्री प्रोफेसर साहब ने लेख की भाषा के सौजन्य को लक्ष्य कर जो धन्यवाद दिया है उसके लिये मैं आपके सौजन्य का आभारी हूँ। किसी भी अपूर्व पदार्थ का निर्णय जितना शिष्ट सवुक्तिक भाषा सौजन्य से हो सकता है वह दूसरे मार्ग से कदापि नहीं हो सकता। इस लिये पदार्थ-निर्णय में यही पद्धति विशेष लाभकारी तथा भयंकर है। अतः इसी का अनुकरण अभिवांछनीय है।

—जैन-बोधक



शिवभूति शिवार्य और शिवकुमार

(लेखक:— पं० परमानंद जी जैन शास्त्री, सरसावा)

प्रो० हीरालालजी जैन एम० ए० (अमरावती) ने हालमें 'शिवभूति और शिवार्य' नाम का एक लेख प्रकाशित किया है और उससे यह सिद्ध करनेका यत्न किया है कि आवश्यक मूलभाष्य और श्वे. स्वविरावली में बोटिकसंघ (दिगम्बर जैन सम्प्रदाय) के संस्थापक जिन 'शिवभूति' का उल्लेख है वे कुन्दकुन्दाचार्य— प्रणीत भावपाहुडकी ५३वीं गाथा में उल्लिखित 'शिवभूति' भगवतो आराधना के कर्ता 'शिवार्य' और उक्त भावपाहुड की ५१ वीं गाथा में वर्णित 'शिवकुमार' से भिन्न नहीं हैं— चारों एक ही व्यक्ति हैं अथवा होने चाहिये। और इस एकता को मान कर अथवा इसके आधार पर ही आप 'जैन इतिहास का एक त्रिलुप्त अध्याय' नामका वह लेख लिखनेमें प्रवृत्त हुए हैं जिसे आपने अखिल भारतवर्षीय प्राक्यसम्मेलन के १२ वें अधिवेशन बनारस में अंग्रेजी भाषा में पढ़ा था, जो बादको हिन्दी में अनुवादितकरके प्रकाशित किया गया और जो आज कल जैन समाज में चर्चा का विषय बना हुआ है। इस विषयमें प्रोफेसर साहबके दोनों लेखों के निम्न वाक्य ध्यानमें रखने योग्य हैं—

“आवश्यक मूलभाष्य की बहुधा उल्लिखित की जानेवाली कुछ गाथाओं के अनुसार बोटिक संघकी स्थापना महावीर के निर्वाण से ६०६ वर्ष के पश्चात्

रडबीरपुरमें शिवभूतिके नायकत्वमें हुई, बोटिकोंको बहुधा दिगम्बरोंसे अभिन्न माना जाता है। अतः श्वे. ताम्बर पट्टावलिओंमें वीरनिर्वाण से ६०६ वर्ष पश्चात् दिगम्बर सम्प्रदाय की उत्पत्ति का उल्लेख किया गया है।”

“श्वेताम्बरोंद्वारा सुरक्षित आचार्योंकी पत्रलिखा में कल्पसूत्र-स्वविरावली सबसे प्राचीन समझी जाती है। इससे हमें फगुमितके उत्तराधिकारी धनगिरिके पश्चात् शिवभूतिका उल्लेख मिलता है। ये ही शिवभूति मूलभाष्यमें उल्लिखित शिवभूतिसे अभिन्न प्रतीत होते हैं।”

“कुन्दकुन्दाचार्यने अपने भावपाहुडकी गाथा ५१ में शिवभूतिका उल्लेख बड़े सम्मानसे किया है और कहा है कि वे महानुभाव तुष-माप की घोषणा करते हुए भावविशुद्ध होकर केवल ज्ञानी हुए। प्रसंग पर ध्यान देनेसे यहां ऐसेही मुनिसे तात्पर्य प्रतीत होता है जो ऋषिलिङ्गी न होकर केवल भावलिङ्गी मुनि थे। ये शिवभूति अन्य कोई नहीं, वे ही स्वविरावलीके शिवभूति और आराधना के कर्ता शिवार्य ही होना चाहिये।”

भावपाहुडकी गाथा ५१ में शिवकुमार नामक भावधर्मणाका उल्लेख है जो बुधविजय से वैदित होते

दूर भी विशुद्धमति रहकर संसार से पार उतर गये । इसका जब हम भगवती आराधना की ११०८ से १११६ तक की गाथाओं से मिलान करते हैं, जहाँ सिरों और जेष्ठान्त में रहकर भी उनके विषय बच निकलने का सुन्दर उपदेश दिया गया है तो हमें यह भी सन्देह होने लगता है कि यहाँ भी कुन्नुन्दका अभिप्राय इन्हीं शिष्याय से हो तो आश्चर्य नहीं । उनके उपदेश का उपचार से उनमें सद्भाव मान लेना असम्भव नहीं है ।” (प्रथम लेख)

“मैंने अपने ‘शिवभूति और शिष्याय’ शीर्षक लेख में मूलभाष्य में उद्धिखित बौद्धिक संघर्ष के संस्थापक शिवभूतिको एक और वस्तुसूत्र-स्थापितरावली के आर्य शिवभूति और दूसरी ओर शिष्यर ग्रन्थ आराधना के कर्ता शिष्याय से अभिन्न सिद्ध करने का प्रयत्न किया है, जिससे उक्त तीनों नामों का एक ही व्यक्ति से अभिप्राय पता जाता है जो महावीर के निर्वाण से ६०६ वर्ष पश्चात् प्रसिद्ध में आये । मूलभाष्य की जिन गाथाओं पर से मैंने अपना अन्वेषण प्रारम्भ किया था उन में की एक गाथामें शिवभूति की परम्परामें ‘कोटिभ-कुटुम्बीर’ का उल्लेख आया है, अतः प्रस्तुत लेख का विषय शिवभूति अपर नाम शिष्याय के उत्तराधिकारियों की खोज करना है ।” (द्वितीय लेख)

अब मैं अपने पाठकों पर यह स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि प्रो० साहब ने जिन दो शिवभूतियों, शिष्याय और शिवकुमारको एक व्यक्ति सिद्ध करने का प्रयत्न किया है वह बहुत ही सशेष तथा आपत्ति के योग्य है । वे चारों एक व्यक्ति नहीं थे और न किसी तरह पर एक व्यक्ति सिद्ध ही होते हैं, जैसा कि निम्न प्रमाणों से प्रकट है :—

(१) भावपाटुडकी २३३ की गाथामें जिन शिवभूति

का उल्लेख है वे केवलज्ञानी थे जैसा कि उस गाथा के ‘केवलज्ञानी कुट्टं जाओ’ इन शब्दों पर से स्पष्ट है । स्थितिरावली के शिवभूति और भगवती आराधना के ‘शिष्याय’ दोनों ही केवलज्ञानी न होकर ब्रह्मस्थ थे—जम्बूस्वामी के बाद कोई केवलज्ञानी हुआ भी नहीं । भ० आराधना के कर्ता शिष्याय स्वयं गाथा नं० २१६७ में अपने को ब्रह्मस्थ ज्ञाते हैं और प्रवचन के बिच्छ यदि कुछ निबद्ध हो गया हो तो गीतार्थों से उसके संशोधन की मायना भी करने हैं । यथा :—

ब्रह्ममत्याण एत्थ दु जं बद्धं पवयणविच्छं ।

सोधेनु मुग्गीदत्था न पवयणवच्छलत्ताण ॥

अतः ये तीनों एक व्यक्ति नहीं हो सकते ।

(२) केवलज्ञानी को सबज्ञ न मानकर मात्र नि-मंलज्ञानी मानने से भी काम नहीं चज़ सकता; क्योंकि कि भवपाटुडकी उक्तगाथा २३३ में ‘नुममासं घोसंतो’ पदों से द्वारा शिवभूतिको ‘बीजवृद्धि’ सूचित किया है और जो बीजवृद्धि होते हैं वे एक पद के आधार पर सकलभूतको विचारकर उसे प्रदण करते हैं तथा मोक्ष जाते हैं । चुनांचे आचार्य वीरसेन ने अपनी ध्वला टीका में, वेदना अपर नाम कम्मपयडि पाटुडके चौथे ‘कम्म’ अनुयोग द्वारा का वर्णन करते हुए, ध्यान विषयक जो शंका-समाधान दिया है उसमें स्पष्ट रूप से शिवभूति को बीजवृद्धि ध्यान का पात्र और मोक्ष गामी सूचित किया है; जैसा कि उसके निम्न अंश से प्रकट है :—

‘अवि एवपयत्तविषयणारोणेव भाणुस्स संभो होइ, तो चोइस-वसणवपुज्जधरे मात्तण अण्णेसि पि भाणं किएण संपउउदे ? चोइस-इस-एवपु-उवेहि विणा धोवेण वि गंधेण एवपयत्ता-वगमो-बलंभा-

ने । ए धोवेण गंवेण णिस्सेसमवगंतुं बीजवुद्धिमुण्ण
खो मोत्तण अरुणे सिमुवायाभावादो जीवाजीवपुण्ण
पावसासवसंवरणुज्जराबन्धमोक्खेहि एवाहि पयत्थे
हि बहिरित्तमण्ण ए किप्पि अत्थि अणुवलंभादो तम्हा
ए धोवेण सुदेण एदे अवगंतुं सक्किज्जंते विरोहादो
ए च दव्वसुदेण एत्थ अहियारो, योग्गलवियारस्स
जलस्स मायोवलिगभूदस्स मुदत्तविरोहादो ।

थोवदव्वमुदेण अवगमासेसणवपयत्थाणं निवभूदि-
आदिश्रीजवुद्धीणंभ्राणाभावेण मोक्खाभावपसगादो ॥

—धवला, स्वर्नाली प्रान्ति ५० ६६६

जब ये शिवभूति मोक्ष गये हैं और मोक्ष बिना
केवलज्ञान (संज्ञाना) की प्राप्ति के नहीं बनना तब ये
मात्र 'नर्मलज्ञानो न कहे जाकर मवेज्ञ ही कह जायंगे
और यही भावपाहुडकी गाथा ५३ में 'केवलगाणी' पद
से श्रीकुन्दस्वामी विचारित है । इमलिये स्थितिगवली
के शिवभूति तथा आराधना के शिवाय केसाथ इनका
एक व्यक्तिव घटित नहीं हो सकता । वे दोनों न तो
बीजवुद्धि थे और न मोक्ष हो गये हैं ।

(३) भावपाहुड की ५१ वीं गाथा में जिन शिव
कुमार का उल्लेख है उन्हें इसी गाथा में युवनिजमं
वेष्टित, विशुद्धमति और भावभ्रमण लिखा है—द्रव्य
नही, तथा 'परीनसंमारी' द्वेषा बतलाया है, और यह
बन शिवकुमार का प्रामाणिक अथवा ऐतिहा-
सिक उल्लेख है जो अन्तिम केवली श्रीजम्बूस्वामी के
पूजे (नीसरे) भव के विदेहक्षेत्रस्थित महापद्म चक्रवर्ती
के पुत्र थे सागरचन्द्र मुनीन्द्र से अपने पूजेभव भ्रमण
कर विरक्त हो गये थे और मुनि गति होने पर के
तीव्र अनुगोधवश घर में इस आश्रामन को पाकर रहे
थे कि वे घरमें रहते यथोचित रूप से उपनय तथा

को न धारण करते हुए भी वे घर में भावावेका मुनि
के समान रहते थे, अपनी अनेक स्त्रियों से घिरे रह
कर भी कमल पत्र की तरह निर्दोष, निर्विकार और
अकामी रह कर पूर्ण ब्रह्मचर्य पालन करते थे, जैसा
कि जम्बूस्वामी चरित्र और उत्तर पुराण के निम्न
वाक्यों में प्रकट है:—

“एवमस्तु करित्येऽहं यथा तात ! मनीषितम् ॥१५६॥

कुमारस्त्वनानूनं सर्वसङ्गपराङ्मुखः ।

ब्रह्मचार्यैकवस्त्रोऽपि मुनिवत्सिद्धिं गृहे ॥ १६०॥

अकामी कामिनां मध्ये स्थितो वारिजपत्रवत् ।” जष

“दिव्यस्त्री-मस्त्रिभि र्गन्धैः मदाऽविकृतचेतसा ।

नृगाय मन्यमानस्ता तपोद्वाद्वा दत्तरान ॥२०॥

चरन्निव निशातामिशारायां संप्रवर्तयन् ।

मन्यम्य जीवितप्रान्ते वरुणे प्रहोन्व्रनामनि ॥” ७० पु०

अतः इन शिवकुमार को आराधना के कर्ता
शिवाय मान लेना भूल में खाली नहीं है । और यह
कल्पना तो यही ही विचित्र जान पड़ती है कि शिवाय
ने चूंकि स्त्रीजनों और विषयों के विष से बच निक-
लने का उपदेश दिया है इस लिये श्रीकुन्दस्वामी ने
उपचार से उन्हीं को युवति जनों से वेष्टित विशुद्धमति
मान लिया होगा और शिवकुमार नाम से उल्लेखित
कर दिया होगा ! परन्तु गाथा में शिवकुमार का द्रव्य
रूप में भ्रमण न बतला कर केवल भाव रूपसे भ्रमण
बतलाया है और आराधना के कर्ता शिवाय द्रव्यरूप
में भी भ्रमण थे, साथही, युवतिजनों में परिवेष्टित रहने
का उनके साथ कोई प्रसंग भी नहीं था । ऐसी हालत
में शिवकुमारको शिवाय नहीं टढ़ाया जा सकता और
न उक्त दोनों शिवभूतियोंकेसाथ उसका एक व्यक्तिव
ही स्थापित किया जा सकता है । स्थाविरावलीके शिव-

मिलनी-शिष्यायने आगवनामें अपने गुरुओंका नाम आर्य जिननन्दी, सबंगुमगणी और आर्य मित्रनन्दी दिया है जबकि स्थाविरावलीमें शिष्योंको धनगिरि का शिष्य और धनगिरि को फर्मास का उत्तराधिकारी प्रकट किया है। ऐसी स्थितिमें कुन्दकुन्दाचार्यको भगवती आराधनाके कर्ता शिष्याय से बादका विद्वान सिद्ध करने का यह सब प्रयत्न ठीक नहीं कहा जा सकता।

इस तरह प्रो० सा० ने जिन आधारों पर जो निष्कर्ष निकाले हैं वे सशेष जान पड़ते हैं, और इस लिये उन निष्कर्षोंकी पुनर्यादपर जैन इतिहासके एक

विलुप्त अध्याय की इमारत खड़ी करने हुए शिष्यायके उत्तराधिकारियों की जो खोज प्रयत्न की गई है वह केन्ने निर्दिष्ट हो सकती है ? इसे पाठक स्वयं समझ सकते हैं। यही कारण है कि आप को उस सशेष खोजका प्रबल विरोध हो रहा है, जिसका एक उदाहरण 'क्या नियुक्तिकार भट्टबाहु और भवामी समन्तभट्ट एक हैं ?' इस शीर्षक का लेख है; जिनमें आप की इस मान्यता का प्रबल युक्तियों से खण्डन किया गया है कि श्वे० नियुक्तिकार भट्टबाहु और आत्ममीमांसादिक कर्ता भवामी समन्तभट्ट एक हैं।

अनेकान्त—





[६]

श्री १०८ तपोनिधि, राजगणपूज्य,
अनेक शास्त्र—प्रणेता, विद्वद्भर, विश्वबन्ध,
पूज्य आचार्य कुन्धुसागरजी महाराज



विश्व-कल्याण करने वाला वीनराम दि० जैन धर्म

अनादि काल का है। जो उसे कुन्दकुन्दाचार्य द्वारा

स्थापित कहने हैं उनके वक्तव्य का निषेध।

[१]

श्रीमान मान्यवर धर्मनिष्ठ पण्डित रामप्रसाद जी शास्त्री, पण्डित कुमलकुमार जी अलीगढ़ निवासी तथा श्रीमान पण्डित उल्फतराय जी आदि महान्पुरुषों का लिखा हुआ पत्र ता० ३-८-४४ को मिला। उसमें यह लिखा था कि "श्रीमान मान्यवर अमरावती निवासी पण्डित हीरालाल जी प्रोफेसर ने दिगम्बर धर्म व श्वेताम्बर धर्म में कोई विशेष भेद नहीं है। जो श्वेताम्बर जैन ग्रन्थों में लिखा हुआ है वही कुछ दिगम्बर जैन ग्रन्थों में लिखा हुआ है। अर्थात् श्वेताम्बर जैन ग्रन्थों में स्त्री-मुक्ति, सवस्त्र-मुक्ति, केवली-कबलाहार ये तीन बातें लिखी हैं और वही तीन बातें दिगम्बर जैन ग्रन्थ भगवती—आराधना, सर्वार्थ-सिद्धि, जयध्वलादि ग्रन्थों का सप्रमाण ट्रैक्ट निकला है।" सो यह पत्र आप श्रीमान योग्य पूज्यपाद गुरुवर्य के पास भेजने हैं सो मुक्ति सप्रमाण उत्तर देने की कृपा करें यही नम्र विनती है।

सो आप श्रीमानों का इस तरह का लिखा हुआ पत्र आशुत पढ़ लिया। इसका उत्तर देने के लिये हमारे पास बिलकुल समय नहीं है मैंने सिर्फ मुबह ८। बजे धर्मचर्चा के लिये मौन खोला है और शाम

को पांच बजे आध घण्टा आम पब्लिक विश्वजीवन हिनार्थ भाषणकालिये मौन खोला है। यदि बाकी समय सामायिक ध्यानाध्ययन और विश्व-आत्म शान्ति व आत्म-शान्ति के लिये साहित्य-निर्माण ही करना रहता हूँ। तथा इस मतमतान्तर के भगड़ों में पड़ना मेरे भाव नहीं हैं। क्योंकि मतमतान्तर के भगड़ों में पड़ने से झूठे कथाय, रागद्वेष, पक्षपात आदि प्रादुर्भाव होते हैं। इन कथाय, पक्षपात को छोड़ने के लिये ही तो मैं साधु हुआ और ईर्ष्या, द्वेष, कलह, पक्षपात आदि में पड़ना मैं अच्छा नहीं समझता हूँ। क्योंकि इसी से विश्वधर्म का विनाश हुआ है और हो रहा है। इस लिये मैं इस संकट में दृढ़ रहता हूँ और सर्वधर्म-समन्वयी के द्वारा विश्व-शान्ति चाहता हूँ। सर्वधर्म-समन्वयी का अर्थ सत्याथदर्शन में लिखा हुआ है उसमें जानना।

मैं किसी चिट्ठी-पत्री का जवाब नहीं देता हूँ फिर भी आप बम्बई निवासी सरस्त पंचमहाजनो के अति आग्रह से तथा पक्षपात—रहित सत्य अहिंसा नीतरागी धर्म का वास्तविक प्रतिपादन करने का मन्त्र महापुरुषों का कर्तव्य होने से मैं इस विषय को स्पष्ट

लिखता रहा हूँ ।

वात यह है कि इस भूतल पर धर्म एक ही रहा है और एक ही रहेगा । जब तक भूतल पर एक ही धर्म था तब तक सबत्र शान्ति व घर घर मंगलगान हुआ करता था । जबसे स्वार्थवशात् धर्म धर्मान्तर होने लगे तबसे देश-विदेश में सर्वत्र हाहाकार मच गया । केवल हाहाकार ही नहीं मचा किन्तु मार-काट, लूट हो रही है । यह सब दुराग्रह का दुष्फल ही है । तब यही प्रश्न होता है कि वह एक धर्म कौन सा है ?

वह एक वीतराग दिगम्बर जैनधर्म या अहिंसा-धर्म है उसी का नामान्तर अपरिग्रह धर्म या त्याग-धर्म है ये सब एक ही धर्म हैं । सो जैनधर्मकी उत्पत्त्यर्थ विशेष नहीं लिखता हूँ क्योंकि उसके लिये सत्यार्थदर्शन नाम का ग्रन्थ अलग छप चुका है सो उससे जान लेना चाहिये । यहां पर वीतराग धर्म अहिंसाधर्म या अपरिग्रहधर्म या त्यागधर्म या जैन-धर्म इन सबका अर्थ एक है । जैसे वीतरागधर्म का अर्थ यह है—“रागद्वेषरहितपना” अर्थात् विश्व के सम्पूर्ण कुटुम्ब को न्यायपूर्वक समानभाव से पालन-पोषण करते हुए बची हुई विषय-वासनाओं को क्षीण करते २ निर्वाण प्राप्त करना—यह ही वीतराग धर्म है । और अहिंसाधर्म का भी यही अर्थ है । अन्न, वस्त्र, गृह, विद्या, अलंकार, आभूषण आदि से समानभाव से विश्वमात्र की रक्षा करना अर्थात् इन के बिना किसी को नहीं मरने देना, अर्थात् समय २ पर इनसे पालन पोषण करना यही अहिंसाधर्म है । इसका विवेचन पूर्वाचार्यों ने यों किया है—

सम्पूर्ण हिंसा को छोड़कर विश्व व आत्मशान्ति के उपायों का प्रचार करने हुए आत्मा में लीन होना

यति धर्म है ।

और यति धर्म के बतलाये गये स्वरूप का एक-देश पालन करना गृहस्थ धर्म है । अर्थात् गृहस्थों को अहिंसा पालन के लिये चार भेद बतलाये गये हैं । औद्योगिक, आरंभिक, विरोधिक और सां-कल्पिक । औद्योगिक और आरंभिक हिंसा तो गृहस्थ को करनी ही पड़ती है । इसके बिना गृहस्थ जीवन चलता ही नहीं है । तथा कभी कभी विरो-धिक हिंसा भी करनी पड़ती है । जैसे दुष्टों दुरा-चारी वा अज्ञानी बाल-बच्चों को हित की दृष्टि से विद्या-विभूषित करने वा सम्मार्ग में लगाने के लिये या राष्ट्र शान्ति के लिये भी विरोधिक हिंसा करनी पड़ती है । यदि विरोधी हिंसा नहीं करे तो विश्व में अव्यवस्था हो जायगी । और स्वर्गतुल्य मत्स्य-लोक नरकतुल्य बन जायगा । इस लिये विरोधी हिंसा भी करनी पड़ती है । इस प्रकार ये तीनों हिंसा तो गृहस्थों के लिये अनिवार्य हैं । अब रही संकल्पिक हिंसा—

जो अपने स्वार्थ की सिद्धि के लिये या अपनी मान बढ़ाई सुमेरु पर चढ़ाने के लिये या सोटी अपनी २ स्वच्छन्द धर्म प्रवृत्ति चलाने के लिये व सत्यधर्म के मन्दिर जायशब्द हड़पने के लिये मार-काटकर लूट लेना ये सब संकल्पी हिंसा है । ऐसी हिंसाका विश्वस्थ गृहस्थोंकेलिये त्याग लिखा है । इस का विशेष खुलासा देखना हो तो “मनुष्यकृत्यसार” या “साधधर्मसार” ग्रन्थ को देखना चाहिये । इस प्रकार वीतराग अहिंसा धर्म का व्याख्यान किया । इसी मार्फिक अपरिग्रह धर्म त्यागधर्म या जैनधर्म का लक्षण जानना चाहिये । अथवा यों कहिये उपरोक्त लक्षण के सिवाय और कोई धर्म नहीं है ।

इस वीतराग ~~मनोवैयर्थ्य~~ को पालन करने वाले अनादिकाल से इस भूतल पर चौबीस तीर्थंकर नव-प्रातर्नारायण, नववसन्त, १२ चक्रवर्ती आदि सदा से इस भूतल पर होते आ रहे हैं और भविष्य में होते रहेंगे। इस भवसत्त्व जैन के इतिहास से अनन्ता का कितना कल्याण हुआ तथा होगा यह मानवमात्रको विचार करने की जरूरत है।

यह धर्म जब तक कृत्रियों के तथा त्रेराठ शालाक पुत्रों के हाथ में रहा तब तक इस धर्म का प्रभाव सर्वत्र मानवमात्र पर पड़ता था और मानव तदनुकूल प्रवृत्ति करने थे उस समय धर्म धर्मान्तरता गगनैर ह्यां आदि भाष परस्पर तिलनुपमात्र भी नहीं था क्योंकि पहिले मानवमात्र का एक ही वीतराग अहिंसा धर्म का ही मन्त्र प्रचार था। और आगम से भी प्रमाण है कि विश्व भूतल पर मानवमात्र का एक ही वीतराग धर्म है। और यही एक धर्म आज वर्तमान में विदेह क्षेत्र में सर्वत्र फैल फूल रहा है वहां धर्म धर्मान्तरता नहीं है। मले ही वहां भाव मिथ्यात्व हो किन्तु द्रव्य मिथ्यात्व नहीं है। भाव मिथ्यात्व का मतलब यह है कि कुटुम्ब परिवार शरीर आदि मेरे हैं और मैं उनका हूं ऐसा मानना सो भाव मिथ्यात्व है। और द्रव्य मिथ्यात्व पर वैष्णव मंदिर, शैलाम्बर मन्दिर, क्रिश्चियन मुसलमान पारसी मन्दिर, इस तरह धर्म धर्मान्तर का भेद भाव यहां भरतक्षेत्र में है विसा वहां नहीं है। वहां केवल वीतराग शासन आयतन के सिवाय और कोई धर्म नहीं है। अजरा-मरुति अनादिकाल से विदेह क्षेत्र में है। और अनन्त काल तक रहेगी। वहां वीतराग शासन में कभी भी परिवर्तन होता नहीं है। किन्तु पञ्च भरत पञ्च पेरवत क्षेत्र के अन्ध हुंहावसर्पिणी काल के दोष ने

कलुक्त्त परिणाम तथा विषय वामना आदि में अति-गृह्यता रखने वाले जीव होने से मत मतान्तर पैदा हुए। और तब से वणिक पुत्रों के हाथ में यह वीतराग धर्म आया किन्तु वणिक पुत्रों ने धर्म की तरफ लक्ष्य न दे कर धन को कमाया और ऐसे अमोलिक वीतराग धर्म को खोया। सो वणिक पुत्र प्रार्थान्त के पात्र हैं सो जानना। क्योंकि इन्हीं ने इस पवित्र विश्व कल्याण करने वाले वीतराग धर्म का प्रचार न करके मांसारिक मायामयी दौलत के समान इस धर्म को निजोड़ी में बन्द कर रक्खा।

इसी कारण से यह मतमतान्तर पैदा हुई। यह जैनियों के प्रमाद का ही फल है। नहीं तो आपको इस वक्ता “खो-मुक्ति, मवस-मुक्ति व कंवली को कवलाहार” प्रोफेसरजी द्वारा निकाला हैण्डबिल ट्रेक्ट हमारे पास भेजने की जरूरत ही क्या थी।

इस वीतराग अहिंसाधर्म का मानवमात्र पर कैसा असर पड़ा था। इसका इतिहास मैं आपके सामने देता हूं। जिससे आपकी गंजा दूर होकर समूल नारा हो जायगा। और यह दिगम्बर प्रवृत्ति प्राचीन कब से है इसका भी आपको मालूम हो जायगा और कुन्दकुन्दाचार्य ने दिगम्बर जैनमत का स्थापना किया ऐसा कहने का माहम भी नष्ट हो जायगा। क्योंकि कुन्दकुन्दाचार्य के पहिले अनन्तकाल से यह दिगम्बर आम्नाय चला आ रहा है यह उसके इतिहास में स्पष्टतया मालूम हो जायगा।

कृष्णवाक्य महाभारत में लिखा है कि जब अर्जुन महाभारत के लिये जा रहे थे तब उनके सामने निमन्थ मुनिरात्र आये तो अर्जुन ने श्रीकृष्ण से पूछा कि यह राकून कैसा है? तब श्री कृष्ण ने कहा कि जल्दी जाओ धनुष हाथ में लो, मारो पृथ्वी

जीतोगे । क्योंकि यह परमहंस परमात्मा दिगम्बर
वेषधारी सामने आये यह राकुन बहुत अच्छा है ।
तब अर्जुन युद्ध के लिये चले गये ।

हिन्दी इतिहास के अनुसार भी कृष्ण जी का
काल ५००० पांच हजार वर्ष के पहिले का है उसका
श्लोक लिख दिया जाता है ।

ओरोहृष्य रये पार्थ, गांडीवं च करे कुठ ।
निर्जिता मेदिनी मन्ये, निर्घ्न्यो यस्य सम्मुने ।
इति कृष्णवाक्य भारत०

दत्तात्रयो महायोगी, योगीशश्चामरप्रभुः ।
मुनिदिगम्बरो बालो, मायामुक्तो यदा परः ॥
इति दत्तात्रय स्तोत्र पा० २४

जैनमागरतो जितक्रोधो जितामयः ।
इति दक्षिणामूर्ति सहस्रनाम
ॐ नमः सुवीरं दिव्यामसंक्रागभंमनातनमुपैम ॥
इति यजुर्वेद अध्याय ६ म० २५

ॐ वृषभं पवित्रं नमनमुपवि [ईं] प्रसामहे ।
येषां नमना [नमनये] जातिर्येषां वीराः ॥
इति ऋग्वेद मध्ये

नमनं परमाह संस्तुतं वारं शत्रुं जयंतं पशुरिन्द्र-
माहुरिति भावा ।

इति यजुर्वेद अ० २५ म० ६
एकाकी निःस्पृहः शान्तः कर्मनिर्मूलनक्षमः ।
कदा शम्भो भविष्यामि पाणिपात्रो दिगम्बरः ॥
इति भर्तृहरिकवि वैराग्यशतक में लिखा है ।

शौचं निकामं मुनिपुङ्गवानां,
कमण्डलोः संभयणान् समाम्नि ।
न चांगुली सपे बिदुपिताया,
द्विनलि नासां खलु कश्चिदत्र ॥
पापिष्ठं पापहेतुर्वा, यक्षचानिष्ट विचेष्टितम् ।

अमंगलकरं वस्तु प्राप्तिवर्षिषिषाति च ॥
ज्ञानध्यानतपःपूजा, सर्वसत्त्वहिते रतः ।
किमन्यममंगलं लोके, मुनयो ययमंगलं ॥
पद्मिनिराजहंसाश्च निमग्न्याश्च तपोधनाः ।
यं वैराग्यपसर्पन्ति सुभिक्षं तत्र निर्विरोह ॥
दृष्टवानुयांतमृषिमात्मजमप्यनमः ।
देव्यो ह्रिया परिदधुर्न सुतस्य चित्रम् ॥
तद्बोध्यं पृच्छति मुनौ जगदुस्तवास्ति ।
स्त्रीपुंभिक्षा न तु सुतस्य विविक्तदृष्टेः ॥

इति भागवते महापुराण-प्रथमस्कन्धे चतु-
र्थाध्याये पंचम श्लोकः

अग्नीमहि वयं भिक्षामाशावासो वंसीमहि ।
'राथीमहि महीदृष्टे कुर्भीमहि किमीश्वरैः ॥
वैराग्यरातक पृष्ठ १२१

जथाज्ञातरूपधरो निर्घ्न्यो निष्परिमः ।
तद्वन्मार्गो सम्यक् सम्पन्नः उद्भानसः ॥

प्राणसंधारणार्थं यथोक्तकाले विमुक्तो मैत्रेया-
चरन्नुदरमात्रेण लाभालाभयोः समो भूत्वा शून्यागार-
देवगृहगृणाकूटवल्माकृत्वा जलज्जलातरालाग्निहोत्र-
गृह्नन्दीपुलिन-गिरि-कुहर-कंदक-कोटर-निर्जनस्थं वि-
लेपु तैत्तिरिनिकेतवासस्य प्रयत्नो मिमंमः शुक्लध्यान-
परायणोऽध्यात्मनिष्ठो अशुभकर्म-निर्मूलनपरः
मन्यासेन देहत्यागं करोति स परमहंसो नामेति ।

वेकटरवर ज्ञापा सन १६६६ का ज्ञापा गुटका पृ०
२६०-२६१ पर है ।

आजानुलम्बनाः श्रीवत्साङ्कः प्रशांतमूर्तिश्च ।
दिग्भासालक्ष्यो रूपवांश्च कथं ईदृशं देवः ॥
वराहमिहर् वृहत्संहिता में अ० ५८ श्लो० ४५
निरावहरणा इति दिगम्बराः ।
कुमुदाञ्जलि ग्रन्थ के पृष्ठ १६ में पर लिखा है

कंवाकोपीनोत्तराखण्डीनां त्वागिनो यथाजात-
रूपवरा निर्मन्था निष्परिग्रहाः ।

इति संवर्तश्रुतिः

अर्हन्तो देवता यत्र निर्मन्थो दृश्यते गुरुः ।

वया वैव परो धर्मस्तत्र मोक्षः प्रदृश्यते ॥

पद्मपुराणभूमिसंह अ० ३७-३८ पृष्ठ ३५-३६ में
जैनधर्म की कथा लिखी है उसमें का यह श्लोक है ।

सर्वात्मनात्मनि त्वाप्य परमात्मानमीश्वरं ।

नम्रजटो निराहारो चिराध्वातमतो हि सः ॥

इति किंगपुराण अ० ४७-४८ पृ० ६८ श्लो० २२

नाहं रामो न मे बाह्या भावेपु च न मे मनः ।

शांतिमात्मानुमिच्छामि त्वात्मन्येष जिनो यथा ॥

एको रागिपु राजते प्रियतमा देहाधंधारी हरो ॥

नीरागेपु जिनो विमुक्तलज्जना-संगो न यस्मान् परः

इति भर्तृहरि

आतिथ्यरूपं मासरं महावीरस्य नम्रहुः ।

रूपमुपासयामेय तिस्रो रात्रीः सुराः सुता ॥

यजुर्वेद अध्याय १६ मंत्र १४

सत्यं जैनी तपस्या हि स्वैराचारविरोधिनी ।

भारतीय संस्कृत साहित्य में दिगम्बर जैन मुनि

का कल्लोह है—

पायोः पात्रं पवित्रं भ्रमणपरिगतं कैलमक्षय्यमक्षं ।

विस्तीर्णं वस्त्रमाशा मुदराकममलं तल्पमस्वल्पमुद्धं

येषां निःसंज्ञाज्जीवन्त्यकारुण्यत्वात्मसंतोषिताभ्यो

धन्याः सन्यस्तदैव्यव्यतिकरमिकराः कर्मनिमुलवति

इति बैराग्यशतक

ऐर्यं यस्य रिक्तं कमा च जननी शान्तिश्चिरं गोहिनी ।

सत्यं मित्रमिदं वया च भगिनी भ्राता मनःसंयमः ॥

शय्या भूमितलं विशोऽपि वसनं ज्ञानामृतं भोजनं ।

छोते यस्य कुटुम्बिनो वद सखे कस्माद् भयं योगिनः ।

—इति बैराग्यशतक ।

इस प्रकार हिन्दू सम्प्रदाय में माने हुए परमहंस
परिभाजक नामक साधु दिगम्बर ही होते हैं। वे
देरा काल से परे स्वाचरण में निष्ठ होते हैं। इस
प्रकार उनके प्रन्थों में प्रीतिपादन किया हुआ है।
हिन्दुओं के अनेक साधु नम्र थे और वे जैसे कुंभ
मेंला या प्रयाग में। यह सब बाल गोपाल जानते हैं।
और भीमान देशानारायण जी एडवोकेट रामसाचायें
कशी निवासी ने बंकेटरवर पत्रमें अभी आबए मुद्दे
८ को लेख निश्चला है उसमें लिखा है कि “हर साल
कुंभ मेंला में उज्जल भाव धारण करने वाले संकहां
नंगे बाधा जाने हैं।

यह बीतरागता का ही प्रभाव है परन्तु इसमें
नम्र बेरा तो है किन्तु खान-पान जैसा दिगम्बरों में
है वैसा नहीं है। जब भूख लगें तब खा लेंते हैं
प्यास लगें तब पी लेंते हैं। परन्तु बीतराग शासन
में २४ घंटे में एक ही बार भोजन व जल पीने की
आज्ञा है। और यह अनादिकाल से धाराप्रवाह
चला आ रहा है साधु जब ऐसी उज्जल कठिन वृत्ति
से गिर गये तब ये मतमतान्तर स्थापित हुए। इसी
खान पान की वजह से भी श्रृपभदेव के समय में
अनेक साधु गिर गये थे और अब तक गिर रहे हैं।
ये सब हुंदाबासाहिणी काल का दोष है। गिरकर भी
अपना नाक ऊंचा रख जो मोक्ष जाना चाहें उसकी
कथा तो भगवान ही जानें।

जब राजा परीक्षित को सर्पदंष्ट्र हुआ तब उसको
तत्त्वभरण की इच्छा हुई। तब दिगम्बरत्व के शांति
मय उपदेश को शुकदेव मुनि ने दिया तब उसको
शांति हुई।

राजा भर्तृहरि “कदा शंभो भविष्यामि पाणि-

पात्रो दिगम्बरः” इस पवित्र भावना को पहिले से ही आते २ दिगम्बर परिष्ठाजक हुए थे। इस प्रकार सैकड़ों ऐसे स्थान मिलेंगे जहाँ हिन्दू पुराण उपनिषद् वेद आदि ग्रन्थों ने दिगम्बरत्व के महत्व का गीत गाया है।

अब बिदेरा से आये हुए बबन समाज पर भी दिगम्बर बंशराग प्रभु का कैसा असर व प्रभाव पड़ा सो आगे संक्षेप सं संक्षेप करता हूँ सो ध्यान से सुनने की कृपा करिये—

मस्तकी ईरानी कुरानकर्ता मौलाना रुम कासोम गिलानी नाम का साधु दिगम्बर ही रहता था।

अब्दुल नाम का भ्रष्ट फकीर या मस्त दिगम्बर ही रहता था। दिगम्बर हजरत मुहम्मद ने खुद फरमाया है कि मैं किसी नये सिद्धान्तों का उपदेशक नहीं हूँ और मुझे नहीं मालूम कि मेरे या तुम्हारे साथ क्या होगा ? सत्य का उपासक और कह ही क्या सकता है। उसे तो सत्य को गुमराह भाइयों तक पहुँचाना है। और उसे जैसे बनता है वैसे इस कार्य को करना चाहिये। मुहम्मद साहब को अरब के असभ्य से लोगों में सत्य का प्रकाश फैलाना था। वे लोग ऐसे पात्र न थे कि एकदम ऊँचे दर्जे का सिद्धान्त उनको सिखाया जाता। उस पर भी हजरत मुहम्मद साहब ने उनको स्पष्ट शिक्षा दी है कि संसार का घेरा ही सारे पाप की जड़ है। संसार मुसलमान के लिये एक कैदखाना और कहत के समान है। और अब वे इसको छोड़ देते हैं तब तुम कह सकते हो कि उन्होंने कहत और कैदखाने को छोड़ दिया है। त्याग और वैराग्य का हमसे बढ़िया उपदेश और हो ही क्या सकता है। हजरत मुहम्मद ने स्वयं उसके अनुसार अपना जीवन बनाने

का बचावसम्भल बरन किया था। उसपर भी उनके कम से कम बखों का परिधान और हाथ की खंगूठी उनके नमाज में बाधक हुई थी। किन्तु वह उनके लिये इस्लाम के उस जन्म काल में सम्भव नहीं था कि वह खुद नम होकर त्याग और वैराग्य, तर्क दुनिया का भ्रष्टतम उदाहरण उपस्थित करते।

वह कार्य उनके बाद हुए इस्लाम के सूफी तत्व-वेत्ताओं के भाग में आया। उन्होंने तर्क अथवा त्याग धर्म का उपदेश स्पष्ट शब्दों में यूँ दिया है—

दुनिया का सम्बन्ध त्याग देना, तर्क कर देना, उनकी आशायशों और पोशाक सब ही चीजों को अथ की ओर आगे दिगम्बर साहब की हवीस के मुताबिक।

इस उपदेश के अनुसार इस्लाम में त्याग और वैराग्य को विशेष स्थान मिला। इसमें ऐसे दरवेश हुए जो त्याग के हिमायती थे। और दुर्लभ-स्थान में ‘अब्दुल’ नामक दरवेश भादुरजात गंगे रह कर अपनी साधना में लीन रहते बताये गये हैं। इस्लाम के महान सूफी तत्ववेत्ता और सुप्रसिद्ध ‘मस्बूती’ नामक ग्रन्थ के रचयिता भी जलालुद्दीन रुमी दिगम्बरत्व का खुला उपदेश निम्न प्रश्नर देते हैं :—

१—गुफ्त मस्त ऐ महतब बगुजार

रब अत्र बिहरना के तवां बरवत गरब।

जिल्द २ मस्र २६२

२—जामा पोपां रा नजर परगाम रास्त

जामे अरिबां रा तजल्ली जेवर अस्त।

जिल्द २ मस्र ३६२

३—जाम अरियान बयकसु बाज रब

या चूं ईशां फारिग ब बेजामा राब।

४—बरनमी तानी कि कुल अरियां राबी
जामा कम कुन ता रह औसत रबी ।

जिन्द् = सफ ३८३

इनका चर्च में अनुवाद 'इन्शमें मन्जूम' नामक
पुस्तक में इस प्रकार दिया हुआ है—

- (१) मस्त बोला, महतब, कर काम जा'
होगा क्या नंगे से तू अहदे बर चा "
- (२) है नजर धोबी पै जामे पोष की '
है सज्जी जेवर अरियां तनी "
- (३) या बिरहो से हो यक्यू बाकई '
या हो उनकी तरह बेजामे अली "
- (४) मुतलकन अरियां जो हो सकता नही '
कपड़े कम यह है कि औसत के करी "

भाव स्पष्ट है कोई तार्किक मस्त नंगे दरवेश से जा
कलम । उसने सीधे से कह दिया कि जा अपना काम
कर, तू नंगे के सामने टिक नहीं सकता । बख्तारी को
हमेशा धोबी की किकर लगी रहती है । किन्तु नंगे
तन की शोभा वैसी प्रचारा है । बस, या तो तू नंगे
दरवेशों से कोई सरोकार न रख अबचा उनकी तरह
आजाद और नमन दिगम्बर हो जा । और अगर तू
एक हम सारे कपड़े नहीं उतार सकता तो कम से कम
कपड़े पहिन और मध्यमार्गको ग्रहण कर । क्या अच्छा
उपदेश है । एक दिगम्बर जैन साधु भी तो यही
उपदेश देता है । इस से दिगम्बरत्व का इस्लाम से
संबंध स्पष्ट हो जाता है ।

और इस्लाम के इस उपदेश के अनुरूप सैकड़ों
मुसलमान फकीरों ने दिगम्बर वेश को गत काल में
धारण किया था । उनमें अब्दुल क़ासिम गिलानी,
और सरमद शाहीर, उल्लेखनीय हैं ।

सरमद बादशाह औरंगजेब के समय में हो गुजरा

है । और उसके हजारों नंगे शिष्य भारत में बिखरे
पड़े थे । वह मूल में कज्रहाम (अरमेनिया) का रहने
वाला एक ईसाई व्यापारी था । विज्ञान और विद्या का
भी परम विद्वान था । अरबी अच्छी समझी जानता
था । व्यापार के निमित्त भारत में आया था । ठट्टा
(सिंध) में एक हिन्दू लड़के के इस्क में पढ़ कर मजन्
बन गया । उपरान्त इस्लाम के सूफी दरवेशों की संगति
में पढ़ कर मुसलमान हो गया । मस्त नंगा वह
राहरों और गलियों में फिरता था । अध्यात्मवाद का
प्रचारक था । धूमता धामता वह दिखी जा डटा ।
शाहजहां का बहां अंत समय था । द्वारा शिकोह शाहजहां
का बड़ा लड़का उसका भक्त हो गया । सरमद आनन्द
से अपने मन का प्रचार दिखी में करता रहा । उस
समय फ्रांस से आये हुए डा० बरनिबर ने खुद अपनी
आखों से नज़ा दिखी के गलियों में फिरता हुआ देखा
था । किन्तु जब शाहजहां और द्वारा को मार कर
औरंगजेब बादशाह हुआ तो सरमदकी आजादी में भी
अवज्ञा पड़ गया । औरंगजेबके बादशाह होने के समय
मुल्ला को कोई नहीं मानता था और उनकी प्रतिष्ठा भी
कम थी । जब औरंगजेब बादशाह हुआ तब मुल्ला ने
नग्नता को पूर्ण रूप बरा से अपनी प्रतिष्ठा और स्वेरा-
चार प्रवृत्ति को बढ़ाने के लिये औरंगजेब को नमन
मनुष्य को कपड़ा पहनाने की सलाह दी । तब औरंग
जेब ने सरमदसे कपड़े पहननेकी दुरुवास्त की । और
में सरमद ने कहा—

आंकस कि तुरा कुलाह मुस्तानी शद् , मारा हम
औ अस्वाच परेरानी शद् । पोशानीद् क़ासि हरकरा
वेवेदीद् , वेवेबारा लबास अयांनो शद् ।

यानी जिसने तुमको बादशाही खज दिया , उसी
ने हम को परेरानी का सामान दिया । जिस किसी

में कोई देव था उसको सिखास पहनाया और जिस में देव न था उस को नंगे-पन का सिखास दिया ।

इस प्रकार इस अमूर्त्य बार्देको सुनकर बादशाह चुप हो गया । सचमुच उस समय भारत में हजारों नंगे फकीर थे वे दरवेश अपने नंगे तन में भागी-जजीरों को पेट कर बड़े लंबे लंबे तीर्थाटन किया करते थे ।

सारांशतः इस्लाम मद्जब में बीतराग दिगम्बरत्व साधु पद का चिन्ह रहा किन्तु दिगम्बरियों में बांयांस घंटे में एकबार आठार जल लेना और बीतराग वृत्ति-बधेक जो मत है वह उन में नहीं था । और उस को अमली शकल भी हजारों मुसलमानों ने ही है । चूंकि इजरत मुहम्मद किसी नये सिद्धान्त के प्रचार का दावा नहीं करते इस लिये कदना होगा श्रवभाषल से प्रकट हुई दिगम्बर गंगा की एक धारा को इस्लाम के सूफी दरवेशों ने भी अपना लिया था ।

अब ईसाई महजब से कुछ दिगम्बरत्व के लिये प्रमाण देता हूं सो ध्यान से सुनने की कृपा करिये—

ईसाई मजहब में भी दिगम्बरत्व का महत्व मूल्यवा नहीं गया है । बल्कि बड़े मार्क के शहरों में उस का प्रतिपादन हुआ मिलता है । इस का एक कारण है । जिस महानुभाव द्वारा ईसाई धर्म का प्रतिपादन हुआ था वह जैन भ्रमणों के निकट शिक्षा पा चुका था उसने जैन धर्म की शिक्षा को ही अलंकृत भाषा में पाश्चात्य देशों में प्रचलित कर दिया । इस अवस्था में ईसाई मजहब दिगम्बरत्व के सिद्धान्त से काली नहीं रह सकता । और सचमुच बार्देक में स्पष्ट कहा गया है कि—

“उसने अपने बख उतार डाले और सैमुयल के समक्ष पेसी पोथ्या की । और उस सारे दिन तथा

सारी रात वहां नंगा रहा इस पर कन्हों ने कहा क्या साल भी पैगम्बरों में से है ? सैमुयल १६/२४/

उसी समय मनु ने अमोज के पुत्र ईसाइया से कहा जा और अपने बख उतार डाल और अपने पैर से जूते निकाल डाल । और उसने वही किया नंगा और नंगे पैरों वह बिचरने लगा । ईसाय्या २०/१/

इन उद्धरणों से यह सिद्ध होता है कि बाइबिल भी मुमुक्षु को दिगम्बर मुनि हो जाने का उपदेश देती है । और कितने ही साधु दिगम्बर देश में रह चुके हैं । दिगम्बरत्व की आवश्यकता पाप से मुक्ति पाने के लिये ही है । ईसाई प्रम्बकार ने इस के महत्व को खूब धरा दिया है । यही बजह है कि ईसाई मजहब के मानने वाले भी मैककों साधु हो गुजरे हैं । इसी तरह ईसाइयों के मत में दिगम्बरत्व सिद्ध होता है ।

अब बौद्धों के प्रमाण से भी दिगम्बरत्व का कुछ उल्लेख देता हूं । बौद्धों का प्रकरण होने से यहां वि० जैन पद्य पुराण से भी उल्लेख दिये हैं । सो ध्यान से सुनिये—

निगबटो आबसो नाथपुत्तो सम्मग्गु सम्भदस्साभी

अपरिसेसं ज्ञाण दस्सनं परि जानाति ।

इति मज्झिमनिकाय

निगबटो नाथपुत्तो संधी पैव गयी गणाचार्यों ।

व ज्ञातो वसस्सी तिसकरो साधु सम्मतो बहुजनस्स ॥

रत्तसु निरयपत्तिं अट्ठगतो बयो अनुपत्ता ।

इति दीर्घनिकाय ॥

भागवान महावीर वर्तमान क्षात्रवंशी क्षत्रियों के प्रमुख राजा जिह्मार्थ और रानी प्रियकरिणी त्रिशला के सुपुत्र थे । रानी त्रिशला बम्बिचन राजवंश के प्रमुख क्षत्रिय अमयी राजा चेटक की सुपुत्री थी ॥

क्षत्रिय क्षत्रियों का आवास समुद्रिशाही नगरी

वैशाखी में था। कालुक क्षत्रियों की बसती भी उनके निकट थी। कुवहमम और कोकम मज्जिवेरा उन के प्रसिद्ध नगर थे। भगवान महावीर वर्द्धमान का जन्म कुवहमम में हुआ था। और वह अपने कालुकेरा के कारण “कालुपुत्र” के नाम से भी प्रसिद्ध थे। बौद्ध ग्रन्थों में उनका उल्लेख इसी नाम से हुआ मिलता है। और वहाँ उन्हें भगवान् गौतम बुद्ध का समकालीन बताया है। दूसरे ग्रन्थों में कई तो भगवान महावीर आज से लगभग दस हजार वर्ष पहिले इस धरातल को पवित्र करते थे और वह क्षत्रिय राजपुत्र थे।

अरी जवानी में ही महावीर जी ने राज पाट का मोह त्याग कर दिगम्बर मुनि का वेश धारण किया था। और तीस वर्ष तक कठिन तपस्या कर के वह सर्वज्ञ और सर्वेश्वरी तीर्थंकर हो गये थे। “मज्झिमनिकाय” नामक बौद्ध ग्रन्थों में उन्हें सर्वज्ञ सर्वेश्वरी और अशेष ज्ञान तथा दर्शन का ज्ञाता लिखा है।

तीर्थंकर महावीर ने सर्वज्ञ हो कर देश विदेशों में भ्रमण किया था। और उन के धर्म प्रचार से लोगों का आत्म—विकास हुआ था। उनका विहार संप्रसारित होताथा। और उनका विजय हरकोई करता था।

बौद्धग्रन्थ “दीपेनिकाय” में लिखा है कि निर्घन्ध कालुपुत्र (महावीर) सब के नेता हैं, गणायताय्य हैं, दर्शन विशेष के प्रयोक्त हैं, विशेष विख्यात हैं, तीर्थंकर हैं, सब मनुष्यों द्वारा पूज्य हैं, अनुभवशील हैं, बहुत कष्ट से साधु अवस्था प्राप्त करते हैं, और अधिक वयमाप्त हैं।

जैनशास्त्र हरिचरित्रपुराण में लिखा है कि भगवान महावीर ने मध्य के (काशी, कोशाल, कोशालकुसुम्भ, अथस, त्रिगतपञ्चाङ्ग, भद्राक्षर, पाटकचार, मौक, भत्तसय, कनीय, मूरलेन, एवं बुकार्थक) समुद्र तट के

(कलिंग, कुवहमम, कैकेय, आत्रेय, कांबोज, वासुक, यवनमूर्ति, सिन्धु, गांधार, सौवीर, मूर, मीर, धरोक, वाडवान, मारवाज, कावतीय,) और उत्तर दिशा के (तार्ण, कर्ण, प्रसाक, आदि) देशों में विहार कर उन्हें धर्म की ओर आर्जुन किया था।

भगवान महावीर का धर्म अहिंसा—प्रधान तो था ही। किन्तु उन्होंने ने साधुओं के लिये दिगम्बरत्व का भी उपदेश दिया था। उन्होंने ने स्पष्ट घोषित किया था कि जैन धर्म में दिगम्बर साधु ही निर्वाण प्राप्त कर सकता है। बिना दिगम्बर धीतराग वेष धारण किये निर्वाण प्राप्त कर लेना असंभव है। और उन के इस वैज्ञानिक उपदेश का आदर आचार्यवृद्ध ने किया था।

त्रिदेह में जिस समय भगवान महावीर पहुँचे। तो उनका वहाँ लोगों ने विशेष आदर किया। वैशाखी में उन के शिष्यों की संख्या अधिक थी। स्वयं राजा चेटक उनका शिष्य था।

अंगदेश में जब भगवान पहुँचे तो वहाँ के राजा कुण्डिक अज्ञात शत्रु के साथ सारी प्रजा भगवान की पूजा करने के लिये समझ पड़ी। राजा कुण्डिक कोशाली तक महावीर स्वामी को पहुँचाने गये। कोशाली नरेश ऐसे प्रतिबुद्ध हुए कि वे दिगम्बर मुनि हो गये। मगध देश में भी भगवान महावीर का स्वीक विहार हुआ था। और उनका अधिक समय राजगृही में व्यतीत हुआ था। सम्राट् मेणिक, बिम्बसार भगवान के अग्रज भक्त थे। और उन्होंने धर्म प्रभावना के अनेक कार्य किये थे। मेणिक के अग्रजकुमार, वारिषेण, आदि कई पुत्र दिगम्बर मुनि हो गये थे।

दक्षिण भारत में जब भगवान का विहार हुआ तो हेमांग देश के राजा जीवंधर दिगम्बर मुनि हो गये थे। इस प्रकार भगवान का जहाँ जहाँ विहार

हुआ वहां वहां दिगम्बर धर्म का प्रचार बहुत हुआ। शताब्दीक, उदयन, आदिराजा, अभय, नंदियेण, आदि राजकुमार, शालिभद्र, धन्यकुमार, प्रीतिकर, आदि धनकुचेर, इन्द्रभूति, गौतम आदि ब्राह्मण विद्वान विष्णुचर आदि सहश पतितात्मायें और न जाने कौन कौन भगवान महावीर की शरण में आकर मुनि हो गये।

सचमुच अनेक धर्म-पिपासु भगवान के निकट आकर धर्माभ्युपान करने थे। यहां तक कि स्वयं म० गौतमबुद्ध और उनके संघ पर भगवानके उपदेश का प्रभाव पड़ा था।

बौद्ध निक्षुब्धों ने भी नग्नता को भाग्य करने का आग्रह महात्मा बुद्ध से किया था। इस पर यर्थाप महात्मा बुद्ध ने नग्न वेप नुरा नहीं बनलाया किन्तु यह कठिन वृत्ति होने से उससे कुछ ज्यादा शिष्य पाने का लाभ न देखकर उसे उन्होंने अस्वीकार कर दिया। परन्तु भी एक समय नेपाल के तान्त्रिक बौद्धों में नग्न साधुओं का अस्तित्व हो गया था।

सच्चात तो यह है कि नग्नवेपको साधुपदके भूषक रूपमें सबही को स्वीकार करना पड़ता है। ऐंसे प्रामाणिक पुरुषों का विरोध करना अपनी अज्ञाना दिव्यज्ञाना है। उस समय म० बुद्ध के जमाने में तो उसका विशेष प्रचार था। अभी भगवान महावीर ने धर्मोपदेश प्रारंभ नहीं किया था कि प्राचीन जैन और आजीविक साधु नंगे धूमकर उसका प्रचार कर रहे थे।

देखिये बौद्धग्रन्थों के आधार से इस विषय में डा० स्टीवेन्सन लिखते हैं—

“एक तीर्थक नग्न हो गया” लोग उसके लिये बहुत से वस्त्र लाये किन्तु उनको उसने स्वीकार नहीं

किया। उसने यही सोचा कि यदि मैं वस्त्र स्वीकार करता हूं तो संसार में मेरी अधिक प्रतिष्ठा नहीं होगी। वह कहने लगा कि लज्जा-रक्षण के लिये ही वस्त्र धारण किया जाता है और लज्जा ही पाप का कारण है। हम अर्हन्त हैं इस लिये विषय-वासना से अलिप्त होने के कारण हमें लज्जा की कोई परवाह नहीं। इसका यह कथन सुनकर बड़ी प्रमत्तता से वहां इसके पांच सौ शिष्य बन गये। बालिक जम्बूद्वीप में इसको लोग सदा बुद्ध कहने लगे।

यह उल्लेख संभवतः मकखलि गोशाल अथवा पूर्ण काश्यप के संबंध में है। ये दोनों साधु भगवान पार्श्वनाथकी शिष्य परंपरा के मुनि थे। मकखलि-गोशाल म० महावीर से कट होकर अलग धर्मप्रचार करने लगा था और वह ‘आजीविक’ संप्रदाय का नेता बन गया था। इस संप्रदाय का विकास प्राचीन जैनधर्म से हुआ था और उसके साधु भी नग्न रहते थे। पूरणकाश्यप गोशाल का साथी और वह भी दिगम्बर रहा था। सचमुच दिगम्बर जैन धर्म पहिले से ही चला आ रहा था। जिसका प्रभाव इन लोगों पर पड़ा था।

उसपर भगवान महावीर के अवतीर्ण होते ही दिगम्बरत्व का महत्व और भी बढ़ गया। यहां तक कि अन्य संप्रदाय के लोग भी वीतराग नग्नवेश धारण करने को लाजालयित हो गये। जैसे कि ऊपर प्रगट किया है।

बौद्ध शास्त्रों में निर्ग्रन्थ (दिगम्बर) महामुनि महावीर के विहार का उल्लेख भी मिलता है। ‘मज्झिमनिकाय’ के ‘अभयराजकुमारसुत्त’ से प्रगट है कि ये राजगृह में एक समय रहे थे। ‘उपासी सुत्त’ से भगवान महावीर का नासन्ना में विहार

करना स्पष्ट है। उस समय उनके साथ एक बड़ी संख्या में निर्मथ साधु थे। "सामगाममुनि" से यह प्रगट है कि भगवान ने पावा से मोक्ष प्राप्त किया था। "दीर्घनिकाय" का 'पामादिकमुत्त' भी इसी बात का समर्थन करता है। "संयुक्तनिकाय" में भी भगवान महावीर का मंच महिन 'मन्दिच्छा रुंड' में बिहार करना स्पष्ट है।

"ब्रह्मजालमुत्त" में राजगृह के राजा अजातशत्रु को भगवान महावीर के दर्शन के लिये लिखा गया है। 'विनय पिटक' के 'महावग्ग' ग्रन्थ में महावीर स्वामी का देशाक्षी में धर्मप्रचार करना प्रमाणित है। एक 'जानक' में भगवान महावीर को 'अचेलकनान-पुत्त' कहा गया है। 'महावग्ग' से प्रगट है कि अवन्ती के राजपुरोहितका पुत्र नालक बनारस आया था। वहां उसने निगन्थनाथपुत्त (महावीर) को धर्म-प्रचार करने पाया। 'दीर्घनिकाय' से यह स्पष्ट है कि कौशल के राजा पसेनक्षो ने निगन्थनाथपुत्त (महावीर) को नमस्कार किया था। उसकी रानी मल्लिका ने निर्मथों के उपयोग के लिये एक भवन बनवाया था। सारांश यह है कि बौद्धशास्त्र भी वीतराग दिगम्बर धर्म की व भगवान महावीर के विगन्त-व्यापी और सकल बिहार की साक्षी देते हैं।

भगवान के बिहार और धर्मप्रचार से जैनधर्म का विशेष उल्लेख हुआ था। जैनशास्त्र कहते हैं कि उनके संघ में चौदह दिगम्बर मुनि थे। जिसमें ६६०० साधारण मुनि, ३०० अंग पूर्वधारी मुनि, १३०० अवधिज्ञानधारी, ८०० श्रुति विक्रियायुक्त, ५०० चारज्ञान के धारी, ७०० केवलज्ञानी और ६०० अनुत्तरवादी थे। महावीर संघ के ये दिगम्बरमुनि दशगणों में विभक्त थे और ग्यारह गणधर उनकी

देख-रेख करते थे। इन गणधरों का संक्षिप्त वर्णन निम्न प्रकार है—

१-इन्द्रभूति गौतम, २-वायुभूति, ३-अग्निभूति, ये तीनों गणधर मगध देश के गोर्धर ग्राम निवासी वसुभूति (शांतिहृन्) ब्राह्मण की स्त्री पृथ्वी (स्थि-एडला) और केमर के गर्भ से जन्मे थे। गृहस्था-धर्म त्यागने के बाद ये क्रम से गौतम, गार्ग्य और भार्गव नाम से भी प्रसिद्ध हुए थे। जैन होने के पाँहजे ये तीनों वेद धर्मपरायण ब्राह्मण विद्वान् थे। भगवान महावीर के निकट इन तीनों ने अपने कई सौ शिष्यों सहित जैनधर्म की दिगम्बर दीक्षा धारण की थी और ये दिगम्बर होकर मुनियों के नेता हुए थे। देश-देशान्तरों में बिहार करके इन्होंने मूढ धर्म-प्रभावना की थी।

चौथे गणधर ज्यक्त कोल्लगमन्निवेश निवासी धनमित्र ब्राह्मण की वारुणी नामक पत्नी के कूत्स से जन्मे थे। दिगम्बर मुनि होकर ये भी गणनायक हुए थे।

पाँचवें मुधर्म नामक गणधर भी कोल्लगमन्निवेश के निवासी धम्मिल ब्राह्मण के सुपुत्र थे। इन की माता का नाम गहीला था। भगवान महावीर के उपरांत इनके द्वारा जैनधर्म का विशेष प्रचार हुआ था।

छठे मण्डिक नामक गणधर मौर्याख्य देश निवासी धनदेव ब्राह्मण की विजयादेवी स्त्री के गर्भ से जन्मे थे। दिगम्बर मुनि होकर यह वीर संघ में सम्मिलित हो गये थे और देश-विदेश में धर्म-प्रचार किया था।

सातवें गणधर मौर्यपुत्र भी मौर्याख्य देश के निवासी मौर्यक नामा ब्राह्मण के पुत्र थे। इन्होंने

भी भगवान महावीर के निकट दिगम्बरीय होना प्रहण करके सर्वत्र धर्मप्रचार किया था।

आठवें गणधर अकम्पन थे जो मिथिलापुरी के निवासी देव नामक ब्राह्मण की जयन्ती नामक स्त्री के उदर से जन्मे थे। इन्होंने भी खूब धर्म-प्रचार किया था।

नवमें 'धवल' नामक गणधर कौशिलापुरी के 'वसु' विप्र के सुपुत्र थे। इनकी माँ का नाम 'नन्दा' था। इन्होंने भी दिगम्बर मुनि हो सर्वत्र विचार किया था।

दशवें गणधर 'मैत्रेय' थे। वह वत्स देशस्थ तुङ्गिकास्थ नगरी के निवासी 'दत्त' ब्राह्मण की स्त्री करुणा के गर्भ से जन्मे थे। इन्होंने भी अपने गण के साधुओं सहित धर्म-प्रचार किया था।

ग्यारहवें गणधर 'प्रभास' राजगृह निवासी 'बल' नामक ब्राह्मण की पत्नी 'भद्रा' की कुत्ति से जन्मे थे और दिगम्बर मुनि तथा गणनायक होकर सर्वत्र धर्म का प्रोत्तेज करते हुए विचरते थे।

इस प्रकार इन गणधरों की अध्यक्षाता में रहकर उपरोक्त चौदह हजार दिगम्बर मुनियों ने तत्कालीन भारत का महान उपकार किया था। निष्ठा, धर्मज्ञान और सदाचार उनके सदुपयोग से भारत में खूब फैले थे। जैन और बौद्धशास्त्र यही प्रगट करते हैं।

बौद्ध और जैनशास्त्रों से ज्ञात होता है कि तत्कालीन धर्मेगुरु देश में सर्वत्र विचरते थे और जहाँ वे टहरते थे वहाँ धर्म, सिद्धान्त, आचार, नीति और राष्ट्रवर्ता विषयक गम्भीर चर्चा करते थे। सचमुच उनके द्वारा जनता का महान उपकार होता था।

बौद्ध शास्त्र से भी भगवान महावीर के मंच के चिन्ही दिगम्बर मुनियों का वर्णन मिलता है। यद्यपि

जैन शास्त्रों में उनका पता लगाना सुगम नहीं है।

जो हो, उनसे यह स्पष्ट है कि भगवान महावीर और उनके दिगम्बर शिष्य देश में निर्बाध विचरते और लोक-वत्साहण करते थे।

सम्राट अशोक विम्बसार के पुत्र राजकुमार 'अभय' दिगम्बर मुनि हो गये थे। यह बात बौद्ध-शास्त्र भी प्रगट करते हैं। उन राजकुमार ने ईरान देश के वासियों में भी धर्म प्रचार कर दिया था। फलतः उस देश का एक राजकुमार आतंक निर्ग्रन्थ साधु हो गया था।

बौद्धशास्त्र वैशाली के दिगम्बर मुनियों में भृगु-कल्लत्त, कलार मत्थुक और पाटिक-पुत्र का नामोल्लेख करते हैं। भृगुकल्लत्त एक लिच्छवि राजपुत्र था और वह बौद्धधर्म छोड़कर निर्ग्रन्थ मत का अनुयायी हुआ था।

वैशाली के समिकट एक कश्मीरमनुक नामक दिगम्बर मुनि के आवास का भी उल्लेख या शास्त्रों में मिलता है। उस मुनिने यावत् जीवन नग्न रहने और नियमित परिधिमें विहार करने की दृढ़ प्रतिज्ञा ली थी।

भावस्ती के कुलपुत्र अर्जुन भी दिगम्बर मुनि हो कर सर्वत्र विचरे थे।

यह वीतराग दिगम्बर मुनि और इनके साथ जैन साध्वियाँ भी सर्वत्र धर्मप्रदेश देकर सुमुमुक्षुओं को जैनधर्म में दीक्षित करते थे। इसी उद्देश्य को लेकर वे नगरों के चौराहों पर जाकर धर्मप्रदेश देते बाधभेरी बजाते थे। बौद्धशास्त्र कहते हैं कि "उस समय तीर्थक साधु प्रत्येक पक्ष की अष्टमी, चतुर्वशी और पूर्णमासी को एकत्रित होते थे और उपदेश करते थे। लोग उस मुनिकर प्रसन्न होते थे और

उनके अनुयायी बन जाते थे ।

इन माधुओं को जहाँ भी अवसर मिलता था वहाँ ये अपने धर्म की अनुता को प्रमाणित करके अवशेष धर्म को गंगा प्रगट करने थे ।

भगवान महावीर और महात्मा गान्धर्वद्वय दोनों ने अहिंसा धर्म का उपदेश दिया था । किन्तु भगवान महावीरकी अहिंसामें मन वचन कायपथके जीव हत्या से विलग रहने का विधान था । भोजन या मीज शौक के लिये भी उममें जीवों का प्राण-व्यप-रोपण नहीं किया जा सकता था । इसके विपरीत महात्मा बुद्ध की अहिंसा में बौद्ध भिक्षुओं को मांस और मत्स्य भोजन ग्रहण करने की मृत्ती आज्ञा थी । एक बार नहीं अनेक बार स्वयं महात्मा बुद्ध ने मांस भोजन किया था । ऐसा ही अवसरों पर दिगम्बर बौद्ध भिक्षुओं को आड़े हाथों लेते थे । एक मगधवा जब भगवान महावीर ने बुद्ध के इस हिमक धर्म का निषेध किया तो बुद्ध ने कहा 'भिक्षुओं' यह पहिला मौका नहीं है । बालिक नाथपुत्र (महावीर) इससे पहले भी कई मरतवा खास मेरे लिये पके हुए मांस को मेरे भक्षण करने पर आक्षेप कर चुके हैं । एक दूसरी बार जब वैशाली में महात्मा बुद्ध ने सेनापति सिह के घर पर मांसाहार किया तो बौद्ध शास्त्र कहता है "निर्मम एक बड़ी संख्या में सड़क सड़क पर और चौराहों पर यह शोर मचाने करने फिर कि आज सेनापति सिह ने एक बैल का बध किया है उसका मांस भ्रमणगीतम के लिये बनाया है । भ्रमणगीतम जान बूझकर कि यह बैल मेरे आहार के निमित्त मारा गया है पशु का मांस खाता है । इस लिये वही उस पशु के मारने के लिये बधक है । इन उल्लेखों से उस समय दिगम्बर मुनियों की निर्बाध रूप में

जनता के मध्य विचरने और धर्मोपदेश देने का स्पष्टीकरण होता है ।

बौद्ध ग्रन्थों ने कई मगधवा दिगम्बर मुनियों को अपने घर के अन्तःपुर में बुलाकर परीक्षा की थी । सारांगनः दिगम्बर मुनि उस समय हाट बाजार पर महल में राय मगध और मगध की धर्मोपदेश देने हुए विहार करने थे ।

इस लिये बौद्धधर्म में भी दिगम्बरत्व मतानन में विद्व होता है और उन्होंने भी दिगम्बर वीतरागपना माना है ।

प्रोफेसर माहय को देखना चाहिये कि दिगम्बर धर्म पद्धति का चला आया है कि कुन्दादाचार्य ने स्थापित किया है ? अथवा कुन्दकुन्दाचार्य ने स्थापित नहीं किया है, प्राचीनतर ही है । और भी आगे मुनियं दिगम्बर धर्म की प्राचीनता के विषय में अब श्वेताम्बर शास्त्रों का उल्लेख देने हुए दिगम्बरत्व की प्राचीनता विषय में स्पष्टीकरण करता हूँ सो ध्यान से सुनने की कृपा कीजिये—

श्वेताम्बर शास्त्रों में वर्णित भगवान महावीर की यह कथा भी इस बात का प्रमाण है कि उन्होंने बखों को भ्रमण समक कर ही छोड़ा था और फिर कभी नहीं ग्रहण किया था । इन समस्याओं के विचार करने के बाद यहाँ परिणाम निकाला जा सकता है कि मुक्ति के लिये नग्नता अनिवार्य है । कहा भी है—

जिनेश्वर न ते मते पटकवत्सरात्रप्रहो ।

विमृश्य मुखकारणं स्वयमशक्तैः कल्पितः ।

अथायमपि सत्यवस्तव भवेद् वृथा नग्नता ।

न हस्तमुलभे फले सति तदः समाकृते ॥

अर्थात्— हे जिनेश्वर ! तेरे मत में साधुओं के

लिये पात्र और बखों का ग्रहण करना नहीं बतलाया गया। जो स्वयं अशक्त और कमजोर हैं, उन्होंने सुख की सामग्री पात्र और बखों की कल्पना की है। भला अशक्त और ऐहिक सुख के चाहने वालों का इस कठिन मुनि मार्ग में क्या काम? उन्हें तो गृहस्थ ही रहना चाहिये। यदि दस और पात्र धारण करके भी मोक्ष प्राप्त किया जा सके तो फिर नमन होकर व्यर्थ तकलीफ क्यों उठावे? जो फल जमीन पर खड़े २ ही तोड़ा जा सकता है उसके जिय वृत्त पर चढ़ने का कष्ट क्यों करेगा।

प्रोफेसर साहब क्या अन्तर्हीन मानते हैं। वास्तविक है भी ऐसा ही। यदि बिना पढ़े हाँ दिना मिलती तो फिर कौन ऐसा आत्मी है जो विद्या-ध्ययन में इनका परिश्रम करे। अगर स्वयं अपने आप ही रोटी बन जाती तो रोटी के लिये चूल्हा सिलगाना आदि परिश्रम कोई क्यों करे। अगर ५०) रुपयों का साल ओढ़ने को मिले और आनन्द के साथ जब भूख लगे तब रोटी मिले और व्यास लगे तब पानी मिले ऐसे करने २ जब मोक्ष मिल जाय तो आनन्द हो गया। फिर कठिन तपस्या करनेकी जरूरत ही क्या रही और फिर इस दिगम्बर अवस्था में परमहंस बनकर भूख व्यास गर्मी सर्दी के दुख सहन करके मोक्ष प्राप्त करने की क्या जरूरत है। प्रोफेसर साहब! इस तरह मात्र से मोक्ष न कभी मिलता है न मिलेगा। सर्वस्व परित्याग करके आत्मज्ञान होना होगा, बख का तो नाम ही नहीं किन्तु साधु कभी २ जो आहार लेते हैं उस आहार को भी भूलना होगा। तब मोक्ष की प्राप्ति होगी। अथवा यों कहिये कि शरीर स्थिति के लिये साधु आहार लेते हैं वह भी लोहे की चने बनाना है।

प्रोफेसर साहब हीरालाल जी का कहना है दिगम्बर धर्म कुन्कुन्दाचार्य ने प्रतिपादन किया है। श्वेताम्बर दिगम्बरधर्ममें सबस प्रमाण है। सो आप का कहना दिगम्बर शास्त्रके अनुसार तो अनुचित और असत्य है ही। किन्तु श्वेताम्बरीय ग्रन्थोंके अनुसार भी आपका कहना असत्य है यह नीचे लिखे हुए कल्पसूत्र के प्रमाण से साफ २ हो जाता है।

कल्पसूत्र के पृ० ११४ में लिखा है कि भगवान महावीरने अपने शिष्यों को सबस सपात्ररूप धारण कराने के लिये स्वयं भगवान ने पात्र में आहार किया और थोड़े दिन तक बख धारण किया। पश्चात पात्र को छोड़ कर दिगम्बर हो गये और कर पात्र में आहार लिया। ऐसा साफ लिखा हुआ है। अब कहिये प्रोफेसर साहब! अगर पहिले से ही बख धारण करने का मार्ग साधु के लिये होता तो पुनः सबस व सपात्र के उपदेश देने की जरूरत क्या थी भगवान महापुरुषों के लिये ऐसे कृथा पिछपेक्षण का काम नहीं होता है। इस लिये दिगम्बरत्व की प्राप्ति श्वेताम्बर ग्रन्थों से भी मिट्ट है।

भगवान ने सबस का उपदेश दिया सो कमजोर त्यागियों के लिये दिया है। कमजोर त्यागियों को मोक्षमार्ग का अधिकार कहाँ है। इसी लिये दिगम्बरियों ने सबस सपात्र बालों को कर्च आबकों में (पेल्लक झुल्लक ब्रह्मचारी) समावेश किया है। इसी का म्नुलामा किया जाता है सो मुनिये—

तदेवं भगवता सबसधर्मप्ररूपणाय साधिकमा-
साधिकवपे यावद् बखं स्वीकृतं, सपात्र—धर्मस्थाप-
नाय च प्रथमा पारणा पात्रेण कृतवान्। ततः परं तु
यावज्जीव अचेलकः पाणिपात्राभूत्।

इदं च साहजानशयिनोऽपि भगवतो निष्पद्यो-

जनस्यापि वक्षस्य यद्वर्चदानं तदभगवत्संततेर्वक्षपा-
त्रेषु मूच्छां मूचयति इति केचिन् मूचन्तीति सत्यमेतन्
मूच्छां विना परवस्तु के धीमन्तो गृह्णन्ति । केऽपि
न इत्यर्थः । इति स्पष्टं (कल्पसूत्र ११५) ।

परन्तु अपने आई जैनसम्प्रदाय में ही श्वेताम्बर
कहलाने वाले महाप्रती साधु को वस्त्र—विधान करने
हैं और सबका मुक्ति का समर्थन करने हैं । जबकि
उनके ही मान्य आगम ग्रन्थों के उच्च आदर्श को
देखा जाय तो दिगम्बरत्व का ही वहाँ पर समर्थन
प्रधानता से मिलता है ।

अपने आई श्वेताम्बर आगमों में जिन-कल्पी
मुनि को 'अचेलगोय जे धम्मो' वाक्य से बहुत महत्व
दिया है । वे नम्र ही रहते हैं । यही उच्च आदर्श
है । महावीर स्वामी ने (श्वेताम्बर मत में) १३
महीने तक इन्द्र के दिये हुए वस्त्र को धारण किया
था । बाद में उसका परित्याग कर नम्र होकर ही
मोक्ष प्राप्त किया था । इसी प्रकार सब तीर्थङ्करों ने
नम्रता को धारण कर ही मुक्ति को पाया है ।

आचारांग सूत्र के ८ वें अध्यायके सातवें उद्देश्य
में लिखा है कि "अदुबा तत्थ परक्क मं तं अचेलं
तणपासा फुल्लंति, एगयरे अन्नयरे विरूवरुवे फलं
अहिमासंति अचेलं लापविथं आगम पमाणे । तवे
से अभिसमजागये भवइ । अइ तं भगवया पवेदिथं
तमेव अभिसमेक्खा सब्बजो सब्बजायं समतमेव
समभिजाणिया ।"

अर्थात्—जो मुनि लज्जा जीत सकता हो वह
मुनि नम्र ही रहें । नम्र रहकर तृण स्पर्श, सर्प,
गर्मी, ठाँस मच्छर आदि जो भी परीषद प्राप्त हो
उसको सहन करें । ऐसा करने से ही मुनि को
चिन्ता कम रहती है और तप की सिद्धि होती है ।

इस लिये जैसा भगवान ने कहा है वैसा जानकर
जैसे बने जैसे पूर्ण समझता रहे ।

इस उद्धरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि नम्र
बीतराग रहना यह साधु का उच्च आदर्श रूप है ।
जिनमें परीषद सहन करने का सामर्थ्य नहीं है ऐसे
कमजोर साधुओं को वस्त्र रखने का विधान है ।
जैसे दिगम्बरियों के आश्रय श्रमों में विधान किया
गया है ।

आचारांग सूत्र के छठे अध्याय के तृतीय उद्देश्य
के ३६० वें सूत्र को जरा देखियेगा—

जो अचेलं परिवर्त्तये तस्स ग भिक्खुस्स एवं
भवइ परिज्जन्ने मे वत्थे जाट्ठम्मामि, मूई जाड-
म्मामि, ओवर्कसम्मामि, परिहरिम्मामि पाट्णि-
म्मामि ।

अर्थात्—जो मुनि वस्त्र रहित (नम्र) होते हैं
उनको यह चिन्ता नहीं रहनी कि मेरा कपड़ा फट
गया है, मुझे नया दूसरा कपड़ा चाहिये । कपड़ा
सीने केलिये मूई धागा चाहिये । तथा ५६ चिन्ता
भी नहीं रहनी कि मुझे कपड़ा रखना है, फटा हुआ
अपना कपड़ा सीना है, जोड़ना है, फाड़ना, पहनना
है, यह मेला कपड़ा धोना है ।

सारांश यह है कि श्वेताम्बर मत में भी आदर्श
व उच्च दर्ज के साधुओं के लिये वस्त्र रखने का
विधान नहीं है और भी कई उल्लेख उनके शास्त्र से
दिगम्बरत्व को सिद्ध करते हैं और उत्तराध्ययन के
विषय में निम्न प्रकार प्रतिपादन किया है—

परिचत्तेसु बत्थेसु ए पुणो चेलमादिथ ।

अचेलपवरे भिक्खू जिएणवधरं सदा ॥

सचेलगो मुखी भवति असुखी चारि अचेलगो ।

अहं तो सचेलगो होक्खामि इहि भिक्खू ए वितए ॥

इति उत्तराध्ययन

अचेलक्को य जो धम्मो जो बा यं पुणरुत्तरो ।

देसिदो बहुमाणेण पासेण अमहप्पणा ॥
एगधम्मो पतत्ताणं दुविधा लिंगकप्पणा ।

उभयेसि पटिदुण्णमहं संसयमागदा ॥
इति वचनान्तरमतीर्थः अपि अचेलता मिथ्यति ।

४० आराधना पृ० सं० ६१३

इस प्रकार श्वेताम्बर आगमों में भी धीनराग दिगम्बरत्व की प्राचीनता सिद्ध हुई । यहां श्वेताम्बरों का प्रकरण होने से यह निश्चित भी होता है जो श्रमोन्नत भोजिये ।

इण्डियन एन्टिक्वेरी (जुलाई १९००) पुस्तक नं० ३० में अलब्रेट वबर द्वारा लिखित "भारत में धार्मिक इतिहास" नामके लेख में लिखा है कि "दो लोग बहुत प्राचीन मान्य होते हैं । क्योंकि न केवल ऋग्वेद सांहिता में वर्णन "मुनयो बानभमना" अर्थात् पवनही हैं वरन् जिनके इस तरह आया है । किन्तु सिकन्दर के समय में जो इन्दुभान के जैन मुक्तियों का प्रसिद्ध इतिहास है उसमें भी यह प्रगट होता है ।"

दूसरा प्रमाण वेवे जे० एंटेवेन्मंडाडी प्रेसीडेंट रायल ऐसियाटिक सोसायटी ने ता० २० अक्टूबर सन १८५३ में छपाया है । इस लेख में बौद्धों के ग्रंथों में आये हुए "शित्थिय" (तीर्थंकर) शब्द वा तथा यूनानी ग्रंथों में आये हुए 'जैन मूफी' शब्द का अर्थ क्या है ? इस बात का विवेचन करने हुए आप एक स्थान पर लिखते हैं वे तीर्थंकर जैन मूफी ही थे ।

आपके मूल लेख का अनुवाद यह है —

"इन तीर्थंकरों में दो बड़ी विशेषताएं पाई जाती हैं । तथा जो जैनियों के सबसे प्राचीन ग्रन्थों

और प्राचीन इतिहास से ठीक ठीक मिलती हैं । वे ये हैं कि एक तो उनमें दिगम्बर मुनियों का होना और दूसरे पशु मांस का सर्वथा निषेध । इन दोनों में से कोई बात भी प्राचीन काल के ब्राह्मण और बौद्धों में नहीं पाई जाती है ।"

तीसरा प्रमाण—इन्साइक्लोपीडिया ब्रिटानिया जिल्व २२ ग्यारहवीं बार (सं० १९११) में प्रकाशित । उस में इस प्रकार उल्लेख है ।

"जैनियों में दो बड़े भेद हैं—एक दिगम्बर और श्वेताम्बर । श्वेताम्बर थोड़े काल से शायद बहुत करके ईसा की ५ वीं शताब्दी में प्रकट हुआ है । दिगम्बर निश्चय से लगभग वे ही निग्रन्थ हैं जिनका वर्णन बौद्धों के पाली पिटकों में (पिटकत्रय ग्रन्थ में) आया है । इस कारण से ये लोग (दिगम्बर) ईसा से ६०० वर्ष पहिले के तो होने ही चाहिये ।"

चौथा प्रमाण जैनमित्र के भाद्रपद कृष्ण द्वितीया वीर सं० २४३५ या २० वें वर्ष १६-२० अंक, १० वें पृष्ठ पर मिस्टर वी० लेक्सिस राइस, सी० आई० ई० के लेख का सारभाग यों प्रकाशित हुआ है—

"समय के फेर से दिगम्बर जैनियों में से एक विभाग उठ खड़ा हुआ जो इस प्रकार के कट्टर साधुपने से विरुद्ध पड़ा । इस विभाग ने अपना 'श्वेताम्बर' नाम रक्खा । यह बात सत्य मान्य होती है कि अत्यन्त 'शित्थिल' श्वेताम्बरियों से कट्टर दिगम्बरी पहिले के हैं ।"

भद्रबाहुवचः श्रुत्वा चन्द्रगुप्तो नरेश्वरः ।

अम्येय योगिनं पार्श्वं दधौ जैनेश्वरं तपः ॥

चन्द्रगुप्तमुनिः शीघ्रं प्रथमो दशपूर्वियाम् ।

सर्वे संधाधिपो जातो विराट्पाचार्यसंज्ञकः ॥

अनेकैः सह संघोऽपि समस्तो गुह्याकृतः ।

वक्षिणापथदेशस्य पुत्राद्विषयं ययौ ॥५०॥

हरिप्रेम कथा कोष

महधरेमुं चरिमो जिणदिकम् धरति चन्द्रगुप्तोय ।

त्रिलोकप्रभामि० ।

नन्द राजाश्री के परचाण मगध का राजद्वार चन्द्रगुप्त नाम के एक क्षत्रिय राजपुत्र के हाथ लगा था । उसने अपने भुज विक्रम में प्रायः सारे भारत पर अधिकार कर लिया था और 'मौर्य' नामक राजवंश की स्थापना की थी । जैनशास्त्र इस राजा को दिगम्बर मुनि अमरगर्गति श्रनकेवली भद्रबाहु का शिष्य प्रकट करने हैं । यूनानी राजदूत मेगास्थनीज के लेखानुसार भी चन्द्रगुप्तने अपने बृहद् साम्राज्यमें दिगम्बर मुनियों को विहार और धर्मप्रचार करने की सुविधा की थी । अमरगर्गति भद्रबाहु के संघ की वह राजा बहुत विनय करता था । भद्रबाहु जो बंगाल देश के कोटिकपुर नामक नगर के निवासी थे । एक दफा वहां भूतकेवली गोबर्द्धन स्वामी अन्य दिगम्बर मुनियों सहित आ निकले । भद्रबाहु उन्हीं के निकट दीक्षित होकर दिगम्बर मुनि हो गये । गोबर्द्धन स्वामी ने संघ सहित गिरनार जी की यात्रा का उपयोग किया था । इस उल्लेख से स्पष्ट है कि उनके समय में दिगम्बर मुनियों को विहार करने की सुविधा प्राप्त थी ।

भद्रबाहु जी ने भी संघ सहित देश-देशान्तर में विहार किया था और वह उज्जैन पहुँचे थे । वही से उन्होंने वक्षिण देश की ओर संघ सहित विहार किया था । क्योंकि उन्हें मालूम हो गया था कि उत्तरापथ में एक द्वादश वर्षीय विकराल दुष्काल पड़ने को है जिसमें मुनिचर्या का पालन दुष्कर होगा । सम्राट चन्द्रगुप्त ने भी इसी समय अपने पुत्रको राज

देकर भद्रबाहु के निकट जिन दिगम्बर दीक्षा धारण की थी और अन्य दिगम्बर मुनियों के साथ वक्षिण भारत को चले गये । अत्रणवेणुगोला का कटवम नामक पर्वत उन्हीं के नाम के कारण 'चन्द्रगिरि' नाम में प्रसिद्ध हो गया है । क्योंकि उस पर्वत पर चन्द्रगुप्त ने तपश्चरण किया था और वहीं उनका समाधिस्मरण हुआ था ।

विदुस्मार ने जैनियों के लिये क्या किया ? यह ज्ञान नहीं है किन्तु जब उसका पिता जैन था तो उस पर जैनधर्म का प्रभाव पड़ना अवश्यम्भावी है । उस पर उसका पुत्र अशोक अपने आरम्भिक जीवन में जैनधर्म परायण रहा था । यत्कि अन्न समय तक उसने जैनमिद्वान्तों का प्रचार किया । वह अन्यत्र सिद्ध किया जा चुका है । इस दशा में विन्दुसार का जैनधर्म प्रेमी होना उचित है । अशोक ने अपने एक स्तम्भ लेख में स्पष्टतः निर्मथ्य साधुओं की रक्षा का आदेश निकाला था ।

सम्राट सम्प्रति पूर्णतः जैनधर्म परायण थे । उन्होंने जैनमुनियों का विहार और धर्मप्रचार की व्यवस्था केवल भारत में ही न की थी अपितु विदेशों में भी उनका विहार कराकर दिगम्बर जैनधर्म का प्रचार करा दिया ।

उस समय दशपूर्व के धारक विशाख, प्रोटिल, क्षत्रिय आदि दिगम्बराचार्यों के संरक्षणमें रहा हुआ जैनसंघ खूब फला फूला था । जिस साम्राज्य के अधिष्ठाता ही स्वयं जब दिगम्बर मुनि होकर धर्म-प्रचार करने के लिये तुल गये तो भला कहिये जैन-धर्म की विशेष उन्नति और दिगम्बर मुनियों की बा-हुल्यता उस राज्य में क्यों नहीं होती । मौयका नाम जैनसाहित्य में इसी लिये स्वर्णसूरों में अंकित

हे और जिनसेनाचार्य ने लिखा है कि—

त्यक्तचेलादिसंगम्य, जैनीदीक्षामुपेयुषः ।

धारणं ज्ञातरूपस्य, यत्तस्याज्जिनरूपता ॥१६०॥

अवश्य धारणं चेदं जन्तूनां कातरात्मनाम् ।

जनेन निस्मृतां मृत्युं रूपं धीरैर्निषेव्यते ॥१६१॥

श्री जिनसेनाचार्यादि निर्मित कई ग्रंथ “हरिवंश-पुराण, पद्मपुराण, त्रैशठ शालाका के पुरुषों के पुराण आदि हैं सबमें दिगम्बरत्व ही सिद्ध किया है। न कि सत्त्व से मुक्ति प्राप्त हुई ऐसा उल्लेख वही भी किया है। तथा श्री अकलंकदेव ने जो “युक्ति-पूर्ण” स्तोत्र बनाया है उसमें भी लिखा है—

नो ब्रह्माङ्गिनभूतलं न च हरैः शम्भोने मुद्राङ्कितं ।

नो चन्द्राकर्कशराङ्कितं मुरपतेर्ब्रह्माङ्कितं नैव च ॥

पद्मवक्त्राङ्गिनबौद्धदेवदुतभुग्यसोरगैर्नाङ्कितं ।

नम्रं परयत्त वादिनो जगदिदं जनेन्रमुद्राङ्कितं ॥

तथा महर्षि वादीभसिह ने कहा है—

चित्रं जैनी तपस्या हि श्वैराचारविरोधिनी ।

इस प्रकार निराशय रूप से यह दिगम्बर धर्म अनादि काल से चला आया यह सिद्ध हुआ। लिखने का कारण यह है कि आपने लिखा कि दिगम्बर बीत-गग धर्म कुन्दकुन्दाचार्य ने स्थापन किया है यह बात नहीं रही। क्योंकि मानव-मात्र पर बीतर ग धर्म का प्रभाव पड़ा हुआ है। इस लिये उक्त प्रमाण देने पड़े और प्रमाणों की वजह से प्रकरण कुछ ज्यादा बढ़ गया है सो इसे ध्यानसे पढ़ियेगा। इसको रही ही न समझियेगा। इसको बहुत विचार और मनन के साथ पढ़ियेगा।

इस प्रकार विश्व-वत्याग करने वाले इस प्राचीनतम बीतगग दिगम्बर जैनधर्म की भी कुन्दकुन्दाचार्य द्वारा स्थापित कहने वालों का निषेध करने वाला पदला प्रकरण सम्पूर्ण हुआ।

स्त्री मुक्ति-निषेध

अब श्रीमान प्रोफेसर साहब ने जिन ग्रंथों के आधार से स्त्रीमुक्ति, सबस्त्रमुक्ति और केशली कवला-हार सिद्ध किया वह भी अनुचित और अप्रमाण है। आपने कर्मसिद्धान्त और शास्त्रीय चिंतन का जो अर्थ किया है वह भी अनुचित, अप्रमाण है। सो कैसे? देखिये नीचे प्रमाण—

आपने लिखा है कि “कुन्दकुन्दाचार्य द्वारा स्थापित दिगम्बर सम्प्रदायों के ग्रंथों में स्त्रीमुक्ति निषेध का कहां तक प्रमाण है? कुन्दकुन्दाचार्य ने ही स्त्री-मुक्ति का निषेध किया है किन्तु उन्होंने गुणस्थान व कर्मसिद्धान्त के नियम से स्त्रीमुक्ति का निषेध नहीं

किया है। इस लिये कर्मसिद्धान्त और शास्त्रीय से रहित होता है। इस लिये जब कर्मसिद्धान्त और शास्त्रीय निर्णय से अब क्या होता है सो विचार करना चाहिये।”

उमके लिये आपने मत्परूपणा पदस्वच्छागमका प्रमाण दिया है कि स्त्री और पुरुष दोनों चौदहवें गुणस्थान तक पहुँच सकते हैं और उमके लिये पूज्य-पाद कृत्न सर्वाधेमिडि टीका और गोमटसार का भी प्रमाण दिया है कि द्रव्यस्त्री मुक्ति का निषेध नहीं है। इस प्रकार आपने स्त्रीमुक्ति की सिद्धि की है। परन्तु यह विवेचन आगम युक्ति और श्रानुभव से शून्य है

और अशास्त्रीय निर्णय है। तथा वास्तविक कर्म-सिद्धान्त से भी बाहर है। इसे नीचे प्रमाणसहित देखिये—

जिन सत्प्रकरणों के सूत्रों से आपने द्रव्यस्वी-मुक्ति को सिद्ध किया है वह गलत है। वहां ६३ वें सूत्र में स्त्रियों के केवल आदि के पांच ही गुणस्थान बतलाये हैं। भावस्वी विशिष्ट पुरुष के १४ गुण-स्थानों का वहां उल्लेख है।

सर्वाथसिद्धि के दशवें अध्याय ६ वें सूत्र में लिखा है। क्षेत्र काल आदि लिङ्गों से जो सिद्धों में भेद हैं वहां भाववेद अपेक्षा से ही उल्लेख है, न कि द्रव्यवेद से।

“कन लिङ्गं न सिद्धिर्भवति इति प्रश्ने, अवेदत्वेन त्रिभ्यो वा वेदभ्यः सिद्धिर्भावतो न द्रव्यतः। द्रव्यतः पुल्लिगेनैव।”

इस प्रकार आचार्य ने साफ २ लिख दिया है। भाववेद से ही सिद्धि है, न कि द्रव्यवेद से। आचार्य ने “पुल्लिगेनैव” इसमें ‘एव’ शब्द दिया है वह शब्द प्रोच्य है अर्थात् पुल्लिङ्ग वेद से ही मोक्ष को सिद्ध होती है। इस लिये आपने पूज्यपादकृत सर्वार्थ-सिद्धि का जो प्रमाण दिया वह आपके अभिप्राय का बाधक रहा।

इसी का दूसरा प्रमाण “भगवती आराधना” में द्रव्यस्वी मुक्ति निषेध के लिये साफ लिखा हुआ है। द्रव्यस्वी के लिये पांचवां गुणस्थान ही बतलाया है और उसको उपचार से महाप्रत गिना है। “मुख्या-भावे सति उपचारो प्रवर्तते”।

देखिये प्रमाण—भगवती आराधना गाथा नं० ८३-८४ आर्जिक के लिये उत्सर्गमार्ग ही है। उत्कृष्ट किंग निम्न ही होय है और अपवादकिंग उत्कृष्ट

भावक का लिङ्ग है, न कि मुनि का। इसका दूसरे विषय में सुझावा दिया जायगा।

अर्जिकका किंग भी उत्कृष्ट भावक में ही गिनती किया है। क्योंकि उनके पांचवां ही गुणस्थान है। यही तक उसके मत की पूर्णता है उसके निरचय से तो अलुभन ही हैं और घर में ही रहकर शील संयमादि पालन करे यह स्त्री का अपवादकिंग है।

इस प्रकार अपवादकिंग स्त्री और उत्सर्गकिंग अर्जिक दोनों समाधि कर सकती हैं लेकिन उनके भाव और द्रव्य में बहुत फर्क है। इस लिये प्रोफेसर साहब के लिये यह भी द्रव्यस्वी मुक्ति-निषेध का दूसरा प्रबल प्रमाण है।

और भी प्रमाण प्रायश्चित्त चूलिका में दनाया है-साधूनां यद्वदुद्दिष्टमेवमायांगणस्य च।

दिनस्थानत्रिकालानां प्रायश्चित्तं समुच्यते ॥

माधूनां=शुपीणां। यद्वद्वन=यथैव। उद्दिष्टं=प्रतिपादितं। एवमायांगणस्य च=आयांगणस्यापि संयतिकासमूहस्य च एवमेव प्रायश्चित्तं भवति। अयं तु विशेषः—दिनस्थानात्रिकालानां—दिनस्थानं दिवसप्रतिमा-योगः त्रिकालः त्रिकालयोगः त.यामूनं हीनं रहितं। प्रायश्चित्तं विशुद्धिः समुच्यते=अभिधीयते।

समाचारसमुद्दिष्टविशेषभंशने पुनः।

स्थैर्यास्थैर्येप्रमादेपु दर्पतः सक्लनमुहुः॥११५॥

समाचार-समुद्दिष्टविशेषभंशने पुनः=समाचारे ये केचन कार्याकार्येभन्तरेण परगृहगमन-रोधनस्त-पनपचनपह्निधारंभ प्रभृतयो—विशेषास्तेषां भंशो स्खलने तु सति। स्थैर्यास्थैर्यं=प्रमादेपु=स्थैर्यं स्थ-रत्वे अस्थैर्यं=अस्थिरत्वे प्रमादे=कथं-चिदोपसम्पन्ने। दर्पतः=अहंकारतश्च। सक्लन=एकवारं मुहुः=पुनः पुनः। एतेषु यथासंख्यं प्रायश्चित्तानि बह्वन्ते।

वक्षस्य क्षालने पाते विरोधस्तनुसर्जनम् ।

प्राप्तुकृतोयेन पात्रस्य धावने प्रणिगृह्यते ॥११८॥

वक्षस्व=बीबरस्य । क्षालने=धावने । पाते=

अपां अजिक्कवाणां, पाते=विरोधने सति । विरोधः=विरोधःप्राप्तुः प्रायश्चित्तं । तनुसर्जनं=कायोत्सर्गः । प्राप्तुकृतोयेन=प्राप्तुकृतोयेन पात्रस्य=मिक्षाभाष्ये । धावने=प्रक्षालने कृते सति । प्रणिगृह्यते=परिकीर्त्यते इति यथाक्रमं ज्ञेयम् ।

वक्षयुग्मं सुबोभत्सलिंगप्रच्छादनाय च ।

आर्याणां संकल्पेन, तृतीये मूलमिष्यते ॥११९॥

वक्षयुग्मं=वक्षयुगलं । सुबोभत्सलिंग=प्रच्छादनाय :- सुबोभत्सं सुष्ठुबोभत्समदर्शनाय लिंग रूपं तस्य प्रच्छादनाय-पिधानार्थं । आर्याणां=तपस्विनीनां संकल्पेन-संकल्पिते धृते । तृतीये मूलमिष्यते-तृतीया वक्षगृहीते सति आर्याणां मूलं मासिकं, इष्यते निश्चयितं ।

और भी मूलाचार ग्रंथ समाचाराधिकार में यों बताया है—

अगिहृत्थमिस्सणिलये असणिलवाए विमुद्धसंचारे ।

दो तिण्ण व अज्जाओ बहुगीओ वा सहत्थंति ॥१२१॥

अगृहस्थमिभ्रनिलये असंनिपाते विमुद्धसंचारे ।

द्वे तिल्लो वा आर्या बह्व्यो वा सह तिष्ठन्ति ॥

अगिहृत्थमिस्सणिलय-गृहे तिष्ठन्तीति गृहस्थाः ।

त्वदारपरिमहाराक्तानैः मिस्स-मिओ युण्णे, न गृहस्थ-मिओऽगृहस्थमिभः, स चासौ निलयश्च वमतिका तस्मिन्नगृहस्थ-मिभ्रनिलये यत्रासंयतजनैः सह सन्पर्कान्ति तत्र ।

असणिलवाए-असतां पारदारिक चौर पिशुन दुष्ट-तिर्यक् प्रभृतीनां निपातो विनाराऽभावो यत्र तस्मिन्न-संनिपाते । अथवा सतां यतीनां निपातः प्रसरः संनि-

कृष्टता संनिपातः स न विद्यते यत्र सोऽसंनिपातस्तस्मिन् । अथवा असंज्ञिनां पातोऽसंज्ञिपातो बाधारहिते प्रदेशे इत्यर्थः ।

विमुद्धसंचारे विमुद्धः संक्षेपारहितो गुप्तो वा संचरणं संचारः । महोत्सर्गप्रदेशयोग्यः गमनगमनाहो वा यत्र स विमुद्ध-संचारस्तस्मिन् बालवृद्धरोगिराका-ध्यन-योग्ये । दो-द्वे । तिण्ण-तिल्लः । अज्जाओ-आर्याः संयतिका । बहुगीओवा-बह्व्योवा त्रिरात्र चत्वारिरात्रा । सह-एकत्र । अत्थंति-तिष्ठन्ति वसंतीति । अगृहस्थ-मिभ्रनिलयेऽसंनिपाते विमुद्धसंचारे द्वे तिल्लो बह्व्यो आर्या अन्योन्यानुकूलाः परस्पराभिरक्षणभिरुक्ताः गत-रोगबैरमायाः सलज्जमयादिक्रिया अप्यथन परिवर्तन-अवयवकथनतर्पणनय-संयमेपु अनुप्रेक्षासु च तथा स्थिता उपयोगयोगयुक्ताश्चाविकारवक्ष्येवाजलमल-विलिप्तास्त्यक्तदेहा धर्मकुलकीर्तिदीक्षाप्रतिरूपाविमुद्ध-आर्याः सन्त्यास्त्यन्तीति समुदायाथः ॥

और भी छंद पिण्ड में बताया है—

एवमि परिणयच्छंदो मूलद्वारां तदेव परिहारो ।

दिणपडिमा विद्यतीसं तिवाल ओगोय योवत्थि ॥२६०॥

नवरि पर्यायच्छंदो मूलस्थानं तथैव परिहारः ।

दिनप्रतिमापि तासां त्रिकालयोगश्च नैवास्ति ॥

ये जितने भी प्रमाण दिये गये हैं । वे ब्रह्मकी-सुक्ति निषेध केलिये ही हैं । और श्री सब परिमहका त्याग न कर सकने से वह पांचवें गुणस्थान से आगे नहीं बढ़ सकती । और उसको एकल बिहारी होने के लिये भी निषेध बताया है । दो बार आर्जिक मिल कर के त्वदार संवोषी गृहस्थ के घर के पास रहे । और कुरील भग्नरी गृहस्थ तथा निर्जन स्थान में आर्जिक नहीं रहे । न रहने का कारण यही है कि कोई उन्मत्तकारी पुत्र आर्जिक का अवर्धस्ती शील-

भंग न कर सके। यदि अकेली आजिक्का विहार करे तो उन्मत्त पुरुषों द्वारा जबरदस्ती शील का भंग होना संभव है। और अगर ऐसे ही मुनिराज अकेले विहार करें और उनके पास चाहे मशहूर देवाङ्गना भी आजाय तो उनके शीलभंग करने में समर्थ नहीं। जैसे कि मुद्रांगन सेठ का शील हर प्रयत्न करने पर भी रानी द्वारा भंग नहीं हो सका। क्योंकि श्री का अवयव और पुरुष का अवयव व चिन्ह भिन्न भिन्न हैं।

तथा श्री के पास ब्रह्म होने में वस्तुधारे में हिंसा भी है, मुक्ति पाने का मुख्य अधिकार धर्म धारण है। और उनके अधिकार धर्म तो दूर ही है क्योंकि उनके पास सोलह सोलह हाथ की तो साड़ी रहे। तब फिर उनके अधिकार धर्म किस प्रकार रहे। तथा आचार-नियोग तथा वृत्त मूल प्रतिमा-योग आदि कठिन तपस्या करने के लिये भी निषेध बतलाया है और ब्रह्म ऋषि नाराज संहनन भी नहीं है। और उनके लिये कठिन प्रायश्चित्त भी नहीं दिया जाता। सारांश यह है कि उक्त प्रमाण से द्रव्यश्री मुक्ति निषेध मिट्ट है। इसी अवस्था में रह कर अपने परिणाम शुद्ध करते करते कम से खीलिङ्ग छेद करके मुक्ति पा सकती है। और भी खीमुक्ति निषेध के लिये प्रमाण हैं लेकिन लेख बढ़ जाने की वजह से इतना ही पर्याप्त है। ये सब दिगम्बर आम्नाय के अनुसार आचार्यों के द्रव्यश्री मुक्ति निषेध के लिये एक ही भाव है। अगर भेद भाव दिखता हो तो समझने की भूल है लेकिन आचार्यों के भावों व प्रमाणों में द्रव्यश्री मुक्ति निषेध ही है।

अब रहा आपका अभिप्राय कि वेद वैषम्यता कर्म सिद्धान्त के अनुसार सिद्ध नहीं होता। तर्क आपको

यह म्याल रखना चाहिये कि कर्म-सिद्धान्त के अनुसार व शास्त्रीय निर्णय से वेदवैषम्य सिद्ध होता है किन्तु वह वास्तविक वैषम्य नहीं है। किन्तु उन वस्तुओं को जानने में वैषम्य है। सो कैसे ? यह नीचे प्रमाण से देखिये—

केवल वेद में ही विषमता नहीं दिखती किन्तु सम्पूर्ण कर्मों में तारतम्यता में विषमता स्थूल दृष्टि से मनन करने में विषमता मान्य नहीं होती है।

तत्त्वार्थमूत्र ८वां अध्याय ४था सूत्र में मुख्य और गौणता से साफ लिखा है। सत्र कर्मों में विषमता दिखती है। किन्तु वास्तविक विषमता नहीं है। परिणामों में विचित्रता से कर्मों में भी विचित्रता दिखती है। मुख्य रीति में जीविक त्रेन भाव बतलाये हैं। इनमें तीन वेद लिये गये हैं। दूसरे अध्याय के सूत्र ५२ में तीनों द्रव्य वेद का और तीनों भाव वेद का लक्षण साफ साफ लिखा है। सूत्र टीका में लिङ्ग दो प्रकार का है। एक द्रव्यलिङ्ग दूसरा भाव लिङ्ग।

योनिमहान्दिनाम कर्माद्यनिर्दिनतं द्रव्यलिङ्गम्।
नोकपायोदयापादितवृत्तिः भावलिङ्गम्।

इससे साफ हो जाता है कि द्रव्य लिङ्ग और भाव लिङ्ग का लक्षण भिन्न है। भावलिङ्ग के नोकपाय को अर्थान किञ्चित मलीन परिणाम को ईप्सु कपाय गिना है। जैसे हास्य रति अरति शोक भय जगुप्सा आत्मा के विभाव परिणाम हैं। ये मलीन परिणाम ६वें गुणस्थान तक रहते हैं। आगे आत्मा उज्ज्वल हो जाने से इन विभाव परिणामों का पतन हो जाता है। सो जानना।

भावश्री को लुप्त करने के लिये द्रव्यश्री की जरूरत नहीं अर्थात् द्रव्यश्रीवेद हो तब ही भावश्रीवेद

हो ऐसी व्यापकता नहीं। जैसे द्रव्यस्त्री को पांचवें गुणस्थान से आगे बढ़ने की मनाई है वैसे ही द्रव्य-नपुंसक को भी पांचवें गुणस्थान से आगे अर्थात् मुनि होने के लिये मनाई है। यदि आपके कहे माफिक केवल आश्रित को लेकर यदि द्रव्यस्त्री मोक्ष की अधिकारी है तो द्रव्यनपुंसक भी मोक्ष का अधिकारी हो जायगा। क्योंकि नपुंसकवेद भी तो नवमें गुणस्थान तक माना गया है, लेकिन वहां तो भाव है द्रव्य नहीं। अतः द्रव्यस्त्रीवेद हो उस समय ही भाव-स्त्रीवेद हो ऐसा सर्वथा नियम नहीं है, सो जानना।
देखिये पट्स्वण्डगग प्रथम स्कंद सूत्र न० १०—
अणुमा त्रिवेश मिन्द्राष्ट्रिपहण्ड जाव आणिआट्टिच
इस सूत्र का यही अर्थ है।

जीव के त्रेपन भाव बनलाये गये हैं और इन भावों के साथ अविनाभाव—सम्बन्ध है अर्थात् तादात्म्य सम्बन्ध है। ये वैभाविक शक्ति के विभाव कार्य हैं। इस लिये एक में विचित्रता होने से सब भावों में तारतम्यता में विचित्रता होती है।

मोहनीय कर्म के लोपोपशम व क्षय होने से सब कर्म टोले पड़ जाते हैं। जैसे वृक्ष की जड़ काटने से उसकी शाखा उपशाखा सब मृत्यु जाती है। चाहे देश में मृत्वं लेकिन मृत्यु जरूर जावेगी। क्योंकि उनका एक रूप है। यह विचित्रता मृदमातिमृदम शास्त्रीय निर्णय और कर्मभिन्तान में सिद्ध है और यह विचित्रता निष्पक्षपात में तथा परम धीतराज भाव से तथा स्वानुभव में मनन करने में सिद्ध होगी, अन्यथा नहीं। क्योंकि रागी पुरुष अपनी तरफ लीचते हैं अर्थात् वह पक्षपात की तरफ जाते हैं और धीतरागी पुरुष धीतराज मार्ग पर जाते हैं और वे वस्तु का निर्णय करते हैं। क्योंकि पक्षपात करनेका

कारण नहीं रहा। पक्षपात का कारण केवल विषय-कषाय और रागद्वेष आदि ही तो हैं। इस लिये तो यह है कि पुरुष प्रमाणरचेत तदवाक्यं प्रमाणं भवेत्।

और भी देखिये तत्त्वार्थसूत्रके अध्याय ८ का सूत्र इस प्रकार है—

आप्तो ज्ञानदर्शनावरणवेदनीयमोहनीयायुर्नाम-
गोत्रान्तरायाः।

तत्त्वार्थसूत्रके इस सूत्रकी टीका में साफ लिखा हुआ है कि—

एकंतात्मपरिणामेनावीयमानाः, पुद्गलाः ज्ञाना-
वरणाद्यनेकभेदं प्रतिपद्यन्ते। सकृदुपभुक्त्वा-
परिणामरसकथिरादिवत् ॥

—सर्वार्थ सिद्धि अ० ८

इसका कारण यह है कि कोई मनुष्य विकृत परिणामी ईर्ष्यांश द्वेषवशा से किसी का अपमान व मूर्ख बनाये रखने के हेतु से पाठशाला को कोई न कोई युक्ति लगाकर बन्द करवाता है। या पुस्तक उपकरण आदि देने में रोक देता है। इन दुष्कृत परिणामों में ज्ञानावरण कर्म का बन्ध होगा। अर्थात् ज्ञान का रोकने के लिये जो परमाणु आदिकों से बहुत भाग ज्ञान को रोकने में ही मिलेंगे और शेषकर्मों में तारतम्यता से उन उन रूप परिणामन हो जाते हैं अर्थात् सब में मिलते हैं। जैसे यह नियम है कि ज्ञानावरणीय कर्म के बन्ध करने वाले जो पुद्गल परमाणु सबके सब उसी में मिलने चाहिये वे दूसरे दर्शनावरणीय वेदनीयादि दूसरे में भी मिल जाते हैं। अतः सामान्य दृष्टि से उसमें भेद है किन्तु विशेष दृष्टि कोई भेद नहीं है। मोहनीय कर्म का तीव्र क्षय होने से वेदनीय कर्म सताने लगता है और

वेदनीय कर्म को शांत करने के लिये त्वाया हुआ आहार का रक्त, मांस, मज्जा आदि सप्त धातु रूप परिवर्तन हो जाता है। जिह्वा इन्द्रिय से त्वाया हुआ अन्न जिह्वा इन्द्रिय को ही पुष्ट करना चाहिये किन्तु वह अन्न पाँचों इन्द्रियों को पुष्ट करने में कारण हो जाता है सो इसी तरह गौण और मुख्य रीति से विषमता दिखती है परन्तु वास्तविक विषमता नहीं है।

अगर और गहन विचार करें तो सामान्यता से कर्मबन्ध एक ही है किन्तु मन्द—बुद्धि वालों को समझने के लिये चार भेद रूप बतलाया है। प्रकृतिबन्ध, स्थितिबन्ध अनुभागबन्ध प्रदेशबन्ध, और उत्तर ज्ञानावरणादि आठ भेद बतलाया है। एक ही अकृतात्मीय भेद रूप है और इसके बाद द्रव्य क्षेत्र काल के निमित्त से कण क्षण भर में जितने भाव होंगे वे सब कर्म के ही भेद हैं। तब ही तो उत्तरभेद असंख्यातरूप माने गये हैं। वेद की विषमता के बारे में और भी मुलासा देखिये—

पुरुषवेद कर्म के उदय होने से स्त्रियों से रमने की इच्छा होती है और स्त्रीवेद कर्म का उदय होने से मुख्यरीति से पुरुष से रमने की इच्छा होती है और नपुंसकवेद कर्म के उदय से स्त्री पुरुष दोनों से मुख्य रीति से रमने की इच्छा होती है। परन्तु गौण-रीति से इसके विपरीत भी होता है। जैसे पुरुष घर में स्त्री होने पर भी लड़के के साथ विषय-वासनाओं को पूरी करता है। यह विषय जिताने में मेरी भाषा समिति को कुछ दोष लगता है किन्तु वस्तु स्थिति का जहाँ निर्णय करना पड़े वहाँ लिखना पड़ता है।

इसी तरह बैल, घोड़ा, भैंस आदि में तथा हस्त-

मैथुन आदि ये सब विपरीत क्रियाएँ हैं। ये सब वैषम्यता दिखती है किन्तु वास्तविक वैषम्यता नहीं ये सब परिणामों की विचित्रता है।

और भी विशेष देखिये—विशेषतः दाढ़ी और मूँछ पुरुष का चिन्ह है। परन्तु कोई ऐसे भी पुरुष हैं जिनके दाढ़ी मूँछ नहीं होती है और उसके हाव-भाव बाल-बलन स्त्री सरीखे होते हैं। परन्तु वे तो पुरुष और उनके बाल बच्चे भी होते हैं।

और स्त्री का चिन्ह यह है कि मूँछ आदि नहीं होती। लेकिन कोई स्त्रियाँ भी ऐसी होती हैं जिनके कुछ २ मूँछ के बाल भी होते हैं। जिनकी बाल-बाल, हाव-भाव पुरुष सरीखे होते हैं। लेकिन वे तो वह द्रव्यस्त्री; जिसके बाल-बच्चे भी होते हैं। जैसी द्रव्यस्त्री या पुरुष के शरीर में व हाव-भाव में विषमता होने पर भी सन्तान उत्पत्ति होती है वैसे द्रव्यनपुंसक स्त्री पुरुष के शरीर में व हाव-भाव में विषमता होने पर भी बाल-बच्चे नहीं होते। इस प्रकार इन तीनों में यह अन्तर है।

और भी देखिये—सुलोचना आदि नाटक में पुरुष का बहुत सारा काम स्त्री करती है। उन्मत्तता सं। और स्त्री का काम पुरुष करता है। अर्थात् स्त्री उच्छन्न बन जाती है और पुरुष नीच हो जाता है। साफ इसी से समझिये।

नाटक में पुरुष स्त्रीवेष धारण करके प्रत्यक्ष स्त्री के समान हाव भाव दिखलाता है और स्त्री भी पुरुष के वेशाको धारण कर प्रत्यक्ष पुरुष का काम दिखलाती है। ये भाव केवल बाह्य ही नहीं किन्तु अन्तरंग भी होते हैं रात्रि स्वप्न आदि शेष में विकृति हो जाती है। और भी देखिये—

स्वप्न में अनेक प्रकार की विकृति हो जाती है।

जो नहीं देखने में आया वह देखने में आता है। पुरुष की बन जाता है और स्त्री पुरुष बन जाती है। और तद्वत् किया करके इन्द्रिय-पतन भी हो जाता है। यह सब विपरीत परिणति होने का कारण इस भव परभवके संस्कार व दिन-रात्रि मनन किया हुआ किया का फल है। अथवा यों कहिये कि विभाव परिणति का यह विकृत दुष्परिणाम है। ऐसे परिणाम आठवें गुणस्थान से आगे नहीं ठहरते। इस प्रकारके परिणाम की अपेक्षा से मुनि के नीचे से आठवें गुणस्थान तक ऐसे पूर्वाक्त परिणाम हो जाते हैं। किन्तु यह परिणाम आत्मा का बिलकुल पतन करने वाले नहीं। ऐसे परिणाम वाला मुनि चाँदवें गुणस्थान तक पहुँच जाता है। भूतपूर्व नय की अपेक्षा से स्त्रीवेद चाँदवें गुणस्थान तक माना है।

तन्मू० इराम अध्याय सूत्र ६ की टीका देखिये—
“अभी परिनिर्वृता गतिजात्यादि—भेदकारणाभावात्—
तीतभेदव्यवहारा एवेति।” ततः वेद नवमें गुणस्थान से पहले नष्ट हो जाता है किन्तु उपचार से चाँदवें गुणस्थान तक कहा जाता है।

जैसे कोई राजा अपने पुत्रको राज्य देकर अलग हुआ तो भी लोग उसको राजा कहते हैं। परन्तु वह राजा नहीं, क्योंकि राजा का काम तो राजपुत्र ही कर रहा है। किन्तु भूतपूर्व नय की अपेक्षा से यह कहा जा सकता है। इस प्रकार सूक्ष्मतर शास्त्रीय

निर्णय व कर्मसिद्धांत व गुणस्थान विवेचन द्वारा द्रव्यस्त्री को उस पर्याय से मुक्ति पाना बीतरागी पुरुषों ने निवेध किया है और वह स्त्री सपरिमदी होने से और वज्रवृषभ नारायण संहनन की धारी न होने से पंचमगुणस्थानवर्ती देवराज्नी ही मानी गई है। अर्थात् उत्कृष्ट भाविका ही है।

उसमें दो भेद हैं—एक आर्जिका और दूसरी क्षुल्लिका। यह प्रवृत्ति बीतराग धर्म में अनावि से है और अनन्त काल तक रहेगी। चाहे इस क्षेत्र में मलिन परिणाम से न रहे यह बात दूसरी है। परन्तु बिदेह आदि क्षेत्रमें ऐसी ही प्रवृत्ति चल रही है। दुःख-वसर्पिणी काल बीत जाने पर प्रवृत्ति निबिघ्नता से इस भूमि पर चलेगी।

अभी भी वह प्रवृत्ति निबिघ्नतासे चल रही है किन्तु कुछ लोगों द्वारा बाधा उपस्थित की जाती है। परन्तु यह दोष उनका नहीं है यह काल और कर्मका दोष है। इस प्रकार यह संक्षेप से खुलासा लिखा है। सो जानना। और भी विशेष लिखवा सकता था किन्तु विषय बढ़ जायगा इस लिये इतने में ही समाप्त कर दिया है।

प्रोफेसर साहब ! श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने शास्त्रीय निर्णय व कर्मसिद्धांतके निर्णयसे ही स्त्री-मुक्ति निवेध किया है। इस लिये आपका लिखा हुआ प्रमाण असत्य एवं अप्रमाण्य ही है।

इस प्रकार स्त्री-मुक्ति निवेध नामा द्वितीय प्रकरण समाप्त हुआ।



विस्त्र-मुक्ति-निषेध



मानव प्रोफेसर साहब हीरालाल जी का कहना है 'कि श्वेताम्बर सम्प्रदाय में सम्पूर्ण ब्रह्म का त्याग करके सब गुणस्थान प्राप्त कर सकता है और ब्रह्म को धारण करके भी मोक्ष का अधिकारी अथवा सब गुणस्थानका अधिकारी बन सकता है। परन्तु प्रचलित दिगम्बर मान्यतानुसार सम्पूर्ण ब्रह्म के त्याग से ही संयमी और मोक्ष का अधिकारी हो सकता है। अतएव इस विषय का शास्त्रीय चिन्तन आवश्यक है।' ऐसा प्रोफेसर साहब का भाव है।

परन्तु प्रोफेसर साहब को बहुत सुदृढता से विचार कर देखना चाहिये। प्रोफेसर साहब का जो यह कहना है कि 'दिगम्बर आम्नाय' में शास्त्रीय चिन्तन करने का शेष रह जाता है सो आपका कहना अनुचित और असत्य है क्योंकि दिगम्बर मतमें सूक्ष्मतर शास्त्रीय निर्णय होने से ही ब्रह्म त्याग से ही मुक्ति होती है यह निश्चय किया हुआ है। इसमें कहीं शास्त्रीय पद्धति से विचार करने की कोई जगह नहीं है। सो जानना।

अगर शास्त्रीय चिन्तन के विचार करने की जगह है तो अपने भाई श्वेताम्बर सम्प्रदायमें शास्त्रीय चिन्तन व विचार करने की जगह है। सो कैसे ? देखिये—

आपने कहा कि श्वेताम्बर सम्प्रदाय में ब्रह्म-त्याग से भी मुक्ति मिलती है और सब्रह्म से भी मुक्ति मिलती है। भाई ! अगर सब्रह्म ही मुक्ति मिलती है तो फिर ब्रह्म-त्याग करनेकी क्या जरूरत पड़ी थी।

ब्रह्म पहिनेनेसे तो अनेक प्रकारकी हांस. मन्त्र, शीत उष्ण, नम्रता आदि की बाधा दूर हो जाती है। फिर आनन्द ही आनन्द है। तब तो आनन्द से मोक्ष प्राप्त करना छोड़ करके सम्पूर्ण ब्रह्म-त्याग करके और हांस-मन्त्र, शीत-उष्ण, नम्र रूप आदि की बाधा सहन कर मुक्ति प्राप्त करने को कौन बुद्धिमान पुरुष होगा। जो ऐसी कठिनता से मुक्ति प्राप्त करने के लिये उपाय करेगा। क्योंकि ऐसी कठिन तपस्या करने का फल ही क्या रहा ? क्योंकि मोक्ष में तो अन्तर ही नहीं। वहां तो सुख समान है। हां अगर कोई मोक्ष सुख में अन्तर हो तो आपका कहना ठीक बन जायगा।

जैसे कुएँ का पानी बिना डोर से नीचे या परिभ्रम से नीचे उतर कर लाये बिना ऊपर से ही ऐसे मूलभूत से मिलना हो तो कौन पुरुष ऐसा करेगा जो कुएँ में नीचे उतर कर डोल से खींचकर परिभ्रम से पानी लाने का प्रयत्न करे।

यदि चूल्हा सुलगाये बिना ही भीटा भोजन खाने को तैयार हुआ मिलजाय तो कौन मूर्ख ऐसा होगा जो चूल्हा सुलगाने के लिये प्रयत्न करेगा। आप कहोगे हलवाई के यहां बिना चूल्हा सुलगाये तैयार भोजन खाने को मिलेगा। बाबू जी ! वहां तो पैसा गांठ से खोल कर देंगे तब भोजन मिलेगा। अर्थात् परिभ्रम बिना मिठाई व भोजन नहीं मिलेगा। सो प्रोफेसर साहब आपही जानिये। और आपने जो कहा कि यह बात शास्त्रीय निर्णय से रह जाती है सो ठीक

नहीं है। क्योंकि शास्त्र वह बात रहे० सम्प्रदाय में रह जाती होगी। किन्तु उसमें भी यह बात तो नहीं है केवल आपके कहने से रह जाती है। सो जानियेगा।

आप को शास्त्री का अर्थ यह करना चाहिये जो केवल शास्त्र को ही जानता है वह शास्त्री नहीं किन्तु वह शास्त्री है। केवल ज्ञान को ही प्राप्त कर लिया वह ज्ञानी नहीं क्योंकि ज्ञान का फल ही चारित्र्य है। अर्थात् बीतराग मार्ग पर चलना है। बीतराग मार्ग चलना और मोह माया को समूल उखाड़ कर मोक्ष को प्राप्ति में लगे रहना सो ही ज्ञान का फल है।

संसार खराब है ऐसे कहते भी जाओ और करते भी जाओ। मदिरा खराब है ऐसा कहते भी जाओ और मदिरा पीते भी जाओ। बैर-विरोध करना बिरह का विध्वंस करना है, ऐसे कहते भी जाओ और करते भी जाओ। तो याबू जी ! इसमें क्या प्रयोजन है ? सो आप ही जानिये। आप बुद्धिमान हैं आपसे क्या कहा। केवल नाम धरने से ही फायदा नहीं है। किन्तु नाम के मार्फक काम भी करना चाहिये।

आज कई ऐसे “गोसाईं” आदि साधु हैं जो अपना नाम “तपोधन” रखते हैं किन्तु अपने घर में खी बाल बच्चे ब लेन देन हजारों रुपयों की सम्पत्ति गाय भैंस सब कुछ रखते हैं और पूरे गृहस्थ बने हुए हैं। ऐसे तपोधन के नाम धरने से क्या प्रयोजन ? तपोधन नाम तो ऊन्हीं का सिद्ध है जो मुनि इच्छाओं का निरोध कर तप रूपी धन पास में रखता है उसी का ‘तपोधन’ नाम सार्थक है। जो अंतरंग और बहिरंग निर्मल रहते हैं। जो बाहिर निर्मल

होता है उसका अंतरंग निर्मल होना सम्भव है और जो बाहिर मलिन होता है वह अंतरंग में मलिन होता है। -

अगर वह कहे कि हम बाहिर मलीन होते हुए भी अंतरंग मलीन नहीं है। यह बात कहना उनके ही पास में रहने दें।

अपनी शुद्ध विद्वान्त्व विद्वत्पुत्र सुखमय अति शुद्ध आत्मा से अत्यन्त भिन्न पर-पदार्थों की इच्छा लाकसा अज्ञान परिणति के सिवाय कौन बुद्धिमान प्रहण करेगा ? अर्थात् कोई भी प्रहण नहीं करेगा।

हां, यदि तीव्र चारित्र्य मोहनीय कर्म के ज्वर से सर्व संग परिग्रह का वरित्याग न कर सकने के कारण यदि पर-पदार्थ का प्रहण करना होय तो अपनी निंदा गर्हा करने हुए संग का परित्याग करता रहे सो क्रम क्रम से सर्वसंग परिग्रह का त्याग करके किनारे पर पहुँच जायगा।

केवल ज्ञानके ही घमंड में रहना हो और करना धरना कुछ न हो तो ऐसे शास्त्री कमें सिद्धान्त का निखंय करने वाले तो भव-भव भटकते ही फिरेंगे। कहने वाले तो घर २ मिलेंगे किन्तु करने वाले बिरले ही मिलेंगे। गुड़ मीठा कहने से मुँह मीठा नहीं होता है किन्तु खाने से ही होगा। आचार्यों ने कहा भी है—

हस्तं ज्ञानं क्रियाहीनं हृत्ता चाज्ञानिनां क्रिया ।

धावन्क्रिस्तान्धको दग्धः परयन्मपि च पंगुलः ॥

इस श्लोक का यह भाव है कि क्रिया बिना ज्ञान-वान भी मारा जाता है और ज्ञान बिना क्रियावान भी मारा जाता है। जैसे घोर अरबब में अम्बा और पंगु दोनों बैठे थे। कर्म के संयोग से वनमें अग्नि लग गई तो पंगु ने कहा यहां अग्नि लगी हुई

है। क्या से भागना चाहिये। सो अन्धा वह सुन कर भागने लगा किन्तु नेत्र नहीं होने से बिबर अग्नि लगी हुई थी चर ही भागा और जलकर मर गया और पंगु देखा रहा है कि इधर अग्नि लग रही है, वन जल रहा है, लगते २ अग्नि पास आ गई है, लेकिन पंगु होने से दौड़ नहीं सका तो वह भी जल कर मर गया। ऐसा ही सांसारिक अरह्य है और उसमें मोह रूपी अग्नि लगी हुई है। ऐसे अरह्य में केवल शास्त्र का धर्म करके बाले मनुष्य पंगु के समान अन्तस्तान्त जल जाते हैं तथा ज्ञान बिना केवल क्रिया ही को करने वाले अन्धे के मा-फिक इस संसार में मोहरूपी अग्नि में जलकर मर जाते हैं। भगवान् बीतराग प्रणीत आगम में शास्त्र और कर्म-सिद्धांत के अनुसार सम्पूर्ण अंतरंग बहि-रंग परिग्रह त्याग बिना मुक्ति है ही नहीं।

इस प्रकार आगम स्वानुभव युक्ति और प्रमाणसे सम्पूर्ण ब्रह्म का त्याग ही मुक्ति का कारण रहा सो जानना जी। तथा अब आपने जिन शास्त्रों से सबल-मुक्ति को सिद्ध किया है वह भी अनुचित अप्रमाण है।

अध्याय कृता सूत्र नं० २४ में वरान-विशुद्धि भावना का उल्लेख करते हुए भगवान् अर्हत् भगवान् के बतलावे हुये निर्ग्रन्थ रूप मोक्षमार्ग में जिनके महा व क्षति है उनके वरान-विशुद्धि की भावना सिद्ध होती है, इसके बिना नहीं। कहिये अब सबल मुक्ति कहाँ रही? इस तरह उल्लेख करते हुए सूत्र २४ की टीका में कहा है—

जिनेन भगवत्प्राप्तयेति। तोपदिष्टे निर्ग्रन्थसङ्गो मोक्षवर्त्मनि कश्चिद्वरानविशुद्धिर्भावना विज्ञेया।

जिसके वरान विशुद्धि एक ही भावना शुद्ध नहीं

है तो बाकी १५ भावना भाना कृता है। “मूलाभावा-स्तुतः शास्त्रा” अतः उपरोक्त कहा हुआ २४ वां सूत्र निर्वल-मुक्ति प्रतिपादन करने वाला ही है।

आपने रदेताम्बरों और दिगम्बरों में तीन बातों का ही अर्थान सबल-मुक्ति, बी-मुक्ति, केवली कवलाहार का ही भेद बतलाया परन्तु प्रबल अन्य कारण तो छोड़ ही दिया जो कि यह है—

चौबीस घंटे में एक ही बार आहार पान ग्रहण करना ये दिगम्बरियों के यहां साधुओं का एक मुख्य मूलगुण माना गया है। यह मूलगुण महान बड़ा व्रत है और यह मूल गुण बीतराग-वृत्ति को बढ़ाने वाला और विषय कषायों को बटाने वाला है। क्योंकि ज्ञान पीते अनन्त काज बीत गया और केवल जप, ज्ञान आदि को बढ़ाने के लिये ही एक बार आहार लिखा जाता है। ऐसे कठिन मूलगुण के होने से तथा इस कठिन व्रत को न पाल सकने के कारण ही ये हजारों व्रत मतान्तर हो गये और हो रहे हैं। प्राचीन काल में इस व्रतको सब पालते थे और अभी भी दिगम्बर आम्नाय में साधु लोग पालते हैं। इस लिये यह कठिन्तर व्रत होने से इस व्रत को पालने वाले थोड़े रहे। अथाग दिगम्बर समाज में कुछ २०-२५ ही अब साधु हैं। लेकिन अजैन समाज में इन व्रतों का पालन करने का प्रतिबन्ध न होने से लाखों साधु हैं। उनको किस बात का दुःख है। जब भूख लगे तब का होते हैं और प्यास लगे तब पी लेते हैं। सर्दी गर्मी लगे तब बल पहिन लेते हैं। क्योंकि चौबीस घंटे में एक बार ही भोजन करने के बाद यदि फिर भूख लग जाय तो उसको सहन करना ही सुपरोह का सहना है। अथवा—

चर्चा को गया अन्तराव हो गया तो पहले चौबीस

घट्टे का तो उपवास था ही फिर भी २४ घट्टे का उपवास हो गया। फिर बीच में तो खाना है ही नहीं। खाना न होने से भुखा वेदना होती है सो उस भुखा वेदना को सहन करना ही भुखा परीपह है। यदि दिन में अनेकवार खाने तो भुखा परीपह ही कहाँ रहा और यह भुखा परीपह सहना साधुओं के लिये उत्तर गुण होते हुये भी मूल गुणों के समान है। यह नहीं पालें तो मूल गुण भी नहीं पलता। और मूल गुण पाले बिना मुनि नहीं और मुनि हुए जिना मुक्ति नहीं।

वृषा परीपह भी बड़ा भारी परीपह है। जब चौबीस घट्टे में एक बार भोजन लिया जाता है। उसी समय पानी लिया जाता है न कि बार बार। चाहे जितनी गरमी पड़ती हो जल पिये बिना रहना महान , कष्ट है। उस कष्ट को सहना ही वृषा-परीपह जय। जब व्यास लंग तब पानी पीने लग जाय तो वृषा ही कहाँ रही? वृषा परीपह भी नहीं रही तो मुनिपना भी न रहा। यह कहना सुलभ है किन्तु करना दुर्लभ है। जो करता है उसी को इस का अनुभव होता है।

शायद आपको भी अनुभव होगा अगर कभी एकाग्रता किया हो तो। एकाग्रता करने वाले भी वृषा वेदना को न सह सकने के कारण दूसरी तीसरी बार पानी पी लेते हैं। इस लिये उनके एकाग्रताव्रत भी नहीं रहता है। चाहे वे एकाग्रता मान लें वे लेकिन वह एकाग्रता व्रत नहीं होता। शरीर जब चाहे तब उसे खाना पीना देना यह तो इच्छा का धर्म है। मुनि का नहीं।

चौबीस परीपहों के अन्दर नग्न परीपह भी बलवत्/वी है। जिसका स्वरूप उत्तमार्थसूत्र सवार्थ-

सिद्धि टीका में बतलाया है—

आतरूपवाचककृतं ज्ञातं यथारं भूतव्यवस्थां नीचं
याचनरक्षणद्विसनादिषोषविनिमुक्तं निष्परिमहत्वाजि-
र्वाणप्राप्तिं प्रत्येकं साधनमनन्वयाधनं नाम्न्यं मिश्रणो-
मनादिक्रियाविहितविरहात् कीरुपायस्यस्यापि
कृणपरूपेण भावयतो रात्रिन्दिवं मन्त्रायंमकपदमा-
विष्टमानस्याचेतनतधारणप्रतधारणमननं प्रसक्तं—
व्यम्।

इसमें साफ लिखा है कि निर्मन्त्र व्रत है वह अचेतक है यथाज्ञातरूप है और निष्परिमह होनेसे मोक्ष प्राप्ति का कारण है। इसके बिना मोक्ष नहीं है। सो जानना भी।

इस व्रत को पालने में उनको महान कष्ट सहन करना पड़ता है अर्थात् निर्विकार अवस्था करनी पड़ती है और मैं मन्त्र हूँ ऐसा उसको मातृम भी पड़ता है। परम ध्यान में लीन रहते हैं और अपने को परम चिद्रूप चिदानन्द मूर्ति ही समझते हैं। अर्थात् मैं हूँ सो ही परमात्मा है। परमात्मा है सो ही मैं हूँ। ऐसी उज्जल भावना धारण करते हुए भूतल पर मानो परमात्मा के समान विचरण करते हैं। इस लिये यह नग्न परीपह निर्मन्त्रता की पुष्टि करता है और सबक-मुक्ति का सर्वथा निषेध करता है। अतः यह नग्न परीपह साधुओं के लिये अनिवार्य है और नग्न परीपह अचेतक व्रत से होता है।

क्योंकि नग्न अवस्था न रहने से अर्थात् बस पहनने से शीत उष्ण हांस मच्छर आदि सत्त्वों उस समय कपड़े ओढ़कर सो सकता बैठ सकता है, जिस से हांस मच्छर की बाधा नहीं रहे। ऐसे ही शीत परीपह की बाधा नहीं होगी। क्योंकि ठण्ड लगे तब कपड़े ओढ़ लेगा। या प्रायः प्रायान्तर जाना हो

तब भी रास्ते में ठहर लगे तो कपड़े छोड़ कर चले और गरमी लगे तब कपड़ा सिर पर डाल ले। जिस से गरमी भी नहीं लगे। तब तो बड़ा ही आनन्द हो जाय। तो फिर साधु होने में क्या दिक्कत रहेगी अबेलक मत होने से शीत-उष्ण, हांस-मन्दार नग्न आदि परीपह हो सकते हैं। इसके अभाव में नहीं। इन परीपहों का सहन करना शालों में साधुओं को बतलाया है और इनका पालन करना साधुओं के लिये अनिवार्य है। इनके पालन बिना साधु नहीं और साधु बिना मुक्ति नहीं सो जानना जी।

प्रोफेसर साहब लिखते हैं—

“तत्त्वार्थसूत्र अध्याय ६ का सूत्र० ४६ में मुनि का लक्षण पांच प्रकार का बतलाया है। पुत्राक, बक्रा, कुरील, निर्मन्थ, स्नातक इन पांचों प्रकार के मुनियों के लिये बख-त्याग करने का विधान अनिवार्य नहीं है और इत्यलिंग के भेद से पांचों निमन्थों में भेद किया है और भावलिंग की अपेक्षा से पांचों निर्मन्थ हैं और टीकाकार ने कही २ लिखा है कि मुनि बख धारण कर सकते हैं और आपने यह भी लिखा है कि सवख से भी मुक्ति होती है और बख-त्याग से भी मुक्ति होती है।” ऐसा आपने तत्त्वार्थ-सूत्र १० अध्याय के सूत्र ६ के आधार लिखा से है आपने तदनुसार यह प्रमाण भी दिया कि—

“निर्मन्थलिंगेन सप्रमन्थलिंगेन वा सिद्धि भूतपूर्व-नवापेक्षया।” सो यह आपने जितने भी प्रमाण दिये सो अनुचित अप्रमाण और प्रकरणबिच्छ हैं। सो कैसे ? इसका समाधान नीचे दिया जाता है सो ध्यान से पढ़िये—

पांचों प्रकार के साधु (पुत्राक, बक्रा, कुरील, निर्मन्थ, स्नातक) निर्मन्थ ही हैं। सर्वाथ-सिद्धि

तत्त्वार्थ सूत्र टीका अध्याय ६ सूत्र ४६ इसकी टीका में साफ लिखा है कि “त एते पंचापि निर्मन्था चारित्र—परिणामस्य प्रकर्षप्रकर्षभेदे सत्यपि नैगम-संग्रहादिन्यापेक्षया सर्वेऽपि ते निर्मन्था ज्ञेयाः।” इस का अर्थ यह है कि ये पांचों मुनिराज सर्वसंगपरित्यागी हैं अर्थात् दिगम्बर हैं। चाहे बाह्य और आभ्यन्तर अपेक्षा से कुछ चारित्र में वृद्धि हानि होने पर भी पांचों मुनि सम्यग्दृष्टि और निर्मन्थ ही हैं। भविष्यमें ये सब मुनि मोक्ष-गामी ही हैं। इस लिये नैगमनय लगाया है और संग्रहनय यह है कि सामान्य दृष्टि से ग्रहण करने से वह सब निर्मन्थमुनि ही हैं। इनमें भेद नहीं क्योंकि भेद करना व्यवहारनय का लक्षण है सो जानना जी।

जैसे संग्रहनय का लक्षण यह है कि किसी ने पूछा कि ये कौन बैठे हैं ? तब किसी ने जवाब दिया कि ये सब मनुष्य बैठे हुये हैं। और उनका कहना भी ठीक है। सब मनुष्य बैठे हुए हैं। जब हम मूर्खदृष्टि से वहां देखने हैं तो वहां व्यवहार न की प्रवृत्ति होती है तो कहना पड़ता है कि कोई काला मनुष्य है और कोई गोरा, कोई रयाम, कोई बुद्धिमान, कोई मूर्ख, कोई सेठ, कोई मिथन है, किसीका चित्त शास्त्र सुमने में लग रहा है, किसी का मन इधर उधर डाबांडोल हो रहा है। इस अपेक्षा से उसमें भेद है लेकिन मनुष्य अपेक्षा से कोई भेद नहीं। सब बराबर हैं तथा निर्मन्थ बाह्यलिंग में अर्थात् २८ मूल गुणों के सामान्यता से कोई भेद नहीं है। किन्तु तीव्र बुद्धि क्षीतरागी महर्षियों ने व्यवहारनय की अपेक्षा से इन पांचों निर्मन्थ मुनियों में भेद प्रभेद किये हैं। सो कैसे ? देखिये—

ये पांचों निर्मन्थ समान होने पर भी परित्याग

की अपेक्षा से शक्ति में भी कर्क होता है। अर्थात् नोकपाय के तीव्र मन्द उदय से इस बाह्य और आध्यन्तर लिंग में कोई २ दोष भी लगता है और नहीं भी लगता है। सो कैसे ? देखिये—

पुलाक मुनि को कश्चिन् कदाचिन् अर्थात् कभी २ बलात्कार से या दुष्टों द्वारा उपसर्ग आदि के होने से इन पांच महाभूतों में कुछ दोष लगता है, न कि अपनी इच्छा से। और उपसर्ग शांत होने पर प्रायश्चित्त से शुद्ध होकर फिर अपने अठाईस मूल गुणों को पालने में तत्पर रहता है। क्षुधा, तृप्ता, शीत, उष्ण, ठांस भस्त्र आदि परीयहों को सहन करने हुए इसमें आगे जो उत्तरगुण हैं उनको पालने की भावना रखता है लेकिन पाल नहीं सकता उत्तरगुण नहीं पालने में मुनिपना नहीं रहे यह बात नहीं है। मुनियों के लिये अठाईस मूल गुण पालना जरूरी है। इस तरह पुलाक मुनि का मृत्नासा हुआ। अब मुनिये बकुश मुनि का—

बकुश मुनि दो तरह के होते हैं ?—उपकरण बकुश, २—शरीर बकुश। उपकरण बकुश मुनि तो वे हैं जिनके चित्तमें कमंडलु पीछी शास्त्र आदि वो अच्छा रखने या साफ रखकरने में तत्परता विशेष रहती है। इनके सिवाय और उनमें कोई दोष नहीं है ये भी दोष नहीं होना चाहिये। परन्तु नोकपाय का कुछ उदय होने से ऐसे परिणाम हो जाते हैं। शरीर-बकुश वह हैं जो संघ की बंधा-वृत्ति आदि करने के हेतु से या पठन-पाठन आदि करने के हेतु से एकान्तर बेला तैला उपवास आदि नहीं करता है केवल चौबीस घण्टों में एकामन पर आहार जल ग्रहण करता है इसमें न्युनाधिकता नहीं करता है। तथा पुटने से ऊपर पग या हाथ धोने की

मनाई है। परन्तु वह मुनि पुटने के ऊपर हाथ व पांव धोता तो नहीं है किन्तु गीले हाथों से पुटने के ऊपर के जंघा शरीर पर हाथ फिराता है विशेष गरमी के कारण से। इसके सिवाय वह और कोई संस्कार नहीं करता है।

कुरील मुनि के दो भेद हैं ?—प्रतिसेवना कुरील २—कपाय कुरील। प्रतिसेवना कुरील मुनि के उत्तर गुणों में कभी २ दोष लगता है। जैसे बुद्धमूल आतापन योग आदि कार्य में। इसके सिवाय इसमें और कोई दोष नहीं है। कपायकुरील, निर्ग्रन्थ और स्नातक इन दोनों में कोई दोष नहीं है। किन्तु कपाय कुरील से निर्ग्रन्थ अवस्था ऊंची है। निर्ग्रन्थ अवस्था में, गुणस्थान, सामायिक, क्षेरोपस्थापना परिहार विशुद्ध सूक्ष्म साम्प्रदाय और यथार्थता इन पांचों की अपेक्षा से पांचोंमें भेद है। इसके सिवाय बाह्य और आध्यन्तर में कोई भेद नहीं है और ये पांचों निर्ग्रन्थ दिग्गम्बर ही हैं। अथवा वे सम्यग्दर्शि एक दो भव लेकर या उसी भव में मोक्ष जाने वाले हैं। इसके सिवाय इसमें अन्यथा अर्थ करना वह सब दुराग्रह और कपाय पैदा करने का है।

श्रीमान पण्डित प्रोफेसर हीरालाल जी का कहना है कि सर्वार्थ सिद्धि १० वां अध्याय सूत्र ६ में लिखा है कि वस्त्रधारी भी मोक्ष जा सकते हैं जिसका आपने हेतु दिया कि “निर्ग्रन्थलिंगेन मन्त्रलिंगेन वा सिद्धि-भूतपूर्वधन्यापेक्षया” परन्तु ये हेतु आपका अनुचित या असमक है। सो कैसे ? देखिये—

ग्रन्थ बांधने के पहिले या अन्यय टीका आदि देखने के पहिले नय निक्षेप स्वरूप जानना जरूरी है, इसके जाने बिना अर्थ बिपरीत बँट जाता है। वही बिपरीतता श्रीमुक्ति, सबसमुक्ति, केवली कवलाहारमें

हुई है। सिद्ध परमात्मामें भेद बतलाने का ही इस सूत्र का अभिप्राय है। क्योंकि सिद्ध समान हैं ये सम्बन्धनय का विषय है। सिद्ध एक से होने पर भी उसमें भेद करना सो व्यवहारनय है।

निर्ग्रन्थलिंगसे ही मुक्ति है और जो सम्प्रन्थ लिंगसे लिखा है वह गृहस्थों की अपेक्षा में है। जो गृहस्थ सम्यग्दृष्टि हैं और विशिष्ट देव धर्म गुरु आदि की सेवा कार्य में निमग्न रहते हैं और आत्म-चिन्तन में विशेष ध्यान देते हैं वे परम्परा से मोक्ष प्राप्त कर सकते हैं। इसलिये आचार्योंने शास्त्रमें लिखा है कि गृहस्थ और मुनि दोनों मोक्ष के अधिकारी हैं। तो इसका अर्थ यह नहीं कि गृहस्थ अवस्था से मोक्ष जावे। गृहस्थ अवस्था को छोड़कर मुनि होगा तब ही मोक्ष जायगा। इस लिये “भूतपूर्वजनयोपेक्षया” हेतु दिया है।

भूतपूर्वनय का अर्थ यह है कि जो पहले गृहस्थ अवस्था में आत्मसाधन का विशेष अभ्यास करता है पीछे वही मुनि होकर मोक्ष में जाता है। यह इसका अर्थ है, न कि सम्प्रन्थ मोक्ष में जाता है।

यदि आप ये अर्थ नहीं मानें तो यहां ‘भूतपूर्व-नयोपेक्षया’ यह हेतु देने की जरूरत ही क्या थी? “सम्प्रन्थलिंगेन निर्ग्रन्थलिंगेन वा सिद्धिर्भवेति” ये हेतु देते तो आपका कहना ठीक हो जाता और बड़े पुरुष शब्द का दूषा उपबोग नहीं करते हैं। अतः यही अर्थ होता है कि जो पहले सम्प्रन्थ था वह पीछे निर्ग्रन्थ होकर मोक्ष गया उसे पहले की अपेक्षा सम्प्रन्थ माना गया। इस तरह इस सूत्र का यह वास्तविक अर्थ हुआ। आपको इस विषय में विचार जरूर करना चाहिये कि सम्प्रन्थलिंग से मुक्ति मिल जाती तो निर्ग्रन्थ शब्द की जरूरत ही क्या थी। कौन ऐसा मूर्ख

मनुष्य होगा जो मुक्त से मोक्ष जाना छोड़कर दुःख महन कर मोक्ष को जाने की इच्छा करे? अर्थात् कोई नहीं करे। सारा संसार यह चाहता है कि मोक्ष करते हुए मोक्ष जावे किन्तु ऐसे सांसारिक आनन्द करते २ न किसी को मोक्ष मिला है, न मिलेगा। केवल मत मनान्नर की वृद्धि करके विश्व में उपद्रव खड़ा करना है इसके सिवाय और कुछ नहीं।

ट्रेक्टमें भगवती आराधना की गाथा ७६-८३ का प्रमाण दिया कि “मुनियों के उत्सर्ग और अपवाद-मार्ग का विधान है इसके अनुसार अपवादलिंगी मुनि ब्रह्मधारण कर मकता है” ऐसा मान्यवर प्रोफेसर साहब का अभिप्राय है। परन्तु यह प्रमाण भी अनुचित और असम्भव है।

आपने जो ये प्रमाण बनलाया वहां मयस्थ का तो मुनियों के सम्बन्ध ही नहीं है। वह अपवादमार्ग बनलाया है वह तो केवल भुक्तक और ऐच्छक तथा उत्कृष्ट भावक अथवा अनुब्रवी या एकदेशाश्रयी भावक के लिये है अथवा इनको वनप्रस्थ भी कहते हैं। ये सब अपवादलिंग के धारी हैं। मुनियों के लिये अपवादमार्ग है ही नहीं। मुनियों के लिये तो उत्सर्ग मार्ग ही है।

यदि दुष्टों के द्वारा उत्सर्ग होने पर मुनिज्ज (मूलगुण) में दोष लग जाय तो प्रार्थान लेकर शुद्धि का विधान है सो जानना जी। तथा शब्द से भी यह अर्थ होता है कि उत्सर्ग यानी निर्दोषमार्ग, अपवाद मार्ग यानी सद्दोषमार्ग तो फिर सद्दोषी के लिये मुक्ति कहाँ से? जब निर्दोषी होगा तब ही उत्सर्गमार्ग से ही मुक्त होगा। इस प्रकार भगवती आराधना का स्पष्ट सुझावा है।

लिंगान्तरा दूसरा अनिर्णय गाथा ७६ से १०० तक कुल गाथा २२ में वर्णन किया है उसमें आपने सबका मुक्ति सिद्ध करना चाहा लेकिन वह आपका करना गलती है। क्योंकि उसमें तो उत्सर्गलिंग निर्ग्रन्थ मार्ग का वर्णन है और अपवादलिंग से ऐन्द्रक भ्रूलोक तथा भावक अणुमती का वर्णन किया है। अपवादलिंग मुनि का नहीं है। आप यदि विशेष विचार कर देखते तो आपको इतना तकलीफ नहीं उठानी पड़ती।

भारांश यह है जहां दिग्गन्धर आम्नाय का प्रतिपादन है अथवा यहां कईयें जहां निर्ग्रन्थ बीतरागमार्ग का प्रतिपादन है वहां मग्न्य वस्तुधारी का प्रतिपादन हो ही नहीं सकता। प्रत्यक्ष विरुद्ध बात है।

किमी लड़क ने कहा मेरी भाभा बांक है ऐसा उम लड़क का कहना प्रत्यक्ष विरुद्ध है क्योंकि यहां प्रश्न होता है कि मेरी भाभा बांक होती तो तू पैदा कहां से होता। तो यहां भी ऐसा ही समझना उहां निर्ग्रन्थ बीतराग मार्ग है वहां सग्न्य रागियों का काम ही क्या।

कोई बुद्धिमती स्त्री या बुद्धिमान रसोदया चावल पके या नहीं पके इसकी परीक्षा के लिये एक ही कण दबाता है और एक ही कण पका हो तो भट समझ लेता है कि सब पक गये। उस परीक्षा के लिये बुद्धिमान रसोदया अलग २ कण को दबाकर नहीं देखता है अगर असमझदार हो तो चाहे जो करे परन्तु फल कुछ भी नहीं। इस तरह से जहां निर्ग्रन्थ बीतराग मार्ग का प्रतिपादन करने वाला एक ही शास्त्र सिद्ध हुआ या है तो बाद वाली जितने ग्रन्थ हैं वे सब इसी मार्ग के समझने चाहिये उनको अलग, अलग परीक्षा करने में जरूरत नहीं। अगर इस

बीतराग निर्ग्रन्थमार्ग से विपरीत निरपेक्ष रीति से सग्न्य मार्ग का प्रतिपादन करने वाला हो वह निर्ग्रन्थ बीतराग आम्नाय का ग्रन्थ ही नहीं है।

आगे प्रोफेसर साहब हीरालालजी ने धबलाग्रन्थ में प्रमत्त संयतों का स्वरूप बतजाते हुए जो संयमकी परिभाषा दी है उसमें केवल पांच बातों के पालन का ही उल्लेख है।

(संयतो नाम हिंसानृतस्तेयान्ध—परिग्रहेभ्यो विरतिः) ये प्रमाण आपने दिया है और उसका उद्देश्य यह मालूम पड़ता है कि मुनियों के लिये पांच ही बात पालन करने का अधिकार है। अर्थात् और अन्य बात पालन करने की जरूरत ही नहीं। यह आपका अभिप्राय है। अगर यह अभिप्राय आपका नहीं होता तो यह सूत्र देने की जरूरत ही क्या थी। परन्तु आप अपना अभिप्राय देकर जो सबका-मुक्ति सिद्ध करना चाहें वह सिद्ध नहीं हो सकती और इस सूत्र का अभिप्राय वास्तविक रूप से आपके समझमें नहीं आया। सो कैसे ? नीचे प्रमाण देखिये—

तत्त्वार्थसूत्र अध्याय ७ वां सूत्र पहिला (हिंसा-नृतस्तेयान्धपरिग्रहेभ्यो विरतिर्मात्रम्) इस सूत्र की टीका में लिखा है कि “सर्वसाधननिवृत्तिवर्ण-सामायिकापेक्षया एकं मतं। तदेव क्षेत्रोपस्थापनापेक्षया पञ्चविधमहोच्यते” अर्थ यह है कि अहिंसाव्रत को आदि में देने का मतलब यह है कि उस अहिंसा व्रत को कहने से ही बुद्धिमान पुरुष सहज ही में समझ जाता है और इससे अलग होने का प्रयत्न भी करता है। ये संक्षेपार्थ है। उस एक ही अहिंसाव्रत की रक्षा करने के लिये झूठ, चोरी, कुरीत और परिग्रह त्याग हम प्रकार ये चार महाभ्रम तथा पांच हिंसक निग्रह पांच समिति और छह आवश्यक इसके सिवाय

सात मूल गुण जैसे १-केशलोच, २-स्नान त्याग, ३-पूर्ण आदि लगा करके दम्नधावन त्याग, ४-भूमि शयन, ५-अचेलक अर्थात् वृक्ष के छाँट पत्ते वृण से बनी हुई चटाई अथवा वस्त्रादि से शरीर को ढकनेका त्याग, ६-लपेटे होकर हस्तपात्र में आहार लेना, ७-चौबीस घण्टे में एक बार आहार लेना । इस प्रकार ये २७ व्रत अहिंसा महाव्रत के रक्षा के लिये हैं । जैमे स्वर्गी की रक्षा के लिये बाढ़ । बाढ़ के बिना जैनों की रक्षा नहीं होती उसी तरह में इन सत्साईस मूल गुण व्रतों के बिना अहिंसा महाव्रत की रक्षा कभी भी नहीं होगी । और भी देखिये—

इस अहिंसा महाव्रत की रक्षा के लिये आगम में ८४००००० चौरासी लाख उत्तर गुण बतलाये हैं । तो क्या ? प्रोफेसर साहब ! आप की दृष्टि में ये सब बुरा ही हैं ?

ये बुरा नहीं हैं प्रोफेसर साहब के समझने में फेर है । और देखिये—

‘मे’ इस शब्द का अर्थ होता है कि पुत्र, मित्र, स्त्री, धन-धान्य रागद्वेष आदि मेरा है और मैं उनका हूँ ऐसा कहना मे का अर्थ है और इसी से बन्ध है और इससे विकृष्ट (मे न) अर्थात् पुत्र, मित्र, स्त्री, धन-धान्य, रागद्वेष आदि मेरे नहीं हैं और न मैं उनका हूँ ऐसा समझना मोक्ष है । परन्तु (मे) इस एक अक्षर को छुड़ाने के लिये गणधरादि महा ऋषियों को एकदशराग चौदह पूर्वादि की रचना करनी पड़ी । तो क्या प्रोफेसर साहब की दृष्टि में ये महर्षियों द्वारा की गई सम्पूर्ण द्वादशराग भुत की रचना बुरा है ?

प्रोफेसर साहब की समझ में फेर है ये द्वादशराग बाणी बुरा नहीं है । क्योंकि इतनी विशेष रचना

किये बिना मार्ग-प्रवृत्ति नहीं होती अर्थात् “मे” एक अक्षर को छुड़ाना वह किस तरह छुड़ाना उसका सुतामा किये बिना काम नहीं चलता है इसी लिये उसका अशुद्धा सुतामा किया है । और भी सुतासा देखिये—

जितनी प्रचंड पवन चलेगी उतना ही समुद्र लोभायमान होगा और जितना पवन मन्द चलेगा उतनी ही समुद्र के अन्दर तरंगों मन्द चलेंगी और त्रिलकुल पवन रुकने में समुद्र त्रिलकुल शांत और गम्भीर व तरंग आदिक उपद्रव से रहित होता है ऐसे ही आत्मा के लिये जितने विषय कषाय अलंकार आभूषणादि जितने परिग्रह ज्यादा बढ़ने रहेंगे उतनी ही आत्मा में आकुलता बढ़ती जायगा । और जितने विषय कषाय राग द्वेष परिग्रह आदि घटवेंगे उतना ही आत्मा निर्मल और शांत होता जायगा । और सपूर्ण विषय कषाय आदि परिग्रह छुट जाने से आत्मा त्रिलकुल निर्गकुल बन जावेगा ये सब प्रत्यक्ष प्रमाण हैं । विशेष देखना हमें तो मनो-निग्रह पुनर्क देखना चाहिये । यह स्वाम हम उद्देश्य में बनाई गई है । हम लिये बीनरागी महर्षियों ने विषय-कषायों को घटाने के लिये और बीनरागवृत्ति बढ़ाने के लिये अनावश्यक वस्तु का त्याग करना बतलाया है । इसका उद्देश्य यही है कि अनावश्यक वस्तु का त्याग करो जिसमें तुम्हारे आत्मा में शांति होगी और विश्व का कल्याण होगा । क्योंकि अनावश्यक वस्तु ग्रहण करने से आशा रूपी शिराच बढ़ता जायगा और हजारों दुर्भावनाएं पैदा होंगी और विश्व में हा हाकार मच जायगा जैसे कि आजकल मच रहा है । जैसे देखिये—किमी मनुष्य के घर में आदमी है और उसके स्नान-पान आदि सात्वता दो

हजार रुपये खर्च होते हैं जब वह मनुष्य दो हजार रुपयों के सिवाय जितना कमावेगा वह सब धन जमा रखे है क्योंकि जितना खाने पीने का खर्चा है वह दो हजार में पूरा हो जाता है यदि वह दुर्भा-वनावश अनिवार्य वस्तुओं का संग्रह करता जावे और परोपकार में न लगावे तो केवल उसके दुर्भा-वना के सिवाय अन्य प्रयोजन ही क्या रहा। इसी माफिक किमी के पास पचास हजार रुपयों से खान-पानादि व्यवहार पूरा हो जाता है और वह अना-वश्यक वस्तु को ग्रहण कर लक्षाधिपति बनने की इच्छा करे और इसी के पास दश करोड़ की स्टेट है और उसी से उसका खान पानादि व्यवहार चल जाता है वह अनिवार्य वस्तुओं को ग्रहण कर पच्छीस करोड़ की स्टेट करना चाहे और परोपकार में न लगावे तो यह सब उसके दुर्भावना के सिवाय प्रयोजन ही क्या है। केवल उनकी दुर्भावना ही नहीं किन्तु उसके साथ २ विश्व का विनाश करना है। अर्थात् अन्न पानी के लिये कई लोग मर गये और मर रहे हैं। इस लिये अनिवार्य वस्तुओं को सम्पूर्ण जीवों के हित के लिये लगाना चाहिये। सेंट राजा, महाराजा आदि सम्पूर्ण पुरुष अनिवार्य वस्तु को विश्व-कल्याण में लगायेंगे तो आज ही विश्व शांति हो जायगी। यह नहीं होने से कई सम्पत्ति मिट्टी में मिल जाती है और करोड़ों मन धान्य सड़ जाता है या कीड़े खा जाते हैं और उनके घर के लोग अजीर्ण व रोग में ही मर जाते हैं। ये अनिवार्य वस्तु के संग्रह करने का दुष्फल है। इस प्रकार आवश्यक वस्तुओं को प्राप्त न होने से करोड़ों जीव भूख से मर गये और मर रहे हैं। ये आह्वान आपकी दृष्टिगोचर हो रहा है।

इस लिये मानवो ! जब एक वस्तुओं का संग्रह करिये और अनिवार्य वस्तु को जगत्-कल्याण में लगाइये। इसी में आनन्द रहेगा। जैसे बच्चा जितना आवश्यक होता है उतना ही माँ का दूध पीता है व अनिवार्य होने के बाद माँ को छोड़कर आनन्द से खेलता फिरता है। अगर कोई मूढ़ माता उसको जबरन दूध पिलावे तो उस बालक के आनन्द में बाधा होगी और वह बालक अनेक रोगों से ग्रसित होकर अपने प्राण भी खो देगा। क्योंकि उस माता ने बालक की इच्छा बिना अनिवार्य वस्तु का ग्रहण कराया। अथवा—

कोई मूढ़ मनुष्य पेट में जितने अन्न की आव-श्यकता है उतना न खाकर जोलुपता से व्याधा का लेंबे तो अजीर्ण हो जायगा, रोग से ग्रसित हो जायगा, आखिर में प्राणान्त भी हो जायगा। क्यों-कि जितने रोग होते हैं वह अनिवार्य वस्तु को ग्रहण करने से अथवा प्रकृति-विकृत वस्तु को सेवन करने से हो होते हैं। इस लिये अनिवार्य वस्तु को त्यागने के लिये ही महर्षियों ने कहा है और इसी को यानी अनिवार्य वस्तुओं को त्यागना ही गृहस्थों का एकदेशव्रत कहा जाता है या अणुव्रत कहा जाता है और इसी से गृहस्थ जीवन का सुधार है। अर्थात् इस व्रत से विषय कषाय, आदि घट जायेंगे और परम्परा से मांस के भागी बनेंगे।

किसी अज्ञान मनुष्य का कहना है कि जैनियों के अहिंसाधर्म से ही भारत गारत हुआ है और जैन धर्म विश्व-व्यापी नहीं है। परन्तु यह उनका कहना अनुचित और असमर्थ का है। उनको उपरोक्त कथन से अपनी भूल को स्वीकार कर प्रायश्चित्त लेकर शुद्ध होना चाहिये। क्योंकि विश्व का कल्याण और

विरव का न्याय जैनधर्म व बीतरागी महर्षियों के द्वारा ही पहले होना था तभी तो सर्वत्र शांति थी। क्योंकि महर्षि हमेशा पक्षपात व विषय कथनों से रहित होते हैं।

इस लिये उनसे अन्याय होना सम्भव नहीं है। जब मनुष्य महर्षियों के वचन उल्लंघन करने लगे और स्वयं विषय कथाय के आधीन होकर मन माना न्याय करने लगे तब अनेक मन-मतान्तर खड़े हो गये। विरव में कोलाहल मच रहा है। इस लिये आत्म-कल्याण व विरव-कल्याण करना हो तो बीतरागी जैनधर्म व बीतरागी महर्षियों के चरण में अनायास चढ़िये। बीतरागी महर्षियों के बिना विरवहित करने बल्ला कोई नहीं हो सकता। क्योंकि पुण्य प्रमाण हो तो उसका वाक्य भी प्रमाण माना जाता है। इस प्रकार गृहस्थियों के अणुमतां का वर्णन हुआ अथवा अनावश्यक वस्तुओं के त्याग का वर्णन हो चुका।

जब बीतरागी परमहंस दिगम्बर महर्षियों का वर्णन तथा अनावश्यक पदार्थों के त्याग अर्थात् सरस मुक्ति के निषेध का वर्णन थोड़ा सा और देखिये—

बीतरागी मुनियों के लिये एक अहिंसा महाव्रत ही मुख्य महाव्रत है। वास्तविक अहिंसा महाव्रत यही है जो विषय-कथाय, राग-द्वेष, आहार-बिहार निद्रा, वस्त्रभूषण आदि सम्पूर्ण आरम्भ व परिग्रह का त्याग कर देना तथा शुद्ध चिद्रूप परमानन्द-मय अपनी आत्मा में अपनी आत्मा के लिये आकुशता बिना रहना ही वास्तविक अहिंसा महाव्रत है। उसके साथ ही सत्य आदि चार महाव्रत तथा पांच समिति का पालन, पंच इन्द्रियों का निग्रह, षट् आवश्यक पालन और चौबीस परीषदों के सहन करने से

ही अहिंसा महाव्रत हो सकता है। इसके बिना अहिंसा महाव्रत नहीं हो सकता है। इसके बिना जो व्रत ग्रहण करता है सो अणुव्रत में ही गिना है। सिर्फ अहिंसा महाव्रत की रक्षा के लिये ही साधु पीढ़ी कमंडल रखते हैं। शरीर रक्षा के लिये नहीं।

जब मुनियों के लिये केवल शरीर परिग्रह ही रहा और कोई परिग्रह नहीं रहा। वह शरीर परिग्रह भी इसी लिये रक्खा गया है कि जिसके द्वारा ध्यान, तपश्चर्या व वास्तविक ज्ञान प्राप्त हो सके। निरन्तर स्वाध्याय व विश्व-वन्द्यायात्थं प्रत्य निर्माण करने व अपनी बुद्धि को विशद बनाने के लिये शरीर की आवश्यकता है। और इस शरीर-स्थिति के लिये छठे गुणस्थानवर्ती द्वाप्रस्थ साधुओं के लिये आहार की आवश्यकता है और वह भी चौबीस घंटे में एक बार निरन्तराव आहार लेते हैं। शरीर न ठहरने से ज्ञान-ध्यान, अप-तप नहीं होगा। ज्ञान, ध्यान, तप न होने से कर्म-बन्धन भी नहीं छूटेगा। कर्म-बन्धन न छूटने से संसार में भटकना पड़ेगा। इस लिये द्वाप्रस्थ बीतरागी छठे गुणस्थानवर्ती साधुके लिये चौबीस घंटे में एक बार आहार लेना आवश्यक समझा है। दिन में कई बार खाना वह तो अनावश्यक है। अनावश्यक वस्तु ग्रहण करना साधु के लिये अनुचित है।

शरीर-स्थिति के लिये वस्त्रभूषण, छी, घर, दौलत की जरूरत नहीं। इसके बिना भी शरीर रह सकता है। अनावश्यक वस्तुओं का ग्रहण महापुरुषों के लिये अनुचित है और उसका संग्रह करने से अनवस्था हो जावेगी। जहां अनवस्था होगी वहां दुख ही है। अनावश्यक वस्तु संग्रह करने से

अहिंसा महात्मत कदापि कमल नहीं पलेगा ।

महापुरुषों के लिये शरीर और अन्न सिवाय दुनिया के कितने भी पदार्थ हैं सब अनावश्यक हैं । अथवा यों कहिये “परमात्मा है सो मैं हूँ और मैं हूँ सो परमात्मा” ऐसे पूर्ण ज्ञानियों के लिये अनावश्यक वस्तु की कमी भी जरूरत नहीं है । ऐसा नियम आगम मुक्ति स्वानुभव प्रमाण विश्व-कल्याण के लिये महर्षियों द्वारा बांथा गया है । ऐसी मर्यादा को तोड़ देना विश्व का बिभ्रंश करके कोलाहल मचाना ही है । अथवा यों कहिये अज्ञानी व अवि-वेकी मनुष्य अनावश्यक वस्तु को ग्रहण करते हैं । जो अनावश्यक वस्तुओं का संग्रह कर अपना नाम बढ़ा रखना चाहता है । “वह जैसे एक अक्षर का भी ज्ञान न हो और विश्व-विशालय का प्रधान अध्यापक बनना चाहें” तो यह मूर्खता के सिवाय और क्या । अगर ज्ञानी ही न्यर्थ वस्तुओं का संग्रह करे तो फिर मूर्खों के लिये तो कहना ही क्या है ।

आचार्यों ने जो मार्ग व क्रम बतलाया है उसमें हस्तक्षेप करना महा अन्याय है । आचार्यों ने शक्ति के अनुसार संयम बतलाया है । जिसको साधु होने की शक्ति है वह साधु होवे । अशक्त को साधु होने के लिये कौन जबरन करता है । साधु पद धारण न

हो सके तो एक लंगोट धारण कर देखकर बने अथवा वह भी न बन सके तो एक लंगोट व हीन हाथ भी धारण रखकर झुल्लक बने । ये भी न बन सके तो पूर्ण बखर रखकर भी को छोड़कर मल्लाखरी बने । ये भी न बन सके तो पूर्ण गृहस्थी रहकर भी दान, पूजनादि नित्य षट्कर्म करते हुये शक्ति बढ़ाकर परम्परा से मुक्ति पाने की अभिलाषा रखें । किन्तु मर्यादा उल्लंघन कर शिथिलतापारी बनकर मलमलान्तर बनाना अनुचित एवं हानिकारक है ।

व्यवहार में भी देखते हैं कि जिसमें जिलाबीरा बनने की योग्यता नहीं वह तहसीलदार बनता है । तहसीलदार बनने की योग्यता नहीं तो थानेदार बनता है । थानेदार बनने की भी योग्यता नहीं तो वह सिपाही बनता है । जितनी योग्यता होती है उस कार्य को करता है । व्यवहार में भी ऐसा देखा जाता है तो फिर पारमार्थिक जो क्रम बतलाया है उस क्रम में शिथिलता जाना कितने अन्याय की बात है ।

इस प्रकार “स्वैराचारविरोधिनी” निर्ग्रन्थलिङ्गसे निबंछ मुक्ति सिद्ध हुई और सप्रयत्नित व स्वैराचार बढ़ाने वाली सबका मुक्ति का निषेध नाम का पृथीव प्रकरण सम्पूर्ण हुआ ।

केवली-कवली-निषेध

प्रोफेसर साहब हीराकाल जी ने केवली भगवान को कबलाहारी सिद्ध करने के लिये जिन २ ग्रन्थों के प्रमाण दिये वे भी अनुचित हैं—

आपने लिखा कि “कुन्दकुन्दाचार्य ने केवली के कबलाहार निषेध किया है । परन्तु तत्त्वार्थसूत्र ने

सबलता से कर्मसिद्धान्तानुसार सिद्ध किया है कि—
“वेदनीयोद्यज्यन्ध भुषा-मृषादि ग्यारह परीचह केवली के होते हैं । देखो अध्याय ६ वां सूत्र ७ वां और १७ वां ।”

परन्तु इन सूत्रों से केवली के कबलाहार सिद्ध

नहीं होता। आठवें सूत्र का अर्थ यह है—“वीत-राग निर्मल्यमार्ग से च्युत नहीं होने व विराह कर्मों की निर्जरा के लिये ज्ञप्स्य जूठे सातवें गुणस्थान-वर्ती साधु के लिये मुख्यतः परीपह सहने का उपदेश दिया है न कि केवली के लिये और गौण रीति से भावकों के लिये परीपह सहने का आदेश है।

शास्त्रानुसृत भावकों के लिये दो बार भोजन बतलाया है दो बार सबाय भूख लग जाय तो उत्तम भावकों का कर्तव्य है कि भूख की वेदना को सहन करें। जूठी प्रतिभा से नीचे वाले भावकों के लिये दो बार भोजन है और वह इन परीपहों को सहन करे। शास्त्रों की आज्ञा है कि देव गुह्य सेवा व आहारदान आदि व शास्त्र स्वाध्याय करने के बाद भोजन करे उसके पहिले भूख लग तो उस वेदना को सहन करे। यह भी परीपह है। क्रिया बिना जो सुख जाने बैठता है सो मार्ग से च्युत है। अपने कर्तव्य से च्युत नहीं होने के लिये ही तो यह सूत्र है। सो ज्ञप्स्य और मुनि भावकों के लिये है न कि केवली के लिये। केवली भगवान भी यदि स्व-पद से च्युत हो जाये तो गजब हो जाय। अगर मेरु पर्वत ही पवन से उड़ जाता हो तो और पर्वतों और समुद्र पर्वत में अन्तर ही क्या रहेगा।

संश्लक्ष्ण चार कथाय और हास्यादि नोकपायों के उदय से मुनियों के चारित्र्य से गिरने के लिये भय रहता है !

इस लिये उनके लिये ही उपदेश है और केवली भगवान के इन सब प्रकृतियों का नारा हो जाता है। इस लिये उनको गिरने का कारण ही क्या। इस लिये इस सूत्र से केवली कबलाहार सिद्ध करने का कोई सम्बन्ध नहीं है।

और १७ वां सूत्र का जो प्रमाण दिया तो अनुचित है उससे भी केवली कबलाहार सिद्ध नहीं होता है। २२ परीपहों में से १६ परीपह मुनियों के लिये एक साथ हो सकती हैं। इस उद्देश्य से यह सूत्र बतलाया गया है। न कि केवली के कबलाहार सिद्ध करने के लिये। शीत और उष्ण दो परीपहों में से एक समय में एक ही होगी। तथा शय्या निष्या और चर्चा इन तीनों में से एक समय में एक ही होगी। मतलब यह है कि एक समय में तीनों में से एक ही होगी। अर्थात् बासीस में से तीन निकल जानेसे १६ परीपह रहती हैं। क्योंकि उनके संश्लक्ष्ण क्रोध, मान, माया, लोभ तथा हास्य, अरति, रति आदि नोकपायों के होने से परीपह होना सम्भव है ही।

शय्यापरीपह—काष्ठ चटाई वृण और शिला पर सोने के कारण शरीर पर अनेक कष्ट सहने की सम्भावना है।

चर्या परीपह—नगर नगरान्तर देश देशान्तर पर्यटन में कांटा कंकर आदि से अनेक प्रकार की वेदना होने का सम्भव है। इत्यादि परीपह केवली भगवान के कैसे हो सकते हैं ? दिव्य परम आद्वैतिक शरीरधारी केवली भगवान के शीत-उष्ण परीपह का कारण ही क्या है ? भगवान तो आकाश मार्ग से चलते हैं और नीचे कमल रचना देव करते हैं तो भी उनपर भगवान पैर न देते हुए अधर ही चलते हैं। अतः उनके चर्चा परीपह से क्या संबंध है। आकाश में ईंट पत्थर कंकड़ डूँबी नीची जमीन भी नहीं है। यह तो जमीन वाले मुनियों के परीपह हो सकती है।

शय्यापरीषद्—केवली भगवान सोते ही नहीं तो शय्यापरीषद् कहाँ ? शय्यापरीषद् का कारण जो निद्रा प्रकृति है उसको तो पहले से नष्ट कर चुके हैं, तब भगवान को शय्या परीषद् होना कैसे सम्भव हो सकता है। सामान्य श्रद्धिधारी मुनियों को भी ये परीषद् दुःख नहीं देती हैं तो भला परम वक्तृष्ट औदारिक शरीर वालों के लिये तो अशक्य ही है। केवली भगवान को जो परीषद् मानी है वह केवल उपचार में ही मानी है। उपचार का अर्थ यह है कि मुख्य चीज के अभाव में भी उमी के नाम को पुकारना उपचार है। जैसे जली हुई रस्मी को भी रस्सी कहना। जली हुई को देखने में रस्सी का आकार सा मालूम पड़ता है। लेकिन वास्तविक रस्मी का गुण न होने में वह रस्मी नहीं कही जायगी।

इसी प्रकार केवली भगवान के परीषद् उपचार में ही है।

तत्त्वार्थमूत्र का आपने प्रमाण दिया कि केवली कवलाहार कर सकता है। यह आपका कहना कितनी भूल का है। शायद आपने तत्त्वार्थमूत्र पूरा देखा ही नहीं। अगर देखा होता तो यह शंका आपकी नहीं रहती। देखिये तत्त्वार्थमूत्र की सर्वार्थ-भिद्धिमें केवली कवलाहार का निबंध भाग लिखा है—

देखिये सातवें अध्याय का १३ सूत्र—

“केवलभूतसंघधर्मदेवावर्णवादी दर्शनमोहमय ॥१३॥

केवली अवर्णवाद—स्वात्मोत्थ शुद्ध भोजन में कवलाहार बिना सदा सुखी रहने वाले केवल परमानन्द मूर्ति होने पर भी “केवली भगवान कवलाहारमें ही जीते हैं। कवलाहार नहीं हो तो नहीं जी सकते” ऐसा असमझ में झूठा अवर्णवाद करना केवली अवर्णवाद है।

शास्त्र में मांस आदि भक्षण का विधान न होते हुए भी शास्त्र में मांस आदि भक्षण का विधान बतलाया है। इस तरह असमझ से शास्त्र में झूठा दोष लगाना सो “शास्त्रावर्णवाद” है।

अन्तरंग बहिरंग दोनों से पवित्र निग्रह परमहंस परमात्मा तुल्य पवित्र होते हुए भी साधु को शूद्र, अपवित्र, मलीन, अविवेकी कहना ऐसा झूठा अवर्णवाद करना “संघावर्णवाद” है।

धर्म मानवमात्र का कल्याण करने वाला है धर्म बिना जीवन मृत्यु तुल्य है ऐसे जि-रभाषित धर्म को निर्गुण कहना अर्थात् उस धर्म में कुछ सार नहीं है उसके सेवन करने वाले असुर अर्थात् अविवेकी होते हैं। इस प्रकार जैन धर्म का अवर्णवाद करना “धर्मावर्णवाद” है।

देव कल्पवृक्ष में उत्पन्न स्वर्ग सुख के सिवाय और कोई चीज को नहीं लेते हैं ऐसे पवित्र देव होते हुए भी “देव मांस खाते हैं, मदिरा पान करते हैं” आदि अनेक प्रकार के झूठे अपवाद लगाना देवावर्णवाद है।

इस तरह के अनेक अवर्णवाद करने से तीव्र दर्शन मोहनीय का आन्ध्र होता है। तथा अवर्णवाद करनेवाला मनुष्य भय में मूख तथा मदिरा पिये हुये के समान उन्मत्त रहता है तथा पद २ पर अपमानित होता रहता है। प्रोफेसर साहब ! आपने इस सूत्र का कुछ ध्यान ही नहीं किया।

तत्त्वार्थमूत्र आदि दिगम्बर आम्नाय के किसी भी ग्रन्थ में ऐसा आपको नहीं मिलेगा कि निरपेक्ष रीति से एक में तो केवल कवलाहार का निबंध किया हो और दूसरे में विधान।

केवली भगवान को ११ परीषद् उपचार से हैं।

इस लिये परीपह का फल जो हर्ष विषाद पैदा करना है वो नहीं। हर्ष विषाद का मूल कारण मोहनीय कर्म है। मोहनीय कर्म नहीं होने से वहां हर्ष विषाद नहीं होने से वहां इन्द्रियजन्य सुख दुःख भी नहीं।

मुख्य रीति से इन्द्रियजन्य सुख दुःख गृहस्थों के होता है और गौणता से व्रजस्थ मुनियों के होता है अर्थात् इन्द्रिय होने से इन्द्रियजन्य सुख, केवली को दुःख कदापि काल नहीं होते। देखिये आचार्यों ने स्वयं प्रश्न उठाकर समाधान किया है—

तत्त्वार्थ सूत्र सर्वाथसिद्धि टीका अध्याय ६ वां सूत्र ११ वें में बताया है—

“एकदश ज्ञिने” ११॥ ज्ञिने एकदश परीपहा सति इत्यर्थः।

परन्तु स्वयं आचार्य ने मोहनीय कर्म सहायक न होने से केवली के वेदना का अभाव बतलाया है। इस लिये भगवान् के परीपह का होना नहीं बनता। यह आपका कहना ठीक है। यह आपने बहुत अच्छा कहा किन्तु केवल ब्रह्मकर्म सद्भावपेक्षा से उपचार मात्र से परीपह कहा है। जैसे एक समयमें अन्य सहाय बिना सन्पूर्ण पदार्थों को जानने देखने वाला केवलज्ञान का अतिराय होने पर केवलियों के सूक्ष्म क्रिया प्रतिपाद नामा शुक्लध्यान बतलाया है। किन्तु यह ध्यान वहां उपचार से है। देखिये टीका “केवलतत्त्वकर्मनिर्हरणफलापेक्षया ध्यानोपचारात्”

इस लिये यह बहुत अच्छा है और स्पष्ट है।

भावमन बारहवें गुणस्थान तक रहता है या उस भाव को वैभाविक परिणति का विभाव परिणाम माना है और बारहवें गुणस्थान से आगे वह नहीं रहता है तो तेरहवें गुणस्थानमें ध्यान कैसा ? अर्थात् आगे अनेक प्रकार की दुरिचलताओं को रोककर

केवल आत्मा में लीन होकर तन्मय होना ऐसा ध्यान नहीं। किन्तु वहां तो उपचार से ध्यान है। जैसा उपचार ध्यान है वैसे उपचार से परीपह है। ऐसा सर्वार्थसिद्धिकार का कहना है। यह बात है भी बराबर।

अथवा “एकदश परीपहा न सन्ति” अर्थात् वहां पर एकदश परीपह नहीं है। ऐसा जानना चाहिये। “सोपस्कारत्वात् सूत्राणि” ऐसा थाक्य है अर्थात् मोहनीय कर्म न होने से वहां क्षुधा वेदना नहीं है। वहां क्षुधा तृषा आदि ग्यारह परीपहों की वेदना नहीं होने से परीपह भी नहीं है।

और भी प्रमाण केवली कबलाहार निषेध के लिये देखिये—

जीव के त्रपन भाव बतलाये हैं उसमें ज्ञायिक भाव के ६ भेद हैं उन ६ भावों में से कुछ ये हैं—

ज्ञानावरण कर्म का अत्यन्त ज्ञय होने से ज्ञायिक (केवल) ज्ञान होता है और द्रोनावरण कर्म का अत्यन्त समूल ज्ञय होने से ज्ञायिक द्रान होता है।

लाभान्तराय कर्म का अत्यन्त समूल नाश होने से कबलाहार की क्रिया न होने पर भी केवली भगवान् के शरीर स्थिति के लिये अन्य साधारण मनुष्यों को अप्राप्य परम अत्यन्त शुभ और अत्यन्त सूक्ष्म अनन्त पुद्गल परमाणुओं का समागम प्रतिसमय होने के कारण केवली भगवान् का शरीर बना रहना ज्ञायिक लाभ है।

तो यह बात बिल्कुल ठीक है। कबलाहार बिना भी शरीर रह सकता है। परन्तु यह परम औत्सरिक दिव्य शरीर को धारण करने वाले व अनन्त चतुष्टय को धारण करने वाले व अनन्त आनन्द के पुरसे भरपूर भी केवली भगवान् के ही रह सकता

है। दूसरे सामान्य पुष्पों के नहीं। देखिये व्यवहार में भी अनुभव से सिद्ध है—

जब बालक अज्ञानी रहता है तब तक उसके खाने पीने की कोई संक्या नहीं है और जब ज्ञान बढ़ता जाता है तब राग प्रवृत्ति घटती जाती है। तथा गृहस्थ मनुष्य के राग विशेष होने से कई बार खाता पीता है। वही मनुष्य रागांश कम होने से और ज्ञान के बढ़ने से यानी बानप्रस्थ होने से खाना पीना कम करता है। इससे आगे वही मनुष्य दिगम्बर निर्ग्रन्थ बीतराग परमहंस अवस्था को धारण करता है तब सम्यग्ज्ञान का विशेष प्रादुर्भाव होने से व परि-
णति विशेष नष्ट होने से सिर्फ चौबीस घण्टे में एक ही वक्त्र आहार जल लेता है। इससे आगे अर्धांग आठवें गुणस्थान से दशम गुणस्थान तक राग अत्यन्त सूक्ष्म हो जाने पर भी कवलाहार नहीं है तो आगे नेरहवं गुणस्थानवर्ती केवली के कवलाहार कैसे हो सकता है? वहां राग है ही नहीं।

इस लिये यह सिद्ध है कि आहार का कारण राग ही है। राग बिना आहार आदि पर-पदार्थ ग्रहण होता ही नहीं है। पर पदार्थों का ग्रहण करने की इच्छा हुई तो अपराध है और अपराधी को मोक्ष कहां से मिले। अर्थात् उसके लिये मुक्ति नहीं है। महर्षियों ने भी कहा है—

“येनांशेन रागः तेनांशेन बन्धः” अर्थात् राग ही से बन्ध होता है और बन्ध पर पदार्थों के ग्रहण करने से होता है। इस लिये केवली भगवान् रागी नहीं हैं और रागी न होने में उनके कवलाहार भी नहीं है। हां! उनके लिये बन्ध बतलाया है सो ईर्ष्या-पक्ष आत्मव होनेसे उपचार से बन्ध है और उस बन्ध का भी उद्घ एक ही समय में हो जाता है। एक ही

समयमें आना, बन्धना, निकल जाना वह ही भगवान् के शरीर स्थिति के लिये आहार है। उसी को ईर्ष्या-पक्ष आत्मव कहते हैं। उसी को सायिक के नव भावों में सायिक लाभ माना गया है। सारांश यह है कि सायिक लाभ से कवलाहार बिना भगवान् का शरीर बना रहता है। और भी देखिये—

व्यवहार में भी प्रत्यक्ष द्रव्य क्षेत्र काल और भाव का अपूर्व प्रभाव पड़ता है। वर्षा ऋतु में मनुष्य एक महीने तक अन्न जल के बिना बिलकुल शांति से रह सकता है। क्योंकि उम समय शीतल मन्दपवन का प्रचार होने से उपवास में बाधा नहीं पड़ती है और ग्रीष्म ऋतु में अन्न जल बिना आठ दिन भी रहना मुश्किल हो जाता है क्योंकि उस समय बाह्य वातावरण गर्म होने से उपवास करने में बाधा पड़चती है।

ग्रीष्म ऋतु में शांति के लिये कई लोग हिमालय आदि ठण्डे प्रदेश में चले जाते हैं। गरम देश में चाहे जितना पानी पिया जाय तो भी शांति नहीं होती और ठण्डे प्रदेश व वर्षा या शीत ऋतु में जल कम पीने पर भी शांति रहती है। तो इससे यह सिद्ध होता है कि जितनी कवलाहार से शांति होती है उससे भी ज्यादा बाह्य पुद्गल परमाणु अर्थात् बाह्य वातावरण फल फूल आदि से शोभित बगीचा और जहां फलवारा आदि से ममस्त शीतल हुई भूमि से उपवास वाले को तथा और मनुष्य को शान्ति ज्यादा मिलती है। यह प्रत्यक्ष प्रमाण है।

देखिये ग्रीष्म काल में भोजन करके दोपहर को बिना जूते पहिने चार कोस तक बिना जल पिये चलने वाले को कितना दुःख होता है। क्योंकि उस समय बाह्य गरम पुद्गल परमाणु शरीर में पुसकर

शरीर को मुखा ढालने हैं। कबलाहार किया जो क्या हुआ। किन्तु उतना शीत श्चतु में मनुष्य न खा पी करके भी चार कोस के बदले आठ कोस भी चलें तो भी शरीर के अन्दर शांति रहती है। क्यों-कि उस समय शीत श्चतु के परमाणु शरीर में प्रवेश होने में शांति रहती है। इसी लिये साधुओं को व सामान्य मनुष्यों को योग्य क्षेत्र काल देखकर रहना चाहिये। इस प्रकार सामान्य मुनिराज और सामान्य मनुष्यों के लिये कबलाहार बिना भी शांति मिलती है।

और भी कहा है—स्वर्गवासी आदि देवों के लिये केवल मार्गसक आहार ही है और वृक्ष आदि के लिये लेप्य आहार ही है। ये सब कुछ अवस्था विशेष और शुद्धाशुद्ध भावापेक्षा से है। कुछ बाह्य कबला-हार की आवश्यकता को रखते हैं और कुछ नहीं भी रखते हैं।

अरहन्त भगवान् के ज्ञयालीस गुण बताये मो भी केवली कबलाहार का निषेध ही करते हैं। यदि आप कबलाहार मानेंगे तो केवली भगवान् के ज्ञया-लीस गुण ही नहीं बनेंगे। देखिये प्रमाण—

अरहन्तों के ज्ञयालीस गुणों में से कुछ गुण केवली के कबलाहार निषेध करते हैं।

मोक्षमार्ग प्रदीप—३४ पृष्ठ स ५६ पृष्ठ तक ४० श्लोकों में उन गुणों का वर्णन किया है और अन्यत्र अन्य सर्व ग्रन्थों में भी वर्णन मिलता है। क्योंकि अरहन्त भगवान् पुरुष विशेष बीतरागी होने से उन की वृत्ति भी अलौकिक है।

४६ गुणों में जन्म के कुछ अतिशय—भगवान् का शरीर सुगन्धित द्रव्य पुद्गल परमाणुओं से बना पसेव रहित, मल मूत्र से रहित है अनुर्य बल, उनके

दूध के समान सफेद रक्त होता है। वज्रवृषभ नाराच संहनन यानी—बहु इतना मजबूत होता है कि पर्वत पर भी गिर जाय तो भी नहीं टूटे। यह बल का ही मूचक है।

केवलज्ञान के अतिशय देखिये—जहां भगवान् विराजते हैं वहां एक सौ योजना पर्यंत सुभित रहता है। वहां मनुष्य बड़े आनन्द में रहते हैं। भगवान् आकाश में चलते हैं, उनका चतुर्मुख दिव्यता है, भगवान् के चरण में रहने वाले जीव धैर विरोध से रहित होते हैं और जहां भगवान् विराजते हैं वहां सम्पूर्ण जनता रोग और उपसर्ग से रहित होती है। केवली भगवान् के कबलाहार नहीं होता है। उनका शरीर प्रति समय आने वाली नौ कर्म वर्गणा से ही स्थिर रहता है। भगवान् सम्पूर्ण विश्व के ईश्वर होते हैं। भगवान् के शरीर में मल न होने से नख केश भी नहीं बढ़ते हैं। मोहनीय कर्म का अत्यन्त क्षय होने से भगवान् के पलक भी नहीं गिरते हैं और भगवान् के परम—आदित्य शरीर होने से शरीर की छाया भी नहीं पड़ती है।

देवकृत अतिशय—

जहां भगवान् रहते हैं वहां दुर्दिन नहीं रहता। जहां भगवान् का विहार होता है वहां जहां श्चतुर्भों के फल फूल फूल जाते हैं। अर्थात् सर्वत्र आनन्द ही आनन्द रहता है। जहां भगवान् का विहार होता है वहां सुगन्ध मन्द पवन चलता रहता है। जहां भगवान् रहते हैं वहां सम्पूर्ण सन्ताप को नष्ट करने वाली गन्धोदक वृष्टि होती है। सम्पूर्ण पृथ्वी और सम्पूर्ण दिशा धूल और कंटक रहित होती है और भव्य जीवों को शांति पैदा करने वाली देवों द्वारा समवधारण में भगवान् पर पुष्प-वृष्टि होती है और

उन भगवान पर चौंसठ चमर देवों द्वारा डोरे जाते हैं। इतने मनोहर द्रव्य क्षेत्र और उत्तम काल तथा भगवान के भाव ज्ञान सुखमय होने से भगवान के कवलाहार का नाम भी नहीं और शीत, उष्ण, अति-वृष्टि अनावृष्टि की भी बाधा नहीं। क्योंकि वहां दुःख देने वाले पदार्थ भा सुखरूप हो जाते हैं। इस प्रकार उपरोक्त साधन होने से युक्ति प्रमाण स्वानुभव और आगम से केवली कवलाहार का निषेध स्वयं सिद्ध है।

अनन्तदर्शन, अनन्तज्ञान, अनन्तसुख और अनन्तवीर्य इनका अविनाभाव सम्बन्ध है। इनको अनुजीवी गुण अथवा भावात्मक गुण कहते हैं। सूक्ष्मत्व, अगुरुलघुत्व, अद्यावाधत्व, अवगाहनत्व ये प्रति जीवी गुण कहलाते हैं। अनुजीवी गुण के अन्दर विकार होने से प्रतिजीवी गुण के अन्दर भी विकार होता है। जैसे मन में विकार उत्पन्न होने से पाँचों इन्द्रियों में विकार उत्पन्न होता है और मन निर्विकार होनेसे पाँचों इन्द्रियाँ भी निर्विकार हो रहती हैं। इस लिये अरहन्त भगवान के अनुजीवी गुण निर्विकार एवं सम्पूर्ण बाधाओं से रहित हैं। केवली भगवान के अनन्त अनुष्ठानों में कोई बाधा नहीं है क्योंकि बाधा करने वाले कर्म नष्ट हो गये। चाहे प्रतिजीवी गुण नहीं प्राप्त हुए तो भी हजं यही वे अपने समय पर प्राप्त हो जायेंगे। जैसे वृक्ष का मूल कटने से शाखा पत्ता आदि धीरे धीरे सूख जाते हैं। उनको सुखाने के लिये कोई नवीन कार्य नहीं करना पड़ता। इसी तरह अनन्त अनुष्ठानों के प्राप्त हो जाने पर चारों प्रतिजीवी गुणों को प्राप्त करने के लिये, चार अघातिया कर्म आयु, नाम, गोत्र, वेदनीय को नष्ट करने के लिये केवली भगवान को कुछ भी

प्रयत्न नहीं करना पड़ता। उनकी जो प्रवृत्ति होती है वह निर्विकल्प रूप होती है। दिव्य—अग्नि की स्वयमेव मेघनाद के समान गम्भीर होती है। केवली भगवान के जो ध्यान शुक्ल बतलाया है सो भी उपचार से है।

इस प्रकार वास्तविक शास्त्रीय निर्णय व कर्म-सिद्धान्त के अनुसार केवली के कवलाहार का निषेध हो गया। फिर भी केवली भगवान को ज्ञान प्राप्त मानोगे तो वे केवली भगवान नहीं कहला सकते वे जो छठे मातृगुणस्थानवर्ती मुनि ही कहलायेंगे। अथवा मति अत अवधि के भारक ही कहलायेंगे।

यह नियम है कि भुधा—दुःख सहन न होने से आहार करने की इच्छा होती है। यदि आहार नहीं किया जाय तो ध्यान, जप तप, स्वाध्याय आदि नहीं होते हैं। स्वाध्याय नहीं होने से ज्ञान की वृद्धि भी नहीं होती। आहार ज्ञान, ध्यान, जप, तप की वृद्धि के लिये ही किया जाता है और आहार करने के बाद मुनि को गुरु के पास ईर्ष्यापथ सम्बन्धी प्रार्थना लेना पड़ता है। यह सब अशुभों की विधि है। यदि केवली भगवान पीड़ा सहन न होने से आहार को निकलेंगे तो उनके लिये अनन्त सुख नहीं रहा। अनन्त सुख के न रहनेसे अनन्त शक्ति भी नहीं रहेगी। क्योंकि आहार नहीं लेने से आकुलता और कायरता बढ़ती जायगी। फिर शक्ति घटी और कायरता बढ़ी तो केवली के अनन्त वीर्य नहीं रहा। क्योंकि इन चार अनन्त अनुष्ठानों का अविनाभाव सम्बन्ध है।

अगर आप कहें कि केवली भगवान को आकुलता नहीं होती फिर भी आहार लेते हैं तो आपका यह कहना गलत है। क्योंकि कारण के बिना कार्य

करना अथवा स्वपर-हित के बिना कार्य करना अवि-
वेकियों का काम है। क्या आप भगवान को “अवि-
वेकी” बताना चाहते हैं ?

क्योंकि यदि भगवान चर्चा को निकलेंगे तो इस
के लिये अनशन, ऊनोदर, वृत्तिपरिसंन्यास, रसपरि-
त्याग, अयकलेश आदि बाह्य तप करने पड़ेंगे और
प्रायश्चित्त, व्युत्सर्ग आदि अन्तरंग तप भी करने
पड़ेंगे।

यदि आप कहें भगवान का तप करनेकी जरूरत
नहीं तो आहार लेते और तप नहीं करें तब तो प्रमाद
बढ़ जायगा। इस लिये यह क्रिया तो छूटे सातवें
गुणस्थानवर्ती साधुओं के लिये है। केवली भगवान
के लिये नहीं। सो जानना ओ।

और भी देखिये—

केवली को आहार लेने के लिये इच्छा हुई तो
यह इच्छा भावमन बिना होती नहीं। अगर वहां

भावमन रहा तो वैभाविक शक्ति का विभाव परि-
णाम रसगद्वेष भी रहा। क्योंकि भावमन है वह
वैभाविक शक्ति का विभाव परिणाम है। भावमन
बारहवें गुणस्थान से नीचे रहता है, ऊपर नहीं। अहां
भावमन है वहां पांचों ही इन्द्रियों का ज्ञान मौजूद है।
जहां पांचों इन्द्रियां और भावमन है वहां मतिज्ञान
भुतज्ञान ही है अनन्तदर्शन, अनन्तमुख, अनन्तज्ञान,
अनन्तवीर्य नहीं। मतिज्ञान भुतज्ञान सम्पूर्ण द्रव्य-
पर्यायों को नहीं जान सकता।

इस लिये यह सिद्ध होता है कि कवलाहारी
छूटे सातवें गुणस्थानवर्ती निषेध मुनि हो होते हैं।
यदि सप्रथं हों तो पांचवें गुणस्थानवर्ती देशव्रती
भावक ही कहे जाते हैं। सो ऐसी अवस्था वालोंको
आप केवली मानते हैं ?

इस प्रकार केवली कवलाहार निषेध नाम चौथा
प्रकरण सम्पूर्ण हुआ।

आत्ममीमांसा का प्रमाण

और आपने लिखा कि समन्तभद्र आचार्य ने
“आत्ममीमांसा” में वीतरागके भी सुख दुःख का सद्-
भाव स्वीकार किया है सो यह लेख भी आपका अनु-
चित और अप्रमाण है। आत्ममीमांसा में जो प्रमाण
दिया है सो केवली भगवान के लिये नहीं है। छूटे
सातवें गुणस्थान वाले ऋषियों के लिये है उन्हें भी
वीतराग कहते हैं और उनके लिये सुख दुःख का
होना सम्भव है। सो ठीक है।

“वीतरागो मुनिर्विद्वान्” यहां पर पुण्य और
पाप छोड़ना वीतरागी मुनियों का है। पाप से दुःख

होता है और पुण्य से आत्मघात होता है। क्योंकि
इन दोनों से सुख दुःख होता है। इस लिये इन
दोनों को छोड़ने का भाव दिखलाया है। इसमें
केवली का कोई सम्बन्ध नहीं है। “केवली भगवान
सुख दुःख को भोगने वाले होते हैं” यदि समन्तभद्रा-
चार्य का ऐसा अभिप्राय होता तो “रत्नकरवट
भावकधार” में आत्मक लक्षण करते हुए क्षुधावृषादि
अठारह दोषोंका निषेध करने वाला श्लोक नहीं कहते
किन्तु कहा है इस लिये आपका प्रमाण असत्य रहा।
देखिये—

स्विषासाजपतपः सन्तकभयस्मयाः ।

न रागद्वेष मोहाद्वयस्याप्तः सः प्रकीर्त्यते ॥६॥

शानी—क्षुधा, तृषा, बुद्धिपा, रोग, जन्म, मरण, मय, मद, स्नेह, आश्चर्य, राग-द्वेष, दुःख, शोक, निद्रा, चिन्ता आदि ये अठारह दोष जिसमें नहीं हों वह वीतरागी आप्त है। प्रोफेसर जी ! विचार करिये आचार्य एक ठिकाने क्षुधा का निराकरण करें और अन्यत्र न करें यह परस्पर विरोधी है। शायद कभी

आपने रत्नकरवृद्ध भावकाचारको देखा भी नहीं। यदि देखा होता तो ऐसा नहीं लिखते। समन्तभद्र आचार्य जैसे कट्टर वीतराग निर्ग्रन्थ मार्गावलम्बी पुरुषों के ग्रन्थों में कहीं भी सम्यक् मार्ग नहीं मिलेगा। सो जानना जी।

इस प्रकार समन्तभद्राचार्य को केवली के सुख दुःख का प्रतिपादक कहने का निषेध नामा पांचवां प्रकरण सम्पूर्ण हुआ।

श्री कुन्दकुन्दाचार्य का सैद्धान्तिक ज्ञान

आपने कुन्दकुन्दाचार्य को दिगम्बरमत स्थापक बतलाया। सो बहुत अनुचित है। 'दिगम्बर वीतराग मार्ग अनारि काल का है, इसका खुलासा पहिले प्रकरण में बतलाया है। तथा आपने "जो कुन्दकुन्दाचार्य ने गुणस्थान, कर्मसिद्धान्त और शास्त्रीय विचार से स्त्री-मुक्ति और केवली कवलाहार का निषेध नहीं किया, यों ही लिख दिया" लिखा है सो आपका यह लिखना अन्याय है।

गुणस्थान, कर्म सिद्धांत, शास्त्रीय निर्णय से कुन्दा-कुन्दाचार्य के वस्तु-विवेचन करने वाले भूतबलि पुण्य-दन्त आदि कई आचार्य हुए वे कट्टर दिगम्बर आ-मनाय के थे। इसी मार्गिक उनके बराबर कुन्दकुन्दा-चार्य हुए हैं। उन आचार्यों से कम समझना आप का खयाल अनुचित एवं भूल है।

'भूलसंघ के प्रधान कुन्दकुन्दाचार्य गुणस्थान आदि की चर्चा नहीं जानते' यह तो झोंटे मुख बड़ी बात कहना है। श्री कुन्दकुन्दाचार्यने आध्यात्मिक विषय पर जो अपनी लेखनी चलाई है वह अनुपम है उससे

असंख्य मुमुक्षुओं ने आत्म-कल्याण किया है। फिर भी कोई व्यक्ति कुन्दकुन्दाचार्य की विद्वत्ता को न समझ पावे तो यह उसे अपना असाधारण दुर्भाग्य समझना चाहिये। आज हमारे प्रोफेसर साहिब थोड़ा सा सैद्धान्तिक ज्ञान प्राप्त करके श्री कुन्दकुन्द के सैद्धान्तिक ज्ञान की परीक्षा लेने तय्यार हुए हैं यह उनका दुस्साहस है।

श्री कुन्दकुन्दाचार्य का सैद्धान्तिक ज्ञान अगाध था। जीव समास, मार्गणा स्थान और गुणस्थान जीवके मूलकर्म उत्तरप्रकृति आदि वैभाविक शक्ति के विभाव परिणाम से होते हैं। इस लिये वे वास्तविक रूप से शुद्ध आत्मा के स्वभाव नहीं हैं। ऐसा जान करके श्री कुन्दकुन्द ने उनका त्याग करने का ही प्रति-पादन ग्रन्थों में किया है। उनका उद्देश्य यह था कि इन कर्म प्रकृतियों का विचार करते २ अपनी आत्मा को भूल न जाय और दूसरा यह विचार था कि चंचल चित्त वालों के लिये गुणस्थान आदि विवेचन य मनन प्रथम अवस्था में प्राप्त होते हुए भी इससे

आगे बढ़ने के लिये उपदेश दिया और इन कर्म-प्रक्रियाओं का विचार करने से संकल्प विकल्प होना रहता है और संकल्प विकल्प ही संसार है। इस लिये इस संकल्प विकल्प को कुद्वाने के लिये संयमी और अत्यन्त बेरागी तथा विराष्ट्र ज्ञानी स्थिर चित्त वालों के लिये त्याग बनलाया है। सो यह बात नहीं कि वे इन विषयों को वास्तविक जानने वाले न थे परंतु इससे आगे बढ़कर परमानन्द प्राप्त कराने के लिये उन्होंने इन बातों का निषेध किया है।

इह आवश्यक मनीयों के लिये मूलगुण माने हैं। किन्तु पद आवश्यकों का भी उन्होंने निषेध किया है। क्योंकि इह आवश्यकों से भी पुण्यबंध होता है और इस पुण्य बन्ध को भी आचार्य ने विप कुम्भ कहा है और प्रतिक्रमण करने वाले को अमृत-कुम्भ कहा है। क्या ही अच्छी बात कही है। किन्तु इन कुन्दकुंदाचार्य का अभिप्राय नहीं जाननेमें कितने ही समयसार आदि श्वेच्छाचारियों को कुंदकुंदाचार्य ने स्वयं सम्बोधन किया है। देखिये गाथा मन्वर ३०६ तथा ३०७ समयसार में।

हे भव्यो ! नीचे २ क्यों गिरने हो प्रतिक्रमण
दोनों स्थानों से रहित शुद्ध चिद्रूप
अनन्त सुखमय जो तृतीय पद है उसमें विराजमान
होओ और वहां आनन्द करो। नीचे क्यों गिरते
हो। कितना मधुर मिष्ट प्रबोध है।

सारांश—कुन्दकुंदाचार्य का उद्देश्य और अभि-
प्राय समझना साधारण मनुष्यों का काम नहीं है।
बद आवश्यकतादि का प्रतिक्रमण जो मोक्षमार्ग का
बाधक बताया है और जो प्रतिक्रमणादि रहित श्वे-
च्छाचार अवस्था मोक्ष को रोक्ने वाली वृत्ति केवल
विपकुम्भ नहीं है। किन्तु विपकुम्भ से भी विपकुम्भ

है ? तो क्या वह कभी मोक्ष साधक हो सकता है ?
हरगिज नहीं। जैसे—

मोक्षसाधन में जहां भव्य पदार्थ को भी अभव्य
गिना जाता है, वहां क्या अभव्य भी कभी भव्य हो
सकता है, अर्थात् कभी नहीं। परब्रह्म परमात्मा में
रहने के लिये भव्यों को भी छोड़ जाता है तो क्या
वह भी परब्रह्म का प्रहण कर, संकटा ? हरगिज
नहीं।

इस लिये उन्होंने चिदानन्द परब्रह्म परमात्मा में
ठहरने के लिये ही ये सम्पूर्ण विधि विधान बनाया
है। यदि आप सम्पूर्ण परिमद छोड़कर निज परमा-
नन्दपदमें न ठहर सकने हों तो गृहस्थावस्थाका सांसा-
रिक सुख सेवन करने हुए और अपनी निंदा गद्गा
आदि करते हुए दान पूजनादि के साथ २ अपनी
शक्ति को बढ़ाओ और सद्गुरु का संगति करो तो
कभी न कभी आपको सन्मार्ग मिल जायगा। ऐसा
आचार्य का उपदेश है और ये उपदेश बहुत ही
अच्छा और अनुकरणीय है और हमारा भी उद्देश्य
यही है कि वर्तमान में माहिस्य-निर्माण ऐसा होना
चाहिये जिसमें सर्वसाधारण, सब जनता लाभ उठा
सके। अतः 'कुन्दकुंदाचार्य कर्म सिद्धांत नहीं जानते'
ऐसा कहना कितना अविवेक और असमझ का है।

इस प्रकार इन प्रकरणां में आगम युक्ति स्वानु-
भव और प्रत्यक्ष प्रमाण से १-दिगम्बर वीतरागधर्म
प्राचीनतर नहीं, २-द्रव्य कीमुक्ति, ३-सर्वस्वमुक्ति,
४-केवलीकबलाहार, ५-स्वा० समन्तभद्रने केवाल को
सुख दुख का भोक्ता कहा है ? ६-दिगम्बर मत की
स्थापन करने वाले कुंदकुंदाचार्य हैं और वे कुंदकुंदा-
चार्य कर्म सिद्धांत नहीं जानते इन इह बातों का बीत-
राग बुद्धि से निषेध किया है न कि पक्षपात या राग-

बुद्धि से। सो आम्ना जी।

बीतरागी महर्षि किसी का खण्डन मण्डन कभी नहीं करते हैं किन्तु वास्तविक वस्तुत्व का प्रतिपादन करना उनका स्वाभाविक धर्म है। इनमें राग-द्वेष नहीं है। इतना भी आपको बुरा लगे तो क्षमा करें। क्योंकि हम एकइन्द्रिय, दोइन्द्रिय आदि समस्त जीवों से प्रति दिन विचार क्षमा मांगते हैं तो आपसे क्षमा मांगने में कोई बुराई की बात नहीं है।

आरने स्त्री-मुक्ति आदि चर्चा उठाई है वह दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों आम्नायों में एकता लाने के अभिप्राय से मालूम पड़ती है। सो यह अभिप्राय तो आपका प्रशंसनीय है। परन्तु वास्तविक तत्व को छिपाकर या गड़ परके दोनों आम्नायों को एक करने में क्या फल है? अर्थात् कोई फल नहीं। दोनों आम्नायों को मिलाना हो तो वास्तविक तत्व का समन्वय करके मिलाना चाहिये। सो आपने मिलाने का यत्न नहीं किया। इस लिये यह

परिभ्रम आपका हुआ है। आपने श्वेताम्बर भाइयों को अपने में मिलाने का यत्न किया सो तो बहुत ही अच्छा किया। जरूर मिलाना ही चाहिये वह तो हमारे सगे भाई ही हैं परन्तु केवल श्वेताम्बर भाइयों को मिलाने में खुश नहीं रहना चाहिये। बल्कि सत्य व सार्वधर्म समन्वय करके सब धर्मावलम्बी लोगों को एक धर्मावलम्बी बनाना चाहिये जिससे विश्व में खूब आनन्द रहे। वह कैसे बनाना? यह बात "सत्यार्थ दर्शन" पुस्तक में मैंने बताया है। वह ग्रन्थ अभी सोलापुर पहुँचत वर्तमान पारबन्नाथ शास्त्री के प्रेस में छप रहा है उसे आप देखने की कृपा करें।

यह उत्तर केवल प्रोफेसर साहब के लिये ही नहीं है किन्तु प्रोफेसर साहब जैसे अन्य कोई भी मनुष्य के ऐश्वर्य भाव हों उन सबके लिये यही उत्तर है।

इस प्रकार छठा प्रकरण समाप्त हुआ।

प्रोफेसरस्य* मतखण्डन एव काऽपि।

दुर्भावनाऽस्ति न च मेऽस्ति—विश्वबन्धोः॥

सद्बिश्वासोति—मुख्यस्य कथायहिसा—

धर्मस्य लोप इति मेऽस्ति भवेन्न हेतुः॥

वीर सं० २४७०, विक्रम सं० २००१ भाद्र शुक्ल १० मंगलवार ११ बजे शुभ लाभ

चौबटिया में समाप्त किया है।

श्रीमान् पूज्य तपोनिधि विश्वबन्ध, चारित्र्य चूडामणि, पूज्यपाद १०८ श्री दिगम्बर जैनाचार्य कुन्धुसागर जी गुहदेव के कई मार्फिक उपरोक्त विषय को लिखा है।

१: जगन्नाथ जैन दोशी विशारद

[१०]

श्रीमान पण्डित पन्नालाल जी सोनी

सिद्धांत शास्त्री

मेनेजर—श्री एलक पन्नालाल दिगम्बर जैन सरस्वती भवन,
व्यावर (राजपूताना)

क्या दिगम्बर और स्वतन्त्र सम्प्रदायों के शास्त्रों में कोई मौलिक भेद नहीं है ?

प्रोफेसर हीरालाल जी अमरावती कतिपय वर्षों से महाकर्म प्रकृति प्राभुन के पूर्ण ज्ञाता, गुरुमुख से उसका अभ्ययन करने वाले भगवत्पुस्तक और भगवद्भूतवली गणधराचार्य प्रणीत 'पदस्वरूपागम' और भगवद्गीरसेन स्वामि-रचित 'धवल' का हिंदी अनुवाद (कहते हैं) लिख रहे हैं। सत्पररूपणा सं ले कर अल्पवत्त्वानुगम तक के आठ अनुयोग द्वारों का अनुवाद तो प्रकाशित भी हो चुका है। पदस्वरूपागम के आष पांच खण्डों का परिमाण ब्रह्म हजार श्लोक प्रमाण है और धवल का प्रमाण मूल सहित बहत्तर हजार श्लोक प्रमाण है। इतने बड़े शास्त्र समुद्र का मन्थन करके आपने 'खीमुक्ति' अम्बे-पण की है। पदस्वरूपागम पर बड़े बड़े महर्षियों ने बड़ी बड़ी टीकायें लिखी हैं सब की दृष्टिमें खी-मुक्ति ओम्कल रही। गुरुमुख से अनेकों मुनियों ने पदस्वरूपागमको पढ़ा। परन्तु इसका उन्होंने मरहनके बजाय कवरहन कर डाला। क्या महर्षि इसके समझने में मूक कर गये थे। उनके सिर पर साम्प्रदायिक मोह सवार हो गया था जिनों से द्वेष होगया था ? जिससे वे इस सत्रलका मरहन न कर सके। महर्षियों ने पदस्वरूपागम को गुरुमुख से पढ़ा भी था, वे आगम-भीर भी थे। एक अक्षर भी वे

आगम विरुद्ध न बोलते थे और न लिखते थे वो भी वे भूत देवता से समा की भिक्षा मांगते थे। उन्हें भय था कि आगम विरुद्ध बोलना या लिखना मरहान नरक-निगोद का कारण है। इसी वजह से वे खी-मुक्ति का मरहन न कर कवरहन कर गये हैं। ऐसा मालूम होता है। इसके विपरीत प्रोफेसर हीरालाल जी ने पदस्वरूपागम को और उसकी टीका धवलको न गुरुमुख से पढ़ा है और न वस्तुवत्त्वा मुनियों को छोड़ और कोई पढ़ने के अधिकारी ही हैं। अम्बेजी के आप अथर्व विद्वान हैं, तर्क-वितर्क पर भी आप का कासा अधिकार है। निर्भीक भी आप हैं। इस लिये निर्भीकता के साथ किसी भी इच्छित विषय को बाहर फेंक ही देने हैं। वह चाहे आगम के अनु-कूल हो, चाहे प्रतिकूल हो। समाज में इसका क्या परिणाम होगा इस बात की चिंता आप नहीं रखते। उद्भूत भावों को बचाना आप काप समझते हैं।

कुछ भी हो प्रोफेसर जी ने महर्षियों की अनु-गन्ता दिगम्बर जैन समाज के सामने कुछ विषय रखे हैं। उनके नाम हैं—'खीमुक्ति', 'संनमी और वल्लभ्याण' तथा 'केवलि कवला' ।

१ - स्त्री-मुक्ति

प्रोफेसर जी ने जो कुछ लिखा है वह आगम के अनुकूल है या नहीं यह जानने की खास जरूरत है। इसी लिये यह प्रयास किया जा रहा है। सबसे पहले आपने आचार्य कुन्दकुन्द को आड़े हाथों लिया है। यथा—

“कुन्द-आचार्य ने अपने ग्रंथों में स्त्रीमुक्ति का स्पष्टतः निषेध किया है। किन्तु उन्होंने व्यवस्था से न तो गुणस्थान चर्चा की है और न कर्म-सिद्धान्त का विवेचन किया है। जिससे उक्त मान्यता का शास्त्रीय विम्वन शेष रह जाता है।”

कुन्दकुन्दाचार्य जो “मंगलं भगवान् वीरो, मंगलं गोतमो गणी। मंगलं कुंदकुंशर्यो, जैनधर्माभ्यु मंगलं ॥१॥” इस श्लोक द्वारा वीरभगवान् के गोतम गणधर के और उनके द्वारा प्रतिपादित धर्म के बरा-बरी पर बैठाने गये हैं वे इतनी बड़ी गलती कर गये यह बड़ी आश्चर्य-भरी बात है। गुणस्थान चर्चा और कर्मसिद्धान्त का विवेचन किये बिना ही उन्होंने बड़े बड़े गहत्वशास्त्री ग्रंथ जित्ने डाले और उनमें एक वम स्त्रीमुक्ति का निषेध; वह भी स्पष्टतः कर डाला। जिससे प्रोफेसर महोदय को एड़ी से चोटी तक बि-परीत पसीना बहाकर शास्त्रीय-चित्तन करना पड़ा। क्या यह सच है कि प्रत्येक विषय का प्रतिपादन या निराकरण गुणस्थानोंकी चर्चा पूर्वक और कर्मसिद्धान्त के विवेचनपूर्वक ही करना चाहिये, अन्यथा वह व्यर्थ हो जाता है। यदि यही क्याग्रह है तो देखिये कुन्दकुन्दाचार्य प्राकृत ‘सिद्धमक्ति’ में क्या कहते हैं—

पुंवेदं वेदंता जे पुरिसा खवगसेद्धिमारुढा।

सेसोदयण वि तद्ध म्मणुअजुता य ते दु सिम्मांति॥

अर्थात्—भाव पुरुषवेद का अनुभव करते हुए

जो द्रव्यपुरुष रूपक-श्रेणी में आरोहण करते हैं वे और शेषोदय अर्थात् भावस्त्री और भावनपुंसकवेद के उदय से भी जो द्रव्यपुरुष रूपक श्रेणी में आरो-हण करते हैं वे भी उक्तलभ्यान से उपयुक्त हुए सिद्धिपद को प्राप्त करते हैं।

इस गाथा में स्पष्ट कहा गया है कि द्रव्यपुरुष तीनों भाववेदों के उदय से रूपक श्रेणी चढ़ते हैं और शुक्ललभ्यानके जरिये मुक्ति जाते हैं। गाथा में पुरिसपद पड़ा हुआ है जो द्रव्यपुरुष को कहता है अन्यथा इसके बिना भी काम चल सकता था। ‘पुंवेद’ और ‘शेषोदय’ पद भाववेदों को कहते हैं। ‘खवगसेद्धिमारुढा’ इससे स्पष्ट होता है कि तीनों भाव वेदियों का आरोहण रूपक श्रेणी तक होता है। रूपक श्रेणी के आठवां नौवां दशवां और बारहवां ये चार गुणस्थान हैं। इनमें से नौवें गुणस्थान के सवेद और अपगतवेद ऐसे दो भेद हैं। उनमें से सवेदभाग के यथायोग्य भेदों तक वेदों का उदय और सत्व पाया जाता है। अतः मिथ्यादृष्टि से लेकर नौवें तक के नौ गुणस्थान तीनों भाववेदों में साक्षित होते हैं। इसके अपगतवेद भाग से लेकर चौदहवें तक के गुणस्थानों में वे दो द्रव्यवेदी पुरुष जिनके पहिले उक्त भाववेद होते हैं—आरोहण करते हैं, भाववेद इन गुणस्थानों में यद्यपि रहते नहीं हैं तो भी द्रव्यपुरुष-व्याय से मान लिये गये हैं। इस लिये वेदों में उदय-सत्व की अपेक्षा नौ गुणस्थान और उदय-सत्व के अभाव में अवशिष्ट चार गुण-स्थान भी कहे जाते हैं। जो रूपक नौवें में पहुंचते हैं वे ऊपर के गुणस्थानों में भी पहुंचते ही हैं। इस लिये उनकी अपेक्षा चौदह गुणस्थान भी कह दिये जाते हैं। द्रव्यपुरुषवेदी जीव रूपक श्रेणी में पहुंचते हैं और शुक्ललभ्यान को ध्याकर सिद्धिपद प्राप्त करते

हैं। इससे द्रव्यस्वी न कृपक—भंखि तक पहुंचती है और न अकाल-काल के अभाव में सिद्ध ही होती है। यह निषेध भी इसी गाथा से आ उपस्थित होता है। कृपक भंखि गुणस्थान है ही और तीनों भाववेद कर्म हैं ही, उनकी सत्ता और उदय नौवें तक है ही। अब गुणस्थान चर्चा न करना और कर्मसिद्धान्त का विवेचन न करना इनमें से कौन भी बात बाकी रह जाती है जिससे यह कहना सुशोभित हो कि 'उक्त मान्यता का (स्वर्ग) के निषेध का' शास्त्रीय चिंतन गेप रह जाता है।'

तात्पर्य यह है कि कुन्दकुन्दाचार्य ने जो द्रव्यस्वी को मुक्तिकी अधिकारिणी नहीं माना है वह गुणस्थान चर्चा और कर्मसिद्धान्त के विवेचन पृथक् ही है। वद्वत्सहस्रगम में भी तो यही कहा गया है कि—
'मणुस्मा निवेदा मिच्छाद्विष्टाहुडि जाव अणियट्टिसि॥१०८॥ तेष परमवगदवेश चेदि१६।
इस सूत्र में द्रव्यमनुष्य तीन वेद वाले कहे गये हैं उन के उन वेदों में अनित्यता तक के नौ गुणस्थान होने हैं, आगे वे आगतवेद होते हैं। तथा—

इत्थिवेशा पुरिमवेशा असण्णिमिच्छाद्विष्टाहुडि जाव अणियट्टिसि ॥१०९॥

एवमस्यवेशा ईद्विष्टाहुडि जाव अणियट्टिसि ॥१०३॥

खीदेश और पुरुषवेद अस्संज्ञ मिथ्याद्विष्ट को आदि लेकर और नपुंसकवेद एकैन्द्रिय को आदि लेकर नौवें तक होते हैं। यहां पर तीनों भाववेदों में जीवसमास और गुणस्थान कहे गये हैं। सूत्र नं० १०८ में मणुस्मा पद द्रव्यमनुष्य का सूचक है उसमें तीन वेद और नौ गुणस्थान कहे गये हैं। मणुस्मा का अर्थ भाव मनुष्य नहीं है अन्यथा मनुष्य और उसके तीन यह कहना मनः प्रीतिकर नहीं हो सकता

क्योंकि भावमें भाव नहीं होता है। अतः मनुष्य-पद का अर्थ द्रव्यमनुष्य है। सूत्र नं० १०२ और १०३ में वेदों में जो नौ गुणस्थान कहे गये हैं भाव-वेद की अपेक्षा से कहे गये हैं, क्योंकि द्रव्यवेद की अपेक्षा तो पांच और चौदह गुणस्थान होते हैं। 'ये तीनों वेद द्रव्यस्वियों में भी होते हैं, इस लिये द्रव्य-स्वियों में भी नौ गुणस्थान होते हैं' यह अर्थ लगाना नितान्त भूल भरा हुआ है। क्योंकि यह कथन किसी गति की अपेक्षा से नहीं है किन्तु वेद की अपेक्षा से है। यदि इस तरह गति की अपेक्षा इस में जोड़ी जायगी तो नं० १०२ में देव भी ले लिये जावेंगे और नं० १०३ में एकैन्द्रिय आदि और नारक भी ग्रहण किये जा सकेंगे। क्योंकि देवों में खी और पुरुष ऐसे दो वेद तथा एकैन्द्रिय और नारकों में नपुंसकवेद पाया जाता है। ऐसी हालत में देवों और नारकों में भी नौ गुणस्थान कहे जा सकेंगे। यदि यहां देव-नारक नहीं लिये जा सकते तो मणु-सिणी या स्त्रियां भी नहीं ली जा सकती। क्योंकि जिस तरह देवों में दो वेदों के होने और नारकों में नपुंसकवेद के होने हुए भी चार चार गुणस्थान और एकैन्द्रियादिकों में एक पहला गुणस्थान होता है उभी तरह द्रव्यस्वियों में भी तीनों के होते हुए भी पांच ही गुणस्थान हैं, न कि नौ। यथा—

मणुसिणीमु निच्छाद्विष्टा-सासणम्ममाद्विष्टाणो,

सिया पज्जत्तियाओ सिया अपज्जत्तियाओ ॥६२॥

सम्पामिच्छाद्विष्टा-असंजजसम्मडाद्विसंजजा-

संजजद्विष्टाणो णियमा पज्जत्तियाओ ॥६३॥

नं० ६२ में यह कहा गया है कि मनुष्यस्त्रियों मिथ्याद्विष्ट और सासादन गुणस्थान में पर्याप्तक भी

होती हैं, अपर्याप्तक भी होती हैं। क्योंकि मनुषि-
 क्षियां मरकर इन दो गुणस्थानों गुप्त ही उत्पन्न होती
 हैं, जब तक उनके शरीर पर्याप्त पूर्ण नहीं होती तब
 तक वे अपर्याप्तक होती हैं और शरीरपर्याप्त पूर्ण
 होने पर पर्याप्तक हो जाती हैं इस लिये इन दोनों
 गुणस्थानों में पर्याप्तक और अपर्याप्तक दोनों तरह
 की मनुषिक्षियां होती हैं। नं० ६३ में कहा गया है
 कि सन्ध्यामध्याह्नाष्टि, अस्मयनमध्यमृष्टि और संयता-
 संयत गुणस्थानमें पर्याप्तक ही होती हैं, अपर्याप्तक नहीं
 होती। क्योंकि तीसरे और पांचवें गुण में तो
 मरण नहीं होता है चार्थ में मरण होता है परन्तु उस
 चौथे गुणस्थान वाली कोई भी जीव मर कर द्रव्य-
 भाव कोई भी मनुषिणीयों में उत्पन्न नहीं होता इस
 लिये इन गुणस्थान वाली क्षियां अपर्याप्तक नहीं
 होती। पर्याप्तक हो जाने पर भी इनके ये गुणस्थान
 आठ वर्ष से पहले होते नहीं। इस लिये कहा गया
 है कि इन तीन गुणस्थानों में क्षियां पर्याप्तक ही
 होती हैं। अब विचारणीय बात यहां पर यह है
 कि ये मनुषिक्षियां द्रव्यमनुषिक्षियां हैं, या भाव-
 मनुषिक्षियां। भावमनुषिक्षियां तो हैं नही, क्यों-
 कि भाव तो वेदों की अपेक्षा में है, उनका यहां
 पर्याप्तता अपर्याप्तता में कोई अधिकार नहीं है क्यों-
 कि भाववेदों में पर्याप्तता और अपर्याप्तता ये दो भेद
 हैं नहीं। जिस तरह कि क्रोधादि कृपायों में पर्या-
 तता और अपर्याप्तता ये दो भेद नहीं हैं। इसलिये
 स्पष्ट होता है कि ये द्रव्यमनुषिक्षियां हैं। आदि के
 दो गुणस्थानों में पर्याप्त और अपर्याप्त, आगेके तीन
 गुणस्थानों में पर्याप्तक इस तरह पांच गुणस्थान कहे
 गये हैं। इससे भी स्पष्ट होता कि ये द्रव्य-मनुषि-
 क्षियां हैं। भावमनुषिक्षियां होती तो उनके नौ या

चौदह गुणस्थान कहे जाते। किन्तु गुणस्थान पांच
 ही कहे गये हैं। पट्त्वण्डागम के इन नं० ६२-६३
 १०२-१०३ और १०८ सूत्रों से ज्ञात होता है कि कुंदा-
 कुंदाचार्य का कथन पट्त्वण्डागम से बिकट नहीं है।
 अतः कुन्दकुन्दाचार्य पर जो आक्रमण किया गया है
 भूल के सिवा कुछ तथ्य नहीं रहता है। गुणस्थान
 चर्चा और कमसिद्धान्त के विवेचनपूर्वक ही उनसे
 स्वीकृति का निषेध किया है जिससे कोई शास्त्रीय
 चिंतन शेष नहीं रह जाता है।

“विगम्भर जैन आम्नाय के प्राचीनतम ग्रन्थ
 पट्त्वण्डागम के सूत्रों में मनुष्य और मनुष्यनी
 अर्थात् पुरुष और स्त्री दोनों के अलग अलग चौदह
 गुणस्थान बतलाये गये हैं।” इसके आगे इन सूत्रों
 की संख्या दी गई है जिनमें ‘मनुषिणी’ और इत्थि
 वेद ये शब्द आये हैं। जिन्हें हम आगे सूत्र सहित
 लिखेंगे। जो बात ‘पु’ वेद वेदंता’ इत्यादि गाथा से
 सिद्ध है वही पट्त्वण्डागम के उन सूत्रों में कही है।
 उन सूत्रों में गुणस्थानों में मन, संख्या, क्षेत्र, स्पर्शन
 काल, अन्तर, भाव और अल्पबहुत्व ये आठ अनु-
 योग द्वार मनुषिणी और स्त्रीवेदमें कहे गये हैं। “इस
 से मनुषिणी में तो चौदह गुणस्थानों और स्त्रीवेद में
 नौ गुणस्थान साक्षित होते हैं यह स्वीकृति के प्रति-
 पादक महोदय का आशय है। मनुषिणी दो तरह
 की होती हैं द्रव्यमनुषिणी और भावमनुषिणी। इसी
 तरह स्त्रीवेद भी दो तरह का होता है द्रव्यस्त्रीवेद
 और भावस्त्रीवेद। सूत्रों में सामान्यतः मनुषिणी
 और स्त्रीवेद पद प्रयुक्त हुए हैं। इन पदों पर से
 सन्देह हो जाता है कि यहां पर द्रव्यमनुषिणी ही
 ली गई है या भावमनुषिणी। इस तरह द्रव्यस्त्रीवेद
 लिया गया है या भावस्त्रीवेद। वेदों में तो सर्वत्र

भाववेद की अपेक्षा से अधिक ध्यान किया गया है परन्तु मनुषिणी में कहीं द्रव्य की अपेक्षा और कहीं भाववेद की अपेक्षा कथन है। ऐसे अवसर पर सन्देह हो जाता है। इस सन्देह को दूर करने के लिये 'व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिः न हि सन्देहादलक्षणं' इस परिभाषा का अनुसरण किया जाता है। इसका आशय है 'व्याख्यान से, विवरण से, टीका से विशेष-प्रतिपत्ति-निरणय होना है। सन्देह हो जाने से लक्षण अलक्षण नहीं हो जाता।' तदनुसार टीका ग्रन्थों में और अन्य ग्रन्थों में उक्त सन्देह दूर कर लिया जाता है। मूल ग्रन्थ के भी आगे पीछे के प्रकरणों पर से सन्देह दूर कर लिया जाता है। ग्रन्थान्तरों में और टीका ग्रन्थों में स्पष्ट कहा गया है कि मनुषिणी के भावलिङ्ग की अपेक्षा चौदह गुणस्थान होते हैं और द्रव्यलिङ्ग की अपेक्षा से आदि के पांच गुणस्थान होते हैं। जिन्हें आगे मुलासा किया जायगा। सूत्रों में 'मनुषिणी' यह सामान्य शब्द अवश्य आया है परन्तु उसके साथ जिस तरह भावपद नहीं है उसी तरह द्रव्यपद भी तो नहीं है फिर भावमनुषिणी का अपहरण कर द्रव्यस्त्री यह ग्रन्थ किस आधार पर से लिया गया है? इसके लिये भी तो कोई आधार होना ही चाहिये। इसका आधार यदि केवल शाब्दिक तर्क है तो वह माना नहीं जा सकता। सम्भव है वह तर्क अन्यथा भी अर्थात् आगम से विकट पड़ता हो।

यह ऊपर कहा जा चुका है कि वेदों में सर्वत्र भाववेद की अपेक्षा लेकर कथन किया गया है। क्योंकि वेद आदित्यिक भाव माना गया है। इस बात को हम ही नहीं मानते हैं किन्तु स्त्रीमुक्ति के प्रतिपादक आगम भा हमारी बात को पुष्ट करते हैं।

चन्द्रर्षि पंच संग्रह में कहते हैं—'जा वायरो तो वेदेसु तिसुपि' अर्थात् यावदनिवृत्तिवादस्तावत्सर्वेषु मिथ्यादृष्ट्याया वेदेसु त्रिष्वपि भवन्ति।' वे कहते हैं जहां तक अनिवृत्तिवाद गुणस्थान है वहां तक सभी मिथ्यादृष्ट्याया गुणस्थान तीनों ही वेदों में होते हैं। इसपर उनसे स्वयं शंका उठाकर समाधान भी किया है। यथा—

त्रिष्वपि वेदेषु वादरकपायं वावद्वन्तीत्युक्तं आह ते हि किं द्रव्यवेदेषु उताहो भाववेदेषु? यदि द्रव्यवेदेषु तदानीं प्रत्यक्षविरोधः तदुपरितन्नेष्वपि तद्दर्शनात्। अथ चेद् भाववेदेषु तत्कथं वेदोदये सत्यपि तेषां चरणमिति। अत्रोच्यते—

द्रव्यवेदोदयेस्तावदत्र नैवाहृतो मया।

भाववेदोदये ब्रूमध्वरणमत्र (एतुं) यथा भवेत् ॥२॥

सवचातिकपायाणां स्योपशमसंभवं।

भाववेदोदयो नेतद् इति यस्मात्स देशहा ॥२॥

इत्येवं तद्वलां यदत्र सवायुरनलभूतां।

देशहा केवलस्तस्य स्वादयभंप्रकीर्तितः ॥३॥

पंचमसंग्रह पत्र १२ A

आशय यह है कि तीनों ही वेदों में वादरकपाय तर्क के नौ गुणस्थान होते हैं इस प्रकार कहे जाने पर कोई कहता है—क्या वे द्रव्यवेदों में हैं या भाववेदों में? यदि द्रव्यवेदों में हैं तो यह प्रत्यक्ष विरोध है, क्योंकि वादरकपाय के ऊपर के गुणस्थानों में भी द्रव्यवेद द्रव्य जाते हैं। यदि भाववेदों में हैं तो वेदों का उद्देश्य होने कृण भी उनके अर्थात् इन गुणस्थान वालों के चारित्र केने होगा इस शंका का परिहार करने हैं—मैंने यहां द्रव्यवेद नहीं अंगीकार किया है किन्तु भाववेद अंगीकार किया है। भाववेद

का उद्भव रहने हुए जिस तरह चारित्र्य होता है उसे हम कहते हैं। सर्वपापि कथाओं के लक्ष्योपशम से चारित्र्य उत्पन्न होता है उसको भाववेद का उद्भव पावता नहीं है क्योंकि वह वेदोद्भव देशपाती है, इस लिये जिस तरह वायु सहित अग्नि वृण को जलाती है उसी तरह कथाओं का बल पाकर तो वह चारित्र्य का पाव करता ही है। किन्तु उसका केवल अपना उद्भव देशपाती कहा गया है। इत्यादि। इसमें निश्चित होता है कि वेदों में तो नौ तक के गुणस्थान भाववेद की अपेक्षा लेकर कहे गये हैं।

आगे आप इस विषय का समाधान करने वाली आचार्यों के उस समाधान पर असन्तोष जाहिर करने हैं—

२—“पूज्यपाद हून सर्वार्थसिद्धि टीका और नेमिचन्द्रकृत गोम्मतसार ग्रन्थ में भी तीनों वेदों में चौदहों गुणस्थान की प्राप्ति स्वीकार की गई है। किन्तु इन ग्रन्थों में संकेत यह किया गया है कि यह बात केवल भाववेद की अपेक्षा में घटित होती है। इसका पूर्ण स्पष्टीकरण अमृतगति वा गोम्मतसार के टीकाकारों ने यह किया है कि तीनों भाववेदों का तीनों द्रव्यवेदों के साथ पृथक् पृथक् संयोग हो सकता है जिसमें नौ प्रकार के प्राणी होते हैं।

इसका अभिप्राय यह है कि जो मनुष्य द्रव्य से पुरुष होता है वही तीनों वेदों में से किसी भी वेद के साथ ज्ञात भेणी बड़ सकता है। ३—किन्तु यह व्याख्यान सन्तोषजनक नहीं है, क्योंकि।”

आचार्यों ने द्रव्य-भाव की उलझन को सुलभ किया है उसमें लोभुक्ति चहीता महोद्भव को सन्तोष नहीं है। जिस ‘पदम्बलहागम’ के ऊपर से यह नई उलझन-कुल मचाई गई है औरों को जाने दीजिये उस

से ही यह साबित हो जाता है कि वेदों में चौदह वा नौ गुणस्थान भाववेद की अपेक्षा से हैं। जिसका बहुत स्पष्टीकरण ऊपर हो चुका है और भी आगे प्रकरणा-नुसार हो जायगा। तथा एक एक द्रव्यवेद में तीन भाववेद हैं यह भी पदम्बलहागम में से ही साबित हो जाता है। सब कर्म पंथों का प्राणाधार ‘पदम्बलहागम’ ही है उसी के अनुसार आचार्यों ने उस गुत्थी को सुलभ किया है। यह हम आगे बतावेंगे।

पूज्यपाद जैमिनि प्रखर प्रकाण्ड विद्वान और निरीह आचार्यों का व्याख्यान आपके लिये सन्तोषजनक नहीं है। नमक के पहाड़ पर रहने वाली चीटी मिश्री के पहाड़ पर चली जाय तो भी मुंह में नमक की हली लगी रहने के कारण उस मिश्री मीठी नहीं लगती है। प्रोफेसर महोद्भव के चित्त में भी तो येन केन प्रकारेण लोभुक्ति समाई हुई है अब वे पदम्बलहागम तक पहुँच गये तो क्या हुआ, लोभुक्ति की बूँद थोड़ी ही चली गई है। और तो हुआ सो हुआ साथ में ‘पदम्बलहागम’ को भी घसोट कर जनता को उसके नाम से पथ-भ्रष्ट करने का नतीजा दूँड निकाला है। अन्तु, आगम से वे लोभुक्ति न सिद्ध कर सके हैं और न कर ही सकेंगे। अतः आगम को झूठा साबित करने के लिये तर्क का सहारा लेते हैं। यथा—

१—“मूर्त्तों में जो योनिनी शब्द का उपयोग किया है वह द्रव्यलक्ष्मी को जोड़ अन्यत्र घटित ही नहीं हो सकता।” यह है लोभुक्ति सिद्ध करने के लिये पहला तर्क। परन्तु जो मूर्त्त प्रमाण में दिये गये हैं उनमें या पदम्बलहागम के और मूर्त्तों में यदि मनुष्य लक्ष्मी के लिये योनिनी शब्द न आया हो तो मनुषी आदि शब्दों को द्रव्यलक्ष्मी को जोड़ अन्यत्र

भावमानुषी या भावकीवेद में घटित होता मानेंगे या नहीं। हम शब्द के साथ कहते हैं प्रोफेसर महोदय सूत्रों में योनिनी शब्द का प्रयोग स्वप्न में भी नहीं बतला सकेंगे। प्रथम आप अपने द्वारा प्रमाण में पेश किये गये सूत्रों को ही लोजिये—

सम्भामिच्छाद्वि-सासणसम्माद्वि-संजद-संज-द्वृणो णियमा पज्जलियाओ ॥६३॥

—सत्परूपणा

इस सूत्र में योनिनी शब्द का नाम निशान भी नहीं है। इसमें ऊपर के नं० ६२ सूत्र में 'मणुसिणीसु' शब्द है उसकी अनुवृत्ति नं० ६३ में आती है। इस मनुषिणी शब्द को यदि आप द्रव्यकी मानें तो बड़ी खुरी की बात होगी, क्योंकि यहां मनुषिणी के पांच ही गुणस्थान कहे हैं। पांच गुणस्थान वाली मनुषिणी द्रव्यकी होनी है। वह पांच गुणस्थानों के होने से तो कही मुक्ति चली ही नहीं जायेगी। टिप्पणी में दिये गये 'मंजद' शब्द का महारा यदि लेंगे तो भी भावमानुषी ही सिद्ध होगी न कि आप की योनिनी। दोनों सूत्रों का मात्र ऊपर दिया जा चुका है।

मणुसिणीसु सामणसम्माद्विपट्टि जाव अजोगिक्वलिप्ति दव्वामाणेण केवडिमा ? संवज्जा ॥४६॥

—द्रव्यप्रमाणानुगम

यहां यह पूछा गया है कि मनुषिणियों में सामान सन्म्यगृष्टि से लेकर अयोगि केवली तक द्रव्य-प्रमाण में कितने जीव हैं उत्तर देते हैं संख्यात हैं। इस सूत्र में भी योनिनी नशरत है। मनुषिणी है। पर वह भावमनुषिणी है, द्रव्यमनुषिणी नहीं। इसमें ऊपर के नं० ४८ में भी मणुसिणी शब्द ही है।

मणुसगरीए मणुस-मणुसपज्जत्त-मणुसिणीसु

मिच्छाद्वि-जाव अजोगिक्वली केवडि सेते ? लोगस्स असंखेज्जविभागे ॥११॥

—क्षेत्रानुगम

गणधरदेव बीर भगवान से पूछते हैं भगवन् ! मनुष्यगति में सामान्यमनुष्य, पर्याप्तमनुष्य और मानुषीमनुष्य में मिथ्यादृष्टि गुणस्थान से लेकर अयोग केवली तक के कितने क्षेत्र में निवास कर रहे हैं, भगवान उत्तर देते हैं—

हे गौतम ! लोक के असंख्यातवां भाग में निवास करते हैं। इस सूत्र में भी योनिनी जापता है मनुषिणी है वह भी द्रव्य से तो मनुष्य है और भावों से मानुषी है। स्वयं प्रोफेसर जी भी तो मानुषियों को द्रव्यकी नहीं कह रहे हैं। वे कह रहे हैं योनिनियों को।

मणुसगरीए मणुस-मणुसपज्जत्त-मणुसिणीसु मिच्छाद्विद्वि केवडियं खत्तं पोसिद्द लोगस्स असंखे-ज्जविभागे ॥३१॥ सव्वलोगो वा ॥३३॥

—स्पर्शानुगम

यहां पर भी यह पूछा गया है कि मनुष्यगति में मनुष्यसामान्य, मनुष्यपर्याप्त और मनुष्यनियों में मिथ्यादृष्टि जीवों ने कितने क्षेत्र का स्पर्श किया है ? उत्तर दिया गया है कि लोक का असंख्यातवां भाग या सब लोक स्पर्श किया है। आगे के नं० ३६-३७ में सामान्यमनुष्यगृष्टियों के सम्बन्ध में और ३८ में सम्यग्मिथ्यादृष्टि से लेकर अयोगि केवली तक के जीवों के स्पर्शक्षेत्र के सम्बन्ध में प्रश्नोत्तर है। नं० ३५ में मनुषिणी शब्द आया है, 'योनिनी' शब्द तो गंध के सिर सींगों की तरह उड़ा हुआ है। यहां पर भी मनुषिणी शब्द भावमनुषिणी का द्योतक है।

मणुसगरीए मणुस-मणुसपज्जत्त-मणुसिणीसु

मिच्छादिद्वी केवचिन् कालादो होंवि ? याणा जीवं पशुक्च सम्बद्धा ॥६८॥

—कालानुगम

प्रश्नोत्तर इस प्रकार है कि मनुष्यगर्भि में मनुष्य मनुष्यपर्याप्त और मनुषिणियों में मिथ्यादृष्टि किये काल तक पाये जाते हैं ? नाना जीवों की अपेक्षा सर्वकाल में पाये जाते हैं । आगे ८० तक के सूत्रों में नाना जीव, एक जीवको लेकर अयोगिकेवलि तक ऐसे ही प्रश्नोत्तर हैं । इन सूत्रों में भी मनुषिणी पद है, योनिनी तो कही हुवा आ रहा है ।

आगे सूत्र नं० २७ से ७७ तक इक्कीस सूत्रों में मनुष्य, मनुष्यपर्याप्त और मनुषिणियों में नाना जीव जीव और एक जीव को लेकर सब गुणस्थानों का अन्तर बतलाया गया है । उन सूत्रों में स सिर्फ एक ही सूत्र यहाँ देते हैं । उसी में मनुषिणी शब्द है औरों में तो इसकी अनुवृत्ति गई है ।

मणुसगदीप मणुस-मणुसपञ्जत्त-मणुसिणीसु मिच्छादिद्वीणमन्तरं केवचिन् कालादो होंवि ? याणा-जीवं पशुक्च एत्थि अन्तरं ॥२७॥ अन्तरानुगम मणु-सगदीप मणुस-मणुसपञ्जत्त-मणुसिणीसु मिच्छा-दिद्वीपद्विज्जि जाव अजोगिकेवलि ति ओयं ॥२२॥

—भाबानुगम

आगे अल्पबहुत्वानुगम के सूत्र नं० ४३ से ८० तक सब गुणस्थानों में मनुष्यसामान्य, मनुष्यपर्याप्त और मनुषिणी में अल्पबहुत्व कहा गया है । नं० ४३ का सूत्र देते हैं ।

मणुसगदीप मणुस-मणुसपञ्जत्त मणुसिणीसु तिसु अस्सु उवसमा पवेसणेण तुल्ला धोवा ॥४३॥

अन्तरानुगम, भाबानुगम और अल्पबहुत्वानुगम के इन एक सूत्रों में मणुसिणी शब्द है ।

ऊपर बताए हुए सब सूत्रों में मणुसिणी शब्द ही आया है योनिनी का नाम निशान भी नहीं है ।

ऊपर नं० १०२ सूत्र दिया गया है, जो सत्त्व-पणा का है उसमें इत्थिबेद पद है । द्रव्यप्रमाणानु-गम के १२४ वें सूत्र में, क्षेत्रानुगम के सूत्र ४३ में, स्परानानुगम के १०२ वें सूत्र में, कालानुगम के २२७ वें सूत्र में, अन्तरानुगम के १७८ वें सूत्र में, भाबानुगम के ४१ वें सूत्र में और अल्पबहुत्वानुगम के १४४ वें सूत्र में 'इत्थिबेद' पद है । 'योनिनी' शब्द तो इसमें भी नहीं है । यह कहा जा चुका है कि वेदों का कथन भाषापेक्ष ही है । इस लिये नौ गुणस्थानों में भावस्त्रीबेद वाले जीवों की सत्ता, संख्या क्षेत्र, स्पर्शन काल, अन्तर और अल्पबहुत्व कहा गया है । खयाल रहे स्त्रीबेद सामान्य में तिर्यच मनुष्य और देव इन तीन गतियों के स्त्रीबेदी जीव सामिल हैं । केवल मनुष्यगर्भि के स्त्रीबेदी ही नहीं हैं । हां, चौथे गुणस्थान तक इन तीन गति वाले स्त्रीबेदी, पांचवें में तिर्यच और मनुष्यगर्भि वाले स्त्रीबेदी हैं ऊपर ६-६ तक मनुष्यगर्भि के स्त्रीबेदी हैं । यह विभाग स्वीकार न किया जायगा तो देवगर्भि और तिर्यचगर्भि के स्त्रीबेद वालों के नौ गुणस्थान मानने पड़ेंगे ।

पदत्वच्छागम के एक सूत्रों में तथा उसके अन्य सूत्रों में भी योनिनीशब्द इस तरह उड़ा हुआ है जिस तरह मेंढक के सिर पर से चाँटी । अतएव 'सूत्रों में जो योनिनी शब्द का उपयोग किया गया है वह द्रव्यस्त्री को छोड़ अन्यत्र पटित ही नहीं हो सकता' यह लिखना कितना भद्दा और अविचारितरम्य है ।

सम्भवतः स्त्रीमुक्ति के प्रतिपादक भूल पर भूल कर रहे हैं, नहीं तो पदत्वच्छागम के इन्हीं सूत्रों पर

से मानुषियों की तरह तिरिचियों और देवियों को भी मुक्ति पहुँचा सकते हैं। कैसे ? सुनिचे—जहाँ पदस्वरूपागम के मूल सूत्रों में वेदवेद कथन है वहाँ 'इत्थिवेद' पद का उपयोग किया गया है और उस ही वेद की सत्ता और उदय को लेकर नौ गुण-स्थान कहे हैं। 'इत्थिवेद' यह सामान्य पद है, सामान्य में सभी अभ्यूत हैं इस लिये जिस तरह मनुष्य स्त्रियाँ इस में गर्भित हैं। उसी तरह तिरिचियाँ और देवांगना भी गर्भित हैं। इस तरह स्त्रीवेद के नाते नौ सप्तक तक के गुणस्थान हो सकते हैं। सप्तक भोगि जाते नौचें फिरने नहीं, क्रमशः ऊपर के गुणस्थानों में ही आराहण करते हैं। ये सब भी चौदहवें तक पहुँचेंगी, वहाँ वे अ, इ, उ, ऋ, ए इन पाँच ह्रस्वाक्षरों के उच्चारण काल तक रहकर आगे एक ही समय में सात रज्जू कंचे लोक में अभ्रभाग में आ प्रविष्ट होंगी। यही गति पुरुषवेद की अपेक्षा तिरिच और देव रूपवेदियों की होगी। नपुंसक भी नपुंसकवेद के नाते पीछे न रहेंगे। तथा जो कोई भी जोय मुक्ति जाने में बाँचित न रहेगा। पदस्वरूपागम के उक्त सूत्रों में गतिभेद और द्रव्यभाव भेद न कर सामान्यतः स्त्रीवेद, पुरुष-वेद और नपुंसकवेद में मिथ्यादर्ष्टि को आदि लेकर अनिवृत्तिकरण तक के सभी जीव कहे गये हैं। यदि कहा जाय कि नारक और देवों में चार चार गुण-स्थान और तिरिचों में एक और पाँच गुणस्थान कहे गये हैं इस लिये सामान्य में अन्तर्गत होते हुए भी वे नहीं लिये जा सकते तो फिर द्रव्यस्त्रियों में भी पाँच गुणस्थान कहे गये हैं, जैव अनिवृत्तिकरण तक उन्हें क्यों लिया जाता है, जब कि वेद का कथन केवल भाव से सम्बन्ध रखता है। अणु, योनिनी

शब्द का प्रयोग न तो जीवद्रव्य के किसी भी सूत्र में हुआ है और न सुल्लक बन्ध, बन्धस्वामित्व आदि अवशेष स्वरूपों में ही हुआ है। पदस्वरूपागम में सर्वत्र मनुष्यही शब्द का ही प्रयोग देखा जाता है।

हां, अन्य ग्रन्थों की टीकाओं में योनिनी का योनि-मती, मानुषी या मनुषिणी आदि शब्द परस्पर एक दूसरे के बदले में प्रयुक्त देखे जाते हैं। जो कहीं द्रव्यस्त्री के और कहीं भावस्त्री के बदले में प्रयुक्त हुए हैं। यह बात प्रकरणानुसार जान ली जाती है। यथा—

पञ्जसप्तमणुस्माद्यं तिचउत्थो

माणुमीय परिमाणं ।

—जीवकांड

यह नं० १४८ की गाथा का पूर्वांश है। इसमें आये हुये 'माणुसीय' शब्द का अर्थ केशवर्णी की कज्ज टीका के अनुसार संस्कृत टीकारकार नेमिचंद्र 'द्रव्यस्त्रीणां' और केशवर्णी के गुरु अभयचन्द्र सैद्धांती 'द्रव्यमनुष्यस्त्रीणां' ऐसा करते हैं।

निगुणा १, सगुणा वा,

सर्ववृद्धा माणुमीपमाणादो ॥१६२॥

—जीवकांड

इस गाथा की टीका में 'मानुषी' शब्द का अर्थ मनुष्यस्त्री किया गया है। यह मनुष्यस्त्री या मानुषी द्रव्यस्त्री है। क्योंकि सर्वाथसाद्रि के देवों की संख्या द्रव्यमनुष्यस्त्री की संख्या से निगुणी अथवा सात गुणी है।

मूलोचं मणुमतिण मणुमिच्छि-

अयदमिह पञ्जसो ।

—जीवकांड

इस गाथा में आये हुए मनुषिणी शब्द का अर्थ योनिमती किया है। यथा—‘योनिमदसंयते पर्या-
स्तालाप एव’ योनिमत् असंयत में एक पर्यास्तालाप
ही होता है। यहां योनिमत् का अर्थ द्रव्यमानुषी
और भाव मानुषी दोनों हैं। तथा इसी गाथा की
टीका में ‘असंयतमनुष्यां प्रथमोपशम-वेदक-
कार्यकसम्यक्त्वव्रतं च संभवति तथापि एको
भुज्यमानपर्यास्तालाप एव। योनिमतानां पंचम
गुणस्थानादुपरि गमनामंभवात् द्वितीयोपशम-
सम्यक्त्वं नास्ति।’ अर्थात् असंयतमानुषी में
प्रथमोपशमसम्यक्त्व, वेदकसम्यक्त्व और कार्यक
सम्यक्त्व ये तीनों सम्यक्त्व सम्भवते हैं तो भी उनमें
एक भुज्यमान पर्यास्तालाप ही होता है। योनिमतियों
का पंचम गुणस्थान से ऊपर गमन अमंभव है इस
लिये उनमें द्वितीयोपशम सम्यक्त्व नहीं है। यहां
असंयतमानुषी शब्द भावस्त्री का वाचक है। क्योंकि
कार्यक सम्यक्त्व भावस्त्रियों में होता है द्रव्यस्त्रियों
में नहीं होता। इसका कारण यह कि दर्शनमोहनीय
कर्म की क्षणा का प्रारम्भ कर्मभूमि में उत्पन्न हुआ
द्रव्यमनुष्य ही केवली भूतकेवली के पादमूल में करता
है। वह मनुष्य भावपुरुषवेदी और भावस्त्रीवेदी दोनों
तरह का होता है। द्रव्यस्त्रियों के दर्शनमोहनीय का
ज्ञान नहीं होता चाहे वे कर्मभूमि में उत्पन्न हुई हों
और केवली भूतकेवली के पादमूलमें ही क्यों न हों।
टीकोक्त योनिमती शब्द द्रव्यस्त्री का वाचक है, क्यों-
कि पंचम गुणस्थान से ऊपर गमन न होने से द्विती-
योपशम सम्यक्त्व वही नहीं होता है। द्रव्यपुरुष
भावस्त्रियों में तो होता है वे उपशम भोग भी चक्षुती
हैं। क्योंकि द्वितीयोपशम सम्यक्त्व उपशमभोग

में ही होता है।

योनिमती या योनिनी शब्द द्रव्यस्त्रियों के लिये
आया हो यह बात नहीं है। वह भावस्त्रियों के
वदले में भी आता है। यथा—‘योनिमन्मनुष्ये तु
क्षपकमेण्यां न तीर्थं तैर्धसत्त्वतोऽमत्तादुरि स्त्री-
वेदित्वामंभवान्।’ अर्थात् योनिमन्मनुष्य यानी
द्रव्यपुरुष भावस्त्री में क्षपकमेणि में तीर्थकर प्रकृति
की सत्ता नहीं है क्योंकि तीर्थकर प्रकृति की सत्ता
रखने वाला जीव अप्रमत्त नाम के मातृवें गुणस्थान
से ऊपर कोवेदी नहीं होता। यहां पर योनि-
मन्मनुष्य का अर्थ भावस्त्री है। इतने विवेचन
से यह निश्चित होता है कि मूत्रों में मानुषी या मनु-
षिणी को ब्रह्म योनिमती या योनिनी का प्रयोग नहीं
है। टीका ग्रन्थों में अवश्य है परन्तु वहां वह कहीं
द्रव्यस्त्री और कहीं भावस्त्री और कहीं दोनों के वदले
प्रयुक्त हुआ है, न कि केवल द्रव्यस्त्री के वदले। गो-
स्मटसार मूल में भी मानुषी या मनुषिणी शब्द का
ही प्रयोग देखा जाना है, योनिनी शब्द तो वहां भी
मूल में नहीं है।

२—“जहां वेदमात्र की विवक्षा में कथन किया
गया है वहां = वें गुणस्थान तक का ही कथन किया
गया है, क्योंकि उससे ऊपर वेद रहता ही नहीं है।”
यह है स्त्रियों को मुक्ति पहुँचाने के लिये दूसरा
तर्क। = वें से ऊपर द्रव्यवेद नहीं रहता या भाववेद।
द्रव्यवेद नहीं रहता तो क्या = वें से ऊपर योनि-
मेहनादि उड़ जाते हैं? यदि भाववेद नहीं रहता तो
सिद्ध होता है कि नीचे के सवेदभाग तक भाववेद
रहता है। उसके अवेदभाग से लेकर चौदहवें तक
कोई भी भाववेद नहीं रहता। ‘तेण परमवगववेदो
वेदि।’ इस सूत्र का भी यही अर्थ है कि नीचे से ऊपर

अपगत वेद या भाव वेदोदय से रहित होते हैं वे हैं द्रव्यपुरुष । 'वेद गति-कषाय-लिंग-मिथ्यादर्श-नाज्ञानासंयतामिहलेशयाभुतुषतुस्त्येकैवेकैकषट्-मेदाः' इस सूत्रानुसार वेद एक औद्ययिकभाव है । तथा—

जो सो विवागपचइयो जीवभावबंधो एवम तत्थ इमो एहिेसो सो देवेति वा मयुस्मेति वा तिरि-क्खेति वा शेरइएति वा इत्थिवेदेति वा, पुरिसवेदेति वा एउंसयवेदेति वा कोहवेदेति वा माएवेदेति वा मायवेदे ति वा लोभवेदे ति वा रागवेदे ति वा दोसवेदे ति वा मोहवेदे ति वा, विग्गलेम्मं ति वा एणील्लेम्मं ति वा काउलेम्मं ति वा नेउलेम्मं ति वा पम्मलेम्मं ति वा सुक्खलेम्मं ति वा अम्मज्जे ति वा (अमिडे ति वा) अविरेदेति वा अण्णाणे ति वा मिच्छादिट्ठि ति वा जे चामण्णे एवमादिआ कम्मो-दयपचइया उदयविवागे एण्णयण्णा भावा सो सच्चो विवागपचइयो जीवभावबंधो एवम ।

—बर्गणा खंड प० १५६४

इस सूत्र के अनुसार भी वेद औद्ययिकभाव है । तथा—

वेदाणुवादेण इत्थिवेदो पुरिसवेदो एउंसयवेदो एवम कथं भवदि ? चरितमाहणीयस्स उदएण ।

—सुराबंध

पहले सूत्र में प्रश्न किया गया है कि जीवेद, पुरुषवेद और नपुंसकवेद कैसे होता है ? दूसरे सूत्र में उत्तर दिया गया है कि चारित्र्य माहनीय के उदय से होता है । इसी तरह—

अ । गद्वेदो एवम कथं भवदि ? उवसमियाए लकीए लइवाए लकीए वा ।

—सुराबंध

अपगतवेद कैसे होता है ? उत्तर—औपराधिक लब्धि से अथवा क्षायिक लब्धि से होता है । यहाँ भाववेद न मानकर यदि द्रव्यवेद माना जायगा तो क्या द्रव्यवेद से अपगत माना जायगा ? इन उद्धरणों से चिन्तित होता है कि वेद औद्ययिकभाव है । वेद कर्म के उदय से वेदभाव होता है । वेदकर्म जीव त्रिपाकी कर्म है, उसका फल जीव में होता है । द्रव्यवेद जीवत्रिपाकी नहीं है उसका फल पुद्गल अर्थात् शरीर में है । शरीर नारा के साथ योनि मेहनादि द्रव्यलिंग का नारा है, शरीर चौदहवें तक नष्ट नहीं होता इस लिये द्रव्यवेद भी चौदहवें तक नष्ट नहीं होता । इस लिये कहना चाहिये कि वेदों में मौर्वी तक के गुणस्थान, उनमें मंस्या, स्नेह, स्पर्शन, कला, अन्नर, भाव और अल्पबहुत्व ये सब भाववेद की अपेक्षा से कहे गये हैं । मौर्वी तक के गुणस्थान वेदमात्र की अपेक्षा से नहीं किन्तु भाववेदमात्र की अपेक्षा से कहे गये हैं । इस लिये वह तर्क भी द्रव्यल्लियों को मुक्ति भेजने में समर्थ नहीं है । यद्यपि वह तर्क कोई महत्वपूर्ण तो है नहीं । जैसाक महो-दय को इसमें क्या अभीष्ट है वह उनमें स्पष्ट किया नहीं है । वेद के साथ सिर्फ मात्रपद जुड़ा हुआ है, इसी में कोई करामात हो सकती है । वह या तो सामान्य रूप में हो या यह हो कि भाववेद तो ऊपर होते नहीं हैं, जो चौदह गुणस्थान कहे हैं वे द्रव्यवेद में घटित होते हैं । इस लिये द्रव्य ली-नपुंसक चौदहवें तक पाये जाते हैं । किन्तु इसका उत्तर भी आगे-पीछे के प्रकरण में से हो जाता है ।

३—“यह तर्क बहुत बड़ा है, उत्तर भी इसका क्या ही होना चाहिये । इसका पक्षक वाक्य है—

‘कर्म सिद्धान्त के अनुसार वेद-वैषम्य नहीं हो सकता’ यह कौन सा कर्मसिद्धान्त है जिसके अनुसार द्रव्यस्त्री के भावपुरुषवेद और भावनपुंसकवेद, द्रव्यपुरुषके भावस्त्रीवेद और भावनपुंसकवेद तथा द्रव्यनपुंसकके भावस्त्री और भावपुरुषवेद नहीं हो सकते ? दिगम्बर जैनाचार्य प्रणीत कर्मसिद्धान्त में तो वेदों में साम्य और वैषम्य दोनों हैं। इतना ही नहीं, आमुक्ति के समर्थक सम्प्रदाय के ग्रन्थों में भी साम्य और वैषम्य दोनों मिलेंगे। गोस्मटमार, सं-पंचसंग्रह, प्रा०-पंचसंग्रह, धवल, जयधवल, कसायपाहुद, पद्मसङ्गागम आदि सब कर्मसिद्धान्त ही तो हैं। यह तीसरा कर्मसिद्धान्त और कोई होगा, शायद यही हो जो वेद-वैषम्य नहीं चाहता है। स्वर, देखिये—दि० जैन कर्मसिद्धान्त का क्या अभिमत है।

पुरिर्मात्स्यसंदर्भोदयण पुरिर्मात्स्यसंदर्भो भावे ।
णामोदयण दब्बे पाणण सभा कंठ विसमा ॥२७१॥

—गो० जीवकाण्डे नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्री

पुरुष, स्त्री और नपुंसकवेद कर्म के उदय में भावपुरुष, भावस्त्री और भावनपुंसकवेद वाला जीव होता है और नामकर्म अर्थात् निर्माण नामकर्म के उदय से युक्त अंगोपांग नामकर्म के विशेष उदय से द्रव्यपुरुष, द्रव्यस्त्री और द्रव्यनपुंसक होता है। ये द्रव्यभाववेद प्रायः अधिकतर सम होते हैं जो द्रव्य वेद वही भाववेद। किन्तु कहीं विषम भी होते हैं। देव, नारक तथा भोगभूमि के तिर्यचों और मनुष्यों में जैसा द्रव्यवेद होता है वैसा ही भाववेद होता है किन्तु कर्मभूमि और उससे सम्बन्धित क्षेत्रों में विषम-विसदृश भी होते हैं। द्रव्यपुरुष में भावस्त्रीवेद और भावनपुंसकवेद, द्रव्यस्त्रीवेद में भावपुरुषवेद और भावनपुंसकवेद तथा द्रव्यनपुंसक में भावस्त्रीवेद

और भावपुरुषवेद भी सम्भवता है।

बैखो टीकाएं—

वेदकर्मोदयोत्पन्नो भाववेदोऽपि स्मृतः ।

नामकर्मोदयोत्पन्नो द्रव्यवेदोऽपि च त्रिधा ॥१८७॥

जीवस्वभावमन्मोहो भाववेदोऽभिधीयते ।

योनिलिगादिको दत्तद्रव्यवेदः शरीरिणाम् ॥१८८॥

स्त्री-पुं-नपुंसका जीवाः सदृशा द्रव्यभावनः ।

जायन्ते विमदृक्षाश्च कर्मपाकनिर्यत्रिताः ॥१८९॥

—सं० पंचसंग्रहऽभिमतार्ताः

आशय—वेदकर्म के उदय में उत्पन्न हुआ भाव वेद तीन प्रकार है और नामकर्म के उदय में उत्पन्न द्रव्यवेद भी तीन प्रकार है। जीव के स्वभाव का जो स्मोह है वह भाववेद कहा गया है और प्राणियों के योनि लिग आदि को दत्त पुरुषों ने द्रव्यवेद कहा है। स्त्री, पुरुष और नपुंसक जीव द्रव्य और भाव से सदृश-समान-सम होते हैं और कर्म के उदय से निमन्त्रित वे जीव द्रव्यभावमें विमदृश भी होते हैं।

उदयादो णोकमायाण भाववेदो य जंनुणं ।

जोग्गीय लिगमाई णामोदयंदब्बवेदो द् ॥१८३॥

इत्थो-पुरिम-णवुंसयवेया खलु दब्बभादो हांति ।

ते चेव य विवरोया हवंति सव्वेज्जाकमसो ॥१८४॥

प्रा० पंचसंग्रह यतिवृषभानुगाः

स्त्री, पुरुष और नपुंसक इन तीन नोकपायों के उदय से जन्तुओं के भाववेद होता है और नामकर्म के उदय से योनिलिग आदि द्रव्यवेद होता है। स्त्री पुरुष और नपुंसक द्रव्य और भाव से समान होते हैं किन्तु वे ही वेद द्रव्य और भाव से विपरीत-असमान-विषम भी होते हैं।

उक्त तीन कर्मसिद्धान्तों से वेदों में साम्य और वैषम्य, एक एक द्रव्यवेद में तीन तीन भाववेद तथा

द्रव्य-भाववेदों की उत्पत्ति के कारण आदि सब सिद्ध हैं।

जैसि भावो इत्थिवेदो दृक्, पुण पुरिसवेदो ने वि जीवा संजमं पडिबज्जंति, दन्वित्थिवेदा संजमं, ण पडिबज्जंति सचेत्तादो। भावित्थिवेदाणं द्रव्येण पुंवेदाणं पि संजदाणं आहाररिद्धी समुपज्जदि, द्रव्यभावेण पुरिसवेदाणमेव समुपज्जदि॥

—धवलसिद्धान्ते बीरसेनस्वामिनः।

जिनका भाव स्त्रीवेद है और द्रव्य पुरुषवेद है वे भी जीव संयम को प्राप्त होते हैं, द्रव्यस्त्रीवेद वाले जीव संयम को प्राप्त नहीं होते, क्योंकि वे मत्त होते हैं। भाव में स्त्रीवेद वाले, द्रव्य में पुरुषवेद वाले भी संयमों के आहार अर्द्ध उत्पन्न नहीं होती है किन्तु जो द्रव्यभाव दोनों में पुरुषवेद वाले हैं उन्हीं संयमों-मुनियों के आहार अर्द्ध उत्पन्न होता है।

इस उद्धरण में द्रव्यपुरुष मम-विषम वेद वाला कहा गया है। संयमी तो विषमवेद वाला द्रव्य-पुरुष हो जाता है किन्तु उसके आहार अर्द्ध उत्पन्न नहीं होता यह है वेद के वैषम्य का प्रभाव, किन्तु द्रव्य में और भाव में पुरुषवेद वाले के ही आहार अर्द्ध उत्पन्न होती है यह वेद की समानता का प्रभाव है।

इत्थिपुरिसण्वस्यवेदाणमण्यदरो वेदपरिणामो एवम्माहं। तिएह पि तेसमुदण्णं संदिममारोद्धणे पडिमेक्षभावादो, एवदि दृक्दो पुरिसवेदो च व खवगसंदिमारोद्धदि ति वत्ताब्बं तत्थ पयारावरा-संभवादो।

—जयधवलसिद्धान्ते जिनमेनार्याः

स्त्रीवेद पुरुषवेद और नपुंसकवेद इन तीनों में से कोई भी एक वेदपरिणाम इस क्षपक भेणि में

आरोहण करने वाले के होता है, क्योंकि उन तीनों वेदों के उदय से भेणि चढ़ने का निषेध नहीं है, विशेष इतना है कि द्रव्य से पुरुषवेद ही क्षपक भेणि में आरोहण करता है ऐसा कहना चाहिये क्योंकि वहाँ पर प्रकारांतर द्रव्यस्त्रीवेद और द्रव्यनपुंसकवेद असम्भव है।

इस उद्धरण में भी एक द्रव्यपुरुष में तीनों भाववेद कहे गये हैं, इससे वेद की समता-विषमता सुविख्यात होती है। द्रव्यस्त्रीवेद वाले और द्रव्य-नपुंसकवेद वाले जीव भेणि नहीं चढ़ते हैं यह निषेध भी सुनिश्चित होता है।

कसायखवणोवट्ठाणे परिणामो करिसो हवे।

जोगो कसाय उवजोगो लेस्सा वेदो य कोहवे॥

यह गाथा कसायपाटुङ की है और उसका यह नाँचे चूणि मूत्र है। यदि वेद-वैषम्य न होता तो 'वेदो कोहवे' इसके पढ़ने की आवश्यकता ही क्या थी।

वेदो को हवे ति विहामा, अण्णदरो।

—कपायप्राभृतचूर्णो यतिवृषभपादाः

क्षपक भेणि में आरोहक के वेद कौन सा होता है, यह दुआ प्रश्न, इसका उत्तर देते हैं कोई एक वेद होता है। ऊपर इन्हीं दोनों चूर्णिमूत्रों की टीका दी गई है।

माधवचन्द्र त्रैविण्देव भी इस गाथा में आये हुए 'वेदो को हवे' का अर्थ लिखते हैं "वेदः कीदृशो भवेत् ? भावापेक्षया त्रिवेको द्रव्यापेक्षया तु पुंवेद एव"।

—क्षपणासार

अर्थात् कपायों का क्षपण प्रारम्भ करने वाले के वेद कौन सा होता है ? कहते हैं भाव की अपेक्षा से

धानों में से एक, इस की अपेक्षा पुंवेद ही अधांन
द्रव्यपुरुष ही होता है ।

अब आइये पट्त्वण्डागम की; भाग, वह क्या
कहता है, इस स्वाद को भी चखिये—

सामिंसंख उक्कस्सपदे आयुवेयया,

कालदो उक्कस्सिया कम्म ? ॥१०॥

स्वामित्वानुयोग की अपेक्षा में उत्कृष्टपद में आयु
कर्म की वेदना काल से उत्कृष्ट किसके होती है ।
अधार्ण उत्कृष्ट आयु कौन बांधना है ? यह हुआ
प्रश्न, उत्तर देने हैं—

अण्णवरस्स मणुमम्म पंचिदियतिरिक्खजोती-
यस्स वा, सण्णस्स, सम्माडट्ठस्स वा मिच्छादिट्ठस्स
वा, सत्थाहि पज्जत्तिहि पज्जणयस्स, कम्मभूमिस्स वा
कम्मभूमिपट्ठभागम्म वा, संखेज्जवस्साउ अस्स, इत्थि-
वेदस्स वा पुरिसवेदस्स वा ण्णसंयवेदस्स वा, जल-
चरस्स वा थलचरस्स वा, सागार-जागारत्तपाआंग-
संकिज्जिस्स वा तणाओग विसुद्धस्स वा, उक्कस्सि-
याए आवाधाए जन्त तं देवणिरयाउअं पढममए
बंधत्तस्स आउअवेयया उक्कस्सा ।

—वेययाखंडे भूतवर्जिगणधरदेवाः ।

भाव— यह कि संक्षी, सम्यग्दृष्टि अथवा मिथ्या-
दृष्टि, जह पर्यामिये से पर्याप्त, कर्मभूमिज अथवा
कर्मभूमि प्रतिभाग राजा, संख्यात वर्ष की आयु वाला
क्षीवेद वाला अथवा पुरुषवेद वाला अथवा नपुंसक-
वेद वाला, जलचर अथवा स्थलचर, साक्षर उपयोग
वाला, जागृत, उत्कृष्ट आयुयोग्य संक्लेश परिणाम
वाला अथवा उत्कृष्ट आयुयोग्य विशुद्ध परिणाम
वाला, उत्कृष्ट आवाधा वाला, देवायु और नरकायु
को पूर्वकोटि त्रिभाग के प्रथम समय में बांधने वाला
वेद कोई एक मनुष्य अथवा पंचेन्द्रिय तिर्यच योनि

जीव के उत्कृष्ट आयुवेदना होती है ।

विशेषता यह कि परमव सम्बन्धी सातवें नरक
की तैतीस सागर की उत्कृष्ट नरकायु के बांधने
वाले तो संक्लेश परिणाम वाले मिथ्यादृष्टि मनुष्य
और तिर्यच दोनों हैं और सर्वार्थसिद्धि सम्बन्धी
तैतीस सागर की उत्कृष्ट देवायु के बांधने वाला
विशुद्ध परिणामी सम्यग्दृष्टि निर्बन्ध मनुष्य है । जल-
चर तिर्यच ही होते हैं, मनुष्य नहीं होते । कर्मभूमि
प्रतिभाग वाले भी अन्त के आधे द्वीप और स्वयंभू-
रमण समुद्रवर्ती तिर्यच होते हैं । शेष विशेषण
दोनों के समान हैं । इतना विशेष और समझना
चाहिये कि सम्यग्दृष्टि तिर्यच भी विशुद्ध परिणामों
से अपने योग्य अच्युत स्वर्ग सम्बन्धी देवायु को
बांधता है ।

इस उत्कृष्ट आयु के बांधने वाले मनुष्य और
तिर्यच कहे गये हैं, दोनों के वेद कहा गया है । क्षी-
वेद, पुरुषवेद और नपुंसकवेद । अब विचार यहां
पर यह उपस्थित होता है कि नरक की ओर देवकी
उत्कृष्ट तैतीस सागरकी आयु बांधने वाला मनुष्य द्रव्य
पुरुष है या द्रव्यस्त्री है । द्रव्यस्त्री तो है नहीं, क्योंकि
द्रव्यस्त्रीके ६नरकसे जोधे सातवें नरकमें और अच्युत
कल्प से ऊपर नववींवेयकार्दिकोंमें जाती नहीं है । इस
लिए इस उत्कृष्ट आयु के बांध करने वाला द्रव्यमनुष्य
ही हो सकता है । वह भाषों में चाहे स्त्रीवेद, पुरुषवेद
और नपुंसकवेदी हो । अन्यथा 'इत्थिवेदस्स वा
पुरिस वेदस्स वा नपुंसगवेदस्स वा' इसवेदविधान को
कोई आवश्यकता नहीं थी । यदि मनुष्यपद से
द्रव्यपुरुष के ग्रहण न किया जायगा द्रव्यस्त्रियां भी
ग्रहण की जायेंगी तो इसका अर्थ यह होगा कि द्रव्य-
स्त्रियां भी सातवें नरक की उत्कृष्ट तैतीस सागरपुरुष

नरकायु को बांधती है और सातवें नरक जाती है । तथा अच्युत से ऊपर नवमैवेयक, नवानुदिश, विजय, वैजयन्त, जयन्त, अपराजित और सर्वार्थसिद्धि इन पांच अनुत्तरी को उत्कृष्ट देवायु को बांधकर उनमें भी जाती है । इससे हानि क्या होगी, जाने दो, नहीं, 'आ पंचमांति मीढा इत्याम्नो जंति छद्दि-पुङ्गुर्गीतिः' । इस आप में विरोध आवेगा तथा 'स्त्रियमा क्षिमांथलिंगेण' । इस सूत्र में भी विरोध आवेगा । कारण, नवमैवेयकादिकों में उत्पाद निर्णयता से ही होता है । स्त्रियों में वस्त्रत्याग न होने से निर्णयता का अभाव है । यदि द्रव्यस्त्रियों के भी वस्त्रत्याग स्वीकार किया जायगा तो 'य च दद्विन्थिगुणवृमयवेदाशं चेनादिचागो अन्धि' इस छंदमूत्र के साथ विरुद्धता आ जायगी । अतः यह निश्चित होता है कि तीनों भाववेदों और द्रव्य-पुरुषवेदी मनुष्य ही उत्कृष्ट नरकायु और देवायु का बन्ध करता है और वही सातवें नरक को और सर्वार्थसिद्धि को जाता है । द्रव्यनपुंमकवेद भी मातृधे नरक की उत्कृष्ट आयु बांधता है, यह भी भावों में तीनों वेद बाला है । यह हुई पदम्वष्टागम में भी वेद की सम-विषमता ।

क्षीमुक्ति मानने वाले श्वेताम्बराचार्य चन्द्रपि भी अपने पंचसंग्रह की स्वोपज्ञ टीका में यों लिखते हैं । ऊपर दिये गये तीन श्लोकों के अन्तर—

भाववेद का उदय अनादि है और प्रतिकण है, एक द्रव्यवेद के होते हुए भी पर्याय से उसका (भाववेद का) उदय रहता है । क्योंकि उसके

असंन्यातभेद है जो कि सिद्धांत से सिद्ध है, उनमें से कितने ही तो ब्रह्मस्थों के ज्ञान-गोचर हैं । जैसे पितादि दोष सब जन्तुओं में पाये जाते हैं परन्तु वे उन जन्तुओं को बाधा नहीं पहुँचाते हैं । अथवा जिस तरह कषायों का मृमन्दोदय होते हुए उनको कषायव्यपदेश बाधक नहीं है इसी तरह भाववेद का उदय होते हुए भी वेदव्यपदेश बाधाकर नहीं है । द्रव्य में लिंगियों का निर्देश तीन प्रकार है । वस्तुतः सुहमादि गुणस्थानों में यह भी नहीं है । द्रव्यवेद है तो भी, यह भाव का कारण नहीं है वह तो जली हुई, रस्सी के आकार बराबर है । इस लिये द्रव्य-वेद यहां पर स्वीकार नहीं किया गया है । इस कारण भाववेद का उदय होने हुए तीनों चारित्र रहते हैं । यथा—

उदयो भाववेदस्य यतोऽनादिः प्रतिकणः ।

पर्यायेण तदेकस्मिन् द्रव्यवेदे हि सत्यपि ॥४॥

संन्यातीना हि भेदाः स्युस्तस्य सिद्धान्तसिद्धितः ।

तेषामन्तर्गताः कंचिद्ब्रह्मस्थानां प्रतीतिदाः ॥५॥

यथा पितादयो दोषाः सर्वजन्तुगता अपि ।

उत्कटत्वविहीनास्तु न भवेयुर्विबाधकाः ॥६॥

कषायभ्योदये यद्वद् व्यपदेशो न मन्दकं ।

भाववेदोदयेऽप्येवं व्यपदेशो न बाधनं ॥७॥

द्रव्यवेदाच्च निर्देशास्त्रिविधो लिंगिनां भवेत् ।

तत्त्वतो न भवत्येव मृदमादीनामसावपि ॥८॥

सत्यपि हि द्रव्यवेदे नासी भावस्य कारणं ।

दग्धरञ्जुषाकारमात्रत्वाद् व्यवहारतः ॥९॥

उच्यते द्रव्यवेदो हि नासावत्रोररीकृतः ।

सति वेदोदये तस्माद्विद्यते चरणत्रयं ॥१०॥

अभिधानराजेंद्रभाग ६ भी देख लीजिये, जिस

* तिलकोपमं मसी ।

+ मूलाचार पर्याय्यधिकार

से रही सही रांझ और दूर हो जाय। पृ० नं० १४२७ में लिखा है—

प्रत्येकं त्रिकभंगः। त्रिविधेऽपि प्रत्येकं त्रिक-
भंगः कर्तव्यो भवति, कथमिति चेदुच्यते-पुरुषः
पुरुषवेदं वेदयति, पुरुषः स्त्रीवेदं, पुरुषो नपुंसकवेदं
वेदयति। एवं स्त्रीनपुंसकयोरपि वेदत्रयो मन्तव्यः।

दोनों सम्प्रदायों के आगम वेद-वैषम्य स्वीकार
करते हैं, फिर दिग्गम्बर जैनों के लिये यह स्वास-
पात क्यों कही जाती है कि 'कर्मसिद्धान्त के अनुसार
वेद-वैषम्य सिद्ध नहीं होता।' जिस तरह स्त्रीमुक्ति
न मानने वाली समाज के लिये वेद-वैषम्य सिद्ध न
होने का दोषारोपण किया जाता है उस तरह स्त्री-
मुक्ति मानने वाली समाज में भी तो कहने कि तुम
वेद-वैषम्य मानते हो इस लिये नुस्खारी स्त्रियां भी
मुक्ति नहीं जा सकती।

यह हुआ प्रतिज्ञावाक्य का सदुत्तर। अब
दृष्टांत और हेतु का सदुत्तर सुनिये। स्त्रीमुक्ति के
कामी महानुभाव कहते हैं—“भिन्न इन्द्रिय सम्बन्धी
उपांगों की उत्पत्ति का यह नियम बनलाया गया है
कि जीव के जिस प्रकार के इन्द्रिय ज्ञान का लक्ष्यो-
पशम होगा उसी के अनुकूल वह पुद्गलरचना करके
उसको उदय में लाने योग्य उपांग की प्राप्ति करेगा।
बन्धु इन्द्रिय आवरण के लक्ष्योपशम में कणों इन्द्रिय
की उत्पत्ति कदापि नहीं होती और न कभी उसके
द्वारा रूप का ज्ञान हो सकेगा।” “इसी प्रकार
जीव में जिस वेद का बन्ध होगा उसी के अनुसार
वह पुद्गल-रचना करेगा और तत्तुल्य ही उपांग
उत्पन्न होगा। यदि ऐसा न हुआ तो वेद ही उदय
में न जा सकेगा, इसी कारण तो जीवन भर वेद
बदलता नहीं। यदि किसी भी उपांग सहित कोई

भी वेद उदय में जा सकता तो कदायों व अन्य नो-
कदायों के समान वेद के भी जीवन में बदलने में
क्यों सी आपत्ति जा सकती है?” जब वेद-वैषम्य
कर्मसिद्धान्तसे सिद्ध है तब जिस तरह और, इसी तरह
यह दृष्टान्त और हेतु आगम से विरुद्ध जा पड़ते हैं,
ऐसी हालत में ये कोई अपना स्वाम स्थान नहीं
रखते।

वेद-वैषम्य न होने में इन्द्रियों के वैषम्य न होने
का जो दृष्टान्त दिया गया है वह ठीक नहीं। क्योंकि
बन्धु, श्रोत्र, जिह्वा, घ्राण और स्पर्शन इन पांच
इन्द्रिय ज्ञानावरणों का लक्ष्योपशम एक जीव में जुदा
जुदा है और एक काल में है, इन्द्रियों के उपांग
अर्थात् निवृत्ति और उपकरण नाम की द्रव्येन्द्रियां
जुदा जुदा हैं जिनसे इन्द्रियां रूप, शब्द, रस, गन्ध
और स्पर्श का विषय करना हैं। अपने अपने उप-
करणों से इन्द्रियां अपने अपने विषय को जानती
हैं। वेदों में यद्यपि एक जीव में इन्द्रियों के लक्ष्यो-
पशम की तरह उदय जुदा जुदा है किन्तु पांचों
इन्द्रियों का लक्ष्योपशम जिस तरह एक—कालीन है
उस तरह वेदों का उदय एक कालीन नहीं है। तथा
जिस तरह इन्द्रियों के उपांग जुदे जुदे हैं उस तरह
एक जीव में वेदों के उपांग, योनि-महान जुदे जुदे
नहीं हैं। इस लिये इन्द्रियों के वैषम्य का दृष्टांत
वेदों को वैषम्य सिद्ध करने में लागू नहीं पड़ता।

इन्द्रियों के लक्ष्योपशम के अनुकूल पुद्गल-रचना
करके उसका उदय में लाने योग्य उपांग की प्राप्ति
करना यह कहना भी सुन्दर नहीं है। पुद्गल-
रचना का कार्य यदि इन्द्रियों के उपांग के योग्य कर्म
बन्ध है तो लक्ष्योपशम का कार्य कर्मबन्ध नहीं है,

क्योंकि किसी भी ज्ञान के ज्योपशम से कर्मबन्ध नहीं होता है। यदि पुद्गल-रचना का अर्थ द्रव्येन्द्रिय निर्वाण है तो उसकी रचना तो नाम कर्म के उदयसे मुख्य सम्बन्ध रखती है। ज्योपशम का कार्य तो सिर्फ द्रव्येन्द्रिय की रचना में व्यापार या सा-न्निध्य है। तथा पुद्गल-रचना को उदय में लाने योग्य उपांग की प्राप्ति भी ज्योपशम का कार्य नहीं है। ज्योपशम के अनुकूल पुद्गल-रचना और उस पुद्गल-रचना को उदय में लाने के लिये उपांग की प्राप्ति बड़ी चिकट समस्या है, एक ही ज्योपशम से पुद्गल-रचना भी और उसी को उदय में लाने योग्य उपांग की प्राप्ति भी। इसी तरह वेद का बंध उससे पुद्गल-रचना फिर उसके अनुकूल योनि और लिङ्ग नाम उपांगों की प्राप्ति यह भी वेनुका हिमाच है किन्हीं भी वेद के बन्ध से न पुद्गल-रचना ही होती है और न उपांगों की प्राप्ति ही। वेद के बन्ध से तो जब कभी वह वेद उदय में आवेगा तब ही स्त्री-पुरुषों के साथ रमण की इच्छा होगी। न कि उससे पुद्गल-रचना और उपांगों की प्राप्ति।

‘यदि मेसा न हुआ’ अर्थात् वेद के बन्ध के अनुसार पुद्गल-रचना और तदनुकूल उपांग न हुआ तो वेद ही उदय में न आ सकेगा।’ यह भी एक टेढ़ी खीर है। वेद को उदय में लाने के लिये पहले पुद्गल-रचना और उपांग की प्राप्ति यदि आवश्यक है तो बिग्रह-गति में, शरीरमिश्र काल में, शरीर पर्याप्ति काल में इतना ही नहीं, करीब करीब पांच या छह मास वाले गर्भस्थ बालक के योनि-मेहन नाम के उपांग नहीं हैं तब क्या उन अवस्थाओं में वेद का उदय नहीं है? शास्त्रों में भी देखा है

और सुना भी है कि वेद का उदय अनादि है और प्रतिसृण है, किन्हीं जीवों में अनन्त है यह कैसे बनेगा?

‘जीव में जिस वेद का बन्ध होगा’ तब क्या एक भव में एक ही वेद का बन्ध होता है? या तीनों वेदों का। यदि किसी एक वेद का ही एक भव में बन्ध होता है तब तो जब कभी वह एक ही एक वेद बन्धेगा, उसका वह बन्ध बदलेगा भी नहीं, हमेशा उसी एक खास वेद का बंध होता रहेगा तबनुसार ही पुद्गल-रचना होगी और उसको उदय में लाने के लिये तदनुकूल ही उपांग उत्पन्न होंगे। ऐसी अवस्था में जो जीव द्रव्यभाव पुरुषवेदी है वह हमेशा भवातरां में भी द्रव्यभाव पुरुषवेदी ही रहेगा। द्रव्यभाव स्त्रीवेदी और द्रव्यभाव नपुंसकवेदी कभी होगा ही नहीं। इसी तरह जो द्रव्यभाव स्त्रीवेदी और द्रव्यभाव नपुंसकवेदी है वह भी हमेशा भवां-तरां में द्रव्यभाव स्त्रीवेदी और द्रव्यभाव नपुंसकवेदी ही बना रहेगा। तां एसी हालत में स्त्री कभी पुरुष नहीं होगी। न नपुंसक होगी, और नपुंसक भी कभी स्त्री-पुरुष नहीं होगा। तब तो स्त्री पुरुष मरकर न नरक में जायेंगे और न एकैन्द्रियसे लेकर बौद्धेन्द्रिय तक जीवों में जायेंगे, क्योंकि ये सब शुद्ध नपुंसक हैं। नारक और एकैन्द्रिय आदि जीव न स्त्री-पुरुष रहेंगे। उदाहरण से उदाहरण नारक मर कर एकैन्द्रिय आदि और एकैन्द्रियादि मरकर नारक हो सकेंगे। हां, देव-देवांगना, मनुष्य-स्त्री, तिर्यच पुरुष-स्त्री ये ही मरकर परस्पर से एक दूसरे में या अपने में उत्पन्न होते रहेंगे। जिस तरह वेद का उदय देवव्य नहीं हो सकता उसी तरह बन्ध-वैषम्य भी नहीं

हो सकता। न तीनों वेदों का एक जीव में सत्व ही पाया जा सकेगा, बंध बिना सत्व कैसा ? यदि बंध-बंधमय होता है तो उदय-वैषम्य को कौन रोक सकेगा। यदि उपांग है तो त्रांग का कार्य उदय-वैषम्य को रोकना नहीं है।

यदि एक भव में एक जीव के तीनों वेदों का बन्ध होता है तो कभी किसी वेद का और कभी किसी वेद का उदय भी एक जीव के एक भव में हो सकेगा यह पक्ष ठीक भी है। क्योंकि मोहनीय की प्रकृतियों का बन्ध और उदय एक जीव में पाया जाता है, अन्तर इतना है कि एक बार में तीनों वेदों में से एक वेद का, हास्य-रति या अरति-शोक इन दो युगल में से एक युगल का बन्ध होता है। इस दिसा। से मिथ्यात्व गुणस्थान में एक बाईस प्रकृति का स्थान है परन्तु है वह छह तरह का। एक मिथ्यात्व सोलह कपाय, तीन वेदों में से एक पुरुषवेद, हास्य-रति, भय और जुगुप्सा एक स्थान तो यह, दूसरा स्थान हास्य-रति के स्थान में अरति शोक मिलाने से हो जाता है। ये दोनों स्थान ऐसे हैं जिनमें पुरुषवेद ही है। इसी तरह दो स्थान स्त्रीवेद सहित और दो ही नपुंसकवेद सहित एवं छह स्थान मोहनीय के बन्धके मिथ्यात्व गुणस्थान में एक जीव और नाना जीवों के होते हैं।

बावीसमेकवीसं सत्तर सत्तर तेर तिसु एवयं ।
थूले पण्णदुतिय दुगमेक्कं मोहस्स ठाण्णिणं ॥४६३॥
छब्बावीसे चदु इगिवीसे दो दो इवन्ति छट्ठे सि ।
एक्केक्कमदो भंगो बंधट्ठण्णेषु मोहस्स ॥४६७॥

—गो० कमेकांड

इन दोनों गाथाओं में यह कहा गया है कि मिथ्यात्व में २२ का, साक्षात्त में इक्कीस का, तीसरे

और चौथे गुणस्थान में सत्तरह सत्तरह का, पांचवें में १३ का, प्रमत्त, अप्रमत्त और अतृष्णकरण में नौ नौ का, अनिवृत्त वादर में ५-४-३-२ और एक का, एवं ५ स्थान मोहनीय कर्म के बन्ध के हैं। उनमें बावीस में छह, इक्कीस में चार, छठे तक अर्थात् सत्तरह और नेरह में दो दो, आगे के स्थानों में एक एक भंग अर्थात् भेद होते हैं। सिर्फ मिथ्यात्व गुणस्थान में दृष्टान्त के अनुराईस प्रकृति के छह भेद बना दिये गये। सब के बनाने से लेख का कजेवर बढ़ता है। इस आगम में बंध—वैषम्य सिद्ध होता है। यह बन्ध-वैषम्य धबल से भी अविच्छेद है जिन्हें देखना हो जांचट्टण्णकी द्वितीय चूलिका में देख लें।

इसी तरह उदय के १०-६-८ और सात ऐसे स्थान मोहनीय के मिथ्यात्व में हैं। मिथ्यात्व, क्रोध ४, पुरुषवेद, हास्य-रति और भय जुगुप्सा इन दश प्रकृतियों का उदय एक जीव में मिथ्यात्व गुणस्थान में पाया जाता है, हास्य-रति के स्थान में अरति-शोक जोड़ देने पर यह दूसरा उदय स्थान हो जाता है, यह एक पुरुषवेद के उदय की अपेक्षा में दो स्थान हैं। इसी तरह स्त्रीवेद और नपुंसकवेद की अपेक्षा से दो दो स्थान होते हैं। एवं छह हुए। ४ क्रोध की जाति को निकाल कर इन छह में चार मान मिला दिये तो छह हुए, चारों मानों को निकाल कर चार माया जाति के मिलाने से छह तथा माया को निकाल कर चार लोभ के मिलाने से छह इस तरह दश प्रकृति के स्थान में २४ भेद हो जाते हैं। तदपि यथा।

इस एव चट्ठ य सत्त य

छप्पण चत्तारि दोरिण एक्कं च ।

उदयदृष्टाणा मोहे

१ एष चेव य, होति श्रियमेण ॥५७५॥

दस-एव-एवादि चउ-तिय-

तिट्ठण एवदुसगसगादि चउ ।

टाणा द्वां द तियं च य,

चदुवीर गदा अपुठो सि ॥५८०॥

इन दोनों गाथाओं का भाव यह है कि मोहनीय कर्म में उदय स्थान नौ ही नियम से होते हैं, वे हैं दस, नौ, आठ सान, छह, पांच, चार, दो और एक प्रकृति युक्त । इनमें से मिथ्यात्व, मासाइन और सम्यागमध्यात्व गुणस्थान में क्रम से दशादि के चार उदयस्थान, नव आदि के तीन उदयस्थान और नव आदि के तीन उदयस्थान हैं, अमंथन, देशसंयन, प्रमन और अप्रमन इन चार गुणस्थानों में नवादि चार, आठ आदि चार, सान आठ चार, और सात आदि चार हैं और अप्रवृत्त्य में ६-४-२ प्रकृति रूप तीन स्थान हैं । जो अप्रवृत्त्य नाम के आठ गुणस्थान तक प्रत्येक स्थान चौबीस चौबीस हैं ।

यह स्थानों की मंत्र्या वेदों के उदय के बदलने से कपायों के उदय के बदलने से, दो युगलों के बदलने से तथा कहीं भय के न होने से, कहीं जुगुप्सा के न होने से, कहीं दोनों के न होने से होते हैं परन्तु सब में वेदों का परिवर्तन अवश्य है । कभी पुरुषवेद के उदय से युक्त, कभी स्त्रीवेद के उदय से युक्त और कभी नपुंसकवेद के उदय से युक्त ये सब स्थान हैं । इस तरह वेदों के बन्ध स्थानों में और वेदों के उदय स्थानों में वेद-वैषम्य पाया जाता है । बन्ध-उदय स्थानों में वेद-वैषम्य उनके यहां भी है जो स्त्री-मुक्ति मानते हैं । यथा—

दुगइगवीसा मल्ल नेरस नव पंच चउर ि दु एगो ।

बंधो इगि दुग चउत्थ य वणवणवनेसु मोहस्स ॥१६॥

हासरइ-अरइसोगाण बंधया अप्पवं दुहा सम्भे ।

वेयविमंजंता पुण दुगइगवीसा द्वाहा चउहा ॥२०॥

—पंचसंगहे सप्ततिआधिकारे

इगि दुग चउ एगुत्तर आवसगं उदयमाहु मोहस्स ।

संजलणवेयहासरइभयदुगुंद्धतिकसाय विट्ठो य ॥२१॥

दुग आइ-दसंनुदया कसायभरण चउत्तिहा तेउ ।

बारमहा वेयवसा अदुगा पुण जुगलओ दुगुणा ॥२४॥

—पंचसंगहे

इन गाथाओं का अर्थ ऊपर जैसा ही है । इससे लिखा नहीं है, जिन्हें देखना हो इनकी टीकाएं भी देख सकते हैं ।

‘इसी कारण तो जीवन भर वेद बदल नहीं सकती’ जिस कारण को लेकर यह कहा जाता है परन्तु जब वह कारण ही ठीक नहीं है तब जीवन भर वेद बदल नहीं सकती यह भी ठीक नहीं है, किन्हीं किन्हीं जातों के वह वेद जीवन भर बदलता ही रहता है । द्रव्यवेद नहीं बदलता परन्तु भाववेद तो बदलता भी है । वेद के न बदलने के कारणों का निराकरण ऊपर किया ही जा चुका है । “यदि किसी भी उपाय सहित कोई भी वेद उदय में आ सकता तो कपायों व अन्य नौ कपायों के समान वेद के भी जीवन में बदलने में कौन सी आपत्ति आ सकती है ।’ हम तो कहते हैं जीवन में कपाय व अन्य नौकपाय भी बदलते हैं और वेद भी बदलते हैं कोई सी भी आपत्ति नहीं है । ऊपर मोहनीय के उदय कूटों से स्पष्ट है कि जीवन में कपाय नौकपाय सब बदलते हैं उनके बदलने हुए उपांग तदवस्थ रहते हैं । क्योंकि प्रहरण की हुई कर्मवर्गणा के उदय से भाववेद होता है और नौकर्मवर्गणामे द्रव्यवेद तैयार होता है । शरीर

और उपांग आहारक नाम की नोकर्मवर्गणा से बनते हैं उस वक्त यद्यपि नियतवेद और तदनुकूल अंगोपांग नाम कर्म की अवश्य आवश्यकता है परन्तु उस शरीर के बन जाने पर उस अंगोपांग के रहते हुए भाववेद नहीं बदलना चाहिये यह तो कोई नियम नहीं है। द्रव्यवेद अंगोपांग नाम कर्म के उदय में प्रदण की हुई नोकर्मवर्गणा से बनता है, उसका शरीर से सम्बन्ध है। शरीर यदि बदल जाय तो वह द्रव्यवेद भी बदल जाय, शरीर जब जीवन भर बदलता ही नहीं है तो फिर उसमें बने हुए अंगोपांग कैसे बदल सकेंगे। भाववेद का द्रव्यवेद के साथ ऐसा कोई स्वास सम्बन्ध नहीं है। क्योंकि द्रव्यवेद के न होने हुए भी भाववेद का उदय रहता है और द्रव्यवेद के होने हुए भी अपगत-वेद जीव होता है। यदि द्रव्यवेद का और भाववेद का ऐसा बड़ा जटिल सम्बन्ध हो तो जीव अपगतवेद हो ही नहीं सकेगा। अथवा भाववेदों के क्षण से द्रव्यवेद का भी क्षण हो जायगा, पर होता नहीं है इसलिये जानते हैं कि भाववेद के उदय आने में या उसके बदलने में द्रव्य वेद बाधक नहीं है।

यदि यही एकाग्र आग्रह हो कि जहां द्रव्यवेद वहां भाववेद, जहां भाववेद वहां द्रव्यवेद। अथवा जहां द्रव्यवेद नहीं वहां भाववेद भी नहीं और जहां भाववेद नहीं वहां द्रव्यवेद भी नहीं तो नौवें क्षपक के अपगतवेद से लेकर ऊपर के गुणस्थानों में द्रव्यवेद है भाववेद भी वहां होना चाहिये, पर है नहीं, अन्यथा वह अपगतवेद नहीं कहा जा सकता। विषद गति आदि बातों में भाववेद है वहां द्रव्यवेद नहीं है पर होना चाहिये, नहीं तो जहां भाववेद वहां द्रव्यवेद यह व्याप्ति नहीं बनेगी। इसी तरह जहां भाववेद नहीं

वहां द्रव्यवेद भी नहीं यह माना जायगा तो नौवें अपगतवेद क्षपक से लेकर ऊपर के गुणस्थानों में भाववेद नहीं है। इस लिये द्रव्यवेद भी वहां नहीं होना चाहिये तथा जहां द्रव्यवेद नहीं वहां भाववेद भी नहीं यह कहा जाय तो विप्रहर्गति में द्रव्यवेद नहीं है भाववेद भी नहीं होना चाहिये। द्रव्यवेद और भाववेद के अन्वय-व्यतिरेक दोनों ही अवस्थाओं में दोष पाया जाता है इस लिये द्रव्यवेद का कोई स्वास अविनाभाव नहीं है।

यदि दोनों का अविनाभाव है तो क्षपक अंग में भाववेदों का क्षय हो जाता है तब द्रव्यवेदों का भी क्षय हो जाना चाहिये। तथा च भाववेद के क्षय-स्थान से लेकर चौदहवें तक द्रव्यवेद के चिन्ह महनादि नहीं पाये जाने चाहिये परन्तु पाये जाते हैं फिर यह अविनाभाव कैसा ?

यदि पटस्वरहागम के उन सूत्रों में द्रव्यमनुपिणी और द्रव्यस्त्रीवेद नौवें और चौदहवें तक गया है या मनुपिणी शब्द में भावमनुपिणी और द्रव्यमनुपिणी दोनों या स्त्रीवेद शब्द में भावस्त्री और द्रव्यस्त्री दोनों लिये जाते हैं तो अच्छा बात है, मनुप्यशब्द स द्रव्य-भावमनुप्य और ननु संक में द्रव्यभावनपु संक भी लिये जा सकेंगे तो हम पूछते हैं क्षण द्रव्यवेद का होता है या भाववेद का ? यदि द्रव्यवेद का तो क्या योनि-महनादि टूटकर गिर जाते हैं। यदि भाववेद का होता है वह क्यों, क्योंकि सूत्रों में आए हुए शब्दों से जब द्रव्यवेद ही लिया जाता है या द्रव्यभाव दोनों लिये जाते हैं तो फिर दोनों ही का क्षण होना चाहिये न कि मंटा मीठा लव-क्षप और फहुवा रुहुवा धू-धू। द्रव्यभाव दोनों वेदों से अपगतवेद हुआ ही अपगतवेद कहलायेगा, अपगतवेद

का अर्थ भी तो वही है कि बंदों का नाश हो जाना, इस लिये द्रव्यभाव दोनों बंदों का नाश जपक श्रेणि में कहना चाहिये। अन्यथा जिस तरह बंदों के जपणा स्थान में मनुषिणी स्त्रीवेद आदि शब्दों से द्रव्यवेद नहीं लिया जाता है तो कहना होगा कि मनुषिणी स्त्रीवेद आदि शब्दों का अर्थ द्रव्यमानुषी या द्रव्यस्त्री नहीं है।

थी-पुरिसोदयचह्रिदे पुंस्वं संदं स्त्रवेदं थी अथि।

संदम्मुदण पढमं थीस्त्रविदं संदमन्थि ति ॥३८॥

—गो० कर्मकांड

इस गाथा का अर्थ तो यह है कि जो द्रव्यपुरुष स्त्रीवेद और पुरुषवेद के उदय से जपक श्रेणि में आरोहण करता है वह पहले नपुंसकवेद का जप करता है, स्त्रीवेद की उसके सत्ता रहती है और जो द्रव्यपुरुष नपुंसकवेद के उदय से जपक श्रेणि चढ़ता है वह पहले स्त्रीवेद का जप करता है उम वक्त उसके नपुंसकवेद की सत्ता रहती है।

परन्तु स्त्री, पुरुष और संद इन शब्दों का अर्थ यदि द्रव्यस्त्री, द्रव्यपुरुष और द्रव्यनपुंसक यह अर्थ किया जायगा तो गाथा का अर्थ होगा कि जो द्रव्य-स्त्री और द्रव्यपुरुष के उदय से श्रेणि चढ़ता है वह पहले द्रव्यनपुंसक का जो भी उसके चिन्ह हो उसका जप करता है और द्रव्यस्त्री अर्थात् योनि उसके रहती है और द्रव्यनपुंसक अर्थात् उसके चिन्हविशेष के उदय से श्रेणि चढ़ता है वह पहले द्रव्यस्त्री अर्थात् योनि को नष्ट करता है उसके द्रव्यनपुंसक का चिन्ह विशेष सत्ता में रहता है। किन्तु यह अर्थ महा-काटा है।

यदि इन शब्दों का अर्थ यहाँ पर द्रव्यवेद नहीं है तो मंत्रों में भी जहाँ नौ और चौदह गुणस्थान कहे गये

हैं, वहाँ भी द्रव्यवेद नहीं है। फिर द्रव्यवेद का अर्थ करने से तो जपणा में द्रव्यवेद ही अर्थ करना होगा उम हालत में एक जीव के तीनों द्रव्यवेद छिड़ हो जावेंगे। तथा च सूत्र में गिरने के बजाय गीले बें गिरने वाली कहावत चरितार्थ होगी।

अब अन्तिम तर्क पर आइये। कहते हैं—

“नौ प्रकार के जीवोंकी तो संगतिही नहीं बैठती है क्योंकि द्रव्य ये पुरुष और स्त्रीलिंग के सिवाय तीसरा तो कोई प्रकार ही नहीं पाया जाता, जिससे द्रव्य-नपुंसक के तीन अलग भेद बन सकें” वहाँ तो लेखक महोदय ने पूरा कमाल कर डाला और तो हुआ सो हुआ परन्तु जिस पदसमूहभागम के ऊपर से स्त्रीमुक्ति मिट्ट करना चाहते हैं, उसका भी खगहन, धन्य है। स्त्री और पुरुष इन दो द्रव्यलिंगों के सिवा तीसरा द्रव्यनपुंसक आपको न मिला। ‘नारकसम्मुखिजनो नपुंसकानि’ इस सूत्र के अनुसार पहली नरकभूमि में लेकर सातवीं नरक भूमि तक आप चकर काट आये, एकान्द्रव्य में चौदहद्वय तक के शुद्ध नपुंसकों में भी घूम आये, संज्ञि-असंज्ञि त्रियं च सम्मुखेनो में भी ज्ञान-धीन कर डालो, दुनियाँ भर के हीनके भी टटोल लिये, द्रव्यनपुंसक आपको कहीं नहीं मिला। क्यों महोदय!

एषु सयवेदा ण्दियप्पहुडि जाव अणियवट्टि ति

इस सप्तमरूपणा के १०३ में, द्रव्यप्ररूपणा के १२६ में, क्षेत्रप्ररूपणा के ४४ में, स्पर्शन० १११ में, कलानु० २४० में, अन्तरा के २०७ में भावानुगम के ४१ में और अन्य के १०५ सूत्र में तथा अन्य कण्डों के सूत्रों में आये हुये एषु वेदा, एषु सयवेदेहि, एषु-सवेदेसु इत्यादि शब्दों में आगत नपुंसक कौन से नपुंसक हैं। द्रव्य हैं या भाव। द्रव्य तो आप नहीं

मानेंगे इस लिये भावनपुंसक कहने चाहिये परन्तु वेद-वैषम्य भी आप नहीं मानते हैं फिर यह भाववेद स्त्री-पुरुष द्रव्यवेदों को छोड़ क्या आकाशमें छटकता रहता है। यदि स्त्रीमुक्ति की तरह नपुंसकमुक्ति कह लेंगे तो द्रव्यस्त्रियों की तरह इन सूत्रों से द्रव्य-नपुंसक भी सिद्ध हो जायेंगे। और सुनिये—

शोरइवा षडसु द्वायेमु सुखा शब्दमयवेदा ॥१०४॥

तिरिक्त्वा सुखा शब्दसंगवेदा,

एहद्विषयवृष्टिं जाव चउरिदिया नि ॥१०५॥

ये कौन से नपुंसक हैं, द्रव्य हैं या भाव हैं या द्रव्य-भाव दोनों हैं? यदि द्रव्यनपुंसक हैं तो भाव नपुंसक भी होंगे। यदि द्रव्यनपुंसक ये नहीं हैं तो द्रव्यस्त्री या द्रव्यपुरुष इन्हें स्वीकार कीजिये अन्यथा द्रव्यनपुंसक सिद्ध हो जायेंगे। यदि भावनपुंसक हैं तो भाव का आधार बताइये कौन से नपुंसक हैं। यदि दोनों हैं तो 'स्वात पतिता मो रत्नवृष्टिः' यह तो हमारे लिये आकाश से रत्नों की वृष्टि हुई। कम से कम द्रव्य-भावात्मक नपुंसकवेद का तीमरा प्रकार सिद्ध हो गया। 'तिरिक्त्वा तिवेदा', मणुस्मा तिवेदा इत्यादि सूत्रों से भावस्त्रीवेद और भावपुरुषवेद भी सिद्ध ही हो जाता है। ऐसी हालत में द्रव्यपुंसक के तीन अलग अलग भेद सिद्ध हो जाते हैं।

पवित्रतप्रवर टोडरमल जी लिखते हैं—

पुरुषवेद के उदयतै स्त्री का अभिलाषरूप मैथुन संज्ञा का धारी जीव सो भाव-पुरुष हो है (१) बहुरि स्त्रीवेद के उदयतै पुरुष का अभिलाषरूप मैथुन संज्ञा का धारक जीव भावस्त्री हो है (२) बहुरि नपुंसकवेद के उदयतै पुरुष अर स्त्री दोऊनिका युगपत् अभिलाष रूप मैथुन संज्ञा का धारक जीव सो भावनपुंसक हो है (३)।

बहुरि निर्माण नाम कर्म का उदय पुंस्त्व-आकार का विशेष लिये अंगोपांग नामा नामकर्म का उदय तै मूँऊ बाढ़ी, लिगादि चिन्ह संयुक्त शरीर का धारक जीव सो पर्याय का प्रथम समय तै लगाय अन्त समय पर्यन्त द्रव्यपुरुष हो है (१)। बहुरि निर्माण नाम का उदय संयुक्त स्त्रीवेदरूप आकार का विशेष लिये अंगोपांग नामा नामकर्म के उदयतै रोम रहित मुख, स्तन, योनि इत्यादि चिन्ह संयुक्त शरीर का धारक जीव सो पर्याय का प्रथम समय तै लगाइ अन्त समय पयंत द्रव्यस्त्री हो है (२) बहुरि नाम निर्माण का उदय तै संयुक्त नपुंसक वेदरूप आकार का विशेष लिये अंगोपांग नामा नाम प्रकृति के उदय तै मूँऊ, बाढ़ी इत्यादि व स्तन योनि इत्यादि के दोऊ चिन्ह रहित शरीर का धारक जीव सो पर्याय का प्रथम समय तै लगाइ अन्त समय पर्यंत द्रव्यनपुंसक हो है (३)। सो प्रायेण कहिये बहुलता कर तो समान वेद हो है जैसा द्रव्यवेद होइ तैसा ही भाववेद होइ, बहुरि कही समानवेद न हो है, द्रव्यवेद अन्य होइ भाववेद अन्य होइ।

—गो० मन्यज्ज्ञानचन्द्रिकायां

पुंवेदोदयेन स्त्रियां अभिलाषरूपमैथुनसंज्ञाक्रान्तो जीवो भावपुरुषो भवति, स्त्रीवेदोदयेन पुरुषाभिलाषरूपमैथुनसंज्ञाक्रान्तो जीवो भावस्त्री भवति, नपुंसकवेदोदयेन उभयाभिलाषरूपमैथुनसंज्ञाक्रान्तो जीवो भावनपुंसक भवति पुंवेदोदयेन निर्माणकर्मादियुक्तांगोपांगनामकर्मादियवशेन शम्भू कूर्च-शिरनादि-लिगां कितशरीरविशिष्टो जीवो भवप्रथमसमयमादि कृत्वा तद्रूपचरमसमयपर्यंत द्रव्यपुरुषो भवति।

स्त्रीवेदोदयेन निर्माणनामकर्मादियुक्तांगोपांगनामकर्मादयेन नितौम-मुख-स्तन-योन्यादि-लिगल-

। चत्वारो जीवो भवप्रथमसमयमादि कृत्वा
तद्वचनसमयपर्यन्तं द्रव्यस्त्री भवति ।

नपुंसकबेदोदयेन निर्माणनामकर्मोदययुक्तांगोपांग
नामकर्मोदयेन उभयलिङ्गव्यतिरिक्त—देहांकितो भव-
प्रथमसमयमादि कृत्वा तद्वचनसमयपर्यन्तं द्रव्य-
नपुंसकं जीवो भवति ।

एते द्रव्यभाववेदाः प्रायेण प्रचुरवृत्त्या देवनारकेषु
भोगभूमिस्ववर्तित्यहमनुशेषेषु च समाः द्रव्यभावा-
भ्यां समवेदोदयांकिता भवन्ति, कर्वाचकमेभूमि-
मनुशेषवर्तित्येभ्यो विषया विमदृशा अपि भवन्ति ।

जीवतत्त्व प्रदापिकायां नेमिचन्द्रः ।

गोमटसार की मन्दप्रबोधि का टीका में अभय-
चन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती भी यही बात लिखते हैं ।
आचार्य अमृतगति ने भी इस विषय में स्पष्ट कर
दिया है—

या स्त्री द्रव्येण भावेन सास्ति स्त्री नानपुंसकः ।

पुमान् द्रव्येण भावेन पुमान्नारी नपुंसकः ॥१६२॥

पंडो द्रव्येण भावेन पंडो नारो नरो मतः ।

इत्येवं नवधा वेदो द्रव्यभावविभेदतः ॥१६३॥

स्तनयोनिमनो नारो पुमान् इमश्रुमहनः ।

न स्त्री न पुरुषः पापो द्रवरूपो नपुंसकः ॥१६४॥

—सं० पंचसंग्रह

अर्थात् जो द्रव्य से स्त्री है वह भाव से स्त्री,
पुरुष और नपुंसक होता है और जो द्रव्य में नपुंसक
है वह भाव में नपुंसक, स्त्री और पुरुष होता है, इस
तरह वेद द्रव्य भाव के भेद में नौ प्रकार होता है ।

निवेदा एव सत्त्वे वि जीवा दिद्वा द्रव्यभावादो ।

ते चेव य विवरीया संभवहि जहाकमं सत्त्वे ॥१०२॥

—पंचसंग्रह जीवसमासायां

सभी जीव तीन वेद वाले देखे गये हैं, वे ही मय

जीव द्रव्य और भाव से विपरीत भी सम्भव होते हैं ।
सो यह विपरीतता ऊपर अमृतगति आचार्य ने स्पष्ट
कर दी दो है । अमृतगति का पंचसंग्रह प्रा० पंच-
संग्रह की रत्नोक्तवद्ध टीका है ।

इसी चतुर्थ तर्क में यह तर्क भी सुनिहित है कि
“यदि वेद-बैषम्य हो सकता है तो वेद के द्रव्य और
भाव भेद का तात्पर्य ही क्या रहा” इत्यादि वेद-बैष-
म्य नहीं हो सकता यह एक बड़ा भारी शस्त्र बूँद
कर निकाला गया है । दिगम्बर और श्वेताम्बर
दोनों ही आगम वेद-बैषम्य का प्रतिपादन करते हैं,
श्वेताम्बरों ने वेद-बैषम्य हाते हुए भी द्रव्य स्त्रियों को
सुक्ति जाना माना है, फिर न मालूम प्रोफेसर हीरा-
लाल जो वेद-बैषम्य का निराकरण क्यों कर रहे हैं,
सम्भवतः दिगम्बरों की खासकर उनके सम्प्रदाय की
स्त्रियां वेद-बैषम्य के होते हुए सुक्ति न जा सकेंगी ।
फिर भी तात्पर्य सुनिये—

द्रव्यपुरुष किसी भी भाववेद के होते हुये नाग्न्य
संयम धारण कर सकता है, तीनों भाववेदों में से
किसी एक के उदय से क्षपक भ्रंश चढ़ मोल जाता
है । परन्तु द्रव्यपुरुष वेद ही भावपुरुष के होते हुए
ही क्षपक भ्रंश में चढ़कर भाववेद को नष्ट कर तीर्थ-
कर हो सकता है, द्रव्यस्त्री न नाग्न्य संयम धारण
कर सकती है, न क्षपक भ्रंश चढ़ती है और न क्षा-
यिक सम्यक्सत्त्व ही उसके हो पाना है, तीर्थकर का
वन्ध भी उसके नहीं होता तथा मानवें नरक की
आयु का वन्ध भी उसके नहीं होता है और न वह
मानवें नरक ही जानती है, आदि के तीन संइनन भी
भोगभूमि की द्रव्यस्त्री के नहीं होते हैं । स्वर्ग में
अच्युत में ऊपर नहीं जाती है । इत्यादि अनेक
कमजोरियां द्रव्यस्त्रियों में पाई जाती हैं, चाहे वे

भाव से पुरुष, स्त्री और नपुंसक कोई भी क्यों न हो इसी तरह द्रव्यनपुंसक के भी नाम्न्य संयम नहीं होता है, न क्षपक भ्रंश चढ़ता है, न अक्युत से ऊपर नवमैवेयकादिकों में जाता है। इत्यादि द्रव्य भाव वेदों में अनेकों विशेषतायें हैं इस लिये वेद-वैषम्य में ऐसे कई तात्पर्य मुनिहित हैं।

द्रव्य से जो पुरुष है भावों से वह स्त्रीवेदी हो तो तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध तो वह करता है परन्तु तीर्थंकर प्रकृति की सत्ता रहते हुए वह उम स्त्रीवेद के उदय से क्षपक भ्रंश नहीं चढ़ता है या तो उसके क्षपक भ्रंश चढ़ते समय पुरुषवेद का उदय हो जाता है या तीर्थंकर प्रकृति सत्ता से निकल जाती है। आहारक श्वादि और मनः पर्याय ज्ञान भी उसके नहीं होता है यह द्रव्यपुरुष के वेद-वैषम्य का प्रभाव है। तथा द्रव्यपुरुष, भावस्त्रीवेद के उदय से क्षपक भ्रंश चढ़े तो वह पहले नपुंसक वेद का क्षय करता है, उसके बाद स्त्रीवेद का क्षय करता है और वही यदि भावनपुंसक वेद के उदय से क्षपक भ्रंश में आरोहण करे तो पहले स्त्रीवेद का क्षय करता है, बादमें नपुंसकवेद का क्षय करता है। और यदि यह भावपुरुषवेद के उदय रहते हुए क्षपक भ्रंश आरोहण करे तो उसके पुरुषवेद के बन्ध और उदय की ध्युच्छिन्ना एक साथ होती है परन्तु वह जोव यदि भावस्त्रीवेद और भावनपुंसक के उदय से क्षपक भ्रंश चढ़े तो उसके पुरुषवेदकी बंधव्युच्छिन्ना अपने उदय के द्विचरम समय में अर्थात् एक समय पहले हो जाती है। एक विशेषताओं में से श्वेताम्बर सम्प्रदाय में भी कितनी विशेषताएं मानी गई हैं। जैसे—

तिरवेव एरे एवरि हु तित्वाहारं च अत्थि एमेव ।

सामरण-पुण-मणुसिणिणरे अपुणणे अपुणणेव ॥
मणुमिणिण धीसहिद्दा तित्थयराहारपुरिससंङ्गणा । -
पुण्णदरेव अपुणणे सगाणुगदिआउगं येयं ॥३५१
एवं पंचतिरिक्खे पुण्णदरे एत्थि णिरयदेवाउ ।
आपं मणुसतिउमु वि अपुण्णगो पुण अपुणणेव ॥

—गो० कमंडाड

गाथा नं० ११० में भावमानुषी के तीर्थंकर प्रकृति का और आहारक द्विक का बन्ध कहा गया है इस लिये उसके सभी १०० प्रकृतियों का बन्ध होता है। मनुष्य पर्यायक में १०० प्रकृतियों में से १०० उदय योग्य हैं उनमें तीर्थंकर आहारक द्विक पुरुषवेद और नपुंसकवेद ये पांच प्रकृतियां इनको १०० में से घटा कर स्त्रीवेद के मिला देने पर ६६ प्रकृति भावमानुषी में उदय योग्य हैं यह गाथा नं० ३०१ में कहा गया है। गाथा नं० ३१४ में कहा गया है कि मनुष्यात्रिक अर्थात् सामान्य मनुष्य, पर्यायमनुष्य, मानुषीमनुष्य में गुणस्थानबन्ध सत्ता है। गुणस्थानों में तीर्थंकर और आहारक द्विक का भी सत्त्व है। बन्ध है इस लिये सत्त्व तो होना ही चाहिये। परन्तु भावमानुषी के तीर्थंकर आहारद्विक का उदय नहीं है। तर्हि यथा—

योनिमन्मनुष्ये तु क्षपकभ्रंशयां न तीर्थं तीर्थसत्त्व-
तोऽप्रमत्तादुपरिस्त्रीर्बद्धत्वासंभवात् ।

—कमंडाड वृहत्, पे० ५००

इसका भाव ऊपर किसी प्रकरण में आ गया है, जब भावमानुषी के क्षपक भ्रंश में तीर्थंकर प्रकृति का सत्त्व ही नहीं तब उदय तो आवेगा ही कहाँ से।

वेदाऽहारो त्ति य सगुणद्विणाणमोवमात्तावो ।

एवरि य संदिथीणं एत्थि हु आहारगाणुदुगं ॥७२३॥

—गो० जीवराह

इस गाथा में नपुंसकवेद के आहारकटिक नहीं होता है। यह कहा गया है।

इत्थिवेदेषु सयवेदाणमुदाणमुदण आहारदुगं मणपञ्चवणाणं परिहारहार सुद्धिसंजमो च एत्थि ।

—धवलखंड २ पे० ५००

खीवेद और नपुंसकवेद के उदय रहते हुए आहारकटिक, मनः—पर्ययज्ञान, और परिहार-विशुद्धि संयम ये चार नहीं होते हैं।

मणुसिण्णं मु असंजदसम्भादिद्विण उववादो एत्थि, पमत्तं तेजाहार-समुदादा एत्थि ।

—धवल खंड ३ पे० ७५, २०३

अमयतसम्यग्दृष्ट मानुषी के उपपाद समुदात नहीं होता और उसके प्रमत्त गुणस्थान में तेजःसमुदात और आहारक समुदात नहीं है।

पुगिसादण चहिदे बंधुदयाणं च जुगवदुक्खिणी ।
संसोदण चहिदे उदयचारिमहं पुगिस्स बंधादिदी ॥
इसका भाव ऊपर आ गया है।

तित्थयरबंधस्स मणुस्सा चेव सामी, अणत्थ-
त्थिवेदोदइल्लाणं तित्थयरस्य बंधभावादो, अपुस्व-
करणउवसामएसु बंधो ण खवणमु इत्थिवेदोदण तित्थ
यरकम्म बंधमाण्णं खवगसेदिसमारोहणाभावादा ।

—धवल-बन्धस्वामित्व प० ७८४

तीर्थकर प्रकृति के बन्ध का स्वामी द्रव्य-मनुष्य ही है, अन्यत्र स्त्री वेद के उदय वाले द्रव्यमनुष्य के तीर्थकर के बन्ध का अभाव है, इसी को स्पष्ट करने हैं—अपूर्वकरण उपशामक में उसके तीर्थकर का बन्ध होता है परन्तु अपूर्वकरणक्षपक में नहीं होता, क्योंकि खीवेद के उदय से तीर्थकर कर्म को बांधने वाले द्रव्यपुरुषों का क्षपक भ्रंश में आरोहण नहीं होता। यह द्रव्यपुरुष के खी उदय का प्रभाव है,

वेद-वैषम्य भी स्पष्ट है।

मणुसिण्णसु.....

खवगसेदीए तित्थयरस्स एत्थि बंधो इत्थिवेदेण सह खवगसेदिमारोहणे संभवाभावादो ।

—धवल बंधस्वामित्व प० ७४२

मनुषिणियों के क्षपक भ्रंश में तीर्थकरकर्म का बन्ध नहीं है, क्योंकि द्रव्यमनुष्य का खीवेद के साथ क्षपक भ्रंश में समारोहण सम्भव नहीं है। इत्यादि वेद के द्रव्य, भाव भेद के अगणित तात्पर्य हैं। चौदह गुणस्थान, चौदह जीवसमाम, पर्याप्ति, प्राण, संज्ञा, चौदह मार्गाणा और उपयोग में सब प्ररूपणार्थ द्रव्य भाववेदों में कोई समान हैं तो कोई असमान हैं। इसी तरह प्रकृतबन्ध, स्थितबन्ध, अनुभाग-बन्ध, प्रदेशबन्ध, बन्धकाल, उदय, सत्ता, आयुबन्धा-बन्ध के भंग, त्रिकरणचूलिका, दशकरण आदि सभी द्रव्य भाववेदों में विभिन्नता को लिये हुए हैं, सो वे सब द्रव्य-भाव वेदों को लेकर कही सम हैं और कही विषम हैं। यदि ये वेदों का वैषम्य न हो तो वर असल में वेदों के द्रव्य-भावभेद का कोई तात्पर्य नहीं रहता।

खीमुक्ति के प्रतिपादक सिद्धांत भी देखिये—

एवं नपु सगित्थी सत्तं ङ्ककं च वायर पुरिभूतए ।

समङ्गणाओ दोण्णं वि आवालयोओ तथो पुरिसं ॥

इत्थिउदए नपुंसं इत्थिवयं च मत्तगं च कमा ।

अयुमोदयम्मि जुगधं नपुंसइत्थी पुणो सत्त ॥१३६॥

स्वेताम्बर तीर्था ही द्रव्यवेदों से मुक्ति जाना मानते हैं, फिर भी वेद-वैषम्य वे भी मानते हैं इस वेद-वैषम्य का यह प्रभाव है कि जो पुंवेद के उदय में क्षपक भ्रंश में आरोहण करता है वह संख्यात स्थिति स्थलों के चीन जाने पर नपुंसकवेद का क्षय

करता है, फिर संख्यात स्वरों के जीत जाने पर स्त्री वेद का ज्ञय करता है, फिर संख्यात स्थितस्वरों के चले जाने पर हास्यादि छह का ज्ञय करता है। फिर एक समय कम दो आवस्त्री प्रमाणकाल व्यतीत हो जाने पर पुरुषवेद का ज्ञय करता है। जो स्त्रीवेद के उदय से क्षपक श्रेणि में उपस्थित होता है वह पहले नपुंसकवेद का क्षपण करता है। और जो क्षपकव्यक्ति नपुंसकवेद के उदयके साथ चढ़ता है वह पहले स्त्रीवेद और नपुंसकवेद का एक साथ ज्ञय करता है फिर पुरुषवेद युक्त हास्यादि सात का ज्ञय करता है।

चत्वारि अविरण चय थीउदप विउव्वमीसकम्मइया ।
इत्थीनपुंसगउदप आंगलियमीसगो जन्ता ॥१२॥

—पंचसंगह प० ६१

यहां गाथा में जो जघन्य हेतुओं को अविरत गुणस्थान में दिखाने हुए योगों में वेदों को लेकर विशेषता दिखाई है कि अविरत गुणस्थान में स्त्रीवेद के उदय में वैकिक्यिक और कामेण योग नहीं है और स्त्रीवेद तथा नपुंसकवेद के उदय होते हुए औदारिक मिश्र योग नहीं है। इस लिए इन चार योग हेतुओं को कम कर देना चाहिये। तथा—

दो ऋचाणि पमसे चयाहि एकं तु आपमसम्मि ।

जं इत्थिवेदउदप आहारगमीसगा नत्थि ॥१३॥

—पंचसंगह प० ६३

प्रमत्त गुणस्थान में आहारक और आहारकमिश्र ये दो योग कम कर दो और अप्रमत्त में आहारक कम कर दो, कारण स्त्रीवेद के उदय होते हुए आहारक और आहारक मिश्र ये दो योग नहीं होते हैं। तात्पर्य यह है कि अविरत गुणस्थान में स्त्रीवेद का उदय होते हुए वैकिक्यिक मिश्र और कामेण काय योग नहीं

होता क्योंकि सम्यग्दृष्टि मरकर देवस्त्री नहीं होता तथा स्त्रीवेद और नपुंसकवेद में औदारिक मिश्रयोग नहीं होता, कारण अविरत गुणस्थान वाला कोई भी जीव मरकर द्रव्य-भाव मनुष्य स्त्री में क्षपण नहीं होता, द्रव्य-भाव कोई भी स्त्री के प्रमत्त गुणस्थान में आहारक और आहारकमिश्र तथा अप्रमत्त में आहारक काययोग नहीं होता। यह स्त्री चाहे द्रव्यपुरुष और भावस्त्री हो या द्रव्यस्त्री और भाव में कोई भी वेद वाला हो। इस तरह द्रव्यपुरुष और भावस्त्री अथवा द्रव्यस्त्री और भाव में तीन वेद वाली स्त्रियों में अनेक विशेषण हैं। निष्कर्ष यह है कि वेद-वैषम्य शास्त्रोक्त है तथा द्रव्य और भाववेद की विभिन्नता में ऐसे अग्रगणित तात्पर्य हैं। किसी भी उपांग विशेष को पुरुष या स्त्री कहा हो क्यों जाय ? इत्यादि सब युक्तियां व्यर्थ हैं क्योंकि योनि को लेकर द्रव्यस्त्री, मेहन को लेकर द्रव्यपुरुष तथा उभयाभावरूप विशेष चिन्ह को लेकर द्रव्यनपुंसक तथा स्त्री से रमण की इच्छा जिसमें हो उसे भाव-पुरुषवेद, पुरुषके साथ रमण करने की इच्छा जिससे हो उसे भावस्त्रीवेद और दोनों के साथ रमण करने की इच्छा जिसमें हो उसे भावनपुंसकवेद कहा जाता है।

यदि इन शब्दों से यह अर्थ न कहा जाय तो फिर कौन से शब्दों से क्या कहा जाय और कोई शब्दों से कहिए कुछ कहेंगे तो सही, फिर इन्हीं शब्दों से कहने में मुंह तो बिगुन हो नहीं जाता है। वेद-वैषम्य के हो सकने पर उक्त दोष दिया गया है। वेद-वैषम्य न हो तभी स्त्री-पुरुष कहना, नहीं तो नहीं, यह तो कोई युक्तिसंगत बात मालूम नहीं होती। ये तो उक्त अर्थ को कहने वाले अनादि सैद्धांतिक शब्द हैं, वेद चाहे सम हो, और चाहे विषम हो इन्हीं शब्दों से

कहे जावेंगे। जैसे बल्लने वाली इन्द्रिय को जिज्ञा कहते हैं और सुंघने वाली को नाक कहते हैं। कहने में कौन सी बाधा है, वैषम्य में है तो वह शास्त्र और लोक दोनों से सिद्ध है।

‘अपने विशेष उपांग के बिना अमुक वेद उदयमें आवेगा ही किस प्रकार ? यदि आ सक्ता है तो वही प्रकार पांचों इन्द्रियज्ञान भी पांचों द्रव्येन्द्रियों के परस्पर संयोग से पच्चीस प्रकार क्यों नहीं हो जाते ? इत्यादि ।’

इसका उत्तर ऊपर दिया जा चुका है। वेदों को उदय में लाने के लिये उपांगों की आवश्यकता नहीं है, बिना उपांग के भी वेद उदय में आते रहते हैं। जैसे विमहगति आदि कालों में। कोई भी क्षण ऐसा नहीं जिसमें वेद का उदय न हो। स्त्री आदि के शरीर को देखकर पहले वेद उदय में आता है, लिङ्गोत्थानादि तो पीछे होते हैं। इस लिये यों कहना चाहिये कि वेद का उदय पहले होता है उसमें अभिलाषा जागृत होती है फिर द्रव्यवेद में उत्थान-आदि क्रिया होती है। न कि पहले द्रव्यवेद में उत्थानादि क्रिया होती है और फिर वेद का उदय आता है। एक किसी विवक्षित जीव में जितनी द्रव्येन्द्रियां होती हैं उतनी भावेन्द्रियां होती हैं। जिसके एक या दो या तीन या चार या पांच द्रव्येन्द्रियां हैं उसके भावेन्द्रियां भी उतनी ही हैं। ऐसा नहीं है कि जिस तरह द्रव्यवेद का चिन्ह तो एक है और भाववेद तीनों हैं उस तरह द्रव्येन्द्रिय एक हो पांचों भावेन्द्रियों का ज्योपराम एक साथ हो तब पांचों द्रव्य-भाव इन्द्रियों के परस्पर संयोग—जन्म पच्चीस भेदों का दोषारोपण सफल हो सकता है। जिसके एक द्रव्य-उपांग है और भाववेद तीनों कभी

२ उदय में आते हैं तो भी उसके उस निबल वेद के उपांग-जन्म ही कार्य होता है अन्य वेदों के कार्य नहीं होते, उनकी अभिलाषा ही होकर रह जाती है क्योंकि उपांग न होने से कार्य नहीं होता है। यही हासल एक इन्द्रिय उपांग की होगी। कल्पना करें कि एक चक्षुइन्द्रिय का तो उपांग हो और ज्योपराम पांचों इन्द्रियों का हो, उस हासल में एक चक्षु इन्द्रिय ही रूप देखना रूप कार्य करेगी क्योंकि उसी का उपांग है, शेष इन्द्रियों का ज्योपराम यों ही पड़ा रहेगा क्योंकि उनके उपांग उस जीव में नहीं हैं। यद्यपि इन्द्रियोंमें ऐसा है नहीं किन्तु ऐसा हो तो आपत्ति की कल्पना हो सकती है।

प्रोफेसर जी ने चार तर्क सब आगमों को अन्यथा करने के लिये प्रस्तुत किये थे। उनका आगम से और मुक्ति से निरसन हो चुका अब उनकी अन्तिम पंक्तियों का उत्तर अवशिष्ट रह जाता है। उसके पहले स्त्री मुक्ति के संबन्ध में कतिपय आचार्यों का आशय जान लेना जरूरी है।

गोम्मटसार गाथा १३६ की मन्त्रप्रबोधिका टीका में अभयचन्द्र सौखान्ती कहते हैं—कि स्त्रियों के परिग्रह संज्ञा मौजूद है इस लिये कपक भेषि में आरोहण का अभाव होने से उनके मुक्ति किस तरह से हो सकती है, क्योंकि उनमें ब्रह्म त्याग पूर्वक सक्ता संयम का परमागम में प्रतिपेध है, इस लिये स्त्री को मुक्ति नहीं होती। यथा—

स्त्रीणां च परिग्रहसंज्ञा-सङ्गादान कपकभेषयारो-
हणाभावेन कुतो मुक्तिः, तासां ब्रह्मत्यागपूर्वकसक्ता-
संयमस्य परमागमे प्रतिषिद्धत्वात्,.....ततः.....
स्त्रीणां मुक्तिर्नास्तीति सिद्धः सत्सूरिसिद्धान्तः।

वंसयमोहकक्षणापटवगो कम्मभूमिजायो हु ।

मणुसो केनचित् शिष्टवर्गो होदि सत्त्वत्व । ६४७।

गो० जीवकावह०

भाव यह है कि वर्त्मनोह कर्म के स्वका प्रारम्भ केवली-प्रतकेवली के पादमूल में कर्मभूमि में उत्पन्न हुआ मनुष्य करता है और उस ।। निष्ठापन तो चारों ही गणियों में कर सकता है ।

गाथामें मनुष्य यह जो द्रव्यमनुष्यका वाचक है । द्रव्य मनुष्य के ही सायिक सम्यक्त्व होता है । द्रव्य-स्त्रियों के और द्रव्यनपुंसकों के सायिकसम्यक्त्व होता नहीं है, सायिकसम्यक्त्व के बिना मुक्ति नहीं होती है । इस तरह हम गाथासूत्र से क्षीमुक्ति का निषेध होता है ।

अंतिमतियसंहङ्गणस्तुदधो पुणकम्मभूमिमहिष्माणं ।

आदिम तिगसंहङ्गणं एत्थित्ति जिणोहि एणिरिट्ठं । ३२।

गो० कर्मकावह०

अंत के तीन संहननों का उद्य कर्मभूमिज स्त्रियों के है । उनके आदि के तीन संहनन नहीं होते हैं ।

वज्रवृषभनाराच, वजनाराच, नाराच, अर्ध-नाराच, कोलित और असंप्राप्तासृपाटिक ऐसे छह संहनन होते हैं । मुक्ति वज्रवृषभनाराचसंहनन वाला ही जाता है । कर्मभूमि की स्त्रियों के यह संहनन होता नहीं इस लिये इसके अभाव से भी स्त्रियों के मुक्ति का अभाव सिद्ध होता है । मुक्ति जाने में यही एक कारण नहीं है किन्तु उन अन्य कारणों के होते हुए उनमें एक यह भी है ।

कपायस्ववसोवङ्गाखे.....वेदो को हवे ।

यह कस.यवाहुष की गाथा का एक अंश है, पूर्ण गाथा पहले ही जा चुकी है । इसमें गुणधर भट्टारक का प्रश्न सुनिहित है । वे कहते हैं, कथाओं

का स्व प्रारम्भ करने वाले के वेद कौन सा होता है । यह निश्चित ही है कि कथाओं का स्वप्न स्वप्न भेणि में होता है, उसके वेद कौन सा होता है । यह गाथा 'स्वप्नासार' में माधवचन्द्र त्रैविध देखने बहुत की है । इसके इस प्रश्न के उत्तर में वे कहते हैं— भाव की अपेक्षा से तीनों वेदों में से कोई एक होता है, द्रव्य की अपेक्षा से तो पुरुषवेद ही होता है । यथा—

वेदः कंदृशो भवेत् ? भावापेक्षया त्रिवेकः
द्रव्यापेक्षया तु पुंवेद एव ।

माधवचन्द्र त्रैविधदेव स्वप्न भेणि में द्रव्य की अपेक्षा एक द्रव्यपुरुषवेद ही स्वप्न करने में कह रहे हैं, इसमें भी स्पष्ट होता है कि द्रव्यस्त्री के भेणिसमा-रोहण नहीं है, भेणि—समारोहण के बिना मुक्ति कैसी ? इससे जाना जाता है स्त्रियों के मोक्ष नहीं होती है ।

मुक्ति ज्ञान आदि कारण के परम प्रकर्ष से होती है, उसका परम प्रकर्ष स्त्रियों में है नहीं, जैसे कि उनमें सातवीं नरकभूमि में जाने का कारण अपुण्य, पाप का परम प्रकर्ष नहीं है । यहां शक हो सकती है कि स्त्रियों में सातवीं नरकभूमि जाने का कारण अपुण्य का परम प्रकर्ष नहीं है तो न सही, इससे मोक्ष के कारण ज्ञानादि के परम प्रकर्ष के अभाव में क्या आया । अर्थात् ऊंचे अपुण्य के अभाव से ऊंचे ज्ञान का अभाव कैसा ? क्योंकि इन दोनों में न कार्य करण भाव है और न व्याप्य-व्यापक भाव है, इन दो के बिना अन्य के अभाव में अन्य का अभाव कहना ठीक नहीं है, उत्तर देते हैं—यह कहना ठीक है परन्तु यह निश्चय है कि जिस वेद में मोक्ष जाने के कारण का परम प्रकर्ष है उसमें सातवीं नरक

भूमि जाने का कारण अपुण्य का परम प्रकर्ष भी है, जैसे पुरुषवेद में। परम शरीर वाले पुरुषवेद के साथ यह दोष कहा जा सकता है परन्तु वह ठीक नहीं है परम शरीरी पुरुषवेद एक विशिष्ट पुरुषवेद है उसकी अपेक्षा से यह नहीं कहा है किन्तु पुरुषवेद सामान्य की अपेक्षा से कहा गया है। जिसमें सातवीं नरकभूमि में जाने का कारण अपुण्यकर्म का परमप्रकर्ष है उसमें मोक्ष जाने के कारण का भी परम प्रकर्ष है। ऐसा विपरीत नियम तो संभवता ही नहीं है क्योंकि नपुंसकवेद में सातवीं पृथिवी में जाने का कारण अपुण्य कर्म का परम प्रकर्ष होने हुए भी उसके मोक्ष के कारण ज्ञानादि का परम-प्रकर्ष नहीं माना गया है और पुरुष में माना गया है। इस लिये स्त्रीवेद के भी यदि मोक्ष का हेतु परमप्रकर्ष है तो उसके अभ्युपगम से ही यह दूसरा अनिष्ट भी अवश्य प्राप्त होता है। अन्यथा पुरुष में भी यह अनिष्ट दोष नहीं हो सकेगा ? दोनों तादात्म्य-तदुत्पत्ति लक्षण प्रतिबन्धों का अभाव होते हुए भी कृतिकोदयादि हेतुओं के समान, उक्त दोनों परम प्रकर्षों का अविनाभाव सिद्ध हो जाने पर सातवीं पृथिवी में जाने का कारण अपुण्य कर्म के परमप्रकर्ष के निषेध से मोक्ष का हेतु ज्ञानादि का परमप्रकर्ष का भी निषेध हो जाता है, इत्यादि। यथा—

मोक्षहेतुज्ञानादिपरमप्रकर्षः स्त्रीषु नास्ति परम-प्रकर्षत्वात् सप्तमपृथ्वीगमन—कारणापुण्यपरमप्रकर्ष-वत् । यदि नाम तत्र तत्कारणापुण्यपरमप्रकर्षाभावो मोक्षहेतोः परमप्रकर्षाभावे किमयानं ? कार्यकारण व्याप्यव्यापकभावाभावे हि तयोः कथमन्यस्याभावेऽन्यस्याभावोऽतिप्रसंगान् इति चेत्सत्यं अयं हि ताव-न्निवमोऽस्ति—यद्वेदस्य मोक्षहेतु—परमप्रकर्षेस्तद्वैद्य

तत्कारणापुण्य—परमप्रकर्षोऽन्यत्वेव यथा पुंवेदस्य । न च परमशरीरेण व्यभिचारः पुंवेद-सामान्यापेक्ष-योक्तेः । विपरीतस्तु नियमो न संभवत्येव नपुंसक-वेदे तत्कारणापुण्यपरमप्रकर्षे सत्यप्यन्यस्यानभ्युपगम-पुंस्यभ्युपगमाकच । अनित्यत्वस्य प्रवृत्त्यापेक्ष-कत्वेतरत्वनवत् । ततश्च स्त्रीवेदस्यापि यदि मोक्ष-हेतुः परमप्रकर्षः स्यात् तदां तदभ्युपगमादेवापरोऽन्यनिष्ठोऽवश्यमापापते, अन्यथा पुंस्यपि न स्यात् । सिद्धे च प्रतिबन्धद्वयाभावेऽपि कृतिकोदयादिबहुलप्रकर्षबो-विनाभावे स्त्रीणां तत्कारणापुण्यपरमप्रकर्षप्रतिषेधेन मोक्षहेतुपरमप्रकर्षो निविध्यते ।

तथा स्त्रियों का संयम मोक्ष कारण नहीं है क्यों-कि वह नियम से श्रद्धा विशेष का अकारण अन्यथा हो नहीं सकता । जिनमें संयम सांसारिक लक्ष्मियों का भी कारण नहीं है उनमें वह निःशेषकर्म विप्रमोक्ष-लक्षण मोक्ष का कारण कैसे हो सकता है । नियम से स्त्रियों का ही संयम श्रद्धा विशेष का कारण नहीं स्वीकार किया गया है, न कि पुरुषों का संयम । यथा—

स्त्रीणां संयमो न मोक्षहेतुः नियमेन हि विशेषाहेतु-त्वान्यथानुपपत्तेः । यत्र हि संयमः सांसारिकलक्ष्मी-नामप्यहेतुमन्नासौ कथं निःशेषकर्म—विप्रमोक्षलक्षण-मोक्षहेतुः स्यात् । नियमेन च स्त्रीणामेव श्रद्धा-विशेषहेतुः संयमो नेष्यते न तु पुरुषाणां । इत्यादि ।

स्त्रियों का संयम सबका है इस लिये यह मोक्ष का कारण नहीं है जैसे गृहस्थों का संयम । यथा—

सर्वेनसंयमत्वाच्च नासौ तद्धेतुर्गृहस्थसंयमवत् ।

इत्यादि स्त्रियों के मोक्ष के सम्बन्ध में अनेक दोषों का आपादन प्रमेयकमल मार्तण्ड के पत्र ६४ से ६६ तक प्रभाचन्द्रदेव द्वारा किया गया है ।

स्त्रीमुक्ति के प्रतिपादक आगम भी न स्त्रियों का सप्तम नरक में गमन मानते हैं और न उनके संयम को आहारकादि ऋद्धिविशेष का कारण मानते हैं। साधुओं के संयम को ही जब वे सबका मानते हैं तब स्त्रियों का संयम सबका मानने में तो बाधा ही क्या है। आहारकादि ऋद्धियां नहीं मानते यह पहले कहा जा चुका है। सबकता तो प्रत्यक्ष ही है। छठी पृथ्वी तक स्त्रियां जाती हैं। इस बात को कहने वाला उनका यह आगम है—

जट्टि च इत्थियाओ मच्छा मणुया य सत्तमि पुढवि ।

एसो परमुववाओ बोद्धवो नरयपुढवीसु ॥६२॥

—प्रवचन सारोद्धार पृ० ३२३

कसायपाहुड और उसके चूर्णिसूत्रों के टीकाकार भगवज्जनसेन कहते हैं कि द्रव्य से पुरुषवेद वाला क्षपकभेणी में आरोहण करता है। कारण क्षपक-भेणी में और द्रव्यवेद सम्भव नहीं है। प्रमाण ऊपर दे आये हैं। इससे भी मात्तुम होता है कि द्रव्यस्त्रियों का क्षपक भेणी में आरोहण नहीं है। क्षपक भेणी में आरोहण किये बिना मुक्ति होती नहीं है।

धबला टीका का एक प्रमाण तो ऊपर दे ही दिया गया है कि द्रव्यस्त्रीवेद वाले जीव संयम धारण नहीं करते हैं क्योंकि वे सबका हैं। संयम के बिना मुक्ति होती नहीं है—यह निषेध उससे निकलता ही है। और भी देखिये—ऊपर सप्तरूपणा के सूत्र ६२ और ६३ दे दिये हैं। उनमें कहा गया है कि मनुषिण्यां मिथ्यात्व और सासादन गुणस्थान में पर्याप्त और अपर्याप्त दोनों तरह की होती हैं तथा सम्यग्दृष्टि, असंयतासंयत गुणस्थान में नियम से पर्याप्त ही होती है। इस परसे शंका उठाई गई

है कि हुंदावसर्पिणी में स्त्रियों में सम्यग्दृष्टि क्यों नहीं उत्पन्न होते ? इसका उत्तर दिया गया है कि नहीं उत्पन्न होते। तब शंकाकार पूछता है कि यह किस आधार से मिश्रित किया गया ? इसका उत्तर देते हैं कि इसी आर्ष से अर्थान्नं० ६३ के सूत्र से ही जाना।

हुण्डावसर्पिण्यां स्त्रीषु सम्यग्दृष्टयः किं नोत्पद्यन्ते इति चेत्, न उत्पद्यन्ते कुतोऽवसी-
यते ? अस्मादेवापात् ।

इस व्याख्या का अर्थ प्रोफेसर जी ने गलत किया है। वे शंकासमाधान यों लिखते हैं—हुंदावसर्पिणी काल संबंधी स्त्रियों में सम्यग्दृष्टि जीव क्यों नहीं उत्पन्न होते हैं ? नहीं, क्योंकि, उनमें सम्यग्दृष्टि जीव उत्पन्न होते हैं। शंका का अनुवाद तो ठीक है परन्तु समाधान ठीक ही नहीं, किन्तु सूत्र बिकट भी है। सूत्र में स्त्रियां जोये गुणस्थान में पर्याप्त कही गई हैं। उनमें यदि सम्यग्दृष्टि मर कर उत्पन्न होता है तो वे चतुर्थे गुणस्थान में अपर्याप्त भी होनी चाहिए परन्तु है नहीं इस लिये समाधान ठीक नहीं है। यह बात कई आपों से निश्चित है कि सम्यग्दृष्टि मरकर स्त्री नहीं होता इस लिये अपर्याप्त अवस्था में उनके सम्यक्त्व नहीं होता। यह बात प्रकरणानुसार इस सूत्रमें इस प्रकार कही गई है कि असंयत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान में मनुषिण्यां नियम से पर्याप्त ही होती हैं।

हेट्टिमज्जपुढवीणं जोइसि-वण भवण सव्वइत्थीणं ।

पुण्णदरे ण हि सम्मो ण सासणो णारयापुण्यो ॥

—गो० जोवकांड ॥१२॥

प्रथम पृथ्वी को छोड़ कर नीचे की छह पृथ्वी के

नारकों के, ज्योतिषी, व्यन्तर, भवनवासी देवों के, सब स्त्रियों के अपर्याप्त अवस्था में सम्यक्त्व नहीं होता है और नारकों के अपर्याप्त अवस्था में सासादन भाव भी नहीं होता ।

अट्टापुरणे ण हि धी संढो वि य घम्मणारयं मुखा ।
धीसंढयंदं कमसो णाणुचऊ चरिमतिण्णारू ॥२८७॥

—गो० कमेकांड

असंयत अपर्याप्त गुणस्थान में स्त्रीवेद का उदय नहीं है और घम्मा नाम की पहली पृथ्वी को छोड़ नपुंसक वेद का भी उदय नहीं है, इस लिये स्त्रीवेद वाले असंयत के चारों आनुपूर्वी का और नपुंसकवेद के उदय वाले असंयत के अन्तिम तीन आनुपूर्वी का उदय नहीं है ।

इसमें जानते हैं कि द्रव्यस्त्री दूर रहे भावस्त्री के भी अपर्याप्त अवस्था में चतुर्थे गुणस्थान नहीं होता है ।

सम्यग्दर्शनशुद्धा नारक-तिर्यङ्-नपुंसक-स्त्रीत्वानि ।

दुष्कुल-विकृताल्पायुर्दरिद्रतां च व्रजन्ति नाप्यर्वातकम् ॥

—रत्नकरांडके स्वामिममन्तभट्टः

अर्थान्—जो जीव सम्यग्दर्शन से शुद्ध हैं वे अर्वातक होते हुए भी मरकर नारक, तिर्यंच, नपुंसक और स्त्री नहीं होते हैं तथा न दुष्कुलीन, विकृतशरीर और अल्प आयु वाले तथा दरिद्री भी नहीं होते हैं ।

इसमें भी मालूम पड़ता है कि अपर्याप्त अवस्था में स्त्रियों के चतुर्थे गुणस्थान नहीं होता है ।

जे पञ्चा विषया मिससे भणिया पडुष दसजोगं ।

ते चेव य अजईए अपुण्णजंगाहिया रोया ॥१७३

ओराल मिसजोगं पडुष पुरिसो तहा भवे एको ।

वेडव्व मिसम कम्मे पडुष इत्थी ए होइ सि ॥१७४

सम्माइट्टी गिरि-तिरि जोइसि—

वण-भवण-इत्थि-संढेषु ।

जीवो वड्डाउ पमोत्तं णो,

उववज्जइ ति वयणाओ ॥१७५॥

जो प्रत्ययों के भेद दश योगों को लेकर मिश्र-गुणस्थान में कहे गये हैं, वे ही प्रत्ययविकल्प असंयत नाम के चतुर्थे गुणस्थान में है किन्तु अपर्याप्त योगों से युक्त हैं । इस लिये इस अयत गुण में औदारिक मिश्रयोग को लेकर एक पुरुषवेद ही होता है तथा वैक्यिक मिश्र और कार्मण काय योग में स्त्रीवेद नहीं होता है । क्योंकि ऐसा वचन है कि सम्यक्त्व प्राप्त के पहले जिसने परभव सम्बन्धी आयु बांध ली है उसे सम्यग्दर्ष्ट को छोड़कर अबद्धायु सम्यग्दर्ष्ट जीव नरक तिर्यंच, ज्योतिषी, व्यन्तर, भवनवासी, स्त्री और नपुंसक में उत्पन्न नहीं होता है ।

इसमें भी स्पष्ट होता है स्त्रियों के अपर्याप्त अवस्था में असंयत सम्यग्दर्ष्ट गुणस्थान नहीं होता है तथा यह कहना कहां तक शोभायुक्त है कि 'उन (स्त्रियों) में सम्यग्दर्ष्ट जीव उत्पन्न होते हैं ।

अथ पुनः प्रकरण पर आइये । इसके अनन्तर कोई एक शंका करता है कि इसी आर्ष से द्रव्यस्त्रियों के मुक्ति सिद्ध हो सकती है, उत्तर देते हैं कि नहीं हो सकती, क्योंकि द्रव्यस्त्रियां वस्त्र सहित होती हैं इस लिये अप्रत्याख्यान गुण अर्थात् देशसंयत अथवा संयतामंयत गुणस्थान में स्थित द्रव्य स्त्रियों के संयम की उत्पत्ति नहीं है । फिर शंका करता है कि सबका होते हुए भी उन द्रव्यस्त्रियों के भावसंयम तो अविच्छेद हो सकता है, आचार्य कहते हैं, उनके भावसंयम नहीं होता है, क्योंकि भाव असंयम का अविनाभावी वस्त्र ग्रहण उनके है । अन्यथा अर्थात् भावसंयम होता तो वस्त्र ग्रहण नहीं होता । वस्त्र ग्रहण है इस

लिये मान्य होता है कि भावसंयम द्रव्यस्त्रियों के नहीं होता है। फिर शंका होती है कि यदि उनमें भावसंयम नहीं है तो चौदह गुणस्थान कैसे होंगे ? आचार्य कहते हैं—भावस्त्री विशिष्ट मनुष्यगति में चौदह गुणस्थानों के मझाव का कोई विरोध नहीं है। इस पर मैं फिर शंका होती है कि भाववेद वादर-नाम के नौवें गुणस्थान से ऊपर नहीं होता है इस लिये भाववेद में चौदह गुणस्थानों का मझाव सम्भवता नहीं है आचार्य कहते हैं यह शंका ठीक नहीं है, क्योंकि चौदह गुणस्थानों के मझाव में वेद की प्रधानता नहीं है किन्तु गति प्रधान है वह वेद के माथ नष्ट नहीं हो जाती है। फिर शंका होती है कि जिसका वेद विशेषण है उस गति में वे चौदह गुणस्थान संभवते नहीं हैं, आचार्य इसका उत्तर देते हैं—यह शंका नहीं है, क्योंकि विशेषण के नष्ट हो जाने पर भी उपचार से वेद-व्यपदेश को धारण करने वाली मनुष्य गति में चौदह गुणस्थान के सत्व का विरोध नहीं है। यथा—

अस्मादेवापाद् द्रव्यस्त्रीणां निर्धृतिः सिद्ध्येदिति चेन्न सवासस्त्वादप्रत्याख्यानगुणस्थितानां सयमानुपपत्तेः । भावसंयमस्तासां सवाससामप्यविरुद्ध इति चेन्न तासां भावसंयमोऽस्ति भावासंयमाविनाभावविरुद्धा-
नुपादानान्यथानुपपत्तेः । कथं पुनस्तासु चतुर्दश गुणस्थानानीति चेन्न भावस्त्रीविशिष्टमनुष्यगतौ तत्सत्त्वाविरोधान् । भाववेशो वादरकपायामोपयेस्तीति न तत्र चतुर्दश गुणस्थानानां संभव इति चेन्न अत्र वेदस्य प्रधान्याभावान्, गतिस्तु प्रधाना न साराद्विनश्यति वेदविशेषणायां गतौ न तानि संभवन्तीति चेन्न विनष्टपि विशेषणो उपचारेण तद्व्यपदेशशुभाधान मनुष्यगतौ तत्सत्त्वाविरोधान् ।

इस उद्धरण पर से द्रव्यस्त्रियों के मुक्ति का निराकरण होता है, भावसंयम का निषेध भी होता है। द्रव्यस्त्रियों के आदि के पांच गुणस्थान ही होते हैं, और द्रव्य मनुष्य जिसका भाव स्त्रीवेद रूप है उसके नौ गुणस्थान होते हैं ऊपर के गुणस्थान भाववेद में उपचरित हैं इत्यादि अनेक बातें सिद्ध होती हैं। संभवतः अनुवाद के बाद ये बातें याद नहीं रही हैं अथवा इन्हें भी वे नहीं मानते होंगे।

आचार्य दिग्विजयानन्दी श्लोकवार्तिक के पे० ५११ में लिखते हैं कि—सिद्धि सिद्धिगति में होती है, अथवा मनुष्यगति में भी पुरुषों के होती है। अवेदता से वह सिद्धि होती है अथवा भाव से तीनों वेदों से सिद्धि होती है। द्रव्य में तो साक्षात् पुल्लिङ्ग अर्थात् पुरुष लिङ्ग में होती है। स्त्री आदि के निर्वाण कहने वालों के जो अन्य द्रव्यलिङ्ग से सिद्धि कही गई है वह आगम व्याघात होने से और मुक्ति बाधा होने से ठीक नहीं है। अथवा जो लोग स्त्रीनिर्वाणवादी हैं उनके आगम व्याघात और मुक्ति बाधा दोनों हैं।

सिद्धिः सिद्धिगतौ पुंसां स्यान्मनुष्यगतावपि ।

अवेदत्वेन सा वेदत्रितयाद्वास्ति भावतः । ॥७॥

पुल्लिङ्गेनैव तु साक्षाद्द्रव्यतोऽन्या तथागम-

व्याघातामुक्तिबाधाकृत् स्यादिनिर्वाणवादिनां । ८

इन दोनों श्लोकों में भाव से तीनों वेदों से और द्रव्य से पुरुषलिङ्ग से मुक्ति कही गई है और अन्य द्रव्यलिङ्ग से मुक्ति मानने में आगम और मुक्ति दोनों से बाधा आती है, यह स्पष्ट कहा गया है।

अकलंकदेश राजवार्तिदालकार में कहते हैं कि अतीत को विषय करने वाले नय की अपेक्षा से सामान्यतः तीनों वेदों से सिद्धि होती है यह भाव को लेकर कहा गया है, द्रव्य को लेकर नहीं। द्रव्य

की अपेक्षा से तो पुल्लिंग से ही सिद्धि होती है । तथा पर्याप्त मानुषी में भाव लिंग की अपेक्षा से चौदह ही गुणस्थान होते हैं, द्रव्यलिंग की अपेक्षा से तो आदि के पांच गुणस्थान होते हैं । यथा—

अतीतागोचर-नयापेक्षया अवशिरोपेण त्रिभ्यो वेदेभ्यः सिद्धिर्भवति भावं प्रति, न तु द्रव्यं प्रति ।
द्रव्यापेक्षया तु पुल्लिंगेनैव सिद्धिः ।

राजवार्तिक पेज ३६६ ।

मानुषीपर्याप्तिकासु चतुर्दशापि गुणस्थानानि सन्ति भावलिगापेक्षया, द्रव्यजिगापेक्षेण तु पञ्चाद्यानि ।
पेज ३३९ ।

इन उद्धरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि भाव से तीनों वेदों से और द्रव्य से पुल्लिंग से सिद्धि होती है । तथा भावमानुषी के चौदह और द्रव्यमानुषी के प्रारम्भ के पांच गुणस्थान होते हैं इससे स्पष्ट होता है कि द्रव्य स्त्री के मुक्ति नहीं होती है, और उसके गुणस्थान भी पांच ही होते हैं ।

आचार्य देवसेन कहते हैं यदि उग्र तप तपे, महीने २ पारणा करें तो भी स्त्री अपने कुत्सित-निष्ठा लिंग के दोष के कारण मिट नहीं होती है । स्त्रियां मःया और प्रमाद में भरी पूरी होती हैं, प्रति महीने उनमें प्रस्खलन होता रहता है, हमेशाह योनि भरनी रहती है, चित्त की दृढ़ता भी उनके नहीं होती है । उनकी योनि, नाभि और कूख में तथा शरीर के अन्य प्रदेशों में भी सूक्ष्मलब्धपर्याप्तक मनुष्यों की उत्पत्ति हमेशाह होती रहती है इस कारण स्त्रियों के दोनों तरह के संयम का धारण नहीं होता है और संयम धारण किये बिना स्त्री-जन्म से मोक्ष नहीं होता है, यदि यह कहा जाय कि क्या स्त्रियों के जीव नहीं है या वे जीव नहीं है, या उनके ज्ञान, दर्शन, उपयोग

चेतना नहीं है, यदि ऐसा है तो धीवरी, कलारी, बेरया आदि सब स्त्रियों के जीव है तो फिर सभी स्त्रियां सिद्ध हो जानी चाहिएं । इस लिये स्त्री पर्याय को लेकर जीव के प्रकृति दोष से अभव्यकाल हो गया है इस कारण से उनके निर्वाणपद नहीं होता है । अति उत्तम संहनन अर्थात् ब्रह्मवृषभनाराच संहनन बाला कुलीन, काण्टवादि दोष रहित उत्तम पुरुष मोक्ष के योग्य है जो कि निर्ग्रन्थ और जिनलिंग का धारी होता है ।

जह तप्पइ उगगतवं मासे मासे च पारणं कुणइ ।
तह वि ण सिग्गइ इत्थीं कुच्छियजिग्गस दोषेण ॥६२॥
मायापमायपवरा पडिमासं तेसु होइ पक्खलणं ।
एण्णं जोगिस्साओ दारइं एत्थि चित्तस्स ॥६३॥
सुहुमापज्जायां मणुआणं जोगि-णाहि-कक्खंसेसु ।
उप्पत्ती होइ मया अण्णंसु य तणुपणंससु ॥६४॥
ए ह्नु अत्थि तेण तेसि इत्थीणं दुविहसंजमोद्धरणं ।
संजमधम्मणेण विणा ए ह्नु मोक्खो तेण जन्मेण ॥६५॥
अइवा एयं वयणं तेसि जीवो ए होइ किं जीवो ।
कि एत्थि एण दसण उवओगो चेयणा तस्स ॥६६॥
जइ एवं तो इत्थी धीवरि-कल्लालि वेसआइणं ।
सन्वेसिमत्थि जीवो सयलाओ तरहिं सिग्गंति ॥६७॥
तम्हा इत्थीपज्जय पडुक्ख जीवस्स पराडिदोसेण ।
जाओ अभव्वकालो तम्हा तेसि ए एण्ण-आणं ॥६८॥
अइउत्तमसंहरणा उत्तमपुरिमो कुलमाओ संतो ।
मोक्खस्स होइ जुगो एण्णमाओ धरियजिणलिंगो ॥६९॥

—भावसंग्रह

आचार्य पूज्यपाद लिखते हैं—

लिंगेन केन सिद्धिः ? अवेदत्वेन त्रिभ्यो वा वेदेभ्यः सिद्धिः, भावतो न द्रव्यतः । द्रव्यतः पुल्लिंगेनैव ।

—सर्वार्थसिद्धि पृ० ३२०

किस ऋग से सिद्धि होती है ? कहते हैं—अवेद पने में सिद्धि होती है, अथवा स्त्री, पुरुष और नपुंसक इन तीनों भाववेदों से सिद्ध होती है, द्रव्यवेदों से नहीं, द्रव्यवेद से तो एक पुल्लिंग में ही सिद्धि होती है।

इससे द्रव्यस्त्रीवेद से और द्रव्यनपुंसकवेद से सिद्धि नहीं होती यह स्पष्ट है। पूज्यपाद स्वामी ने वेदों में गुण चर्चा की ही है, अकलंकदेव और विद्यानन्दि भी गुणस्थान चर्चा पूर्वक ही द्रव्यस्त्रीवेद और द्रव्यनपुंसक के सिद्धि का निषेध करते हैं।

कुन्दकुन्ददेव का अभिप्राय स्पष्ट ही है, जो कि ऊपर दिखाया गया है, उसपर से जो दोषागोपण उन पर किया गया है वह निर्मल सार्वत्रिक होता ही है। और भी जनसाधारण की जानकारी के लिये एक दो प्रमाण यहां दे देना उचित समझते हैं। यथा—

जह दंसरणे सुढा उता मरणे मावि संजुता।

घोर चरिय चरित्तं इत्थीसु ए पावण भणिया ॥२४॥

—सूत्र प्राभृत

यद्यपि स्त्री मर्यादशून्य से शुद्ध कही गई है, मोक्ष के उपायस्थित मार्ग से भी संयुक्त है, घोर चारित्र्य का आचरण करती है तो भी उसके प्रमज्जा-दीक्षा नहीं कही गई है। इत्यादि।

प्रमज्जा त्रिजा संयम नहीं, संयम के बिना मोक्ष नहीं, यह इस पर से निर्णीत होता है। तथा—
एणकद्धयो इत्थीणं सिद्धी ए हि तेण जम्मणा दिट्ठा।
तन्हा तप्पट्ठिरुत्तं त्रियप्पियं लिंगमिच्छीणं ॥

—प्रवचनसार अ० ३

निश्चय से स्त्रियों के स्त्री जन्म से सिद्धि नहीं होती है, इस लिये स्त्रियों के उनके योग्य वरुयुक्त लिंग कहा गया है। इत्यादि।

पहमचरिय जिसपर स्त्रीमुक्ति मानने वालों का एकंगी अधिकार है, जो बी० नि० पांच सौ तीस ४३० वि० सं० ६० साठ का बना हुआ कहा जाता है। उसके कर्ता विमल सूरि का स्त्रियों की मुक्ति के सम्बन्ध में क्या अभिमत है—थोड़ा सा देखिये—

महाराज श्रेणिक इन्द्रभूति गणधरदेव से पूछते हैं—हे भ्रातृमित्र और भी मुनिये, जो नारी प्रमज्जा-दीक्षा धारण करती है वह शील और संयम में रत होती हुई किस गति को प्राप्त करती है—यह मुझे कहिये। इन्द्रभूति गतिम गणधर कहते हैं—हे श्रेणिक जो स्त्री दृढ़शील है, पतिव्रता है, सीता के सदृश है वह पुण्य कमा कर स्वर्ग प्राप्त कर सकती है। हे राजन ! . घोड़े, रथ, पत्थर, लोह और वृत्त इनमें जैसा भेद है वैसा ही पुरुषों में और स्त्रियों में भेद है। यथा—

अन्नं पि सुणुसु मांमय ! जा हवइ पइव्ववा इहं नारी।
सा मीलसंजमरया साहमु कवणं गई लहइ ॥६८॥
तो भणइ इंदभूर्इ जा ददशीला पइव्वया मदिला।
सीयाए हवइ सरिसी सा समं लहइ सुकयत्था ॥६९॥
जह नुरयरहवराण पत्थरलोहाण पायवाणं च।
हवइ विसेसो नरवह तहेव पुरिसाण महिलाणं ॥७०॥

—पदः ७७

यहां विमलसूरि ने श्रेणिक और गणधरदेव के प्रश्नोत्तर उद्धृत किये हैं। शील-संयुक्त स्त्रियों की गति के सम्बन्ध में प्रश्न है। और उसका उत्तर स्वर्गगमन दिया गया है तथा दृष्टान्तपूर्वक पुरुषों में और स्त्रियों में बड़ा अन्तर बताया गया है, वह अन्तर पुरुष का मोक्ष जानें और स्त्रियों का मोक्ष न जानें रूप ही यहां हो सकता है। अन्यथा अन्तर बताने

की कोई आबरवकला न थी।

यहां एक विरोध का उपस्थित होता है, वह यह कि भरत महाराज की माता केकई जब भरत दीक्षित हो गये तब वह भी प्रतिबुद्ध हुई, तीव्र वैराग्य उसको हुआ, निम्न, अशुचि और दुर्गन्धित अपने शरीरकी उसने निन्दा की। पश्चात्त वह पृथिवी-मति नाम की आर्यिका के पास तीन सौ स्त्रियों के साथ दीक्षित हुई और उत्तम सिद्धिपद को प्राप्त हुई। यथा—

अहं सा उत्तमनार' पडिबुद्धा तिव्रजायसवेगा ।

निन्दइ नियसरीरं वीभच्छं असुइ दुमंघं ॥११॥

नारीण सण्हि तिहिं पामे अजाए पुइइमवाए ।

पव्वइया दढभावा सिद्धिपयं उत्तमं पत्ता ॥१२॥

—पर्व ८३

यहां 'सिद्धिपद' का अर्थ मुक्ति है या और कोई, यह विचारणीय है, श्रेणिक और इन्द्रभूति के प्रश्नोत्तर में विमलसूरि ने स्त्रियों के लिये स्वर्ग तो बताया है, मुक्ति क्यों नहीं बनाई? क्या यहां पर कुछ परिवर्तन कर दिया गया है या और कोई बात है, खेर, आगे का प्रकरण देखिये उससे क्या निशेय होता है। सीता महादेवी को जब रामचन्द्र ने सारथी के साथ वन में छोड़ा दिया उस वक्त वह वज्रजंघ से अपना वृत्तान्त कहती हुई—कहती है—अपने पुत्र के शोक से युक्त हुई केकई भी दोषा लेकर चारित्र का आराधन कर उत्तम त्रिदश-विमान को प्राप्त हो गई। यथा—

सुयभोगसमावन्ना पव्वज्जं केगई वि वेत्तणं ।

सम्माराहियचरिया तियसविमाणुत्तम पत्ता ॥८६॥

—पर्व ६५

गाथा में निर्भान्त 'त्रिदश विमान' पद पड़ा हुआ है, त्रिदश विमान का अर्थ देव विमान स्वर्ग होता है

और भी देखिये—सीता का जीव अच्युतेन्द्र राम-चन्द्र केवलिते नमस्कार कर पूजता है—हे भगवान्! जो यहां दशरथ आदि थे वे और लव-अंकुरा किस गति को गये हैं—यह कहिये। इस प्रकार पूछे जाने पर बलदेव केवली कहते हैं—अनरन्त्य राजा का पुत्र दशरथ आनत कल्प में निमल वस्त्राभूषणों से युक्त देव हुआ निवास कर रहा है। वे दोनों ही जनक के पुत्र, केकई, सुप्रभा, सुमित्रा और अपराजिता वे सब स्वर्ग में उत्पन्न हुए हैं। तथा नाना प्रकार के तप और संयम में दृढ़, विशुद्ध शीलवान धीरवीर लव और अंकुरा अव्याबाध मोक्ष स्थान को जावेंगे। यथा—

नमिउण पुच्छइ सुरो भयवं जे एत्थ दसरहाईया ।

लवणं कुसा य भविआ माहसु कवणं गइं पत्ता ॥४०॥

जं एव पुच्छिओ सो बलदेवो भणइ आणए कप्पे ।

वट्टइ अणुरणसुओ देवो विमलंवराभरणो ॥४१॥

ते दो वि अणयतणया केगई तह सुपहा य सोमिन्ती

अवराइयाए समयं इमाइं सगोववन्नाइं ॥४५॥

नाणानवसंजमवदा विसुद्धसीला लवंकुसा धीरा ।

गच्छीहंति गुणधरा अवन्नावाइं सिवं ठाणं ॥४६॥

—पर्व ११८

गाथा ४५ में भी केकई को स्वर्ग में उत्पन्न हुई कहा गया है। शील सयम युक्त स्त्रियां स्वर्ग जाती हैं। उसी एक केकई को एक स्थल में सिद्धिपद को प्राप्त हुई कहा गया है और आगे एक ही जगह नहीं दो जगह उसका त्रिदश विमान में और स्वर्ग जाना लिखा है। यह विरुद्ध कथन स्वतन्त्रता है, रविषेण के पद्यचरित में तो सिद्धि पद का नाम निशान भी नहीं है। वह श्लोक यह है—

सकाशे पृथ्वीमत्याः सह नारीशतैस्त्रिभिः ।

दीक्षां जग्राह सम्यक्त्वं धारयन्ती मुनिमत्सं॥२५॥

—पर्व ८६

तीन सौ क्षियों के साथ पृथ्वीमती आर्यिका के समीप निर्मल सम्यक्त्व को धारती हुई केकई ने दीक्षा ग्रहण की ।

इस सब विवेचन से यह मालूम पड़ता है कि 'सिद्धिपथ' यह पद परिवर्तित हो गया है । इसके स्थान में 'सिद्धिपथं उत्तमं पत्ता' ऐसा भी पाठ सम्भव हो सकता है । यद्यपि आगंक दोनों उद्धरणों पर से यह निर्भ्रान्त सिद्ध हो जाता है कि केकई स्वर्ग गई है । शील-संयम युक्त आर्यिकाओं को अच्युत स्वर्ग पर्यन्त जाना कहा गया है, स्वयं पञ्चमचारिय के प्रयोज्य विमलसूरि भी उनका स्वर्ग जाना लिख रहे हैं ऐसी दृष्टि में 'सिद्धिपथं उत्तमं पत्ता' यह पद निर्भ्रान्त न होकर सभ्रान्त ही है ।

इस तरह प्रख्यात प्रख्यात आचार्यों का अभिमत स्त्री-मुक्ति निषेधपरक है । केवल पदल्लङ्घनगम के उन सूत्रों पर से निर्भ्रान्त विषय को सभ्रान्त बना देना युक्ति-संगत नहीं है । स्त्रीमुक्ति का निषेध सैकड़ों ग्रन्थों में पाया जाता है, उनमें से लक्षमात्र यहां उद्धृत किया गया है । स्त्री-मुक्ति का निषेध गुणस्थान चर्चा और कर्मसिद्धान्त विवेचन पूर्वक है । इसमें कोई सन्देह ही नहीं है । जिन जिन क्ल्यात-नामा आचार्यों ने जैसे, यतिवृषभ, समन्तभद्र, अक-लंकदेव, विष्णुचन्द्र, वीरसेन, जिनसेन, प्रभाकरन्द आदि सभी आचार्यों ने क्षियां चाहे वे ब्रह्म हों या भाव—उनमें सम्यग्दृष्टि का मरकर उत्पन्न होना नहीं माना है यहां पर भी यह कहा जा सकता है कि गुणस्थान चर्चा और कर्मसिद्धान्त के विवेचन किये बिना कह दिया गया है ! अबका क्या गुणस्थान-

चर्चा और कर्मसिद्धान्त के विवेचन बिना उनमें निकल हुआ निष्कर्ष नहीं कहा जा सकता ! 'उत्सार्थ सूत्रादिक' में कौन सी बात गुणस्थानचर्चापूर्वक और कर्मसिद्धान्त के विवेचन पूर्वक कही गई है, प्रायः उसमें सभी विषय गुणस्थानचर्चा न कर ही कहे हैं, इस लिये यह दोष कोई महत्त्व नहीं रखता है । वस्तु का कथन गुणस्थानचर्चा पूर्वक भी होता है और गुणस्थान के बिना भी होता है । किसी भी बात स्वरूप को कहने समय 'वर्णनों' की तरह गुणस्थान चर्चा और कर्मसिद्धान्त का विवेचन ही करते बैठना तो कोई युक्ति-युक्त नहीं है । और फिर भी स्त्रीमुक्ति का निषेध गुणस्थान चर्चा और कर्मसिद्धान्त का विवेचनपूर्वक ही है ।

२-सर्वज्ञ-मुक्ति

यह दूसरा प्रकरण है, इसमें आप लिखते हैं—
“रवेताम्बर सम्प्रदाय की मान्यतानुसार मनुष्य बन्ध-त्याग करके भी सब गुणस्थान प्राप्त कर सकता है और बन्ध का सबंधत्याग न करके भी मोक्ष का अधिकारी हो सकता है । पर प्रचलित दिगम्बर मान्य-तानुसार बन्ध के सम्पूर्ण त्याग से ही संयमी और मोक्ष का अधिकारी हो सकता है । अतएव इस विषय का शास्त्रीय चिन्तन आवश्यक है ।”

लेखक महोदय को दिगम्बर मान्यता में सन्देह हो गया है अतः उसपर रवेताम्बर मान्यता का पुट चढ़ा देना चाहते हैं अतएव आप शास्त्रीय चिन्तनकी ओर अप्रसर हुए हैं । सबसे पहले हम दिगम्बर जैन शास्त्रों की उस मान्यता को व्यक्त कर देना चाहते हैं, बाद को आपके शास्त्रीय चिन्तन पर चिन्तन करेंगे ।

आचार्य जनेश्वर कहते हैं—हे जनेश्वर, कंकल, वस्त्र और पात्रग्रहण वह आपका मत नहीं है किन्तु सुखका कारण समझकर शीत उष्ण आदि परीक्षाओं के सहने में असमर्थ व्यक्तियों ने अपने आप कल्पित कर लिया है। यदि यह कंकल, वस्त्र, पात्रग्रहण मुक्ति का मार्ग है तो आपकी नम्रता व्यर्थ होती है, क्योंकि भूमि पर स्थित पुरुषों के द्वारा हाथ से ही जो फल सुखसे तोड़े जा सकते हैं तो फिर उनको तोड़ने के लिये वृक्ष पर आरोहण नहीं किया जा सकता। यथा—

जनेश्वर ! न ते मतं पटकवत्पात्रग्रहो,
विमूरय सुखकारणं स्वयमशक्तैः कल्पितः ।
अथायमपरि सत्यस्तव भवेद्वृथा नम्रता,
न हस्तसुखभे फले सति तवः समाकृष्टे ॥४१॥

—पात्रकेसरी स्तोत्र

कितनी अच्छी बात कही गई है, यदि वस्त्र आदि के पहने हुए ही मुक्ति हो सकती है तो वस्त्र त्याग कर नग्न होना बुद्धिमानी नहीं है। जो चाहे वस्त्र धारण करने से हो सकता है उसको प्राप्त करने के लिये वस्त्र त्यागना यह कोई उचित न्याय नहीं है। वृक्ष के फल भूमि पर लड़े लड़े ही हाथ से तोड़े जा सकते हैं तो उन फलों को तोड़ने के लिए वृक्ष पर चढ़ना बुद्धिमानी नहीं है। आचार्य देवसेन कहते हैं—

यदि संप्रथ मोक्ष जा सकता है तो तीर्थंकर रत्नों के सजानों के साथ साथ अपना राज्य क्यों छोड़ते हैं और निर्जन वन में जाकर क्यों निवास करते हैं। जो रत्नों का सजाना तो त्यागता है और गृहस्थ के योग्य पात्र, दंड, वस्त्र और कंकल ग्रहण करता है सो क्यों? यथा—

जह समांभो मुक्कं तित्थवरो किं मुप्पं णिवरज्जं ।
रयण्णिहाणोहि समं किं णिवसहं णिवज्जो रवणो ॥४२॥
रयण्णिहाणं छंडहं सो किं गिण्हेहं कंवल्लोखं ।
बुद्धियं दंढं च पडं गिहत्थजोणं पि जं किं पि ॥४३॥

—भाष संप्रद

जब हाथी पर बैठे हुई और देवालय में गुहारा काढ़ती हुई स्त्रियों को ही मुक्ति हो जाती है तब तीर्थंकर जिनको कि मुक्ति अवश्य—भाविनी है वे रत्नों के सजाने त्यागते हैं, निर्जन वनों में निवास करते हैं, घोर तप तपते हैं परीषद और उपसर्ग सहते हैं वे सब क्यों करते हैं। इससे तो ऐसा मात्स्य पक्षी है कि संप्रथ लिंग में मोक्ष नहीं होता अतः तीर्थंकर भी निर्ग्रथलिंग धारण करते हैं।

संप्रथ मुक्ति मानने वाले इस बात को स्वीकार करते हैं। वे कहते हैं कि अच्छे दो तरह के होते हैं, एक वह जिसके पास चेल वस्त्र है, दूसरा वह जिस के पास वस्त्र नहीं है तीर्थंकर असचेल अर्थात् निबंख होते हैं और शेष सचेल अर्थात् सबख होते हैं। शेष भी निबंख होते हैं, ऐसा भी वे मानते हैं। यथा—

बुद्धिहो होति अच्छेको संताचेको असंतचेको च ।
तित्थगर असंतचेका संताचेका भवे संसा ॥

—गृहस्थ

भगवत्पुन्यपुन्याचार्य प्रतिपादन करते हैं—जिन शासन में वस्त्रधर सिद्ध नहीं होता वह वस्त्रधर चाहे तीर्थंकर ही क्यों न हो। मोक्ष का मार्ग नग्न है, इसके अलावा शेष सब छद्मार्ग हैं। यथा—

य वि सिग्गहं वत्थवरो,

जिण्णसासणो जह वि तित्थवरो ।

युग्गो विमोक्कमग्गो,

सेसा उम्मग्या सन्वे ॥२३॥

—मुत्त-पाहुद

उक्त उद्धरणों पर से यह निश्चित है कि दिगम्बर जैनों की वर्तमान मान्यता अपने उक्त आगमों के अनुकूल है, बल्कि रखने में बड़े बड़े दोष ही नहीं संयम का लेशा भी नहीं रहता है यह सब विषय आगे स्पष्ट किया जायगा।

अब पाठक महोदय प्रोफेसर जी के अत्यन्त आवश्यक शास्त्रीय चिन्तन पर आइए—इस विषय में आपके पास तीन तर्क थे। उनमें से पहला तर्क है कि “दिगम्बर सम्प्रदाय के अत्यन्त प्राचीन ग्रन्थ भगवती आराधना में मुनि के उत्सर्ग और अपवाद् मार्ग का विधान है, जिसके अनुसार मुनि ब्रह्म धारण कर सकता है देखो गाथा (७६-८३)।”

भगवती आराधना यद्यपि कुन्दकुन्ददेव के ग्रंथों से प्राचीन नहीं है, परन्तु आप उसे अत्यन्त प्राचीन इस लिए लिखते हैं कि आप भगवती आराधना के अपवाद्मार्ग से मुनि ब्रह्म धारण करते हैं यह सिद्ध करना चाहते हैं और एक किसी टुकट में आप भगवती आराधना के कर्ता शिवायों को शिवभूति मान कर दिगम्बर मत का चलाते वाला लिख चुके हैं। यह बड़ी खुरशी की बात है कि आप उसे किसी भी प्रकार अत्यन्त प्राचीन मानते हैं। आइए—अत्यन्त प्राचीन भगवती आराधना का क्या अभिमत है इसपर भी गौर कीजिये।

महर्षि शिवकोटि ने भगवती आराधना के भक्त-प्रत्याख्यान में चात्तीस सूत्रपद कहे हैं उनमें प्रथम के दो सूत्रपद हैं, अर्ह और लिंग। अर्ह नाम योग्य है, भक्तप्रत्याख्यान के योग्य कौन हो सकता है यह बताते हुए कहा है—ऐसे और भी गाढ़ कारण आ

उपस्थित होने पर विरत अर्थात् मुनि और अविरत अर्थात् भक्त भक्त प्रतिज्ञा के योग्य होता है। यथा—

अल्लुम्मि चावि एदारसम्मि आगादकरणे जादे।

अरिहो भत्तप-ल्लुम्मा होदि विरदो अविरदो वा ॥७४

अविरत शब्द का अर्थ पं० आशाधर जी मूला-राधनादर्ण में आशक करते हैं। इस लिये जान पड़ता है मुनि और भक्त ये दो भक्त प्रतिज्ञा के योग्य होते हैं। प्रकरण भी मूल भूत दो हैं एक मुनियों का और दूसरा भक्तों का; इससे भी अविरत शब्द का अर्थ आशक स्पष्ट होता है। जब भक्त-प्रतिज्ञा के योग्य मुनि और भक्त दो हैं तब लिंग भी दोनों के जुड़े जुड़े होने चाहिये। लिंग भी भक्त प्रत्याख्यान की एक सामग्री है उसके बिना भक्त प्रत्याख्यान हो भी नहीं सकता। इस लिये लिंग प्रतिपादन करते हैं कि लिंग के दो भेद हैं। एक औत्सर्गिक निर्द्वन्द्व नम्र लिंग और अपवादिक सचेत मन्त्र लिंग। जिसके पहले से औत्सर्गिक लिंग है उसके सामान्यकाल में बही औत्सर्गिकलिंग होता है। और जिसके पहले से आपवादिक मन्त्र लिंग है यदि उसका मेहन-पुरुष चिन्ह चमरेहितत्व, अतिशीघ्रत्व, स्थूलत्व, बारबार उत्थानशीलत्व आदि दोषों से रहित और अंशकोष भी अति लंबमानतादि दोषों से रहित प्रसन्न है तो उसके भी मरणकाल में औत्सर्गिकलिंग होता है।

उत्सर्गिकलिंगकदस्स लिंगमुत्सर्गियं तयं चेव।

अविवादिचल्लिंगस्स वि पसस्समुचसर्गियं लिंगं ॥७७

दोनों लिंगों का अर्थ यह है कि सब तरह के परिग्रहों के त्याग का नाम औत्सर्गिक है, जिसमें ब्रह्म पात्र आदि नहीं हैं। अपवाद नाम परिग्रह का है

उस परिग्रह से युक्त लिंग का नाम अपवादिक लिंग है। जो वस्त्र पात्र आदि से युक्त होता है। इसपर से पाठक चोंकें नहीं कि यह क्या बात कह दी गई। इसका स्पष्टीकरण आगे आचार्य स्वयं करेंगे। यहां पर एक खास बात विचारणीय है कि अपवादलिंग वाले को औत्सर्गिकलिंग देना क्यों कहा गया जबकि दोनों से एक ही कार्य हो सकता है। औत्सर्गिक लिंग में ऐसी कौन सी कसबात है जो मरते हुए को भी वह दिया जाय। इसमें मालूम होता है कि ऐसी कोई बात जरूर है जो अपवादिक लिंग से नहीं मिलती है, अन्यथा औत्सर्गिकलिंग की आवश्यकता ही नहीं रहती है। और भी देखिये—जिमके उक्त त्रिस्थानिक अर्थात् लिंग और दोनों कोशों में ऐसा दोष है जो औपध आदि में भी दूर नहीं किया जा सकता वह भी वसतिका के भीतर संस्कारोद्देश फल में अचेलना लक्षण औत्सर्गिकलिंग ग्रहण करे ही। यथा—

जस्स वि अर्वाभिचारी शोभो निह्वाणगो विहारम्मि ।
सो वि हु संधारगदो गणहंजोस्सुमिग्यं लिंगं ॥७८॥

जो उक्त त्रिदोषों के कारण जन्मभर औत्सर्गिक लिंग धारण नहीं कर सकता उस भी मरणकाल में बाहर नहीं, वसतिका में औत्सर्गिक लिंग दिये जाने का विधान कोई अभूतपूर्व बातका कहता है, अन्यथा औत्सर्गिक लिंग की आवश्यकता ही क्या है जब कि अपवादलिंग से ही नवमैवेयिकादिक की और मुक्ति की प्राप्ति हो सकती है। तथा जो महडिक है, लज्जावान है, जिसके बन्धुवर्ग मिथ्यामतानुयायी हैं, उसके अयोग्य अविधिक वसतिका में मरणकाल में अपवादिक अर्थात् सचेत लिंग होता है। यथा—

आवसचे वा अप्पाउमो जो वा महडियो हिरिमं ।

मिन्जजये सजये वा तस्स होज्ज अववाा वं लिंगं ॥

यह अपवादलिंग क्या है ? यह है, कौपीनमात्र, या खंडवस्त्र रूप उत्कृष्ट भावकल्लिम। इससे यह न समझ लेना चाहिये कि इस अपवादिक लिंग से औत्सर्गिकलिंग के कार्य का सम्पादन हो जाता है, यदि ऐसा होता तो औत्सर्गिक लिंग की आवश्यकता ही नहीं रहती है। यह एक विवशता है जिसके कारण ऐसे व्यक्तियों के लिये अपवादिकलिंग कहना पड़ा है। यदि अपवादलिंगमें यह गुण होता तो इन्हें ही क्यों ? औरों को भी दिया जाता। अपवाद लिंग-धारी कौन होते हैं यह उक्त गाथा नं० ७६ से स्पष्ट हो जाता है।

आचार्य शिवकोटि ने औत्सर्गिकलिंग के चार विकल्प कहे हैं—एक आचेलकय, दूसरा लोच, तीसरा व्युत्सृष्ट शरीरता, और चौथा प्रतिलेखन। यथा—
अरुचेलक्कं लोचो बोसट्टुशरीरदा य पांइलहणं ।

एसो हु लिंगकप्पो चटुव्विहो होदि उसमो ॥८०॥

हां, स्त्रियां २६ गई हैं उनके भी मरणकाल में कौन सा लिंग होता है सुनिचे—स्त्रियों के अर्थात् आर्यिकाओं के और भाविकाओं के जो कि मरण-काल में परिग्रह कम करना चाहती हैं उनके भी आगम में औत्सर्गिक लिंग होता है। यथा—

इत्थो वि य जं लिंगं दिट्ठं उस्सामिग्यं व इदं वा ।
तं तह होदि हु लिंगं परित्तमुववि करंतोप ॥८१॥

टीकाकार श्री शब्द का अर्थ तपस्विनी और इतर शब्द का अर्थ भाविका करते हैं और कहते हैं कि जो स्त्रियां महडिक हैं, लज्जावती हैं और मिथ्या-दृष्टि जिनके बन्धुवर्ग हैं उनके प्राक्तन अपवादलिंग ही होता है, इनके अलावा औरों के मरणकाल में वह भी वसतिका में औत्सर्गिक लिंग भी होता है।

परिचयप्रवर आराधन भी भी कहते हैं—

यदोत्सर्गिकमन्मः । लिंगं दृष्टं क्षियाः भ्रते ।

पुंर्वत्तद्विद्यते मृत्युक्कले स्वल्पीकृतोपचेः ॥

अब औत्सर्गिक लिंग के गुण सुनिये, जो भगवती आराधना के कर्ता शिवकोटि के द्वारा कहे गये हैं। लिंग ग्रहण में ये गुण हैं—पहला गुण है—यात्रासाधन चिन्हकरण, इसको टीकाकार इन शब्दों में स्पष्ट करते हैं कि यात्रा नाम शरीर की स्थिति का कारण भूत भोजन—क्रिया है उसका साधन चिन्ह यह लिंग है, क्योंकि गृहस्थवेप में स्थित गुणी है इस प्रकार सब जगत्ता के द्वारा जाना नहीं जा सकता। जो लोग गुण विशेष नहीं जान सकते वे दान नहीं देते, इससे शरीर की स्थिति नहीं रह सकती, शरीर-स्थिति के न होने पर रत्नत्रय-भावना का प्रकर्ष क्रम से बढ़ेगा नहीं, रत्नत्रय की भावना के बढ़े बिना मुक्ति नहीं हो सकती, तब अभिलाषित कार्य की सिद्धि ही न होगी, इस लिये गुणवत्ता का सूचन करने वाला नर्मलिंग है, उससे दानादिक की परम्परा बनी रहने से कार्य की सिद्धि होती है। यह भाव यात्रा-साधन चिन्हकरण पद का है। अथवा यात्रा शब्द का अर्थ गति है। जैसे—देवदत्त का यह यात्रा-काज है—गमन का समय है। गति सामान्य बचन होने से भी यह यात्रा शब्द शिवगति इस अर्थ में हो बनता है जैसे दारक अर्थात् लड़के को तू देखता है, यहां लड़का सामान्य होते हुए भी अपना लड़का सिद्ध होता है, यात्रा अर्थात् मोक्ष गति का साधन जो रत्नत्रय उसका चिन्ह यह नर्मलिंग है। दूसरा गुण है 'जगत्प्रत्यय' इस लिंग पर जगत् के जीवों को ब्रह्मा होती है, 'सकलसंग-परिहारी मागों मुक्तैरित्यत्र भक्त्यानां भक्तां जनवति' अर्थात् सम्पूर्ण परिग्रह का

त्याग मुक्ति का मार्ग है। ऐसी इस लिंग में भक्त-जीवों के ब्रह्मा उत्पन्न होती है। तीसरा गुण है—'आत्म-नित्यतिकरण' अर्थात् मुक्तिमार्ग में अस्थिर अपनी आत्मा को स्थिर यह लिंग करता है कि 'कि मम परित्यक्तवसनस्य रागेण, रोषेण, मानेन, मायया लोभेन वा, वसनामेसराः सर्वा लोके अलंक्रियाः तरुच निरस्तं, अर्थात् मेरे वस्त्रपरित्यागी के राग से, रोष से, मान से, माया से अथवा लोभ से क्या प्रयोजन है, लोक में सब अलंकार क्रिया वस्त्रपरिधान पूर्वक है उसका तो मैंने त्याग कर ही दिया है, इस तरह वह अपनी आत्मा को नर्मलिंग में स्थिर करता है। चौथा गुण है 'गृहिभावविवेक' अर्थात् नाम्यलिंग अपने को गृहस्थभाव से जुदा दिखलाता है। नाम्यलिंग के बिना गृहस्थपने से जुदा नहीं होता, इससे ज्ञात होता है कि नाम्यलिंग का न होना गृहस्थपना है। इस तरह आचलक्यलिंग में यह चार गुण हैं। यथा—

जनासाधणचिह्नकरणं नृ जगपकचयादृष्टिदिकरणं ।
गृहिभावविवेको च य लिंगमाहणे गुणा इति ॥८२

और भी देखिये—लिंग ग्रहण में पांचवां गुण परिग्रह त्याग लघुता है, परिग्रहवान् हृदय पर आरोपित की गई शिक्षा के समान भारी होता है, इस परिग्रह की मैं अन्य और आदि से कैसे रक्षा करूं इस प्रकार दुर्धरचित्त में उत्पन्न हुई स्नेह के दूर हो जाने से लघुता होती है। छठा गुण अप्रतिलेखन* है अर्थात् वस्त्र-रहित लिंगधारी को केवल पिच्छका का शोधन करना पड़ता है। सातवां गुण परिकर्मे

* वसनसाहचर्यलिंगधारिणो हि वस्त्रलघुतादिकं शोधनीयं महन् । इतरस्य पिच्छादिमात्रं ।

विवर्जन+ है। अर्थात् मांगना, खींच, मुलाना, धोना आदि अनेक व्यापार बलभरी करता है जोकि बल परिचारेण ध्यान स्वाध्याय में विघ्नकारी है, अचेल के वह उस तरह का नहीं है। आठवां गुण भयरहिता है—भय से व्याकुल चित होने से रत्न-त्रय की घटना में उद्योग नहीं होता। बल सहित मुनि बलों में जूँ, लीक आदि सम्मुखर्जन जीवों का परिहार करने के लिये प्रसन्न होता है। और अचेल तो उनका परिहार कर देता है इस प्रकार लिग ग्रहण में संसर्जन परिहार नाम का नौवां गुण* है। यथा—

गंधच्छाब्दो जाघवमप्यहिलिहणं च गदभयत्तं च ।
संसर्जणपरिहारो परिकम्माविषज्जणा चेव ॥८४॥

तथा अचेलतात्मक रूप जीवों को विरहाम* उत्पन्न करने वाला है, ये परिग्रह रहित मुनि कोई वस्तु ग्रहण नहीं करते और न दूसरों का घात करने वाले गुप्त राक्षों का ग्रहण ही इन साधुजन के पास संभावित हो सकता है और न इन विरूप मुनियों में हमारी क्षियां राग भावानुबन्ध करती हैं इस प्रकार का विरवास होता है। विषय—जन्तु शारीरिक सुखों में अनादर नाम का ग्यारहवां गुण होता है। संबंध आत्मवशता नाम का बारहवां गुण होता है क्योंकि निर्बेसन मुनि रुब जगह इच्छानुसार बैठता

+ याचनसीवनशोषणप्रक्षालनार्द्रनेत्रको व्यापारः
स्वाध्यायध्यानविघ्नकारी, अचेलस्य तत्र तथेति

* सबसने यतिर्वक्षेपु युक्तालिपादिसं-च्छेदनजीव-
परिहारं विधातुं नाहेति अचेलस्तु तं परिहरति ।

—विजयोदया

* विश्वासकारि जनानां रूपं अचेलतात्मकं ।

—विजयोदया

है, चलताहै, और चोताहै। नमस्किं ग्रहणमें तेरहवां गुण है परिग्रह अधिवासना*। क्योंकि नम्र मुनि के शीत, उष्ण, दशमराक आदि परिग्रहों का जीतना युक्त होता है। बलाच्छादन वाले के शीत आदि की बाधा नहीं होती जिससे उसके शीतादि के सहन रूप परिग्रह का जय हो। यथा—

विरसासकरं रूपं अणादरो विसयवेहसुक्खेसु ।

सम्बत्थ अप्पवससो परिसह अधिवासणा चेव ॥८५॥

तथा यह अचेललिग जिन भगवान का है रूप प्रतिबिम्ब है, दे मुमुक्षु जिनेन्द्र मुक्तिका उपाय जानने वाले हैं, जो लिग उनसे ग्रहण किया था वही मुक्ति चहीताओं के योग्य है यह अभिप्राय यहां पर है। जो विवेकवान जिस बात को चाहने वाला है वह उस बात की प्राप्ति का अनुपाय स्वीकार नहीं करता है, जैसे घट चाहने वाला तंतु आदि को ग्रहण नहीं करता। मुक्ति का चाहने वाला है मुनि, इस लिये वह चेल अर्थात् बल ग्रहण नहीं करता है। क्योंकि बल मुक्ति का उपाय नहीं है। जो अपने अभीष्ट का उपाय है उसी को वह नियम से ग्रहण करता है, जैसे कुम्हार चाक आदि को। उस प्रकार मुनि भी मुक्तिकी उपायभूत अचेलता को ग्रहण करता है। क्योंकि जिस तरह कानाचार और दरांगाचार जिनेन्द्रों का आचरण है उसी प्रकार अचेलता भी जिनेन्द्रों का

* शीतोष्णदशमराकविपरिग्रहजयो मुच्यते मन्त्रस्य,
वसनाच्छादनवतो न शीतादि-बाधा येन सत्सहन-
परिग्रहजयः स्यात् । तथा अचेलशीतोष्णदश-
मराकपरिग्रहसहनमिह कथितं भवति । सचे-
लस्य हि समाचरणस्य न तादृशी शीतोष्णदशम-
मराकजनित पीडा यथा अचेलस्येति मन्त्र्यते ।

—विजयोदया

टीकाकार अपराजितसूरि निन्दा-गद्गां को इन शब्दों में स्पष्ट करते हैं—“सकलपरिमहत्यागो मुक्ते-मार्गां मया तु पातकेन बलपात्रादिकःपरिमहः परिषह-भीक्ष्णा गृहीत इत्यन्तःसन्त्यापो निन्दा । गद्गां परेषां एवं कथनं” अर्थात् सम्पूर्ण परिमह का त्याग मुक्ति

का मार्ग है। मुक्त परीपद-भीरु पापी ने बस पात्र आदि परिग्रह ग्रहण कर रखा है। इस प्रकार अपने मनमें सन्ताप करना तो निम्ना है और ऐसा ही दूसरों को कहना सो गह्रा है।

अब पाठक सोचिये—यदि अपवादलिंगमें मुक्ति प्राप्ति रूप गुण होता तो मूल कर्ता शिवाय क्यों उस की निम्ना-गह्रा का विधान करते और विजयाचार्य क्यों उसे स्पष्ट करते। अब परिग्रह से मुक्ति हो सकती है तो स्वयं शिवाय उसका त्याग तो क्यों कराते हैं और नभता का इतना ऊँचा गुणगान करते हुए उसे मुक्ति का उपाय क्यों मानते हैं।

भगवतीकार यों तो महर्षिक आदि मनुष्यों को और स्त्रियों को अपवाद लिंग धारण करने का और मरणकाल में उन्हें उत्सर्गलिंग प्रदान करनेका विधान कर गये हैं। तथा सामान्यतः अविरत अर्थात् आबकों के अपवादलिंग का विधान भी कर गये हैं परन्तु सीधे शब्दों में उनका नाम ग्रहण नहीं कर रहे हैं। टीकाकार भी प्रायः प्रायः उनके अनुगता प्रतीत हो रहे हैं, हाँ, 'तपस्विनीनां' और आधिकार्य इन पदों का प्रयोग वे अवश्य करते हैं। इससे यह मालूम होता है कि अपवादलिंगधारी तपस्विनीणां और उत्कृष्ट आधिकार्य होती हैं। इससे अपवादलिंग के दो भेद सूचित हो जाते हैं। अब उत्कृष्ट आधिकार्य अपवादलिंग धारिणी हैं तब उत्कृष्ट आबक भी अनुक्त सिद्ध हो जाते हैं। इससे यह तात्पर्य निकल आता है कि उत्सर्गलिंग के धारी मुनि होते हैं तथा अपवादलिंग के धारी उत्कृष्ट आबक, आधिकार्य और आधिकार्य होती हैं। इस तरह अपवादलिंग के दो भेद हो जाते हैं एक उत्कृष्ट आबक लिंग और दूसरा आधिकार्य लिंग। भगवती का यह उद्देश्य कुंठक

देव के उपदेश का ही अनुसरण करता है। कुन्ठक देव कहते हैं—एक लिंग तो जिनेन्द्र का नमन रूप है, दूसरा उत्कृष्ट आबकों का रूप और तीसरा आधिकार्य का रूप। इन तीन लिंगों को छोड़ कर जिन धरान में चौथा लिंग नहीं है। यथा—

एवं जियस्स रुवं बीयं उज्झिदुसावयाणं तु।

अवरद्वियाणं तइयं चउत्थं पुणल्लिगं ईसरोयण्वि तव वताइये मुक्ति पट्टुचाने वाला बखधारी चौथा लिंग कहाँ से कूट पड़ा। भगवतीकार उत्सर्ग और अपवाद ऐसे दो लिंग कहते हैं और उन्हीं के शब्दों में अपवादलिंग के दो भेद भी सिद्ध होते हैं। कुन्ठ-कुन्ठदेव उत्सर्ग और अपवाद भेद न कर उन्हीं के जिनलिंग, उत्कृष्ट आबकलिंग और आधिकार्यलिंग ऐसे तीन भेद कर देते हैं। दोनों आचार्यों का उपदेश बचन-भंगो को छोड़कर परस्पर में कौन सा विरोध प्रदर्शित कर रहा है। इनमें सिर्फ शब्द-भेद है अर्थ-भेद कुछ है ही नहीं।

भगवती आराधना के अपवादलिंग को मुनियोंका लिंग समझ लेना और उसका अर्थ बखधारी मुनि भी मुक्ति के अधिकारी होते हैं ऐसा समझ लेना भगवती आराधना के तात्पर्य को न समझने के सिवा कोई सास तथ्य नहीं रहता है।

तत्त्वार्थसूत्रकार बार्हस्परीपदों का नामोल्लेख करते हैं, उनमें वे नाम्य परीपद का सहन कर रहे हैं। बखधारी मुनि इस परीपदको क्या साक सहन करेगा और शीत, उष्ण, दंशमराक परीपदों का सहन भी दूरोत्तरित हो जायगा, ऐसी हालत में बार्हस्परीपदों के सहन का विधान केवल किलौना ही साबित होगा। और, भगवती आराधना के अनुसार भी न तो मुनियों के लिये अपवादलिंग है और

न उससे मुक्ति ही होती है वह उसके उक्त-विवेचन से सुस्पष्ट है। प्रमाण तो भगवती आराधना के और भी बहुत हैं, उन्हें यहां न देकर इस पहले तर्क की यहां अन्त्येष्टि किये देते हैं।

दूसरा तर्क भी मुनियों के बल में या संप्रथलिंग से मुक्ति पहुँचाने में सहायक नहीं है उस में आप लिखते हैं—

२—“तत्त्वार्थसूत्र में पांच प्रकार के निर्ग्रन्थों का निर्देश किया गया है जिनका विशेष स्वरूप सर्वाथ-सिद्धि व राजवार्तिक टीका में समझाया गया है। (देखो अध्याय ६ सूत्र ४६-४७) इसके अनुसार कहीं भी वस्तुत्याग अनिवार्य नहीं पाया जाता। बल्कि बहुरा निर्ग्रन्थ तो शरीर संस्कार के विशेष अनुवर्ती कहे गये हैं।”

यह दोषा विधि के न जानने का प्रतिफल है जो व्यक्ति दोषा ग्रहण करना चाहता है वह घर, परिवार आदि को त्याग कर आचार्य के पास जाता है, उन्हें नमस्कार कर दोषा देने की प्रार्थना करता है, आचार्य उसे शीघ्रायोग्य समझकर उसे स्वीकार करते हैं, वहां वह यथाजात रूप को अर्थात् नमस्त्व को धारण करता है, बाह्य और आन्तरिकलिंग या द्रव्यलिंग और भावलिंग ऐसे दो लिंग उसके होते हैं। द्रव्यलिंग में पांच बावें होती हैं। एक यथाजातरूप अर्थात् नम्र होना, बाह्य का उत्पादन करना अर्थात् झोच करना, सर्वसम्बन्ध योग से रहित शुद्ध होना, हिंसादिक से रहित होना और अमतिकर्म अर्थात् शरीर संस्कार न करना। इसी प्रकार भावलिंग से भी पांच बावें होती हैं, मूर्खा और आरम्भ से रहित होना, उपयोग और योग से युक्त होना और परद्रव्य की अपेक्षा से रहित होना। यह दोनों प्रकार का

जैन लिंग मोक्ष का कारण है। इस प्रकार गुरुमन्त्राद्वयभाव दोनों लिंग धारण कर वह अठ सहित प्रतिक्रमण क्रिया को सुनकर अमण मुनि होता है।

यथा—

आदिच्छ बंधुबन्धं विमोचिदो गुह-कलत-पुत्तेहि ।
आसिञ्ज ख्यादसखचरित्तववीरियाचारं ॥२॥
समयं गणि गुणहं; कुसलवयोविसिद्धमिद्वर ।
समयेहि तं पि पयदो पडिच्छ मं चेदि अयुगहिदो
ख्यादं होमि परेसि ए मे परे एत्थि मग्गमिह किंचि
इदि एत्थिच्छदो ज्विदो जादो ज्व जादरुवधरो ॥४॥
ज्वजादरुवजादं उपडिदंकेसमंमुणं सुद्धं ।
रहिदं हिंसादोदो अप्पाडिक्कमं इवदि लिंगं ॥५॥
मुक्कज्जरंअविमुक्कं जुत्तं उपजोगजोग सुद्धिहिं ।
लिंगं ए परावेक्कं अपुण्णभवकरणं जेहहं ॥६॥

आदाय तं ि लिंगं गुरुणा परमेणं तं एमंसिता ।
सोच्छा सबदं किरियं उवट्ठिदो होदि सो ममणो ॥

—प्रवचन चूलिका अ० ३

इन गाथाओं के टीकाकार अमृतचन्द्र सूर और जयसेन सूर का भी मत वही है।

उक्त रीत्या वस्तुत्याग तो वह आरम्भ में ही कर देता है ऐसी हालत में ‘वस्तुत्याग अनिवार्य नहीं पाया जाता’ यह कथन विराष्ट्रवेशावशीकृत है। यदि कहें कि सर्वाथ सिद्धि और राजवार्तिक के अनुसार यह कहा गया है तो भी अयुक्त है, क्योंकि पुत्राकादि पांच मुनि माने गये हैं, वे पांचों ही चारित्र परिणाम के प्रकट और अप्रकट भेद के होने पर भी नैगम संप्रदायियों की अपेक्षा से निर्ग्रन्थ हैं। ग्रन्थ नाम परिग्रह का है, परिग्रह से जो रहित होते हैं वे निर्ग्रन्थ हैं, निर्ग्रन्थ नम्र को कहते हैं। नम्र हुए बिना निर्ग्रन्थ नहीं कहे जा सकते। जब वे निर्ग्रन्थ

हैं तो बलवत्कामपूर्वक नम्र भी हैं। इस तरह स्वयं कर्त्तव्य-तन्त्र पर से ही बलवत्काम अनिवार्य है, सर्वाथ सिद्धि और राजकार्तिक कर्त्तव्यसूत्र की ही तो टीका है, वह मूल से बिगड़ तो जावगी ही नहीं। फिर भी धुनिये वह टीका किस आशय को पुष्ट करती है—

आचार्य कहते हैं—‘त एते पंच निर्मन्थाः’ अर्थात् वे पांच निर्मन्थ हैं इस पर से कोई कहता है जैसे—गृहस्थ चारित्र के भेद से ‘निर्मन्थ’ इस नाम का धारक नहीं होता है उसी तरह पुलाकादिक भी चारित्र के प्रकृष्ट अप्रकृष्ट और मध्यमभेद से निर्मन्थ नहीं हो सकते। आचार्य उत्तर देते हैं—वह दोष नहीं है, क्योंकि जिस तरह चारित्र अध्ययन आदि के भेद से भिन्न होते हुए भी सब ब्राह्मणों में जाति की अपेक्षा से ब्राह्मण शब्द पाया जाता है उसी तरह प्रकृष्ट अप्रकृष्ट और मध्यम चारित्र भेद के होने हुए भी पांचों में निर्मन्थ शब्द पाया जाता है। तथा मध्य-गदर्शन और भूषा, वेष, और आयुष इनसे रहित निर्मन्थरूप सामान्यतया सब पुलाकादिकों में पाया जाता है इस लिये पांचों पुलाकादिकों में निर्मन्थ शब्द युक्त है। फिर नंका करता है कि यदि अपरिपूर्ण व्रत में भी निर्मन्थ शब्द रहता है तो आशय में अपरिपूर्ण व्रत है इस लिये उसमें भी निर्मन्थ शब्द होना चाहिये अर्थात् भग्नव्रत वालों को निर्मन्थ कह सकते हैं तो आशय को भी निर्मन्थ कहना चाहिये। उत्तर देते हैं—वह कोई दोष नहीं है क्योंकि आशय में ‘रूप’ का अभाव है, हमें यहाँ निर्मन्थ रूप प्रमाण है आशय में निर्मन्थ नम्र रूप नहीं है इस लिये मात्रक निर्मन्थ नहीं कहा जाता। फिर वह शंका करता है कि यदि नम्ररूप प्रमाण है तो अन्य समान रूप

अर्थात् नम्र में निर्मन्थ व्यपदेशा प्राप्त होता है। आचार्य कहते हैं नहीं होता, क्यों? उसमें सम्यग्दर्शन का अभाव है, सम्यग्दर्शन के साथ साथ जिसमें नम्र रूप है उसमें निर्मन्थ नाम पाया जाता है, रूपमात्र अर्थात् केवल नम्र में निर्मन्थ व्यपदेशा नहीं पाया जाता। यथा—

कश्चिदाह—.....यथा गृहस्थचारित्र—मेवा निर्मन्थव्यपदेशाभागे न भवति तथा पुलाकादीनामपि प्रकृष्टाप्रकृष्टमध्यमचारित्रभेदाभिर्मन्थत्वं नोपपद्यते। न वैप दोषः, कुतः.....यथा जात्या चारित्रा-ध्ववनानिभेदेन भिन्नेषु ब्राह्मणशब्दो वर्तते तथा निर्मन्थशब्दोऽपि। किं च—सम्यग्दर्शनं निर्मन्थरूपं च भूषादेशायुषविरहितं तत्सामान्ययोगात्सर्वेषु हि पुलाकादिषु निर्मन्थशब्दो युक्तः। यदि भग्नव्रतेऽपि निर्मन्थशब्दो वर्तते आशयकेऽपि स्यादित्यात्मसंगो नैव दोषः कुतो रूपाभावात्, निर्मन्थरूपमत्र नः प्रमाणं न च आशयकं तदस्तीति नातिप्रसंगः। स्यादेतत्, यथा रूपं प्रमाणं अन्यस्मिन्नपि स्वरूपे निर्मन्थव्यपदेशाः प्राप्नोमीति तत्र, किं कारणं? दृष्ट्यभावात्, दृष्ट्या सह यत्र रूपं तत्र निर्मन्थ-व्यपदेशाः, न रूपमात्रे, इति।

—राजकार्तिक पे० ३५८

पाठक अचलंकदेव के एक वक्तव्य पर गौर कीजिये वे पांचों पुलाकादिकों को सम्यग्दर्शन और निर्मन्थ रूप से युक्त मानते हैं, ब्रह्मपारी आशयों को वे निर्मन्थ नहीं मानते, चाहे कीचीनमात्र-धारी उत्कृष्ट आशय हो क्यों न हो। फिर धोती, दुपट्टे, कम्बल पहनने और धोड़ने वालों की बात तो बड़ी दूर जा पड़ती है। निर्मन्थ की व्याख्या भी वे भूषा, वेषा, आयुष रहित करते हैं। इससे सिद्ध होता है कि

पुलाकादि पांचों निर्ग्रन्थ, भूषा अर्थात् आभूषणोंसे, वेप अर्थात् वस्त्रों से आयुध अर्थात् दंडे आदि से रहित नग्न हैं। ओह! फिर भी प्रोफेसर जी कहते हैं सर्वाथविहित व राजवार्तिक टीका के अनुसार वही भी वस्त्रत्याग अनिवार्य नहीं पाया जाता। किन्तु बड़ी डबल झूठ है, यदि हम इस झूठ को 'गप्पाट्टक' कह डालें तो भी कोई हर्ज नहीं होगा। आचार्य विद्यानन्दी तो स्पष्ट शब्दों में निर्ग्रन्थ शब्द का अर्थ यथाज्ञात भूषा, वेपायुध से रहित करते हैं। यथा—

निर्ग्रन्थरूपं हि यथा-ज्ञात-रूपमसंस्कृतं
भूषावेशायुधविरहितं ।

—श्लोकवार्तिक पे० ५०७

भगवान् अकलकदेव और विद्यानन्दी की यह मान्यता गौतम मान्यता के बिल्कुल नहीं है। चैत्यभक्ति में वे कहते हैं :—

हे भगवान् ! आपका रूप रागभाव का उदय न होने से आभरण रहित हुए भी भासुर अर्थात् ऊँची शोभा को लिये हुए है। आपका स्वाभाविक रूप निर्दोष है इस लिये वस्त्ररहित होते हुए भी मनोहर है आपका यह रूप न तो औरों के द्वारा हिस्य है और न औरों का हिसक है, इस लिये आयुध रहित होने पर भी अत्यन्त निर्भय स्वरूप है। तथा नाना प्रकार की अल्पिपासादि वेदनाओं के बिनाश हो जाने से आहार न करते हुए भी वृत्तिमान है। यथा—

निराभरणभासुरं विगतरागवेगोदया-

जिह्वरमनोहरं प्रकृतरूप-निर्दोषतः ।

निरायुधमुनिर्भवं विगतहिस्यहिंसाक्रमा-

जिरामपः क्षुत्तिमद्विषयवेदनानां कृषात् ॥३२॥

इस जन्म में जिनेश्वर का रूप आभरण रहित वस्त्र-रहित और आयुध-रहित कहा गया है। पर एक गजब और हो गया इसी जन्म में भगवान् कलहाहार से विरहित कह दिये गये हैं। गणधर देव ने भगवत्प्रतिमा का रूप भी इस प्रकार लिखा है।

विगतायुधविक्रियाविभूषाः,

प्रकृतिस्थाः कृतिनां जिनेश्वराणां ।

प्रतिमाः प्रतिमागृहेषु कान्त्या-

प्रतिमाः कलमचराण्यन्तश्चऽभिवन्दे ॥१३॥

अर्थात् आयुध, विकार और आभूषण से रहित अपने स्वाभाविक स्वरूप में स्थित, कान्तिकर अतुल्य ऐसी कृतकृत्य जिनेश्वरों की चत्सालों में विराजमान प्रतिमाओं की मैं गौतम वन्दना करता हूँ।

जैसा जिनेश्वर का रूप और जैसा उनकी प्रतिमा का रूप है, वैसाही उनके शिष्य-प्रशिष्यों का भी होना ही चाहिये इसमें आश्चर्य जैसी कोई बात ही नहीं है। अतएव—

णिमांधो जिणवसहो णिमांधं पववणं कयं तेण ।

तस्माणुममाज्जमा सव्वे णिमांधं महरिसिणो ॥१३४

—भावसंग्रह

निर्ग्रन्थ जिनेश्वर ने निर्ग्रन्थ ही प्रवचन कहा है, उनके मार्ग में लगे हुए सब महर्षि भी निर्ग्रन्थ हैं। अर्थात् भूषा, वेप आयुधत्यागी हैं। मल्लिकार्जुन तीर्थंकर का रूप तो खी का और उसकी प्रतिमा पुरुष की ऐसा विगम्बर सम्प्रदाय में नहीं है।

'बकुरा निर्ग्रन्थ तो शरीर संस्कार के विशेष अनुवर्ती कहे गये हैं' इसका भी उत्तर सुनिये—'बकुरा का लक्षण प्रतिपादक भाष्यमें नैर्ग्रन्थ्यं प्रस्थिताः' कहा गया है। इससे मालूम होता है कि बकुरा मुनि भी निर्ग्रन्थ यथाज्ञातरूप नग्न होते हैं। ऐसी दाकत में

शरीर संस्कार का अर्थ 'वे अच्छे, अच्छे बलों से शरीर नहीं सजाते हैं।' शरीर संस्कार का अर्थ 'बख-
-^{पुष्टि}समक लेना अच्छम्य भूल है, शरीरसंस्कार में तो वे निम्न बातें कही गई हैं—जल से स्नान करना, घृत तैल आदि से मालिश करना, नाना सुगन्धित पदार्थों से उबटन करना, नख, केरा, दाढ़ी, मूँछ का संस्कार अर्थात् उनको घिसना, स्निग्ध करना आदि, दांत, ओठ, कर्ण, नासिका, आँखें और भ्रू इनका यथा सम्भव संस्कार करना इत्यादि शरीर-संस्कार है उसका तो उनके व्युत्पृष्ट-शरीरता नाम के लिंग विकल्प से ही त्याग होता है, इनमें से यदि किसी को वे चाहते भी हों तो भी बख-परिधारण अर्थ तो शरीर संस्कार का हो ही नहीं सकता। यथा—

सिण्हाणन्धगुण्वट्टणाणि एह केसमंसु संठप्पं ।
दंतोद्धरणमुहणसियच्चिद्ध भभुहाडं संठप्पं ॥६३॥
बज्जेज्जं बंधकारी गंधं मरुत्तं च धूववासं च ।
संवाहणपरिमहणपिण्णदण्णदीणि य विमुत्तो ॥६४॥
जल्लविल्लितो देहो लुक्खो लोमकदवियड्ढवीभत्थो ।
ओ रुट्ठ एक्खल्लोमो सा गुत्तो बंधचेरस्स ॥६५॥

—भगवतो आराधना

औत्सर्गिकलिंग का नीसरा विकल्प व्युत्पृष्ट शरीरता है जिसका अर्थ है तीनों गाथाओं में कहे हुए संस्कार का त्याग ।

मुहणक्खण्णदंतथोवण्णन्धवट्टणपादधोयणं चैव ।
संवाहणपरिमहण सरीरसंठावणं सव्वं ॥७१॥
धूवण वमण विदेयण अंजण अठ्ठंगं लेवणं चैव ।
एत्थुव वत्थियक्कमं निरवेक्कं अप्पणो सव्वं ॥७३॥

—मूलाचार अनंगार भावना

शरीर उपकरण विभूषानुवर्ती बहुरा मुनि कहे

गये हैं। यह बात ठीक है। यहाँ विभूषा का अर्थ बखामूषण नहीं है और न उपकरण का अर्थ पात्र है। शरीर उनके है ही, कमंडलु और पिच्छी आदि उपकरणों का ही विधान है। इसलिये स्नान न करना मालिश न करना, उबटन न लगाना, यह तो उनके अस्नान नाम मूल गुण है सो तो वे करते ही नहीं हैं नखादिक का संस्कार रोप रह जाता है। सम्भव है इनमें से किसी का सौन्दर्य वे चाहते हों, इसी तरह पिच्छी कमंडलु आदि के सौन्दर्य के भी वे अनुवर्ती हों। इसके सिवा शरीर विभूषानुवर्ती और उपकरण विभूषानुवर्ती का और कोई अर्थ हो नहीं सकता। क्योंकि 'असंखितमताः' यह एक विशेषण भी उनका है। इससे मात्तम होता है कि उनके मूल गुण असंखित होते हैं और उत्तर गुण होते नहीं हैं। सम्भव है उत्तर गुणों के न होने से वे उक्त शरीर—विभूषानुवर्ती हों। परन्तु इस का अर्थ 'निर्ग्रन्थ्यं प्रस्थिताः' इसके अनुसार बखपरिधारण नहीं हो सकता, अन्यथा वे निर्ग्रन्थ नहीं कहे जा सकते। फटे-टूटे, मैले-कुचैले बख को पहनते हुए भी कम से कम १० जैन मुनि तो निर्ग्रन्थ कहे नहीं जाते। हां, उक्त प्रकार के बख बांते चाहे नग्न मानते हों तो मान लें परन्तु दिगम्बरजैन सम्प्रदाय में तो ऐमें बखोंका विधान भी मुनियोंके लिये आगममें है। वस, इसे यही रहने दीजिये, आगे चलिये—

आप लिखते हैं 'यद्यपि प्रतिसेवना कुशील ७ मूल गुणों की विराधना न होने का उल्लेख किया है तथापि द्रव्यलिंग से पांचों ही निग्रन्थों में विकल्प स्वीकार किया गया है "भावलिंग प्रतीत्य पंच निर्ग्रन्था लिंगिनो भवन्ति द्रव्यलिंगं प्रतीत्य भाग्यः (व० सू० ६, ४७ स० सि०) इसका टीकाकारों ने

यही अर्थ किया है कि कभी कभी मुनि ब्रह्म भी धारण कर सकते हैं।”

जैसे किंग दो तरह का होता है द्रव्यकिंग और भावकिंग, वैसे ही संजम भी दो तरह का होता है द्रव्यसंजम और भावसंजम, इसी तरह महाश्रुत भी दो तरह के होते हैं द्रव्य महाश्रुत और भावमहाश्रुत। द्रव्य का बाह्य पदार्थों से सम्बन्ध है और भाव का अन्तरंग परिणामों से सम्बन्ध है। ब्रह्मादि बाह्य पदार्थों का त्याग सो द्रव्यकिंग और सर्वविरति रूप परिणामों का होना भावकिंग है। इसी तरह द्रव्यसंजम में और द्रव्यमहाश्रुत में भी बाह्य पदार्थों के त्याग की प्रधानता है और भावसंजम और भावमहाश्रुत में विरति रूप परिणामों की मुख्यता है। विरति रूप परिणाम सम्बलन कषाय के उदय से, उपशम से और क्षय से होते हैं। इस लिये सम्बलन कषाय के उदय से, क्षय हुआ विरति परिणामरूप भाव वह भावसंजम या भावमहाश्रुत या भावचारित्र है। द्रव्यकिंग, द्रव्यसंजम, द्रव्यमहाश्रुत द्रव्यचारित्र ये सब प्रायः एक ही अर्थ के वाचक हैं। और भावकिंग, भावसंजम, भावमहाश्रुत, भावचारित्र ये सब भी एक ही अर्थ के वाचक हैं। द्रव्यकिंग आदि तो भावकिंग के बिना भी हो जाते हैं, जैसे द्रव्यकिंगी मुनि के। परन्तु भावकिंग आदि द्रव्यकिंग के बिना होते नहीं हैं, जैसे गृहस्थ के। द्रव्यकिंगी मुनि के मग्नतादि द्रव्यकिंग तो हैं परन्तु सम्बलन के उदय से जायमान विरति रूप परिणाम नहीं है। मतलब यह है कि द्रव्यकिंग के होते हुए भावकिंग हो भी और न भी हो परन्तु भावकिंग के होते हुए द्रव्यकिंग अवश्य ही हो। इसी द्रव्यभावकिंगी के दो दूसरे शब्दों में बाह्य किंग और अन्तरंगकिंग

आदि या व्यवहारकिंग और निवृत्ति किंग आदि कह सकते हैं। द्रव्यकिंग, भावकिंग के साधन हैं। द्रव्यकिंग और भावकिंग का स्वरूप ऊपर कहा ही गया है। द्रव्यसंजम और भावसंजम का स्वरूप भी इस प्रकार कहा गया है।

मत्तों का धारण करना, समितियों का पालना, कषायोंको निग्रह करना, दंडोंका त्यागना और इन्द्रियों को जीतना सो संजम अर्थात् द्रव्यसंजम है। तथा सत्तावन प्रकार के जोषों की हिंसा सो प्राणासंजम है और अष्टाईस प्रकार के इन्द्रियों के विषयों को न त्यागना सो इन्द्रियासंजम है, इनसे जो विरत रूप भाव है वह संजम अर्थात् भावसंजम है।

इसी तरह आगमानुसार द्रव्य महाश्रुत और भावश्रुत का स्वरूप भी जान लेना चाहिये, लेख बढ़ने के भय से नहीं लिखा गया है। तात्पर्य यह है कि द्रव्यकिंग द्रव्यसंजम और द्रव्यमहाश्रुत इन शब्दों में अर्थ भेद के होते हुए भी सब का तात्पर्य एक दूसरे में सज्जित है। तथा भावकिंगी के तो सबत्र चारित्रावरण कषाय के क्षयोपशमादि से जायमान विरतिरूप परिणाम है ही। प्रकृत में पांचों पुलाकादि मुनिषों के द्रव्यकिंग और भावकिंग दोनों हैं। सबके सम्बलन के उदय या क्षयोपशम से उपशम से और क्षय से बाह्य विषयों की निवृत्ति रूप एक परिणाम है इस लिये इस भावकिंग की अपेक्षा पांचों ही पुलाकादिक भावकिंगी हैं। द्रव्यकिंग नाम्ब रूप सबमें एक होते हुए भी बाह्य में भेद है, किसी के उत्तर गुण तो हैं ही नहीं परन्तु कभी कभी मत्तों की परिपूर्णता भी नहीं है, किसी के मत्त परिपूर्ण हैं तो उत्तर गुण नहीं हैं, किसी के मूलमत्त और उत्तरमत्त दोनों हैं परन्तु किसी तरह उत्तर गुणों की विरचन

होती है, इत्यादि द्रव्यलिङ्ग में भेद है इस लिये पुलाक-
कादि पांच द्रव्यलिङ्ग से भाव्य कहे गये हैं। जैसे
संयम, भुत, प्रातः, ना, तीर्थ, लेखा, उपपाद और
संयम स्थान किसी के कुछ हैं तो किसी के कुछ।
इसी तरह भावलिङ्ग तो सामान्यतः एक है परन्तु
बाह्य हिसाबिक का त्याग रूप भ्रतों की अपेक्षा या मूल
गुण या उत्तरगुणों की अपेक्षा से द्रव्यलिङ्ग जुदा २
है, वह जुदापन ऊपर कहा ही गया है उस जुदेपन
रूप द्रव्यलिङ्ग से दे भाज्य है। स्वयं वक्ष परिधारण
जहां पर है वहां भावलिङ्ग से ही स्युति हो जाती है।
भावलिङ्ग ही क्या द्रव्यलिङ्ग भी नहीं रहता है। यदि
किसी ने मुनि पर कपड़ा डाल दिया या पहना दिया
तो यह एक उपसर्ग है, उनने अपनी इच्छा से कपड़ा
परिधारण नहीं किया है इस लिये भावलिङ्ग उनके
तदवस्थ रहता है। कपड़ा पहनना तो दूर रहे मनमें
कपड़ा पहनने की इच्छा होते ही भावलिङ्ग से स्युति
हो जाती है। इस लिये उपसर्गजन्य बात और है
और इच्छा करना या इच्छा से कपड़ा पहन लेना
और है। एक के होते हुए भावसंयम नष्ट नहीं होता
है। और दूसरे के होते हुए भावसंयम नष्ट हो
जाता है, ऐसी द्वावत में पुलाक, बकुश और कुरील
ये संज्ञाएँ ही नहीं रहती हैं।

पुलाकदि संज्ञाएं वज्रादि गुणस्थान और सामा-
यिकादि संयम भावों की हैं। स्वेच्छा से वक्ष परि-
धारण कर लेने पर न वज्रादि संयत स्थान रहते हैं
और न सामायिकादि संयम ही रहते हैं। ध्वाना-
वस्थापन मुनि पर किसी ने वक्ष डाल दिया तो वह
उपसर्ग है, न कि अपवाद। वह तो पराभिबोधजन्य
अवस्था की प्रतिसेवना हो सकती है। पुलाक-बकुश
और कुरील के जो प्रतिसेवना कही गई

है, उसका अर्थ वक्ष-परिधारण करना विगम्बर जैनो-
गम के बाहर की बात है। विचित्र परिग्रह का अर्थ
वक्ष नहीं है। यदि वक्ष अर्थ है तो अकलंकदेव के
उक्त अभिप्राय से विच्छेद जान पड़ता है, यह नहीं हो
सकता कि उसी प्रकरण में तो वे वक्ष त्याग रूप
निर्ग्रन्थ रूप को प्रमाण मानें और उसी प्रकरण में
वक्ष का विधान भी कर दें। आगम के हृदय को न
टटोलकर ऐसे शब्दों को टटोल कर मुनि के वक्ष-
परिधारण का आशय खोजना निषेधबिच्छेद है।
नग्नता आदि विधानों की तरह वक्ष-परिधारण की
कास विधि कही से छूंट के जाना चाहिये। कहने
से काम नहीं चलता, सीधा प्रमाण बताना चाहिये कि
यह मुनियों के लिये कभी कभी वक्ष-परिधारण की
विधि करता है। अन्यथा अपना मतलब सिद्ध
करने के लिये केवल टीकाओं का नाम लेना तो
सरासर धोका देना है। वर्तमान में सर्वाभिसिद्धि,
तत्त्वाधेराजवार्तिक और रत्नोक्तवार्तिक ये तीन टीकाएं
गीताथे और संबिन्ध आचार्यों द्वारा प्रणीत हैं, जो
स्वतः प्रमाण रूप हैं, इन प्रमाणां को प्रमाणांतर की
आवश्यकता नहीं है। इनमें कही वक्ष विधान हो
तो बताना चाहिये। क्योंकि “गीतस्थो संबिन्धो
अत्युपदेसं ए संप्रणिज्जो ह।” वस, इस भी यही
रहने दीजिये—

अब आगे चलिये—“मुक्ति भी सप्रन्थ और
निर्ग्रन्थ दोनों लिङ्गों से कही गई है “निर्ग्रन्थ-
लिङ्गं सप्रन्थ—लिङ्गेन वा सिद्धिर्भवेत्तन्नापेक्षया”
(त० सू० १०, ६ स० सि०) यहां भूतपूर्वनव का
अभिप्राय सिद्ध होने से अनन्तर पूर्व का है।”

यह कमाळ भी तारीफ के योग्य है। क्योंकि
मुक्ति चारों ही गतियों से, पांचों ही ज्ञानों से और

पांचों ही चारित्र्यों से कही गई है। यह देखिये—

“चतसृषु गतिषु जातः सिद्धयति”
 “ज्ञानेन एकेन द्वित्रिचतुर्भिश्च ज्ञानविशेषैः सिद्धिः”
 “चतुर्भिस्तावन् सामान्यकृद्देशोपस्थानासूक्ष्मसांपराय-
 यचत्वात्तच्चारित्र्यैः, पञ्चभिस्तैरेव परिहारविशुद्धिषा-
 रित्राधिकैः।” यह कहेंगे कि इन सब गतियों का, ज्ञानों का और चारित्र्यों का आनन्तर्य नहीं है, आ-
 नन्तर्य सिर्फ मनुष्यगति, केवलज्ञान और यथारूपात्
 चारित्र्य का है और तो सब भूत हैं, बस, यही न्याय
 निर्ग्रन्थ और सप्रग्रन्थ में भी लगा देना युक्तिसंगत है,
 जिस तरह मनुष्यगति, केवलज्ञान और यथारूपात्
 चारित्र्य का सिद्धगति से आनन्तर्य है उसी तरह
 निर्ग्रन्थ का सिद्ध गति से आनन्तर्य है, न कि सप्रग्रन्थ
 का। सप्रग्रन्थ भी तो नरकादि गतिबों, मत्यादि ज्ञानों
 और सामान्यकादि चारित्र्यों की तरह भूत है।
 यथा—“अपरः प्रकारः—लिंगं द्विविधं निग्रन्थलिंगं
 सप्रग्रन्थलिंगं चेत्। तत्र प्रत्युत्पन्नयाभयेण निग्रन्थ-
 लिंगेन सिद्धयति, भूतविषयनयादेशेनष्टेन भजनीयं।”
 अर्थात् दूसरा प्रकार यह है कि लिंग दो तरह का
 होता है निग्रन्थलिंग और सप्रग्रन्थलिंग। उनमें से
 प्रत्युत्पन्नयाभय से निर्ग्रन्थलिंग से सिद्ध होता है,
 भूत विषय नयादेश से तो भजनीय है। निर्ग्रन्थ
 रूप के पहले सप्रग्रन्थ रूप अर्थात् उत्कृष्ट भावक रूप
 हो भी और न भी हो। यद्यपि जब कभी सिद्धि
 होती है तब निर्ग्रन्थलिंग में ही होती है। भजनीयता
 तो भूतपूर्वनय की अपेक्षा से है, न कि प्रत्युत्पन्ननय
 नय की अपेक्षा से। प्रत्युत्पन्न नय में या निग्रन्थपने
 में कोई भजनीयता नहीं है। यदि यहाँ पर भूत-
 पूर्वनयका अभिप्राय सिद्ध होनेसे अनन्तरपूर्व का है तो
 ‘भूतपूर्वगत्या तु द्वाभ्यां त्रिभिश्चतुर्भिश्च ज्ञानविशेषैः

सिद्धिर्भवति” अर्थात् भूतपूर्व गति की अपेक्षासे मति-
 भूत दो ज्ञानों से, मतिभूत अबधि अबधा मतिभूतमन
 पर्यय तीन ज्ञानों और मतिभूत अबधि मनःपर्यय
 चार ज्ञानों से सिद्ध होती है। यहाँ पर भूतपूर्वगति
 का अर्थ सिद्धि होने से अनन्तर पूर्व है या नहीं। यदि
 है तो निर्ग्रन्थलिंग के बिना केवल सप्रग्रन्थलिंग से सिद्धि
 मानी जा रही है उसी तरह केवलज्ञान के बिना भी
 उक्त दो ज्ञानों में, तीन ज्ञानों से और चार ज्ञानों से
 भी सिद्धि माननी पड़ेगी। यदि यहाँ भूतपूर्वनयका
 अभिप्राय सिद्ध होने से अनन्तर पूर्व नहीं है, तो क्यों
 यह नहीं हो सकता कि कहीं तो भूतपूर्व का अर्थ सिद्ध
 होने से अनन्तर पूर्व ले लिया जाय और कहीं न
 लिया जाय। यदि यह कहा जाय कि मत्यादि ज्ञानों
 के साथ भूतपूर्वनय का अभिप्राय सिद्ध होने से
 अनन्तर लिया जायगा तो अनेक दोष आवेंगे, मो ये
 अनेक दोष सप्रग्रन्थ के साथ भी उक्त अर्थ के लेने में
 आवेंगे। अस्तु, जिस तरह मतिज्ञानादि सिद्ध होने
 से अनन्तर पूर्व नहीं हैं, उसी तरह सप्रग्रन्थलिंग भी नहीं
 है। जिस तरह से केवलज्ञान से पूर्व मतिज्ञानादि
 हैं उसी तरह निर्ग्रन्थ में पूर्व सप्रग्रन्थ है, जिस तरह
 भूतपूर्व नय से मतिज्ञानादि और प्रत्युत्पन्न नय से
 केवलज्ञान लिया जाता है, उसी तरह भूतपूर्व-
 नय से सप्रग्रन्थ लिंग और प्रत्युत्पन्न नय से नि-
 ग्रन्थलिंग भी लिया जाता है। बारहवें के अन्त
 में मतिज्ञानवरणादिक के नारा से जिस तरह केवल
 ज्ञान होता है उसी तरह प्रथम या चतुर्थ या पंचम के
 अन्त में सप्रग्रन्थता के नारा से निर्ग्रन्थता उत्पन्न होती
 है या दशवें के अन्त में सोम परिग्रह के विनाश से
 बारहवें के आदि में निर्ग्रन्थता उत्पन्न होती है। इस
 सिद्धे प्रत्युत्पन्ननय से जैसे मनुष्यगति, केवलज्ञान,

व्याख्यात चारित्र से सिद्ध होती है और भूतपूर्वनय से इनसे पहिले जो गति, ज्ञान, चारित्र होते हैं उनसे सिद्ध कही जाती है। उसी तरह अत्यन्तमनय से ही निमग्नलिङ्ग से सिद्ध होती है और भूतपूर्वनय से बारहवें गुणस्थानवर्तनी निमग्नलिङ्ग में पहिले जो छठे से दशवें तक का सम्प्रथ या प्रथम, चतुर्थ पंचम का सम्प्रथ है उसमें सिद्ध कही जाता है। बहुत हो चुका अब द्वितीय तक की ओ यहाँ अन्त्येष्टि की जाती है।

तीसरे तर्क में लिखा गया है—३ “भवलाकार ने प्रमत्तसंयतो का स्वरूप बतलाते हुए जो संयम की परिभाषा दी है, उसमें केवल पांच वर्तों के पालन का ही उल्लेख है ‘सयमो नाम हिसानृत्नेयाग्रपरिमहं-भ्यो विरतिः’”

उक्त तर्क में केवल पद पड़ा हुआ है जो इस संयम को झोड़कर प्रमत्तसंयत के अन्य अनुष्ठानों का निषेध करता है। परन्तु इस इतने महत्वपूर्ण अनुष्ठान से वस्त्र-त्याग का अभाव प्रमत्तसंयतों के कैने हो गया। यह संयम परिभाषा तो वस्त्र-परित्याग का विधान करती है। उक्त परिभाषा में परिग्रह में विरति भी संयम कहा गया है। परिग्रह बाह्य और आभ्यन्तर दो तरह का होता है, दोनों प्रकार के परिग्रहों से विरति का नम परिग्रह त्याग नाम या संयम है। परिपूर्ण आभ्यन्तर परिग्रह का त्याग यद्यपि दशवें के अंत में होता है तो भी पश्चादि गुणस्थानों में कार्य रूप से परिग्रह संज्ञा नहीं है, यहाँ वह केवल लोभ कर्म के अस्तित्व के कारण उपचार से कही गई है। बाह्यपरिग्रहों से विरति प्रमत्तों के उक्त परिभाषा

* चेलादिसद्वसंगकचाभो पटमो हु होदि ठिदिकप्यो।

इहपरलोदवशसे सव्वे आवहदि संगी हु ॥११२२॥

के अनुसार परिपूर्ण है ही। बाह्य परिग्रह के दश भेद हैं। दशों का त्याग प्रमत्तसंयत के होता ही है। वे दश परिग्रह हैं—क्षेत्र, वास्तु, धन, धान्य, कुल्य, वस्त्र, मांड-हिगु मिरच आदि, द्विपद-वासीदासादि, चतुष्पद—हाथी घोड़ा बैल आदि, यान-पालखी विमान आदि और शयनासन। इनमें वस्त्रत्याग है ही यद्यपि यावन्मात्र व्रतपरिहर उक्त पांच में ही आ जाता है परन्तु मर्त्युद्धि पांच पर से यावन्मात्र अनुष्ठान का समक नहीं पाता इस लिये उसके अनुग्रहार्थ अन्य अनुष्ठानों का भेद से उपदेश है। जिस तरह अहिंसा में सत्यतादि या हिंसा में असत्यादि का समावेश होने हुए भी उनका भेद से उपदेश है। अथवा सर्वमावशयोग विरति में जिस तरह अनृत स्नेय, अग्रह और परिग्रह से विरति का समावेश होते हुए भी वृथक रूप से उपदेश है। जो नट के नृत्य के देखने के निषेध पर से नटी के नृत्य देखने का निषेध भी समक लेता है, उसके लिये अनेक कथन किया जाता है और जो नट-नृत्य के देखने के निषेध पर से नटी के नृत्य देखने का निषेध नहीं समकता उसके लिये नट-नटी दोनों के निषेध का भेद रूप में कथन किया जाता है। सब सावध

देसामासियमुत्तं आचेलककं ति तं तु ठिदिकप्ये।

नुत्तोत्थ आदिसहो जह तालपलंबमुत्तम् ॥११२३॥

ए य होदि मंजरो वत्पमिलवाणेण सेससंगेहि।

तन्हा आचेलककं चाओ सर्वेस होइ संगाय ॥११२४॥

—आराधना भगवती

* आत्मपरिग्रहम हिसनहेनुत्वात्सर्वमेष दिसेवत्त।

अनृतवचनानि केवलमुदाहृतं शिष्यबोधाय ॥४२॥

—पुरुषार्थ सिद्धन्तु पाय

विरति का नाम भी संक्षेप से संयम* है, दिसा, झूठ, चोरी, मैथुन और परिग्रह से विरति का नाम भी उससे विलुप्त संयम है, क्योंकि कहने में विभाग करने में और जानने में बड़ी सरलता पड़ती+ है। इस लिये उन पांच व्रतों ही को तो ध्वलाकार ने संयम कहा है। इनका ही नहीं उनसे व्रत, समिति, कपाय, दंड और इन्द्रियां इन पांचों का क्रमशः धारण करना, पालन करना, त्याग करना और जीतना इनको भी तो संयम कहा है। यथा—

प्रसमिति कपायदंडेन्द्रियाणां, धारणानुपालन-
निग्रहत्यागजयाः संयमः ।

वयसमिहकसायाणं दंडायं तद्विदियाय पंचग्रहं ।

धारणपालनयुग्मिहभागजया संजमो भण्यो ॥६२॥

—ध्वल सं० १ पे० १४५

जो इतने पर भी तमाम मूल व्रतोंको नहीं समझ पाते हैं, उनके लिये अट्टाईस मूल गुणों का कथन किया गया है। उनमें एक स्वास नाम्य व्रत है ही। जिस जिस तरह से प्राणियों का हित हो सकता है उस उस तरह का अवलम्बन लेकर उनके हित का उपदेशा प्रबानुकूल आचार्यों ने दिया है। प्रबानुकूल का अर्थ है जिस प्रकरण के जैसे जैसे ग्रंथ हैं उनके अनुसार कथन किया जाना। ध्वला आचार ग्रन्थ तो है नहीं जिससे सब तरह के संयम या व्रत का उनके संरक्ष आदि सब कह दिये जाते। फिर

● संग्रहयसयज्ञसंजममेयजममणुत्तरं दुरवगम्भं ।

जीवो समुज्ज्वलतो सामाहयसंजदो होदि ॥

—प्रा० पंचसंग्रह

+ आर्चाकसुदु विभजिदु विपण्यदु चार्च सुहरं ह्यदि
पदेश करण्यदु महम्बवा पंचपण्यत्ता ॥

—मूलाचार-आवश्यक नियुक्तिः

भी संयम की व्याख्या कही गुणस्थानों को लेकर और कही संयम मार्गाणा को लेकर विस्तार के साथ कह ही दी है।

इससे भी विस्तार देखना हो तो मूलाचार, मूलाराधना आदि में देखा जा सकता है, उनमें संयम ही संयम का व्यावर्णन है। अन्यथा समिति, x इन्द्रिय निरोध, पडावश्यक, बालोत्पादन, स्नान त्याग, क्षितिशयन, अदन्तचर्षण, स्रग् भोजन, एकाशन इन सबका अभाव कहना पड़ेगा। यदि उक्त परिभाषा पर ही अवलम्बन रखा जायगा तो ध्वलाकार द्वारा प्रतिपादित संयम की उक्त व्याख्या का और उनके द्वारा उद्धृत सामायिकादि पांच संयमों का अभाव कहना होगा। इतना ही नहीं 'संजमालु-बादेण' इत्यादि मूर्तों में कहे गये सब मूल संयम-भेदों का उनके सप्त, संख्या, क्षेत्र, स्पर्शन, भाव अल्पबहुत्व आदि सबका अभाव टहरेगा। इस लिये 'मुनि बख परिधारण भी करते हैं' एक इस बात को सिद्ध करने के लिये इतने नीचे तो नहीं उतर जाना चाहिये। थोड़ी दूर के लिये मान लिया जाय कि उक्त परिभाषा में बख त्याग होते हुए भी वह नहीं है तो क्या अन्यत्र कहीं भी बख-त्याग का उपदेश नहीं है? आप कहेंगे उक्त परिभाषा में बख-परित्याग नहीं है, हम कहते हैं। इस विवाद को दूर करने के लिये मन्थान्तरों का अनुसरण लेना ही होगा। हम तो कहते हैं परिग्रह-त्याग में बख-त्याग भी आता

x पंच व महम्बवाटं समिरीओ पंच जिएवकविट्ठु ।

पंचेविदबरोहा जप्पि य आवासया लोचो ॥२॥

अक्येलक्रमरहाणं खिदिसयणमदंतचसणं चेव ।

ठिदिभोयणेवभत्तं मूलगुणा अट्ठवीसा दु ॥३॥

—मूलाचार पे० ४-५

है, ब्रह्म के होते हुए संयमभाव होता नहीं है, ब्रह्मादि
गुरुस्थान ही ब्रह्म-त्याग के अभाव में नहीं होते हैं।
'आचेल्ल देसिय' 'देसामासिव सुत्त' इत्यादि सूत्रों
में ब्रह्म-त्याग ही उपदिष्ट है। इन सूत्रों की विजयो-
द्या टीका तो ब्रह्म-परिधारण में दोष और ब्रह्म-त्याग
में गुण अलख्य गर्व के साथ भारी विस्तार को लिये
हुए प्रतिपादन करती है। पूर्व पक्ष के उत्तर में आ-
र्यिकाओं के और भिक्षु अर्थान्त उरुकुष्ट भावकों के ब्रह्म
स्वीकार करती हुई पूर्वपक्ष के आगमानुसार ही
मुनियों के लिये ब्रह्म-त्याग का उपदेश करती है,
विस्तारभय के कारण उसको यहां प्रमाण में पेश
नहीं किया गया है, जिन्हें देखना हो 'आचेल्लकुडे-
सिय' इस गाथा की विजयोद्या टीका देखकर निर्णय
कर लें। अथालंदक मंत्रम, परिहारविशुद्धिमंत्रम,
भक्तप्रत्याख्यान, इंगिनीमरण, प्रायोपगमनमरण,
जिनकल्प, स्थाविरकल्प इन सबमें एक मिरे ने औ-
त्सर्गिकलिंग कहा गया है। अपवादलिंग का तो
नाम-निशान भी नहीं है। उक्त मंत्र मंत्रियों के
और अहंन, आवायं, उपाध्याय और साधुओं के
नग्नलिंग होता है। गृहस्थ मग्न्य होते ही हैं। इन
दो के अलावा यह तीसरा कौन सा लिंग है और उस
का नाम क्या है ?

एग्गां अरु अर्हंतो रत्तो बुद्धो एण्यंबरो कण्हो।

कण्होत्तिवाण बंभा को देवो कंबलावरणो ॥१

ब्रह्म-त्याग के सम्बन्ध में पद्मचरिय का धोका
सा हवाला देकर इस प्रकरण को पूर्ण कर देना
चाहते हैं। देखिये पद्मचरिय के निम्न उपदेशों
से क्या शिक्षा मिलती है—भगवान् आदिदेव तार्थ-
कर ने शीघ्र जेतें समय माता-पिता-पुत्र आदि स्वजन
वर्ग से पूछ कर कटिमूत्र, कटक, बल आदि ब्रह्म-भू-

पण त्याग दिये थे। यथा—

आपुच्छिऊण सत्वं मायापियत्तसकणपरिवन्।

तो मुचइ भूसणाई कण्डलुत्तय-कण्डव बत्थाई ॥१३५

—उद्देश ३

जिन चार हजार राजाओं ने भगवान के साथ
शीघ्र ली थी वे क्षुधा से पीड़ित होने लगे तब वे
वृक्षों से फल ग्रहण करने लगे, उस वक्त आकाश-
बाणी हुई कि भ्रमणरूप से अर्थात् नग्नरूप से वृक्षों
में फल ग्रहण मत करो। तबसे उनमें बल्कल,
बीबर-ब्रह्म-कुशपत्र पहन लिये, फलाहार करने लगे,
और स्वच्छन्द मुष्टि होकर अनेक प्रकार के तापस
बन गये।

अह ते कुहाकिलंता फलाई गिण्ढति पायवगणोसु।

अंबरतलाम्भ पुट्टं मा गिण्ढह समणरूपेण ॥१४२॥

ताहें बल्कल-बीबर-कुसपत्तनियंसणा फलाहारा।

सच्छंदमश्वियप्पा बहुभेया तावसा जाया ॥१४३॥

—३ उद्देश

भगवान् आदिनाथ ने ब्रह्मभूषण त्यागे थे, उनके
साथ शीघ्र राजा लोगों ने भी ब्रह्म त्यागे थे, भ्रमण
रूप वृक्षों से फल तोड़कर न खाने के लिये आकाश-
बाणी हुई थी। इसमें मात्तुम होता है कि भ्रमणरूप
मग्न होता है अन्यथा बाद में वे कोई वृक्षों की छाँट
कोई बल और कोई कुशपत्र न पहनते। और न
आकाशबाणी ही होती।

तथा जो पहले शीघ्र ग्रहण कर उससे भ्रष्ट हो
गये थे उनमें बल्कल वृक्षों की छाँट के बल पहन
लिये और तापस पावन्दी बन गये। यथा—

जे वि य ते पद्मचरं पव्वज्जं गेण्हऊण परिवव्विया

ते बल्कलपरिहाणा तावसपासंडियो जाया ॥८३॥

—४ उद्देश

यह बात भरत चक्रवर्ती द्वारा स्थापित ब्राह्मणों के समय कही गई है। इससे मालूम पड़ता है पञ्चम चरियकर नमनप्रत धारण करने को प्रवृत्त्या मानते थे। और वस्त्रधारियों को पारुंही। तथा—

जे ते सामियभत्ता तेण समं दिक्खया नरवरिद्धा।

दुस्सहपरिस्सहेहिं जम्मा मकभंतरे भग्गा ॥२२॥

असणुतिसाए किलंता सच्छंदवया कुधम्मधम्मसु।

आथा वक्कलधारी तरुफलमूलासणा मुढा ॥२३॥

—उद्देश ८२

इन दोनों गाथाओं में यह कहा गया है कि जो राजे भगवान आदिनाथ के भक्त थे, जो उनके साथ दीक्षित हुये थे वे छह महीने के भीतर ही दुस्सह परीपहों से दुःखी हो गये। और भूख और व्यास से पीड़ित होकर कुधर्म और अधर्म में स्वछन्द प्रती हो गये तथा वे मूल्य वक्कल-वक्कधारी हो गये और वृक्षों के फल, फल खाने लगे। तथा—

सा कला पव्वइवा अग्गे वि य ते सुणेवि विसंतं।

आथा निग्गधमुणी पासम्मि अणंतविरियस्स ॥२४॥

—उद्देश ४१

यह कन्या प्रव्रजित हो गई और हम भी उसका वृत्तान्त सुनकर अनन्तवीर्य के पास निर्ग्रन्थ मुनि हो गये।

यहां निर्ग्रन्थ शब्द का अर्थ है नम्र सम्रथ और निर्ग्रन्थत्वसे मुक्ति मानने वाले प्रोफेसरजी भी निर्ग्रन्थ का अर्थ निबन्ध-नम्र मानते ही हैं, इस लिये इस विषय में विशेष लिखने को आवश्यकता नहीं। मुनियों के लिये पञ्चमचरिय में निर्ग्रन्थ शब्द का प्रयोग अगणित स्थानों में आया है। यह निम्ने नमूना दिया गया है।

अथ बोद्धा सा गृहस्थधर्म के सम्बन्ध में भी

पञ्चमचरियकर की बुद्ध आवाज को सुनिचे, दशरथ जब दीक्षा की तयारी करने लगे उस वक्त भरत को दैराग्य होने लगा। पिता ने भरत को समझाया है पुत्र! गृहस्थाश्रम में भी धर्म है और वह महान गुणों का लज्जाना कहा गया है, तुम उसी में रत होते हुए सब राज्य के अधिपति बनो। इसका भरत उत्तर देते हैं—यदि गृहस्थ धर्म में स्थित रहता हुआ पुरुष मुक्ति का सुख प्राप्त कर सकता है तो आप संसार से डर कर घर क्यों छोड़ने हैं। यथा—

गंहासमे वि धम्मां पुत्त! महागुणपरो समक्खामो।

तन्हा गिहधम्मरओ होहि तुमं मयल रज्जवई ॥२५॥

जइ लइइ मुत्तिसोक्खं पुरिसो गिहधम्मसंठिओमंतो

तो कोस मुंचासि तुमं गंह संसार परिभीओ ॥२६॥

—उद्देश ३१

दुविहो जिणवरधम्मो सायारो तह य होइ निरायारो

सायारो गिहधम्मो, मुखिवरधम्मो निरायारो ॥२७॥

सावयधम्मं काउण णिच्छिओ अंतकल समयम्मि।

काळगओ उववज्जइ सोहम्माईसु सुरपवरो ॥२८॥

अह पुण जिणवर विहियं दिक्खं घेत्तुं पवरमट्ठाए

इंतुण य कम्ममलं पावइ सिद्धि धुयिकल्लेसो ॥२९॥

—उद्देश २१

सायार निरायारो दुविहो धम्मो जिणेहि उवइट्ठो।

मक्कति जे हु तइयं वट्ठु ते मोहजलणेण ॥३०॥

गच्छंति देवलोगं पुरिसा सायारधम्मलइयहा।

भुजंति पवरसोक्खं अण्डरसामग्गवारगया ॥३१॥

महरिसिधम्मेष पुणो अन्नावहं सुहअणोवमियं।

यावति समयसीहा विमुद्धभावा यरा जे व ॥३२॥

सावयधम्ममुन्मूया देवा वविउण माणुसे कोए।

समणत्तणेण मोक्खं तिसु दोसु भवेसु वक्खंति ॥३३॥

—उद्देश ६

स्थानवर्ती भी जब इन परीपहोंको सहते हैं तब भारी आश्चर्य है कि केवली उन्हें सह नहीं पाते हैं। कैसे अनन्तवली हैं और अनन्त सुखी भी कैसे हैं जब कि इन परीपहों के बराबरी हैं। भूख लगने पर जरूर हीनशक्ति हो ही जाते होंगे, और भूख-जन्य पीड़ा से दुःख जी होता ही होगा। परीपह ग्यारह केवली में हैं, वेदनीय कर्म भी उनके हैं। तो तब क्या इसका अर्थ यह हुआ कि वेदनीय के होते हुए अवश्य ही परीपहों होनी चाहियें। तब तो अप्रमत्तादि गुण-स्थानवर्ती मुनि ध्यान में ही स्वा लेते होंगे क्योंकि वेदनीय का उदय है, उरते भी होंगे क्योंकि उनके भयकर्म का उदय है, भय को दूर करने के लिये उल्टा आदि शस्त्र जरूर रखते होंगे नहीं तो भय का उदय वहां माना क्यों जाय। रिरंसा अधांग स्त्री-पुरुष के साथ रमण की इच्छा भी उनके होती ही होगी क्योंकि उनके तीनों वेदों का उदय है, इस पीड़ा को मिटाने के लिये स्त्री-रमण भी जरूर करते ही होंगे अन्यथा वेद का उदय माना ही क्यों गया। अच्छे अच्छे परिग्रह भी उनके होने ही चाहियें, क्योंकि लाभ का उदय उनके है, नहीं तो लाभ का उदय-जन्य परिग्रह संज्ञा वहां मानी ही क्यों गई और निष्कल लाभोदय भी क्यों माना गया।

अप्रमत्तादि गुणस्थानवर्ती मुनियोंके आहारसंज्ञा नहीं है क्योंकि उसका कारण असाता-वेदनीय कर्म की उद्दीरणा है, उसकी उद्दीरणा अप्रमत्त गुणस्थानके नीचे ही स्वप्न हो लेनी है। उसके ऊपर आहार-संज्ञा का अभाव है परन्तु केवली उद्दीरणा के बिना उदय सामान्य के होते हुए स्वाते-पाते हैं। यह कोई आश्चर्य होगा। शेष भय, मैथुन और परिग्रह-संज्ञा अप्रमत्तादि गुणस्थानों में उनका कारण भय,

वेद और लोभ कर्म की उद्दीरणा का उनकी उदय व्युत्पत्ति के चरम समय पर्यंत अस्तित्व नभ के निमित्त रूप उपचार से है, पलायन, रतिक्रीडा, और परिग्रह स्वीकार रूप अपने अपने कार्य में प्रवृत्ति का अभाव होने से, मन्द, मन्दतर, मन्दतम अतिसूक्ष्म अनुभाग के उदय से युक्त संयम विशेष से समाहित ध्यान में उपयुक्त महामुनियों के भयादि संज्ञाएं मुख्यधृत्या नहीं हैं, यदि ये संज्ञाएं अप्रमत्तादि गुण-स्थानों में मुख्य धृति से हों तो कभी भी उन महानु-भावों के न शुक्लध्यान होगा और न घाति कर्मों का क्षय ही घटित होगा। इस लिये मोक्ष की इच्छा रखने वाले स्याद्वाक्यों को एकत्र भोज में आहारादि चारों संज्ञाओं का अभाव ही सम्भावित करना चाहिए, तब बताइए केवला के कवलाहार मुक्ति किस कारण में होगी, क्योंकि आहार संज्ञा का उनके निषेध है। यथा—

राट्टपमाण पठमा सगणा शुहि तत्थ करणाभावा ।

मंसाकम्मत्थिसेणुबयारेणत्थि ए हि कजे ॥१३६

—गी० जीवकांड

नट्टप्रमादे—अप्रमत्तसंयताशुपरितन-गुणस्थानेषु प्रथमासंज्ञा आहारसंज्ञा न द्वास्ति । कुतः कारणात् तत्र अप्रमत्तादी आहारसंज्ञाकारणस्य असातावेदनी-योद्दीरणान्यभ्याभावात् । सातासातावेदनीयमनुप्या-युज्याणां त्रिमृत्तीनां प्रमत्तादितरे एव उद्दीरणा भव-तीति परमागमे प्रमिच्छवान् । शेषा भयमैथुनपरि-ग्रहसंज्ञा अप्रमत्तसंयतादिगुणस्थानेषु तत्तत्कारणभय-वेदलोभकर्मोद्दीरणानां तत्तदुदय-व्युत्पत्तिचरमसमय-पर्यंतमस्तिरेव निमित्तोपचारेण सन्ति स्वस्वपक्षाच्च पलायन-रतिक्रीडा-परिग्रहस्वीकाररूपे प्रवृत्त्यभावात् मन्द-मन्दतर--मन्दतमातिसूक्ष्मानुभागोदयसहित—

संबन्धितोपसमाहितध्यानोपयुक्तानां महा-जीनां भया-
दिसंज्ञा मुख्यवृत्त्या न सन्त्येव, अन्यथा कदाचिदपि
शुक्लध्यानां धातिकर्मकयो वा न घटते.....।
ततो मोक्षमिच्छतां स्यादादिनां उपक्रमेभ्यामाहारादि-
चतुः संज्ञानामभावा एव संभावनीय इति केवलानां
कृतः कवलाहारभुक्तिराहारसंज्ञानिर्धेयान् ।

—मन्दप्रबोधिकायां अभयचन्द्र सैठांठी

यहां मूलमें अप्रमत्तादि गुणस्थानों में प्रथम आ-
हारसंज्ञा का निषेध और उसके कारण का अभाव कहा
गया है । अर्वाष्ट तीन संज्ञाओं का वहां पर उप-
चार से सद्भाव कहा है, उपचार का कारण है उन
उन कर्मों की उद्गीर्णता का अस्तित्व; फिर भी कार्यरूप
से, मुख्यरूप से वे संज्ञाएं वहां नहीं होती। टीका
में वो मुख्य रूप से न होने का कारण भी कह दिया
गया है । तात्पर्य यह है कि अप्रमत्त आदि गुण-
स्थानों में उपचार से ये संज्ञाएँ हैं, वास्तव में हैं
नहीं। यही न्याय केवली के क्षुधादि परिपहों के
सम्बन्ध में है । केवली के वेदनीय कर्म के उदय का
अस्तित्व है, उस अस्तित्व नाम के उदय को लेकर
उपचार से या शक्ति रूप से क्षुधादि परीपहें हैं, कार्य
रूप से या मुख्यरूप से अथवा व्यक्त रूप से नहीं
हैं । कथन कही उपचार से या शक्ति की अपेक्षा से
होता है और कही मुख्य रूप से या व्यक्ति की अपे-
क्षा से होता है । केवली में क्षुधादि का अस्तित्व
उपचार से या शक्ति की अपेक्षा से कहा गया है ।
इस लिये कहा जाता है कि ग्यारह परीपह केवली में
उपचार से हैं । मुख्य रूप से या व्यक्ति रूप से
क्षुधादिक का अभाव कहा गया है, इस लिये कहा
जाता है कि ग्यारह परीपह केवली में कार्य रूप से
नहीं हैं । इस प्रकार का समर्थन ग्रंथों में होते हुए

भी आज कल के परीक्षा—प्रधानी नहीं मानते हैं ।
केवल शब्दों पर से जिनानगम की मान्यता को वि-
परीत रूप में प्रस्तुत करना ही अपना एक ध्येय
रखते हैं ।

सर्वार्थसिद्धि के प्रणेतृ आचार्य पूज्यपाद कहते
हैं कि चार धाति कर्मों से रहित भगवान् जिनेन्द्र में
वेदनीय कर्म का सद्भाव है, इस लिये ग्यारह परी-
पह उनमें होती हैं । इसपर से कोई शंका करता है
कि मोहनीय के उदय की सहायता का अभाव होने
में जिनेन्द्र में क्षुधादि वेदना का अभाव है इस लिये
क्षुधादि वेदना के अभाव में उनके परिपह का व्य-
पदेश करना युक्त नहीं है । आचार्य कहते हैं यह
शंका कुछ ठीक है, परन्तु क्षुधादि वेदना के न होते
हुए भी द्रव्यकर्म के सद्भाव की अपेक्षा से परीपहों
का उपचार किया जाता है । जिस तरह कि सम्पूर्ण
जगत्करण के नष्ट हो जाने पर एक साथ सम्पूर्ण
पदार्थों को अवभासन करने वाले केवलज्ञान रूप
अतिशय के होते हुए भगवान् के चिन्तानिरोध का
अभाव है, उसके होते हुए भी उसका फल कर्मादय
की निर्जरा रूप फल की अपेक्षा से ध्यान का उपचार
किया जाता है, अर्थात् जिस तरह भगवान् जिनेन्द्र
के ध्यान का फल कर्मों की निर्जरा है इस लिये उन
में चिन्तानिरोध न होते हुए भी उपचार से सूक्ष्म-
क्रिया पतिपाति और व्युपरतक्रियानिर्बति ऐमं वा
शुद्ध ध्यान माने गये हैं । उसी प्रकार वस्तु रूप से
क्षुधादि वेदना का अभाव है परन्तु द्रव्य वेदनीयकर्म
का उनके सद्भाव है इस अपेक्षा को ध्यानमें रखकर
उपचार से कही गई हैं । मतलब यह कि ध्यान
जिस तरह उनमें उपचारसे है उसी तरह परीपह भी
उपचार से हैं । अथवा ग्यारह परीपह जिनेन्द्र में

सागार और अनगार दो ही धर्म हैं, तीसरा धर्म नहीं, मुनिवर धर्म से मोक्ष, सागारधर्म से स्वर्ग प्राप्त होता है, मनुष्य ही मोक्ष जाते हैं, इस बात को 'गुरा' यह पद व्यक्त करता है। इन सब अभिप्रायों से विदित होता है कि सप्रथलिंगसे मुक्ति होती नहीं। सप्रन्थ और निप्रन्थ के सिवा और कोई लिंग भी नहीं। निप्रन्थलिंग होता है मुनियों का और सप्रथलिंग होता है भावकों का। यह सब बी० नि० २४३० में प्रदर्शित ब वि० सं० ६० में बने हुए पउमचरिय पर से स्पष्ट होता है। वस, अन्तिम पंक्तियों का उत्तर देकर इस प्रकरण को यही पर समाप्त कर देना चाहते हैं।

अन्त में आप ऊंची दृष्टि से कहते हैं—“इस प्रकार दिगम्बर शास्त्रानुसार भी मुनि के लिये एक-न्ततः वस्त्र-त्याग का विधान नहीं पाया जाता। हां, कुन्दकुन्दाचार्य ने ऐसा विधान किया है पर उसका एक प्रमाण ग्रन्थों से मेल नहीं बैठता।”

किसी भी दिगम्बर जैन शास्त्र में मुनि के लिये वस्त्र का विधान नहीं है, वस्त्र-त्याग का विधान सैकड़ों ग्रन्थों में भरा पड़ा है, वस्त्र-त्याग के बिना मुनि होता ही नहीं है, मुनि के अतिसर्गिक लिंग ही होता है, पुलाकादि पांच भी निप्रन्थ नग्न होते हैं। अपवा-दिकलिंग का अर्थ सप्रथलिंग है उससे सीधी मुक्ति होती नहीं और न वह मुनियों का लिंग है, इत्यादि अनेक विधान अनेकों शास्त्रों में पाये जाते हैं, इसमें मुनियों के लिये एकान्ततः वस्त्र-त्याग का ही विधान पाया जाता है। ‘एक प्रमाण ग्रन्थों से कुन्दकुन्दाचार्य का वस्त्र-त्याग का विधान मेल नहीं खाता।’ यह है छोटे मुँह बड़ी बात, केवल अपवादलिंग, सप्रन्थलिंग, इत्यादि शब्दों पर से अपना मतलब हासिल न होते हुए भी हासिल समझ, कुन्दकुन्दाचार्य

के ग्रन्थोंको अप्रमाण उद्धोषित करना भारी भूल है। कुन्दकुन्दाचार्य के ग्रन्थों से विपरीत लिखने वाले ही अप्रमाण हो सकते हैं यह खास ध्यान में रखना चाहिये। जो जो ग्रन्थ सप्रथ लिंग से मुक्ति होने में पेश किये गये हैं, वे सभी प्रामाणिक अवश्य हैं परन्तु उनसे भी सप्रन्थ लिंग से मुक्ति सिद्ध नहीं होती।

इस प्रकार उक्त सब प्रमाणों पर से मुनियों के लिये सवंधा वस्त्र-त्याग का विधान ही पाया जाता है और कुन्दकुन्दाचार्य के ही कथन का सब ग्रंथकार समर्थन करते हैं।

३-केवली और कवलाहार

अब पाठक तीसरे प्रकरण पर आइये। इसमें प्रोफेसर जी ने ‘तत्त्वार्थमहाराज’ के अनुसार ‘केवली’ के भूख-त्याग आदि की देवना’ होती है इस बात को पुष्ट करने की चेष्टा की है। ‘तत्त्वार्थमहाराज’ को सम्भवतः आज तक किसी ने समझ ही नहीं, दिखाता है। इसपर पचासों छोटी बड़ी टीकाएं अनेक भाषाओं में लिखी गई हैं, किसी में प्रोफेसर जी के मत का समर्थन नहीं है। क्या उनके कर्ता सब के सब आगम-भक्त थे। उनमें क्या एक भी परीक्षा प्रधानी नहीं था। जिससे किसी ने भी प्रोफेसर जी के मत का समर्थन नहीं किया। बात दर असल यह है कि स्वामी समन्तभद्र, अकलंकदेव, पात्रकेशरी, विज्ञानन्दी आदि सभी महाविद्वान् परीक्षा—प्रधानी थे। जिसे परीक्षा कहते हैं उसे ही वे करते थे। समन्तभद्र इन सब में आद्य परीक्षा-प्रधानी माने गये हैं। क्या उनके किसी भी ग्रन्थ में किसी भी ग्रन्थ

आचार्यों के मन्त्रियों का सख्खन देखने में आता है। बल्कि परीक्षा के द्वारा उनमें पूर्वाचार्यों के मन्त्रियों का समर्थन ही किया है। परमात्मा में क्षुधादि दोष नहीं होते यह पूर्वाचार्यों का मन्त्रव्य था उसी का भगवत्समन्तभद्र त्वामी ने स्तनकरण्ड, मधुंभु स्तोत्र आदि महाशास्त्रों में समर्थन किया है। वर्तमान काली- परीक्षा वा दण्ड और है, पूर्वाचार्यों के मन्त्रियों के समर्थन को तो वर्तमान के कितने ही विद्वान् रुढ़िवाद कहकर चेलेंज दे डालते हैं। पूर्वाचार्यों में बिछड़ कहना यह आज कल की परीक्षा है। या आपन ने जिस बात की धारणा कर ली उसी को येन केन प्रकारेण पुष्ट करना परीक्षा है। वह पूर्वागमों में बिछड़ पड़नी हो तो पड़े। एक राजा के पूछने पर उसको किसी मूर्ख पाण्डित ने एक श्लोक का अर्थ यह बता दिया कि महाराज !

शुक्लाम्बरधरं विष्णुं शशिवर्णं चतुर्भुजं ।

प्रसन्नवदनं ध्यायेत्सर्वविघ्नोपशान्तये ॥१॥

इस श्लोक का अर्थ बड़ा गूढ़ है, इस में ही जानता हूँ, आपको विरवास न हो तो प्रत्येक विद्वान् से पूछ लीजिये कोई भी यह अर्थ नहीं बता सकेगा। इसका अर्थ सुनिये—एक दही बर्तों का स्तोत्र है, यह श्लोक उसी में का है, इसका अर्थ है कि—‘दही रूपी शुक्लाम्बर को धारण करने वाला, सर्वत्र मिलने के कारण विष्णु के समान, चन्द्रमा की तरह गोल गोल चतुर मनुष्य के लाने योग्य, स्मरण करते ही मुल्ल को प्रसन्न कर देने वाला बड़ा; लाने जाने पर सब विघ्नबाधाओं को दूर कर देता है।’

राजा जो भी विद्वान् राजसभा में आये उनसे इसका अर्थ पहले पूछे, किसी से भी उक्त अर्थ न बने, तब उन्हें वहाँ से लज्जित होकर चला जाना पड़े

राजा और सबों को माने नहीं, क्योंकि उसके हृदय में तो उक्त अर्थ ठसा हुआ था। यही गति आज कल के विद्वानों की हो रही है।

वे कहते हैं—वाह ! ‘एकादश जिने’ इस सूत्रमें केवली के ग्यारह परीषद कही गई हैं। उनके नाम हैं—क्षुधा, पिपासा, शीत, उष्ण, दंशमशक, चर्चा, शय्या, बध, रोग, मृण-स्पर्ण और मल। इनको दूर करने के लिये केवली खाते हैं, पानी पीते हैं, अच्छे अच्छे बेरा-कीमती शाल-दुशालें ओढ़ते हैं, गर्मी में ठण्डी ठण्डी छाया का आभेवन करते हैं, और डाममच्छर आदि के काटने पर तीन्हे नखों से मृज्जाने हैं, अच्छी अच्छी मद्यारियों पर चढ़कर वे गमन करते हैं, मुलायम बिस्तरों पर वे सोते हैं, मारने पीटने वालों पर तीव्र रोष करते हैं, पेशिश आदि रोग भी उनके होते हैं, कंटक आदि का स्पर्श भी उनके होता है और मल टट्टी-पेशाब भी वे करते हैं। खाना-पीना और टट्टी-पेशाब न करना यह अच्छा नहीं लगता। ये परीषदें वेदनीय कर्म के उदय में होती हैं, क्योंकि कहा है—‘वेदनीयं शेषाः’। ‘वेदनीय का उदय सयोगी और अयोगी गुणस्थान में भी आयु के अन्तिम समय तक बराबर बना रहता है, इसके मानते हुए तत्सम्बन्धी वेदनाओं का अभाव मानना शाक-सम्मत नहीं ठहरता।’ पाठक ! सोचिये इस महावाक्य के अनुसार उपर्युक्त ग्यारह वेदनाएँ केवली में हुई या नहीं। तारीफ यह है कि प्रमत्तादि गुणस्थानवासी श्राप तो इन्हें सहते हैं। केवली तो सहना दूर रहा वे तो खा-पीकर, ओढ़-बिछाकर दूर कर लेते हैं। यदि केवली वस्तुवृत्त्या खा-पीकर अपनी वेदनाओं को दूर कर लेते हैं। तो वे इन परीषदों को सहते कब हैं। प्रमत्तादि गुण-

‘नहीं है’ यह वाक्यशेष वहाँपर कल्पित करना। क्योंकि कि सूत्र सोपस्कार हुआ करते हैं। वह इस लिये कि मोह के उदय की सहायता से की गईं क्षुधादि वेदना का जिनेन्द्र के अभाव है।’

यहाँ टीका में ग्यारह परीषदों का सद्भाव और अभाव कह दिया गया है, द्रव्यकर्म के सद्भाव की अपेक्षा से तो उपचार से सद्भाव और मोहनीय के उदय की सहायता न होने से कार्य रूप से उनका अभाव। यही बात अकलंक देव ने राजवार्तिक में और विद्यानन्दी ने श्लोकवार्तिक में इसी ‘एकादश जिने’ सूत्र में कही है। जिन्हें देखना हो वे उन ग्रन्थों में देख सकते हैं। लेख बढ़ने के डर से यहाँ नहीं लिखी गई है।

उपचार से और मुख्यवृत्ति से, शक्ति से और व्यक्ति की अपेक्षा से, निश्चय और व्यवहार से, उत्सर्गसे और अपवादसे तथा क्षेत्रपात्रादिक की अपेक्षा से अनेकों कथन देखे जाते हैं। इन अपेक्षाओं को छोड़ देने पर विरोध प्रतीत होने लगता है। इस लिये इन अपेक्षाओं को ध्यान में रखते हुए सूत्रों की योजना की जानी चाहिये। जैसे सप्तभंगी योजना अपेक्षाकृत है उसी तरह उपचारादि कथन भी अपेक्षा

कृत है। अन्यथा है ही, नहीं ही है इत्यादि विरोध तदवस्थ बने रहते हैं। किस अपेक्षा से है और किस अपेक्षा से नहीं, इस तरह अपेक्षा से विचार करने पर वही विरोध दूर हो जाता है। केवली में क्षुधादि परीषद उपचार से हैं, क्योंकि उनका कारण असातावेदनीय द्रव्यकर्म का उदय उनमें है, कार्यरूप से क्षुधादि परीषद केवली में नहीं हैं, क्योंकि वह क्षुधादि परीषद मोहनीय के उदय की सहायता से युक्त या पाति कर्मों के उदय की सहायता से युक्त असाता वेदनीय के उदय से होती हैं। जिस तरह केवली में चिन्तानिरोध लक्षण ध्यान उपचार से है, मुख्यवृत्ति से उनके चिन्तानिरोध का अभाव होने से ध्यान नहीं है। इसी तरह सर्वाधिसिद्धि के देवों का गमन सप्तम पृथिवी तक कहा गया है, सर्वाधिसिद्धि के अहमिन्द्र सर्वाधिसिद्धि विमान को छोड़कर कही जाते नहीं हैं, किन्तु यह उनकी शक्ति की अपेक्षा से कहा गया है कि उनमें वहाँ तक जाने की शक्ति है, व्यक्ति रूप से जाते नहीं हैं। तात्पर्य यह है कि जहाँ जैसी विषया हो वहाँ वैसी ही अपेक्षा से काम लेना चाहिये। विरोध परिहार का यह एक कास तरीका है।

*ननु मोहनीयसहायभावात् क्षुधादिवेदनाभावेऽपरीषद-व्यपदेशो न युक्तः, सत्यमेवमेतत्, वेदनाभावेऽपि द्रव्यकर्मसद्भावापेक्षया परीषदोपचारः क्रियते। निर्वशेण निरस्ताज्ञानावरणे युगपस्सकलपथावभाषिकेवज्ञानातिशये चिन्तानिरोधाभावेऽपि तत्कलकर्मनिर्हरणापेक्षया ध्यानोपचारवत्। अथवा एकादश जिने न समीति वाक्यशेषः कल्पनीयः सोपस्कारत्वात् सूत्राणां ।..... मोहादयसहायीकृत्यादिवेदनाभावात् ।

यदि यह कहा जाय कि मोहनीय कर्म के अभाव के परमाणु वेदनीय का उदय माना ही क्यों जाता है, इसका उत्तर यह है कि यह वस्तुस्वभाव है, वस्तुस्वभाव प्ररनमात्र से हटाया नहीं जा सकता। अनिवृत्ति परिय्याम मोहनीय कर्म और अन्य सोलह कर्मों को ही नारा कर पाता है, असाता वेदनीय को वह नारा नहीं करता इस लिये उसका केवल उदय-सत्य मोहनीय के नारा हो जाने पर भी बना रहता है।

अनेक कर्म ऐसे हैं जो अन्य कर्मों की सहायता

से भी कार्य करते हैं, इसे हम ही नहीं मानते किन्तु केवली कबलाहार मानने वाले भी मानते हैं। ऊपर की प्रकरण में चन्द्रिक के उद्धारण दिये गये हैं उन से ज्ञात होता है कि सर्वात्मिकता के ज्योपशम से चारित्र्य होता है उसको भाववेद का उदय नाश नहीं करता है क्योंकि भाववेद का उदय देशपाती है, सर्वपाती कथाओं का बल पाकर तो भाववेद का उदय भी चारित्र्य को वास्तव्य ही है। जैसे कि वायु सहित अग्नि लुप्तों को जलाती है। अतः स्पष्ट है कि कई कर्म पर की सहायता से स्वकार्य करते हैं।

आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती कहते हैं कि वेदनीय कर्म मोहनीय कर्म के बल से-सहायता से चाति कर्मों की तरह जीवों को सुख-दुःख का अनुभव करा उनका घात करता है इस लिये धातियाओं के मध्य में और मोहनीय की आदि में वेदनीय का पाठ रखा गया है। यथा—

धादिब वेद्यणीयं मोहस्त बलेण धावदे जीव ।

इदि धादीणं मयं मोहस्तादिन्दि पठिदं तु ॥१६

—गो० कर्मकांड

जब तक रागद्वेष रहते हैं तभी तक यह जीव किसी को बुरा और किसी को भला समझता है, एक वस्तु किसी के बुरी मालूम पड़ती है, वही वस्तु किसी को अच्छी मालूम पड़ती है। जैसे नीम मनुष्यों को अप्रिय और ऊट को प्रिय लगता है, वस्तु बुरी-भली नहीं होती, वस्तु स्वतः बुरी-भली हो तो दोनों को एक ही मालूम होनी चाहिये। इससे यह आया कि मोहनीयतात्मक रागद्वेष के होते हुए ही इन्द्रिय-जन्य सुख-दुःख का अनुभव होता है, मोहनीय कर्म के बिना अकेला वेदनीय कर्म सुख-दुःख का अनुभव नहीं कराता। जैसे कि सैन्य-सैन्य के बिना

अकेली सेना कुछ नहीं कर पाती है।

इस लिये सर्वात्मिकिकार और राजकारिकार ने जो यह कहा है कि मोहनीय कर्मोदय के अभाव में वेदनीय का प्रभाव अजर्जरित हो जाता है इससे वे वेदनाएं केवली के होती नहीं। कर्मसिद्धान्त पर से ही यह बात सिद्ध होती है। क्योंकि वेदनीय अन्य वेदना रागद्वेषजन्य परिणति के निमित्त से होती है, रागद्वेष परिणति के बिना केवल वेदनीय स्वकार्य-करण में असमर्थ है।

जिन शास्त्रों में केवली क्षुधादि अठारह दोषों से रहित कहे गये हैं, वे शास्त्र हैं या नहीं। यदि वे भी शास्त्र हैं तो वेदनीय—सम्बन्धी वेदना का अभाव शास्त्र सम्मत क्यों नहीं। यदि वे शास्त्र नहीं हैं अकेला तत्त्वार्थ शास्त्र ही शास्त्र है, यह कैसे? प्रायः एक नहीं, अनेक शास्त्र केवली के क्षुधादि वेदना का सङ्काश कहते हैं और अन्य शास्त्र कार्य रूप से उसका निषेध करते हैं। अथवा तत्त्वार्थ शास्त्र भी कार्यरूप से क्षुधादि वेदना का निषेध करता है। जैसे कि कि अन्य शास्त्र। इस तरह क्षुधादि वेदनाओं का अभाव शास्त्र-सम्मत ही है। जिस तरह एकत्र चिन्ता निरोध का नाम ध्यान है, केवली के वस्तुशून्यता यह ध्यान नहीं है तो भी कर्मों को निर्जरा रूप फल की बजह से उपचार से मान लिया गया है। इसी तरह केवली में मुख्यशून्यता क्षुधादि वेदना नहीं है, क्योंकि वहां मोहनीय कर्म की सहायता नहीं है, केवल वेदनीय का उदय है इस लिये शक्ति की अपेक्षा क्षुधादि वेदना यहां मान ली गई है।

क्षुधादि अठारह दोषों का अभाव केवली के अनेक शास्त्रों में वर्णित है। कुछ प्रमाण देखिये। आचार्य देवसेन लिखते हैं कि तीनों लोकों में क्षुधादि

अठारह दोष कहे गये हैं, जो सब जीवों में सामान्य-
तया पाये जाते हैं, उनके अभाव से परमात्मा होता
है। यथा—

दोषा कुदाह भणिया अट्टारस होति तिविहलोद्यम्भि ।
सामव्या सयलजयो तेसिमभावेण परमप्या ॥२७३॥

—भावसंग्रह

समन्तभद्र स्वामी लिखते हैं कि क्षुधा, पिपासा,
निद्रा, जरा, आतंक, जन्म, मरण, भय, स्मय,
राग द्वेष, मोह इत्यादि दोष जिसमें नहीं हैं वह आत्मा
कहा गया है। यथा—

श्रुतिपासा जरातंकजन्मान्तकभयस्मयाः । *

न रागद्वेषमोहाश्च यस्यातः सः प्रकीर्त्यते ॥६॥

—रत्नकरंडक

भगवत्कुन्दकुन्दाचार्य कहते हैं कि क्षुधा, रूपा,
भय, राग, मोह, चिन्ता, जरा, रोग, मृत्यु, स्नेह,
स्वेद, मद, रति, विस्मय, निद्रा, जन्म और उद्वेग ये
अठारह दोष हैं। इन सब अठारह दोषों से जो
रहित है और केवलज्ञानादि परम विभव कर संयुक्त
है वह परमात्मा कहा गया है। इससे जो विपरीत
है अर्थात् जिसमें उक्त अठारह दोष हैं वह परमात्मा
नहीं है। यथा—

कुह तथह भीरु रोसो,

रागो मोहो चित्ताजराकजामिच्छू ।

स्वेदं स्नेहं मदो रश्च विविहय एषा जलुब्धेगो ॥६॥

एतस्सेसदोसरहियो केवलज्ञानादपरम विभवजुषो ।

सो परमप्या कृच्छह तद्विबरीषो ए परमप्या ॥७॥

—नियमसार

‘इसअट्ट दोसरहियो सो देवो एतथि संदेहो’

अर्थात् अठारह दोषों से जो रहित होता है वह देव
होता है, इसमें सन्देह नहीं। इत्यादि रीत्या अनेकों

ग्रंथों में परमात्मा के लुभादि अठारह दोषों का
अभाव कहा गया है।

केवलज्ञान कबलाहार करते हैं इसका निषेध
भी बोझा सा हृदयंगम करना चाहिये। भगव-
ज्जिनसेनाचार्य कहते हैं—हे जिनेन्द्र ! आप क्षीण-
मोह हैं इससे आपके अनन्तसुख का उदय है इस
लिये आपके भुक्ति अर्थात् भोजन क्रिया नहीं है,
क्योंकि जो जन्तु क्षुधा की पीड़ा से पीड़ित होता है,
वह कबलाहार करता है। जो मूर्ख असातावेदनीय
का उदय होने के कारण आपमें कबलाहार की बो-
जना करता है उसको मोह रूपी अग्नि का प्रतीकार
करने के लिये पुराने धी का अन्वेषण करना चाहिये
असाता वेदनीय रूप विष घाति कर्मों के विध्वंस से
अस्त शक्ति हो जाता है, वह आप में कुछ भी करने
को सक्षम नहीं है जिस तरह कि मंत्र की शक्ति से
विष मारण शक्ति से रहित हो जाता है। हे नाथ !
असातावेदनीय का उदय घातिया कर्म रूप सहकारी
के नारा से आपमें अकिंचित्कर हो गया है। क्योंकि
सामग्री से फल की प्राप्ति होती है। यथा—

न भुक्तिः क्षीणमोहस्य तवानन्तसुखोदयात् ।

श्रुत्स्लेशाबाधितो जन्तुः कबलाहारभुग्भवेत् ॥१॥

असद्वेषोदयादभुक्ति त्वयि यो योजयेत्तुषीः ।

मोहानिजप्रतीकारे तस्यान्वेष्टव्यं उरदृष्टुं ॥२॥

असद्वेषविषं घातिविध्वंससध्वस्तशक्तिकं ।

त्वय्यकिंचित्करं मंत्रशक्त्येवापवर्जं विषं ॥३॥

असद्वेषोदयो घातिसहकारिभ्यःपायतः ।

त्वय्यकिंचित्करो नाथ ! सामग्र्या हि फलोदयः ॥४॥

—आर्ये आदिपुराणो प० २५

आचार्य देवसेन तो कबलाहार का निषेध खुब ही
विस्तार के साथ करते हैं, वे कहते हैं कि जो श्वेत-

पट अर्हत में कबलाहार कहते हैं सो वह अर्हत में नहीं है क्योंकि उस परम योगी अर्हन्त के मन नष्ट हो गया है, जो गुप्तित्रय से युक्त है, इन्द्रियों के व्यापार से रहित जिसका चित्त हो गया है और भावेन्द्रिय की जिम्मे के प्रधानता है उस जीव के निरचल-ध्यान होता है। उस ध्यान से उस जीव के जीव और मन का समरसीकरण होता है और फिर समरसीकरण से नियम से संवर्धित होती है। उस संवर्धित से पृथ्वा निद्रा और क्षुधा ये उसके नष्ट हो जाने पर वह ध्यानी पुरुष चरक भेण्ड में आरोहण करता है। फिर चपक भेण्ड में आरुह्य हुआ वह निद्रा आदि का कारण जो मोह कम है उसे निःशेष कर करता है। उसके पीछे हो जाने पर केवलज्ञान उत्पन्न होता है। वह केवलज्ञान अठारह दोषों के क्षय हो जाने पर होता है, ये अठारह दोष हैं क्षुधा आदि, ये केवली के नहीं होते। यदि कितने ही क्षुधादि दोष उसके होते हैं तो यह परमात्मा नहीं है, अथवा अनन्तबीर्य वाला नहीं है। नोर्माहार, कर्माहार, कबलाहार, लेपाहार, भोज-आहार और मन-आहार इस प्रकार छह प्रकार का आहार होता है, इनमें से नोर्माहार और कर्माहार ये दो तो सभी चतुर्गति वाले जीवों के होते हैं, कबलाहार मनुष्यों और पशुओं के होता है, पृथ्वी के लेपाहार होता है, अंडों में रहने वाले पक्षियों के भोजाहार होता है और देवों के मन-आहार होता है। इन छहों आहारों में से कबलाहार, लेपाहार, भोज-आहार और मन-आहार यह चार प्रकार का आहार केवली के नहीं होता। नोर्माहार और कर्माहार केवली के होता है, वह भी आगम में उसके उपचार से कहा गया है, निश्चय से तो वह भी नहीं

है, क्योंकि केवली उत्कृष्ट बीतराग है। जो बीमला है, भोजन करता है वह सोता है, सोता हुआ अन्य विषयों का भी भोग करता है, विषयों का भोग करने वाला बीतराग ज्ञानी कैसे हो सकता है। इस लिये केवली के कबलाहार दोनों ही नहीं से नहीं है, जो केवली के कबलाहार मानते हैं वे आगमज्ञ नहीं हैं। यथा—

केवलभुक्ती अरुहे कहिया जा सेवडेण तदि तेण ।
सा एत्थि तस्स गुणं पियदमणो परमजोईणं ॥१०३॥
गुप्तित्रयजुत्तमस्य य इंदियबावाररहियचित्तस्य ।
भाविदियमुक्कत्तस्य य जीवस्स य एण्वलं भणं १०४
अण्येण तेण तस्स हु जीवमणस्माण समरसीवरणं
समरसभावेण पुणो संविप्पी होइ पियमेण ॥१०५॥

संविप्पी ए वि तहा,

तएवा पिय य खुहा य तस्स एवसंति ।

खट्टेसु तेषु पुरिसो लवयस्सेणि सभाइइ ॥१०६॥

लवणसु य आरुद्धो पियहाईअरणं तु जो मोहो ।

आइ खयं पियस्सेसो तकस्सीये केवलं एणं ॥१०७॥

तं पुण केवलखाणं दसट्टरोसाण इवइ एास्मि ।

तं दोसा पुण तस्स हु खुहाइया एत्थि केवलियो ॥१०८॥

जइ संति तस्स दोसा केत्तियमत्ता खुहाइ जे भणिया

ए इवइ सो परमप्पा अणंतविरिओ हु सा अइवा ॥

लोक्कम्म-कम्महारो कबलाहारो य लेप्यहारो य ।

उज्ज मणो वि य कममो आहारो ज्जिव्हो खोओ ॥

लोक्कम्म-कम्महारो जीवाणं होइ चण्णइगवाणं ।

कबलाहारो एरपसु कक्खेसु य लेप्यमाहारो ॥१११॥

पक्खीणुज्जाहारो अंडयमक्खेसु वट्टमाणणं ।

देवेषु मखाहारो चज्जिव्हो एत्थि केवलियो ॥११२॥

लोक्कम्म-कम्महारो लवयारेण तस्स आयमे भणियो ।

य हु एक्खपण सो वि हु बीवरओ परो जण्ह ॥

जो जेमइ सो सोचइ सुतो अण्यो वि विसयमणुहवइ
विसय अणुहवमाणो स बीरराओ कइं एण्यो ॥११४
तन्हा कवलाहारो केवलिणो एत्थि दोहि वि एणहि ।
मण्णंति य आहारं एो वे मिच्छायअण्णणि ॥११५॥

—भावसंग्रह

भगवान् अकलंकदेव यों लिखते हैं कि लाभान्तराय के परिपूर्ण निरास से कवलाहार के त्यागी केवली के जिससे कि शरीर बलाधान के कारण, अन्य मनुष्यों में न पाये जाने वाले, परमशुभ, सूक्ष्म, अनन्त पुद्गल प्रतिक्षण सम्बन्ध को प्राप्त होते रहते हैं वह ज्ञायिक लाभ है । इस कारण आंशरिक शरीर की किञ्चिन्मूल्य पृथ्वीकोटि वर्ष की स्थिति कवलाहार बिना कैसे सम्भव होती है, इस प्रकार का जो वचन है वह अशिञ्जित-कृत मालूम पड़ता है । यथा—

लाभान्तरायम्याशेषनिरासात्परित्यक्तकवलाहार-
क्रियाणां केवलानां यतः शरीरबलाधान-हेतवोऽन्य-
मनुजासाधारणाः परमशुभाः सूक्ष्मा अनन्ताः प्रति-
समयं पुद्गलाः सम्बन्धमुपयान्ति स ज्ञायिको लाभः
तस्मादादारीकशरीरस्य किञ्चिन्मूल्यपृथ्वीकोटिवर्षस्थितिः
कवलाहारमन्तरेण कथं संभवतीति यद्वचनं तदशि-
ञ्जितकृतं विज्ञायते ।

—तत्त्वाध्वार्तिक पे० ७३

स्वामि पूज्यपाद कहते हैं कि भगवान् केवली के धारिता कर्मों के क्षय से अतिशय गुण होते हैं, वे दश ही हैं चार सौ कोश तक सुभिन्न होना, आकाश में गमन, अप्राणिवध, भुक्ति-कवलाहार का अभाव, उपसर्ग का अभाव, चतुर्मुखता, सब विद्याओं का ईश्वरपना, शरीर की छाया न पड़ना, चक्षुषों की टिमकरी का न होना और नल केश न बढ़ना ।

गन्धूतिरातचतुष्टयसुभिन्नता गगनगमनमप्राणिवधः ।
भुक्त्युपसर्गाभावश्चतुरास्यत्वं च सर्वविशेषवरता ॥३
अच्छायास्त्वमपदमस्पन्दश्च समप्रसिद्धनरवकेशत्वं ।
स्वतिशयगुणा भगवतो धातिक्षयजा भवन्ति तेऽपि
दर्शव ॥४॥

—नन्दीश्वर भक्ति

इन दश अतिशय गुणों में एक भुक्त्यभाव नाम का अतिशय गुण है और वह धाति कर्मों के क्षय से प्रकट होता है । तुच्छ वैदनीय प्रकृति की इतनी बड़ी कीमत जिसके उदयापन होते हुए केवली के भोजन होना ही चाहिये और धाति कर्मों के क्षय की कोई कीमत ही नहीं—जिससे बड़े बड़े अतिशय गुण प्रकट होते हैं, यदि भुक्त्यभाव नहीं होता तो इसका यह अर्थ भी हुआ कि शेष नौ अतिशय भी भगवान् केवली के नहीं होते हैं । तथा च दसः सर्वेभ्य आगमैभ्यो जलाञ्जलिः ।

त्रिलोक प्रज्ञाप्रि जो प्राचीनता को लिये हुए है, तीन लोक का विस्तार के साथ वर्णन करने वाला ग्रंथ इसके बराबरी का अथ तक दूसरा उपलब्ध नहीं है और जो धवल और जयधवल के द्वारा खूब ही प्रमाण माना गया है । यद्यपि कम दोष से इसके कर्ता का नाम उपलब्ध नहीं है तथा पर भी यह परम प्रामाणिक आर्पण है, उसमें लिखा है कि चारों दिशाओं में सौ योजन तक सुभिन्नता, आकाशगमन, अदिसा-परमदया, भोजन-परिहीनता, उपसर्गरहितता, सर्वाभिमुख अर्थात् चतुर्मुखता शरीर की छाया का अभाव नेत्रों का अपरित्यन्द, सर्वविशेषवरता, नल-केशों में समानता अर्थात् इनका न बढ़ना, और अठारह महाभाषा, सात सौ क्षुल्लकभाषा, सैंकी जीवों की अक्षरात्मक और अनक्षरात्मक सब भाषाएँ, इन सब

भाषाओं में तालु, दांत, ओष्ठ और कंठ के हिलन-चलन व्यापार के बिना एक ही काज में भव्यजनोंको दिव्य उपदेश देने वाली स्वभाव में अस्खलित और निरुपम दिव्य ध्वनि खिरती है जो तीनों सन्ध्याओं में नव मुहूर्त तक खिरती है और एक योजन पर्यन्त सुनाई देती है, इसके अलावा समय में भी गणधर देव, इन्द्र और चक्रवर्ती के प्रनानुसार सप्तभंगों द्वारा अर्थ का निरूपण करती हुई वह दिव्यध्वनि खिरती है। तथा वह दिव्यध्वनि, भव्यजीवों को छह द्रव्य, नौ पदार्थ, पांच अश्विजय और सात तत्व का उपदेश देती है; ये महान आश्चर्यजनक ग्यारह अतिशय घनिकर्म के क्षय में, तीर्थंकरों के केवलज्ञान उत्पन्न होने पर होते हैं। यथा—

जोयणसदमज्जादं मुभिकस्यदा चउदिमामुणियराणा
खहगमणएमहिंसा भोयण-उवमग्गपरिहीणा ॥

सत्त्वादिमुहृद्वियत्तं अरुद्धायत्तं अपक्खकंदित्तं ।

विउज्जाणं ईसत्तं समणहरोमणत्तं मजीवन्दि ॥

अट्टरस महाभासा खुल्लयभासामयाईं सत्त तद्दा ।

अक्खरअणक्खरएयसएणाजीवाणसयलभासाओ ॥

एवामुं भासामुं तालुपदंतोठ्ठकंठवावारे ।

परिहरिय एक्ककालं भव्यजणे दिव्यभासित्तं ॥

पगदीए अक्खलजिओ संजभत्तिदयम्मि एवमुहुत्ताणि ।

णिस्सरदि णिकवमाणो दिव्वज्जुणो जाव जोयणत्तं ॥

सेसेमुं समएमुं गणहर-देविद-चक्रवट्टीणं ।

पवहाणुत्तवमत्तं दिव्वज्जुणो अ सत्तभंगीहिं ॥

छहअ-एवपचत्थे पंचट्टोकाय-सत्तनरुचाणि ।

याणाविहदेदुईं जादा एक्कारस अदिसया महच्छरिय,
एदे तिथवराणं केवलणाणम्मि उपएणे ॥

—तिलोयपण्णत्ती अचि० ४

इस तरह जहां देखिये वहां केवजो के कवनाशर

के अभाव की गुण गाथा गाई गई है। प्रमेयकमल-मार्तण्डमें यह तो विषय अनेकों युक्तियों द्वारा विस्तार के साथ निरूपण किया गया है, थोड़ा सा उसका नमूना भी देखिये।

जो आत्मा के जीवन्मुक्ति में कुवलाहार मानते हैं उनके जीवन्मुक्ति में इसके अनन्त अनुष्ठेय स्वभाव का अभाव हो जाता है।

उस जीवन्मुक्त के अनन्तमुख का अभाव भी यों हो जाता है कि वह बुभुक्षा से उत्पन्न हुई पीड़ा से युक्त हो जाता है। बुभुक्षाजन्य पीड़ा के परिहार के लिये सब जीवों का कुवलाहार के ग्रहण करने में प्रयास प्रसिद्ध हो है। तथा भूख लगने पर यह केवली समवशरण में बैठता बैठता ही भोजन करता है या चर्यामार्ग से जाकर, यदि समवशरण में ही भोजन करता है तब तो उसने मार्ग ही नाश कर दिया, तथा भूख लग आन के परचान आहार न मिलने पर स्थान हुए यथावद्बोध—हीन भगवान के मोक्षमार्ग का उपदेश कैसे बनेगा। यदि यों कहे कि भूख लगने के बाद देव समवशरण में आहार ले जाते हैं। यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि इस विषय में कोई प्रमाण नहीं है, कहे कि आगम प्रमाण है यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि तुम्हारे और हमारे प्रसिद्ध आगम का भी प्रमाण है, तुम्हारे यहां प्रसिद्ध आगम के होते हुए भी उससे उक्त बात मिट्ट नहीं होती क्योंकि 'भुक्त्युपसर्गाभाव' अर्थात् केवली के भोजनाभाव और उपसर्गाभाव इत्यादि प्रमाणभूत आगम भी मौजूद है। यदि चर्यामार्ग से जाकर केवली भोजन करता है तो चर्यामार्ग में भी क्या घर-घर जाता है या एक ही घर में भिक्षा का लाभ जानकर प्रवृत्ति करता है। पहले पक्ष में भिक्षा के लिये

घर-घर पर्यटन करने वाले केवली के अज्ञानपने का प्रसंग आता है, दूसरे पक्ष में उसके भिक्षाशुद्धि न होगी। फिर यह भगवान् व्याध लुब्धक आदि के द्वारा सब जगह, सबकाल में व्याहन्यमान मत्स्यादि प्राणियों और उनके मांसों को तथा अशुचि पदार्थों को साक्षान् करता हुआ कैसे आहार ग्रहण करता है, इनको साक्षान् देखता हुआ भी आहार कर लेता है तो यह भगवान् क्याहीन ठहरता है। जीवों का वध और विघ्नादिक को साक्षात् करते हुए व्रतशील संविहीन भी भोजन नहीं करते हैं, भगवान् तो व्रतादिक में सम्पन्न हैं वह उन वस्तुओं को देखता हुआ कैसे भोजन कर लेता है, नहीं तो यह भगवान् उनसे भी हीन शक्ति वाला साक्षित हो जाता है। इत्यादि,

अन्त में यह जो लिखा गया है कि समन्तभद्र-स्वामी ने आप्त-मीमांसा में वीतराग के भी सुख और दुःख का सद्भाव स्वीकार किया है। यथा—
पुण्यं ध्रुवं मृतो दुःस्वान् पापं च सुखतो यदि।

वीतरागो मुनिर्विद्वान्माध्यां युज्यान्नमिलतः ॥६३॥

सांचिये और विचारिये, इस बात को कम से कम कवलाहार का पापक समाज भी नहीं मानता है, दिगम्बर जैन संप्रदाय को केवली कवलाहार मनाने के लिये ऐसे अनुचित अवलम्बन तो नहीं लेना चाहिये। यह साता-असाताजन्य सुख दुःख यदि केवली भगवान् के हैं तो उनके ये ऐन्द्रियज हैं या आत्मोत्प, ऐन्द्रियज हैं तो क्या भगवान् के घाति कर्मों के नारा हो जाने पर ऐन्द्रियज, अनित्य सुख-दुःख बने रहते हैं तो भगवान् के मतिज्ञानादिकों का प्रसंग आवेगा तब क्या भगवान् के मतिज्ञानादि चाबोफराधिक ज्ञान भी हैं। यदि ऐन्द्रियज नहीं हैं तो सभी प्राणिधों के सावसावाजन्य सुख-दुःख

आत्मोत्प ठहरेंगे फिर अनन्त सुख जो घाति कर्म से उत्पन्न होता है वह कहाँ रहेगा, एक ही केवली में घातिजन्य अनन्त सुख भी और सातासाताजन्य वैधायिक अनित्य सुख-दुःख भी। यह तो एक अपूर्व बात हुई, जो अब तक किसी को भी ज्ञात न थी। इसकी खोज पाँचों ज्ञानों के अलावा और ही किसी ज्ञान से हुई मात्तम पड़ती है।

उक्त श्लोक में अपने दुःख-सुख से पुण्य और पाप का बंध कहा गया है, तब क्या, श्लोकगत वीतराग केवली हैं या और कोई। यदि केवली हैं तो उनके अपने में सुख-दुःख उत्पन्न करने से कौन से पाप-पुण्य का बन्ध होता है और उसका फल केवली रहते हुए कब भोगेंगे। कर्म—बन्ध का फल भोगना जरूर चाहिए जब कि असाता के उदयजन्य अर्थात् क्षुधादि पीड़ा भोगते हैं। यदि नहीं भोगते तो असातोदय बुभुक्षा दुःख भी केवली नहीं भोगते।

केवली के बन्ध एक सिर्फ सातावेदनीय कर्म का होता है, जो समय-स्थितिक है। वह भी सूखी दीवाल पर लगी हुई धूलि के समान है, जो दीवाल को तरह केवली का भला-पुरा करने में समर्थ नहीं है। फिर दिगम्बर जैन सम्प्रदाय में तो अपने सुख-दुःखों में पुण्य-पाप का बन्ध भी तो नहीं माना है, 'विशुद्धसंकलेशागं' इत्यादि श्लोक न कहते और उसमें बड़ी हुई विशुद्धि में पुण्यबन्ध और संकलेश से बन्ध का समर्थन न करते। केवली वीतराग के पापबन्ध तो होता ही नहीं है, ऐसी शक्त में अपने में सुख उत्पन्न करने से जिसके पापबन्ध तो होता है वह केवली वीतराग न होकर और कोई वीतराग होगा जिसको लेकर भगवान् समन्तभद्र स्वामी ने आपत्ति दी है। दरअसल में बात है भी यही।

क्योंकि टीका में कहा है कि 'वीतरागस्य कायक्लेशा-
दिरूपदुःखात्पत्तेः विदुषस्तत्त्वज्ञानसन्तोषलक्षणं मुख्यो-
त्पत्तेः'। अर्थात् वीतराग के कायक्लेशादि रूप
दुःख की उत्पत्ति होती है, विद्वान के तत्त्वज्ञान से
उत्पन्न मन्तोष लक्षण मुख्य की उत्पत्ति होती है।
आवापनादियोगों के धारण करने से कायक्लेशादि
होते हैं, केवली तो उन कायक्लेशादि का फल प्राप्त
कर चुके, अब केवल अवस्था में कायक्लेशादि हैं
नहीं। मन्तोष लक्षण मुख्य भी नहीं है, मन्तोष एक
मोहनीय कर्म की पर्याय है, मोहनीय कर्म भगवान
केवली के हैं नहीं इस लिये उसका पर्याय मन्तोष-
लक्षण मुख्य भी नहीं है। इससे मालूम होता है कि
मुख्य-दुःख के निमित्त से पुण्य-पाप से लिप्त होने
वाला और कोई वीतराग है, केवली वीतराग विद्वान
नहीं हैं। अतः उसमें सात्तामाताजन्य मुख्य-दुःख
की कथा अपना सा मुंह लेकर सात समुद्र पार पहुँच
जाती है।

अब, अब इस विषय का यही पर अन्त किया
जाता है कि 'जैन-समाज के दिगम्बर और श्वेताम्बर
के दो सम्प्रदाय मुख्य हैं। इन सम्प्रदायों में
शास्त्रीय मान्यता सम्बन्धी जो भेद हैं उनमें प्रधानतः
तीन बातों में मतभेद पाये जाते हैं, यह लिख के तीन
बातें लिखी गई हैं, जिनका कि ऊपर निराकरण
किया गया है। 'प्रधानतः तीन बातों में मतभेद
पाये जाते हैं' इससे मालूम पड़ता है कि मतभेद तो
और भी हैं परन्तु वे प्रधान नहीं हैं। प्रधान न सही
परन्तु वे अप्रधान मतभेद रहेंगे कहां, उन्हें दिगम्बर
मान लेंगे या श्वेताम्बर छोड़ देंगे। श्वेताम्बर
सम्प्रदाय में ऐसी कई बातें कही गई हैं जो दिगम्बर
सम्प्रदाय के विरुद्ध पड़ती हैं। जैसे—एक युगलिये

का मर जाना और उसकी युगलन सुनन्दा को आदि-
नाथ की बधूटी के रूप में नाभिराय द्वारा, स्वीकार
कर लिया जाना। मरुदेवी की हाथी पर बैठे बैठे
ही केवलज्ञान हो जाना, उपाधयमें भग्न लगाती हुई
के केवलज्ञान का प्राप्ति हो जाना, मल्लिबाई का
तोथेकरी होना, श्रावकों की ग्यारह प्रतिमाओं का
रात दिन का अन्तर, मुनियों का पात्र रखना, भग-
वान महावीर जिनेश्वर का विवाह होना, उनके
यशोदा नाम की लड़की का होना, भगवान के उप-
सर्ग होना, उनपर तेजोलेश्या के छोड़ने से पंचिशा
हो जाना, छह महीने तक उस रोग का रहना, अन्त
में कुष्ठ स्थान को देना, केवली के दर्शन और ज्ञान
का कमवर्ती मानना, मरुदेवी के उदर से ऋषभदेव
और मुसंगला का युगल उत्पन्न होना और दोनों का
पति पत्नी होना। भरत चक्रवर्ती को गंगा देवी
द्वारा अपने रत्नगृह में ले जाना और वहां एक
हजार वर्ष तक भरत के साथ भोगविलास करना,
इत्यादि अनेक मतभेद ऐसे हैं जो आचार्यों के मत-
भेद कहकर टाले नहीं जा सकते। इन सब विषयों
को लेंकर हमें तो दिगम्बर और श्वेताम्बर शासनों में
पूरा मौलिक भेद प्रतीत हो रहा है। जो देवों द्वारा
भी अपरिहार्य है।

इस प्रकार प्राचीन और अर्वाचीन शास्त्रों पर से
यह निश्चित-रूप से जाना जाता है कि दिगम्बर जैन
सम्प्रदाय में न तो खो-मुक्ति उसके किसी भी आगम
से सिद्ध है, न संयमी के वस्त्र-न्याय अनिवार्य है
और न केवली के कबलाहार की ही विधि है, पद-
स्नानागम का सम्पूर्ण कथन आबमानुषी और भाव-
स्वीवेद को लेकर है, चौदह और नौ तक के इनके
गुणस्थान भाव से सम्बन्ध रखते हैं। ग्रन्थ से

द्रव्य पुरुष के ही ये नौ गुणस्थान कहे गये हैं। द्रव्य स्त्री के पांच से ऊपर के गुणस्थान नहीं हैं। इस लिये द्रव्यस्त्री को मुक्ति प्राचीन षट्संख्यसिद्धांत से भी सिद्ध नहीं है। कुन्डकुन्दादि ऋषियों ने जो द्रव्यस्त्री के मुक्ति का निषेध किया है वह गुणस्थानचर्चा और कर्मसिद्धान्त के विवेचनपूर्वक ही है।

भगवती आराधना के अनुसार षष्ठादि गुणस्थान वर्ती मुनियों के सबस्य अपवादलिंग नहीं है और न अन्य सर्वार्थसिद्धि, राजवार्तिक ध्वज आदि में ही मुनियों के वस्त्र-परिधारण सिद्ध है अत एव किमी भी जैनागम में वस्त्र-सम्प्रत्यक्षिगधारी अपनी सम्प्रत्य पर्याय में मुक्ति का अधिकारी नहीं है, मुक्ति निषेध लिंग में ही होती है।

केवली के कवलाहार भी किसी दिगम्बर जैन आगम से सिद्ध नहीं है, तत्त्वार्थसूत्र का कथन उपचार में क्षुधादि परीषहों का विधान करता है और कार्य-रूप से निषेध करता है। तत्त्वार्थसूत्र सूक्ष्मसांपराय गुणस्थानवर्ती के सूक्ष्म लोभ रूप चारित्र मोह का उद्दय होते हुए भी मुनि के आठ परीषहों का अभाव कहता है और चौदह का ही नियम करता है, वहां अतिमूढ लोभ नहीं के बराबर माना जाकर आठका अभाव कहा गया है, इसी तरह केवली के मोहोद्दय विरहित वेदनीय का उद्दय होते हुए क्षुधादि परीषहों का अभाव कहा गया है या सिर्फ वेदनीय के उद्दय-सत्त्व की अपेक्षा से उपचार संभव कहा गया है, शेष शास्त्राकार्यरूप से क्षुधादि का निषेध करते हैं अतः

परस्परमें कोई विरोध नहीं है इस तरह किसी भी दि० जैन शास्त्र से उक्त तीनों विषय सिद्ध नहीं हैं बल्कि तीनों का सब दि० जैन शास्त्रों में जोरों के साथ निराकरण पाया जाता है।

अन्त में हम प्रोफेसर जी से समा-वाचना करते हैं, कि कहीं कोई कटुता का प्रसंग आ गया हो तो वे हमें समा प्रदान करें। शास्त्रोक्त विधि से तीनों विषय विपरीत पड़ते हैं इस लिये हमें भुतभक्ति-वशा यह निराकरण लिखने को बाध्य होना पड़ा है, बाकी आपके प्रति कोई प्रकार का द्वेष या वैमनस्य नहीं है।

मैं इस वर्ष मृत्यु शय्या तक पहुँच चुका था, फिर भी कम बिधाता मुझे छोड़ गया, मैं पूर्ण स्वास्थ्य-लाभ भी नहीं कर सका था, इतने में मेरे इष्ट मित्रों की प्रेरणा और सौहार्द ने मुझे आ बेरा। एक तो समय कम, दूसरे पूर्ण स्वास्थ्य का अभाव, तीसरे परिभ्रमसे पुनः अस्वस्थ हो जाने का डर, इन कारणों के होते हुए विषय संकलन में कोई त्रुटि रही हो तो भुत देवता से ब पाठक वर्ग से भी समा-वाचना कर इस विषय से विभ्रम लेता हूँ।

रुस्तु तूयं लोको सन्धं अकस्मत्तवस्स साहुस्स।

कि जूयभए साडी विवग्गिजवन्वा यरिदेण ॥१॥

नशिवां, व्यावर

आसोज भूरी ५ सं० २००१

भुतभक्त—

पद्माक्षस सोनी,

न्याय सिद्धांत शास्त्री

[??]

दत्तपथ-नीपक

—♦—(बानी)—♦—

[प्रोफेसर हीरासाह जी की असत् धारणा का निराकरण]

अजितकुमार जैन तस्त्रां

बुलतान सिटी

प्राक्कथन

विश्वबंध भी बीर प्रभु तथा श्री कुन्वकुम्हाचार्य, स्वामी समन्तभद्राचार्य का अनुयायी यह कब कहता है कि नेत्र बन्द करके सब कुछ मानते चले जाओ। जब कि उसके गुरु स्वामी समन्तभद्राचार्य अपने आराध्यदेव भगवान महावीर के सन्मुख उनकी ही परोक्षा करने के लिये (देवागम स्तोत्र द्वारा) खड़े हो जाते हैं तब उनके पश्चिम्हों पर चलने वाला उन का अनुयायी इस बात से कब कतरावेगा कि श्री बीर जिनेश द्वारा प्रतिपादित तथा कुन्वकुम्हाचार्य, स्वामी समन्तभद्राचार्य, अकलंकदेव, विद्यानन्दि आदि दिमाज मेधावी विद्वान् ऋषिबरो द्वारा प्रचारित तत्त्व-माला की मर्चाई को अपनी बुद्धि कमीटी पर कोई भी व्यर्थ न परखे। यह तो उसके सौभाग्य की बात है और जब कि यह बात उसका अपना भाई ही करे तब तो परम सौभाग्य मानना चाहिये।

अतः सुपरिचिन भीमान बा० हीरालाल जी एम. ए., प्रोफेसर एडवर्ट कालेज अमरावती (वर्तमान में मोरेस कालेज नागपुर) सम्पादक-‘धवला’ ग्रन्थ ने स्त्री-मुक्ति, केबली कबलाहार और मशहूरी माधु का का बकायागण विषय पर अपने अनुकूल विचार प्रकट किये हैं, वह एक हप्ते की बात है। इन विषयों को उन्होंने जैसा कुछ समझ वैसा लेखबद्ध किया है। इतनी त्रुटि उनसे अवश्य हुई है कि उन्होंने अपूर्वी कचवी स्त्रोत्र को पूर्ण, सत्य, पक्का निर्णय समझ कर प्राच्य सम्मेलन बनारस में जाकर सुना दिया। आपकी इस क्रिया से ओलाओं को अन्त धारणा हुई होगी।

आप दिगम्बर जैन समाज के मण्डनीय विद्वान हैं

आपके ऊपर समाज ने धवला सरीले महान ग्रन्थ का सम्पादन भार रखा हुआ है। इस दिशा में आपको दिगम्बर जैन समाज का सत्कषा प्रतिनिधित्व करना था। ऐसा न करते हुए आपने इसके विपरीत दिगम्बर जैन सिद्धान्त की बुनियाद को ढिलाने का यत्न किया। आप उसमें कितने सफल या असफल हुए वह तो अगले कुछ बतलावेंगे किन्तु इतना तो निश्चित है कि जिन बुनियादों (नींव) को सैकड़ों ह शतों वर्षों से अनेक बार ढिलाने की चेष्टायें असफल हुई हैं जिनकी सुरक्षा के लिये महान प्रख्यात विद्वानों आपाओं ने अकट्य कुशियों से पूर्ण अनेक ग्रन्थ निर्माण कर डाले हैं वे यों हिल भी नहीं सकती। अस्तु।

श्री दिगम्बर जैन पंचायत बम्बई ने प्रोफेसर साहब के लेख की नकल छपाकर मेरे पास भेजी और मुझे उसका प्रतिवाद लिखने के लिये प्रेरित किया। तर्क उसे धन्यवाद है। मुलतान नगर की गर्मी भारतवर्ष में प्रसिद्ध है जिन दिनों में ये कुछ पृष्ठ लिखे गये हैं उन दिनों में तो गर्मी बौवन पर थी कुछ अन्य निजी बकायटें भी थी अतः इस पुस्तक के लिखने में न बंधे समय मिला है, न सुविधा। अतः भाषा सम्बन्धी तथा अन्य त्रुटि रह जाना सम्भव है। जो सज्जन मुझे मेरी त्रुटि बतलावेंगे मैं उनका कृतज्ञ हूंगा।

अकलंक प्रेस, अजितकुमार जैन शास्त्री,
आषाढ़ सुदी १४ (चावली) आगरा,
बुधवार बीर सं० २४७० (वर्तमान) मुलतान नगर

कुछ और—

अपना लेख बम्बई पंचायत के पास पास भेजते हुए मैंने यह लिखा था कि 'पुस्तक का प्रक संशोधन अशुद्ध होना चाहिये जिससे पुस्तक में कोई अनर्थ-कारिणी अशुद्धि न रह जावे।' इसके उत्तर में बम्बई पंचायत ने सारा ग्रन्थ ही छपने मुझे दे दिया मेरी स्वल्प शक्ति तथा स्वल्प साधनों के कारण तथा अन्य विघ्नों के कारण पुस्तक प्रकाशन में आशाहीन विफल हुआ है।

इसी बीच में धबला के भाषा टीकाकार श्रीमान पं० हीरालाल जी न्यायतीर्थ उज्जैन का जैनसन्देश २८ दिसम्बर १९४४ के अंक में दूसरे पृष्ठ पर निम्न-लिखित लेख प्रगट हुआ है—

प्रोफेसर हीरालाल जी के वक्तव्य पर मेरा

—स्पष्टीकरण—

'जैनसन्देश' के ताजे २० नवम्बर के अंक में 'प्रोफेसर हीरालाल जी संवर्षा' शीर्षक लेख छपा है, जिसमें उन्होंने 'प्रारम्भ में मैं इस विषय को विष्कुल नहीं जानता था, उस समय जो विद्वान काम करते थे उन्हीं की सलाह पर निर्भर रहना पड़ता था' आदि अप्रामाण्य वक्तव्य प्रकट किया है, वह बहुत भ्रामक और असत्य है। सच बात यह है कि प्रथम दो भागों का अनुवाद अमरावती पहुँचने के पूर्व ही मैं उज्जैन में कर चुका था और उसमें मूल, अर्थ या टिप्पणी में कहीं भी मैंने 'संज्ञ' पद ६३ वें सूत्र में नहीं जोड़ा था। अमरावती पहुँचने पर वहाँ की व्यवस्था अनुसार प्र० भाग के अनुवाद की प्रेरणा करनी का काम

पं० पूरुषचन्द जी को सौंपा गया, उस स्थल के विचारार्थ सामने आने पर मैंने अपनी ओर से जोड़ने का विरोध ही किया था और इसी कारण मूल सूत्र में वह पद जोड़ा भी नहीं जा सका। अनुवाद में कब कैसे जुड़ गया यह आप दोनों ही जानें, क्योंकि अनुवाद की प्रेरणा करनी वाले प्रक गीर्दिग और छपने की आर्डर देने वाले आप दोनों ही क्रमशः जिम्मेदार हैं। इसी सूत्र के 'भावस्ती विशिष्ट मनुष्यगति' पद का जो भ्रामक अर्थ छपा है, उसके भी जिम्मेदार आप दोनों ही हैं। प्रमाण के लिये मेरे हाथ का अनुवाद अब भी देखा जा सकता है।

—पं० हीरालाल शास्त्री उज्जैन

इस लेख की बातें यदि सत्य हैं तो बहुत आश्चर्य और बहुत खेद की बात है कि श्रीमान प्रोफेसर हीरालाल जी अपने कर्तव्य—पालन में स्थिर न रह सके। सर्वोच्च सिद्धान्त ग्रंथ के सम्पादन में उन्हें ग्रन्थ प्रणेता आचार्य का भाव उद्योग का त्याग करना था उसमें अपना अनुमान का भाव न मिलाना था। जब कि (धबला) पट्टकच्छागम के ६३ वें सूत्र में 'संज्ञ' शब्द है ही नहीं तब आपने भाषा अर्थ में 'संज्ञ' शब्द क्यों जोड़ा? तथा टिप्पणी में "अत्र 'संज्ञ' इति पाठशेषः प्रतिभाति" ऐसा क्यों अपने पास से छपाया। यदि पं० हीरालालजी

म्हावलीय विरोध न करते तो सम्भव है सूत्र में भी 'संज्ञ' शब्द जोड़कर आप महा अनर्थ कर देते।

जब ६ दि० परम्परा में श्री के पांच ही गुण-त्वाओं का विधान है और वैसा ही स्पष्ट विधान पट-ल्लहागम के इस ६३ वें सूत्र में है फिर आपने अपनी मनोनीत कौमुदि इम सबेप्राचीन ग्रन्थ से सिद्ध करने के लिये इस प्रकार चेष्टा की है यह बहुत अनुचित एवं अनधिकार यत्न है। जो कि आप सरीखे महानुभाव के द्वारा कदापि न होना चाहिये था। दिगम्बर जैन समाजने आपके ऊपर विश्वास करके जिस महान् कार्य को आपके हाथ सौंपा उसमें ऐसी काल्पनिक असत् आनुमानिक जोड़ तोड़ एवं मूल सूत्र में 'मंजद' शब्द न होते हुए भी अपने पास से रत्न देने जैसी बात न होनी चाहिये थी। जहां आपने दिगम्बर जैन सिद्धान्त के महान् सर्वांग सिद्धान्त ग्रन्थ के निःस्वार्थ सम्पादन का प्रशंसनीय कार्य किया है वहां यह महती त्रुटि करके अमृत में विष बिन्दु मिश्रण जैसा कार्य भी किया है।

इम आपकी अनुपम सेवाओं का इत्य मे आदर करते हैं तथापि 'शत्रोरपि गुणाः बान्याः दोषा वा-क्याः गुरोरपि' नीति के अनुसार स्पष्ट रूप से यह भी अवश्य कहेंगे कि आपका यह कार्य आप सरीखे विरक्त पुरुष के अनुरूप नहीं।

अन्त में 'धवला प्रकाशन ममिति' से यह निवेदन है कि वह धवला की प्रकाशित जिल्दों का कुछ सिद्धान्तवेत्ता विद्वानों द्वारा ध्यानपूर्वक स्वाध्याय करावे और यदि कोई अन्य भी त्रुटि रह गई हो तो उसका भी इस त्रुटि के साथ संशोधन कराकर ग्रन्थकार के को रखा करे। तथा जिन महानु-

भावों के पास वा जिन भवहारों में धवला की पद्धति जित् पहुंच गई है वे महानुभाव धवला के ३३२ वें पृष्ठ पर ज्यो टिप्पण्यो (सबसे नीचे की पंक्ति) १-“अत्र 'संज्ञ' इति पाटशेषः प्रसिभाति” को एवं ६३ वें सूत्र के भाषा अर्थमें 'संयत' शब्द को बिलकुल मिटा देंगे।

इसके सिवाय इस सूत्र की संस्कृत टीका के अर्थ में और भी दो बड़ी त्रुटियां रह गई हैं उनका भी सुधार होना चाहिये।

पहली त्रुटि (पृ० ३३२)

“हुण्डावसर्पिण्यां कीपु सम्यग्दृष्टयः किमोत्पद्यन्ते इति चेन्न, उत्पद्यन्ते।”

(भाषा) शंका—हुण्डावसर्पिणी काल सम्बन्धी स्त्रियों में सम्यग्दृष्टि जीव क्यों नहीं उत्पन्न होते हैं ? समाधान—नहीं, क्योंकि, उनमें सम्यग्दृष्टि जीव उत्पन्न होते हैं।”

धवला में ज्यो हुआ यह अंश यों होना चाहिये—
“हुण्डावसर्पिण्यां कीपु सम्यग्दृष्टयः किमोत्पद्यन्ते इति चेन्न, न उत्पद्यन्ते।”

यानी—शंकाकार पूछता है कि 'क्या हुण्डावसर्पिणी काल में सम्यग्दृष्टि जीव की शरीर में उत्पन्न नहीं होते ?

ग्रन्थकार का उत्तर—‘नहीं उत्पन्न होते हैं।’

यह अर्थ सिद्धान्त अनुसार ठीक बैठता है। जो अर्द्धविराम का चिन्ह (कौमा) 'न' के पीछे लगाया है वह उसके पहले होना चाहिये जिससे 'नुक्ते के डेर-फेर से खुदा जुदा हुआ' सरीका असत् अर्थ न होवे।

तदन्तर शंकाकार ने शंका की है कि सम्यग्दृष्टि

छियोंमें उत्पन्न नहीं होता “वह बात कैसे जानी जान ?”
ग्रन्थकार ने समाधान किया कि “इसी आर्ष
आगम प्रमाण से ।”

तब शंकाकार ने फिर (इसी ग्रन्थ में छियों के
चौदह गुणस्थानों का विधान देखकर) शंका की
कि “इसी आर्ष आगम से द्रव्यछियों के मोक्ष भी
सिद्ध हो जायगी ?” टीकाकार ने उत्तर दिया कि
“नहीं, छियां वक्ष रूप परिग्रह सहित होती हैं अतः
वे पंचम गुणस्थान-वर्तिनी होती हैं अतः उनके मक्ष
संयम (संयत झूठा गुणस्थान) नहीं होता ।”

तब शंकाकार ने कहा कि “कपड़ा पहने हुए भी
छियों के भाव संयम तो हो सकता है ?” टीकाकार
इसके समाधान में लिखते हैं कि “छियों के भाव-
संयम नहीं होता है क्योंकि यदि उनके भावसंयम
होता तो भावअसंयम का अविनाभावी वक्ष आदि
परिग्रह उनके नहीं होना चाहिये था ।”

तब शंकाकार ने प्रश्न किया है कि “फिर छियों
के चौदह गुणस्थान किस प्रकार होते हैं ?”

इसके समाधान में टीकाकार ने लिखा है कि—

“इति चेन्न, भावस्वीविराष्टमनुष्यगतौ तत्सत्त्वा-
विरोधात् ।”

इसकी भाषा यों प्रकाशित हुई है “नहीं, क्योंकि
भावस्वी में अर्थात् स्वीवेद युक्त मनुष्य गाँत में चौदह
गुणस्थानों के सद्भाव मान लेने में कोई विरोध
नहीं आता है ।”

इस भाषा अर्थ में थोड़ी सी दूसरी त्रुटि हुई है

जिससे कि स्वाभ्यास करने वाले संस्कृत से अर्थात्
स्वार्थ को भ्रम हो सकता है क्योंकि ‘अर्थात्’ के
पीछे जो ‘स्वावेदयुक्त’ शब्द रक्खा गया है वह
अस्पष्ट एवं भ्रामक है । अतएव उपर्युक्त वाक्य का
अर्थ यों करना चाहिये ।

“नहीं (शंकाकार की शंका ठीक नहीं) क्योंकि
भावस्वीवेद वाले मनुष्य के चौदह गुणस्थान हो
सकते हैं ।”

यदि इतना संक्षिप्त अर्थ भी कर दिया जाता तो
भी विषय स्पष्ट अभिन्न होकर पड़ता । यदि यही
पर विषय को स्पष्ट करने के लिये—

“द्रव्यस्वी के यद्यपि पहले पाँच ही गुणस्थान
होते हैं किन्तु भावस्वीवेदी द्रव्यपुरुष के समस्त गुण-
स्थान हो सकते हैं ।”

इतनी पंक्ति और जोड़ दी जाती तो बहुत अच्छा
होता । अस्तु ।

अब प्रोफेसर जी का तथा धबला प्रकारान
समिति का मुख्य कर्तव्य है कि इन तीनों त्रुटियों के
सुधारणार्थ सफल यत्न करें । जिससे कि जहाँ २
पर धबला का प्रति मौजूद है वहाँ वहाँ पर संशोधन
हो सके । अन्यथा भविष्य में यह और भी अनर्थ
की कारण हो सकती है ।

माघ वदी पंचमी

वीर सं० १४७१

३-१-४४

निवेदक—

अजितकुमार जैन

मुलतान



सत्पथ—नीपक



आज से प्रायः दो हजार वर्ष पहले का वह समय भारत के लिये विशेष कर अखंड जैन संघ के लिये अत्यन्त अशुभ था जब कि मालवा प्रान्त में लगातार बारह वर्ष का अकाल पड़ा था। उस अकाल के कारण जो जैन साधुओं का संघ भद्रबाहु आचार्य के नेतृत्व में दक्षिण प्रान्त (मद्रास, मैसूर, कर्णाटक) की ओर प्रस्थान कर गया वह अपनी साधु चर्या पर पूर्ववत् आरुढ़ रहा उसमें कोई विकार न आने पाया क्योंकि दक्षिण प्रान्त अकाल की भयानक परिस्थिति से अछूता था।

परन्तु जो साधु मध्य उस समय मालवा प्रान्तमें रहा आया उस पर असहनीय विकराल दुष्काल की विकट परिस्थिति ने बुरा प्रभाव डाला। उनकी पवित्र साधुचर्या स्वच्छ न रह सकी और उसमें विकार आ गया। वे अपने नम्र मन (अचेतकता) को अभ्युत्थान न रख सके। दुःसमय के विकट क्षेपों ने उन्हें कुछ बल ग्रहण करने के लिये विवश (लाचार) किया। जो कि उनमें से बहुत से साधुओं का स्वभाव सा बन गया और अकाल का अन्त हो जाने पर भी उनके उस विकृत शिषि-लाचार का अन्त न हुआ।

इस प्रकार जैन साधुओं का एक संघ अब दो रूप में विभक्त हो गया।

रवेताम्बरीय ग्रंथ कल्पसूत्र में भी अतः केवली भद्रबाहु आचार्य के समय बारह—वर्षी दुर्भिक्ष (अकाल) पड़ने का उल्लेख आया है—

“अन्यत्र द्वादशवर्ष—दुर्भिक्ष—प्रान्ते सङ्घा-
ग्रहेषु भी भद्रबाहुभिः साधुपञ्चशस्या अस्वर्ह
वाचनासत्केन” इत्यादि।

—पृष्ठ १६३ वि० सं० १६७६ में सम्बद्ध से
प्रकाशित

कुछ दिनों तक यह संघर्ष की व्यवस्था गोल-माल रूप से चलती रही। फिर विक्रम सं० १३१ या १३८ में दोनों साधुसंघों ने अपना अपना भिन्न भिन्न नामकरण कर लिया। जो साधु प्राचीन निर्ग्रन्थ नम्र वेश के अनुयायी रहे उनका नाम ‘दिगम्बर’ (विशा रूपी बच्चों का उपयोग करने वाले अर्थात् नग्न) प्रचलित हुआ और जो नवीन विकृत रूप में आये उन साधुओं के संघ का नाम “रवेताम्बर” (मपेद वस्त्र पहनने वाले) प्रचलित हुआ। दोनों साधुसंघों के अनुयायी भावक भी अपने पुर्य साधुओं के अनुसार दो (दिगम्बर, रवेताम्बर) में विभक्त हो गये। इस प्रकार एक अखंड जैनसंघ के दो करार हो गये।

किन्तु अर्हन्त प्रतिमाओं का निर्माण विक्रम सं० १०० तक नग्न बीतराग रूप में ही होता रहा। प्रसिद्ध रवेताम्बर विद्वान् ५० वैश्वरक्षस जी लिखित "जैन साहित्य में विकार" नामक पुस्तक के अनुसार किसी प्रतिमा के विषय में दिगम्बर रवेताम्बर संघ का परस्पर बहुत विवाद हुआ उस समय से रवेताम्बर जैन संघ ने अपनी प्रतिमाओं पर लंगोट (कन्दोरा) बिन्दू लगाना प्रारम्भ कर दिया शेष रूप बीतराग रूप में ही रक्खा। मुकुट, कुण्डल, आंगिया आदि वस्त्र आभूषणों द्वारा अर्हन्त प्रतिमाओं को सजाने की प्रथा तो रवेताम्बर सम्प्रदाय में बहुत पीछे (अर्वाचीन) प्रचलित हुई है।

रवेताम्बरीय आगम ग्रन्थों का निर्माण बीर सं० १८० में प्रारम्भ हुआ जैसा कि कल्पसूत्र के १४८ वें सूत्र में १२६ वें पृष्ठ पर लिखा है—

बल्लभहिपुरमि नयरे देवहिपमुहमयलसंघेहि।

पुंथे आगमलिहिओ एवसयअसीआओ बीराओ ॥

यानी—बल्लभीपुर में देवहि गणित कृमाभरण आदि समस्त साधु संघ ने बीर सं० १८० में आगम पुस्तक रूप किये।

किन्तु दिगम्बरीय ग्रन्थरचना इससे लगभग ४५० वर्ष पहले प्रारम्भ हो गई थी। षट्स्रष्टागम उन का पहला सिद्धान्त ग्रंथ बना। उसके पीछे समय-सार आदि ग्रंथों का निर्माण हुआ। समयसार के रचयिता आचार्य कुन्दकुन्द का समय ५० चक्रवर्ती आदि क्रिस्त-पूर्वार्धों ने गहरी ज्ञानवीन के साथ विक्रम सं० की पहली शताब्दी निश्चित किया है। श्री कुन्दकुन्द आचार्य विक्रम सं० ४४ में आचार्य ५९ पर आरुढ़ हुए थे।

षट्स्रष्टागम के रचयिता श्री पुण्ड्रन्त भूतबल आचार्य कुन्दकुन्द से पहले हुए हैं।

इस विभक्त जैन संघ के कारण जैनसमाज की शक्ति क्षीण हो गई है तथा होती जा रही है। इस दानि में चिन्तित अनेक समाज-हिमैयी महानुभावों ने दोनों संघों को मिलाकर एक कर देने की अनेक बार चेष्टा की है किन्तु उसमें इस कारण सफल नहीं हो पाये कि दिगम्बर रवेताम्बर सम्प्रदायों के सैद्धांतिक मतभेद की खाई को पाट देने में वे असमर्थ रहे।

किन्तु श्रीमान प्रोफेसर हीरालाल जी एडवर्ड कॉलेज अमरावती ने अभी हाल में ही ऐसा यत्न किया है।

श्रीमान प्रोफेसर हीरालाल जी, एडवर्ड कॉलेज अमरावती, (वर्तमान मोरेस कॉलेज : गपुर) दि० जैन समाज के उन कुछ एक विद्वानों में से हैं जिन्होंने जिनवाणों के उद्धार में पर्याप्त श्रम किया है। अपभ्रंश प्राकृत भाषा के अनेक ग्रन्थों के अतिरिक्त आपने प्रसिद्ध सिद्धान्त ग्रंथ 'ध्वज' का सम्पादन भी किया है।

आपने जनवरी सन १९४४ के समय हिन्दू विश्व विशालय बनारस में होने वाले अखिल भारतवर्षीय प्राकृत सम्मेलन में अपना लिखा हुआ निबन्ध पढ़ा था। उसकी असल कपी तो हमने देखी नहीं किन्तु बम्बई की पंचायतने विख्यात फर्म जुहाऊमल मूलचंद द्वारा उसको पुनः विद्वानों के विचारणार्थ छापाकर भेजने की कृपा की है। (आशा है पंचायत के कार्यकर्ताओं ने अपना उत्तरदायित्व समझते हुए प्रोफेसर साहिब के व्याख्यान को अक्षरशः ठीक छपाया होगा) उसे अवश्य देखा है।

इसको पढ़ने से ज्ञात होता है कि दिगम्बर श्वे-
ताम्बर सम्प्रदायों की सैद्धान्तिक एकता प्रगट करने
की उत्कट भावना को लेकर आपने अपना भाषण
लिखा है। भावना आपकी शुभ है किन्तु इसके
लिखे जो आपने शोधना में जैन सिद्धांत का बलिदान
कर दिया है वह अवश्य खेदजनक है। आप सरीखे
उत्तरदायित्वपूर्ण, धवला ग्रन्थ का सम्पादन करने
वाले विद्वान का ऐसा प्रयत्न उचित नहीं माना जा
सकता।

आपने भाषावेश में दिगम्बर सम्प्रदाय के सर्वांच
आचार्य कुन्दकुन्द का (जिनके विषय में कहा जाता
है कि उन्होंने सीमंधर नाथकर का भाषान्तर दर्शन
किया था, जिनकी वाणी के अतिशय में प्रभावित
होकर भी कान जो ऋषि आदि हजारों आध्यात्मिक
प्रेमी विद्वान स्वयं उनके अनुयायी हो चुके हैं) दक्षी
रसना से अप्रमाणित ठहराने का अतिसाहम किया
है। प्रोफेसर साहब को यह विषय पहले समाज के
विद्वानों के समस्त विचारणार्थ रखना था पोछे
अपना सिद्धान्त बनाकर प्राण्य सम्मेलन ने अपने
भाव प्रगट करने थे। आपको यह बात हृदय में
रखनी थी कि कुन्दकुन्द आचार्य का वचन
अन्यथा नहीं हो सकता दिगम्बर सम्प्रदाय
कुन्दकुन्दाचार्य के सन्मानमें सर्वस्व त्याग कर
सकता है।

इसके सिवाय आपने श्वेताम्बरीय ग्रन्थों के देखने
का भी कष्ट नहीं उठाया ऐसा ज्ञात होता है। आप
यदि उन ग्रन्थों का ध्यान से स्वाध्याय करने तो आप
अपनी यह धारणा न बना पाते। ऐसा हमारा

विश्वास है। आप जिस सिद्धान्त की पुष्टि के लिये
दिगम्बर सिद्धान्तों की बलि दे रहे हैं श्वेताम्बरीय
ग्रन्थों का भी अभिप्राय उसके विपरीत है।

संक्षेप से हम आपकी आपत्तिजनक मान्यता पर
क्रमशः प्रकाश डालते हैं।

स्त्री-श्रुति

आपने प्रथम ही दिगम्बरीय ग्रन्थों के आधार
से स्त्री श्रुति सिद्ध करके दिगम्बरीय श्वेताम्बरीय
सैद्धान्तिक भेद की खाई को पाटना चाहा है किन्तु
आप मूल बातों को दृष्टि से ओझल करके कोरे श्रुति-
वाद में चले गये हैं अतः सफल नहीं हुए।

आपने जिस कर्मसिद्धान्त के आधार से श्री कुं-
कुन्दाचार्य की मान्यता को अप्रामाणिक सिद्ध करने
के लिये यत्न किया है उस कर्मसिद्धान्त को आपने
सुझा भी नहीं।

प्रथम संहनन

कर्मसिद्धांत के अनुसार यह बात निर्णीत है कि
ब्रह्मवृषभनारायण संहनन धारक शक्तिशाली जीव ही
उग्र मर्वांच तपस्या तथा घोर दुष्कृत (पाप) करने
की क्षमता (शक्ति) रखता है। अतएव सप्तम
नरक जाने योग्य भयानक पापकृत्य भी बड़ी कर
सकता है। जैसी कि कहावत है कि जे कम्मे सूर्रा
जे धम्मे सूर्रा' यानी—जो जीव सांसारिक कार्यों में
शूरवीर होते हैं वे ही धार्मिक कार्यों में भी उस सीमा
तक शूरवीर हो सकते हैं।

गोम्मटसार कर्मकांड की ३० वीं गाथा देखिये—
एवंगविज्जाणुदिसणुत्तर वासीसु जासि ते णिक्कमा।

तिगुंगे संघट्टे शारायणमादिगे कमसो ।

अर्थात्—नाराच, वज्रनाराच और वज्रपभनाराच संहनन के उदय से नवमैवेयक में, वज्रनाराच तथा वज्रपभनाराच संहनन के उदय से नव अनुदिरा विमानों में एवं वज्रपभनाराच संहनन के उदय वाला जीव विजय, वैजयन्त, जयन्त, अपराजित और सर्वार्थसिद्धि इन अनुत्तर विमानों को प्राप्त कर सकता है ।

इसी प्रकार इसकी आगे की गाथा भी देखिये—
सस्यो हसंहट्टो वज्रादि मेयं तसो परं चारप ।
सेवट्टदीरहो पण पण चदुरंगसंहट्टो ॥३१॥

अर्थात्—संज्ञी जीव छह संहननों में से किसी भी संहनन से तीसरे नरक तक, मृपाटिका संहनन रहित (पांच संहननों में से किसी भी संहनन से) जीव पांचवें नरक तक, पांचवें छठे संहनन बिना पहले चार संहननों में से किसी भी संहननका धारक जीव छठे नरक तक और प्रथम (वज्रपभनाराच) संहनन धारक जीव सातवें नरक जा सकता है ।

इस कर्मसिद्धांत के अनुसार जो यदि अनुत्तर विमानों में अथवा सातवें नरक जाती हो वो उसके मुक्ति प्राप्त करने की क्षमता (सामर्थ्य) निर्विवाद मानी जा सकती है । परन्तु ऐसा है नहीं ।

देखिये सिद्धान्त चक्रवर्ती श्री नेमिचन्द्राचार्य के गोम्मतसार कर्मकांड की ३२ वीं गाथा—

अतिपतियसंहट्टणस्सुदमो पुण कम्मभूमिमहिलाणं
आदिमतिगसंहट्टणं एतित्ति त्रियोहि पिरिहं ॥३२॥

यानी—कर्मभूमिज स्त्रियों के अर्द्धनाराच, की-जित, असंभामामृपाटिका इन तीन संहननों का उदय होता है । पहले तीन संहनन (वज्रपभनाराच वज्रनाराच, नाराच) उनके नहीं होते ।

गोम्मतसार की इस एक गाथा से स्त्री-मुक्ति

विषय की समस्त उल्लेख सुलभ जाती है । आप यदि इस एक ही गाथा को हृदयंगम कर लेंगे तो कदापि भ्रम में न पड़ेंगे । क्योंकि कर्मे-भूमिज स्त्रियों के जब कि वज्रपभनाराच संहनन ही नहीं होता तब वे शुक्लध्यान प्राप्त नहीं कर सकती । क्योंकि शुक्लध्यान पहले संहनन वाले व्यक्ति के होता है । शुक्लध्यान हुए बिना स्त्रियों को मुक्ति मिलना असम्भव है ।

इस प्रकार कर्मग्रन्थ की यह गाथा आपको अपने विचारपथ में एक पद भी आगे नहीं बढ़ने देती ।

स्त्रियों को संहनन नहीं होना यह बात श्वेताम्बरीय सिद्धान्त ग्रन्थों में भी समर्थित होती है ।

श्वेताम्बरीय ग्रन्थ 'प्रकरणश्रुत्ताकर' (चौथा भाग) के संग्रहणीसूत्र नामक प्रकरण की २३६ वीं गाथा देखिये—

दो पदमपुठविगमणं छेवट्टे कीलियाइ संघयणे ।

इकिक्क पुठवि बुट्टी आइतिल्लेस्साउ नरम्म ॥

अर्थात्—छठे (असंभामामृपाटिका) संहनन वाला जीव पहले दूसरे नरक तक जा सकता है । दूसरा संहनन वाला तीसरे नरक तक, तीसरे संहनन वाला चौथे नरक तक, चौथे संहनन वाला पांचवें नरक तक, पांचवें संहनन वाला छठे नरक और वज्रपभनाराच संहनन वाला जीव सातवें नरक तक जा सकता है ।

इसी ग्रन्थकी २३४ वीं गाथा पृ० १०० पर यह है—

असिज्ज सरिसिब पक्खीससीह उरगिज्जि जा इद्धि
कमसो उक्कोसेणं सत्तम पुठवी मणुय मच्छा ॥

थानी—असैनी जीव पहले नरक तक, पेट के सहारे रगने वाले गोह, न्योला आदि दूसरे नरक तक, पक्षी तीसरे नरक तक, सिंह आदि पशु चौथे नरक तक, स्त्री छठे नरक तक और मनुष्य तथा मत्स्य सातवें नरक तक जाता है।

इस सैद्धान्तिक विधानसे श्वेताम्बरीय शास्त्र प्रमाणित करते हैं कि कर्मभूमिज पुरुषों के ब्रह्मपभ-संहनन होता है जिससे वे सातवें नरक जाने योग्य उत्कृष्ट पाप का संचय कर सकते हैं, स्त्री के वह संहनन नहीं होता अतः उसमें सातवें नरक तक जाने योग्य पाप उपाजनकी शक्ति भी नहीं है (भोगभूमिज पुरुष स्त्री, पशु मन्दकपायां के कारण देवगति को जाते हैं परन्तु व्रतसंयम न होने से दूसरे स्वर्ग से ऊपर नहीं जाते)।

पुण्य-उपाजन की चरम सीमा पर भी जरा दृष्टि डालिये—

उसी प्रवचनमार्गोद्धार के संप्रदणी मृत्र की १६० वीं गाथा यह है।

छत्रट्टेण उ गम्भड चउरोजा कप्पकीलियाईमु।

चउमु दु दु कप्प बुद्धी पढमेणं जाव सिद्धी वि।

अर्थात्—छठे संहनन वाला सातवें आठवें स्वर्ग तक उत्पन्न हो सकता है, पांचवें संहनन वाला पांचवें छठे स्वर्ग तक, चौथे संहनन वाला सातवें आठवें स्वर्ग तक, तीसरे संहनन वाला नौवें दशवें स्वर्ग तक और दूसरे संहनन वाला ग्यारहवें बारहवें स्वर्ग तक जन्म ले सकता है तथा प्रथम संहनन वाला उससे ऊपर अहमिन्द्रों में उत्पन्न हो सकता है और मुक्ति भी प्राप्त कर सकता है।

(श्वेताम्बर सम्प्रदाय में स्वर्ग १२ माने गये हैं)

अब देखिये कि स्त्री किस स्वर्ग तक जाने योग्य

पुण्य कर्म का संचय कर सकती है।

प्रवचनसारोद्धार चौथा भाग के ७८ वें पृष्ठ की गाथा यह है—

उववाओ देवीणं कप्पदुगं जा परो सहस्सारा।

गमणागमणं नक्खी अक्खुय परओ सुराणं पि ॥१६

अर्थात्—देवियों पहले दूसरे स्वर्ग तक उत्पन्न होती हैं और बारहवें स्वर्ग तक जा सकती हैं। उस से ऊपर वे नहीं जा सकती।

तथा देवों की अपेक्षा देवियों की आयु भी हीन होती है।

उक्त ग्रन्थ के ७७-७८ वें पृष्ठ पर १६५ वीं गाथा देखिये—

आणयपमुहा चविउं मणुएसु चेव गच्छंति।

अर्थात्—आनत आदि स्वर्गों के देव मरकर पुरुष हो जाते हैं। स्त्री पर्याय नहीं पाते।

श्वेताम्बरीय सिद्धान्त ग्रंथ इस बात को प्रमाणित करते हैं कि स्त्रियों का ब्रह्मपभनाराच संहनन नहीं होता इसी कारण वे सांसारिक चरम सुख एवं दुःख प्राप्त करने योग्य उत्कृष्ट तपस्या एवं दुष्कर्म नहीं कर सकती।

इसी सिद्धान्त के अनुसार अनुत्तर विमान से आकर मल्लिनाथ तीर्थंकर का स्त्रीरूप उत्पन्न होना स्वयं श्वेताम्बरीय ग्रन्थों से स्पष्ट हो जाता है।

इसके सिवाय श्वेताम्बरीय ग्रंथ प्रवचनसारोद्धार के तीसरे भाग के ५४४-५४५ वें पृष्ठ पर एक गाथा लिखी है—

अरहंत चकिसेसव वलमंभिन्नेय चारणे पुब्बा।

गणहरपुलाय आहारणं च नहु भविचमहिक्काणं ॥

अर्थात्—मह्य स्त्रियां तीर्थंकर, चक्रवर्ती, नारायण, वलभद्र, संभिज—भोला, चारणार्था, चौवह

पूर्व धारण, गणधर, पुलाक तथा आहारक श्रद्धि ये १० पद प्राप्त नहीं कर सकती ।

इस विधान के अनुसार स्त्रियों को चौदह पूर्वों का भी ज्ञान नहीं होता है । ऐसा क्यों ? इसके उत्तर में प्रकरणरत्नाकर चौथे भाग के कर्मग्रंथ के 'जोगो-बभ्रोगलेस्मा' इत्यादि ४५ वी की गाथा की टीका में ४६१ में पृष्ठ पर निम्नलिखित गाथा उल्लिखित है—
तुक्का गारववहुला जलिदिया तुक्वला अधीइए ।

इस अश्वसेस भयणा भूष वाभोभ न क्क्रीणं ॥

अर्थात्—स्त्रियों को दृष्टिवाद नामक बारहवां अंग नहीं पढ़ाना चाहिये क्योंकि स्त्रियां स्वभाव से तुक्क (इन्की) होती हैं इस लिये अभिमान बहुत करती हैं, अतिशय ज्ञान पचा नहीं सकती, उनकी इन्द्रियां चंचल होती हैं, उनकी बुद्धि निर्बल होती है ।

अब आप स्वयं विचार कीजिये कि श्वेताम्बरीय सिद्धान्त ग्रन्थों के अनुसार जब कि वे चौदह पूर्व का भी ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकती तब वे केवलज्ञान तो कहाँ प्राप्त कर सकेंगी । और फिर उनका मुक्ति होना तो और भी दूर की बात है । इस प्रकार देखा जावे तो स्वयं श्वेताम्बरीय सिद्धान्त ग्रन्थ ही स्त्रियों के लिये मुक्ति पथ में कटे बिझाकर पार करना स्त्रियों के लिये असम्भव बना रहे हैं ।

इस कारण स्त्रीमुक्ति सिद्ध करके जो आप दि० श्वेताम्बर सम्प्रदायों के शासन में साम्य दिखाना चाहते हैं यह आपकी प्रगति विपरीत है । आप को उक्त श्वेताम्बरीय उद्धरणों को समझ रख कर यह सिद्ध करना चाहिये था "कि स्त्रीमुक्ति का निषेध श्वेताम्बरीय ग्रन्थों में भी उतना ही है

जितना कि दिगम्बरीय ग्रन्थों में है ।"

स्त्रियों के तीर्थकर न होने आदि श्वेताम्बरीय विधानों की चर्चा विस्तार भय से छोड़ने हैं ।

अब हम आपकी युक्तियों को परखते हैं ।

आपने प्रथम ही षट्स्रष्टागम की धवलाटीका के भिन्न भिन्न भागों के सूत्रों का हवाला देकर लिखा है कि—

"दिगम्बर आम्नाय के प्राचीनतम ग्रंथ षट्स्रष्टागम के सूत्रों में मनुष्य और मनुष्यनी अर्थात् पुरुष और स्त्री दोनों के अलग अलग चौदहों गुणस्थान बतलाये गये हैं ।"

आपका यदि यह लिखना सत्य होना तो समस्त दि० जैन समाज शिर झुक्कर आपकी बात को स्वीकार कर लेता और 'स्त्रीमुक्ति' के विषय में अपनी धारणा सुधारता । किन्तु खेद है प्रोफेसर साहब ! बात ऐसी नहीं है । यह सिद्धान्तग्रन्थ ऐसा निरूपण नहीं करता जैसा कि आप कहते हैं । धवला के प्रथम भाग के 'तेण परमवगदवेदा चेदि' । १०४ सूत्र की टीका में पृष्ठ ३४५ पर इस बात को स्पष्ट कर दिया है । देखिये—

"अधिकृतोऽत्र भाववेदस्तदभावादपगत-
वेदो नान्यथेति ।"

यानी—यहां भाववेद का अधिकार है । भाववेद न रहने से नवम गुणस्थान से ऊपर वेद-रहित माना गया है अन्यथा नहीं ।

आपको गोम्मतसार आदि ग्रामाणिक सिद्धान्त-

ग्रन्थों की सङ्गति मिलाने के लिये षट्संख्यगम के इस विधान को ध्यान में रखना चाहिये। भाववेद की अपेक्षा से न होने वाले मूल कथन को आर द्रव्य-वेद की अपेक्षा लिख गये हैं। इस साधारण गत्नी ने सारा अनर्थ कर दिया है आप ध्वजा के समस्त उल्लेखों को इस बीजभूत वाक्य से विचारते चले जाइये आपको कहीं भी विगम्बर जैन आचार्यों के स्वीकृति निषेध विषय में परस्पर विरुद्ध मतभेद न मिलेगा।

द्रव्य पुरुषवेदी रूपक भेद्यी चढ़ते समय जिस भाववेद वाला होता है। (वह चाहे जो भाववेद हो अथवा पुरुष भाववेद हो) उसको उस भाववेद की अपेक्षा से उसी वेद वाला उल्लेख किया है। अतः द्रव्यलिंग पुरुष होते हुए भी भावकोवेदी को स्वीवेदी लिखकर उसके चौदहों गुणस्थान बतलाये हैं। अतः भाववेद के कथन को द्रव्यवेद मान कर द्रव्य-स्त्री के समस्त गुणस्थान समझ लेना गलती है।

“रूपक भेद्यी चढ़ते समय पुरुष के जो भाववेद होता है उसी भाववेद की अपेक्षा मुक्त पुरुष को भूत प्रज्ञापन नय की अपेक्षा से उस वेद से मुक्त हुआ कहा जाता है।” इस बात का समर्थन प्रख्यात, उद्भूत तार्किक विद्वान् श्री प्रभाचन्द्राचार्य ने प्रमेय-कमल मार्तण्ड के ६५ वें पृष्ठ पर एक पुरातन गाथा उल्लिखित की है—

पुंवेदं वेदंता जे पुरिसा खगसंदिमारुडा।

सेसोदवेण बि तहा भाणुवजुता य तेदु सिज्झंति।

यानी—जो पुरुष भावपुरुष का अनुभव करते हुए रूपक भेद्यी पर चढ़ते हैं वे, तथा शेष दोनों

(स्त्री, नपुंसक) भाववेदों को अनुभव करने वाले भी शुक्लस्थान सहित होते हैं वे भी सिद्ध हो जाते हैं।

तथा—आपने षट्संख्यगम (ध्वजा) के सप्त-प्ररूपणा के जिस ६३ वें सूत्र (पृ० ३३२) प्रमाण दिया है वह भी आपके अभिप्रायको असत्य ठहराता है। देखिये—

“सम्मामिन्हाइहि असंजदसम्मामिहिसंज-
दामंजदहुओ खियमा पज्जत्तियामो ॥६३॥

हुंदावसर्पिण्यां स्त्रीषु सन्त्यगृह्यः किमोत्पद्यन्ते इति चेन्न उत्पद्यन्ते। कुतोवसीयते? अस्मादेवा-
र्पात्। अस्मादेवार्पाद् द्रव्यस्त्रीणां निर्वृत्तिः सिद्ध्य-
दिति चेन्न, सत्तासत्त्वावप्रत्याख्यामगुणस्थितानां स्व-
मानुपपत्तेः। भावसंयमस्तासां सत्तासत्तामन्वाप-
इति चेन्न, न तासां भावसंयमोऽस्ति भावसंयमावि-
नाभाविब्रह्माण्वाधानान्यधानुपपत्तेः। कथं पुनस्तासु
चतुर्दश गुणस्थानीति चेन्न, भावस्त्री-विशिष्ट-मनुष्य-
गतौ तत्सत्त्वाविरोधात्। भाववेदो बादरकवाजानो-
पर्वस्तीति न तत्र चतुर्दश गुणस्थानानां सम्भव इति
चेन्न, अत्र वेदस्य प्रधान्याभावात्। गतिस्तु प्रधाना
न साराद्धिनश्यति। वेदविशेषणायां गतौ न तानि
सम्भवन्तीति चेन्न, विनष्टेऽपि विशेषणो रूपचारेण
तद्रव्यपदेशमावधानमनुष्यगतौ तत्सत्त्वाविरोधात्।
मनुष्यापर्याप्तैर्वपार्याप्तिप्रतिपक्षाभावात् सुगमत्वात् तत्र
वक्तव्यमस्ति।”

अर्थात्—मनुष्य जिनमें सम्बन्धिध्यादि, असं-
तसन्त्यगृह्य और संयतासंबत गुणस्थानों में निबध्न
से पर्याप्त होती हैं।”

यानी—पर्याप्त जिनके के पहले पांच गुणस्थान
ही हो सकते हैं। इसके आगे के नहीं।

यहां भाषा अर्थ में प्रोफेसर माहबने अपने पाम से मंचत शब्द और जोड़ कर अर्थ का महा अनर्थ कर दिया है।

शंका—हुंदावसर्पिणी कल सम्बन्धी जियों में सम्बन्धित जीव क्यों नहीं उत्पन्न होते हैं ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, उनमें सम्बन्धित जीव उत्पन्न होते हैं। (ये दोनों शंका और समाधान गलत सिद्धे हैं। देखो प्राक्कथन)

शंका—यह किस प्रमाण से जाना जाता है ?

समाधान—इसी आगम प्रमाण से जाना जाता है

शंका—तो इसी आगम से द्रव्यस्थियों का मुक्ति जाना सिद्ध हो जायगा ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, वस्तुसहित होनेने वन के संबन्धसंबन्ध गुणस्थान होता है। अतएव उनके संबन्ध की उत्पत्ति नहीं हो सकती है।

शंका—वस्तुसहित होते हुए भी वन द्रव्यस्थियों के भावसंबन्ध के होने में कोई विरोध नहीं आना चाहिये ?

समाधान—उनके भावसंबन्ध नहीं है, क्योंकि, अन्वया, अर्थात् भावसंबन्ध के मानने पर उनके भावसंबन्ध का अविनाभाव वस्तुस्थिति में नहीं बन सकता है।

शंका—तो फिर जियों में चौदह गुणस्थान होते हैं वह कथन कैसे बन सकेगा ?

समाधान—नहीं, क्योंकि भावको में अर्थात् बी केवुक्त मनुष्यगति में चौदह गुणस्थानों के सङ्काश मान लेने में कोई विरोध नहीं आता है।

शंका—बादर कथा गुणस्थान के ऊपर भाववेद नहीं भाषा जाता है, इस लिये भाववेद में चौदह गुणस्थानों का सङ्काश नहीं हो सकता है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, यहां पर वेद की प्रधानता नहीं है, किन्तु गति प्रधान है। और वह पहले नष्ट नहीं होती है।

शंका—यद्यपि मनुष्य गति में चौदह गुणस्थान सम्भव हैं फिर भी उसे वेद विशेषण से युक्त कर देने पर उनमें चौदह गुणस्थान सम्भव नहीं हो सकते हैं ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, विशेषण के नष्ट हो जाने पर भी उपचार में उस विशेषण युक्त संज्ञा को धारण करने वाली मनुष्यगति में चौदह गुणस्थानों का सङ्काश मान लेने में कोई विरोध नहीं आता।

वदस्त्रहागम के उक्त ६३ वें सूत्र का ध्वलाकार ने कितना स्पष्ट मुलासा किया है। मुझे आश्चर्य है कि इतना विशास बिबरण होने पर भी आपने बिपरीत अभिप्राय निकाला। "वदस्त्रहागम का जो आशय ध्वलाकार ने समझा है उतना अभिप्राय प्रोफेसर माहब स्वयं नहीं समझ सकते हैं।" इस बात को स्वयं प्रोफेसर साहब तथा अन्य कोई विचारशील व्यक्ति अस्वीकार नहीं कर सकता।

आपने अपने अभिमत को पुष्ट करने के लिये चार युक्तियां दी हैं उनमें से पहली युक्ति यह है कि—

"मूर्तों में जो योनिनी शब्द का प्रयोग हुआ है वह द्रव्यस्थी को छोड़ अन्यत्र पठित ही नहीं हो सकता।"

आपकी यह युक्ति निःसार है आपको प्रत्यक्षर का अभिप्राय देखना चाहिये जैन ग्रन्थों में अनेक स्थानों पर देवों का उल्लेख प्रचलित नाम 'अमर'

से भी मिलता है इसका कोई यह अभिप्राय निकाल लेवे कि जैनाचार्य वेदों को सिद्धों के समान अमर (कभी न मरने वाला) मानते हैं, तो गलत है। आप ही बताइये कि 'भावस्वीवेद' बतलाने के लिये किस शब्द का प्रयोग होना चाहिये। जिससे स्त्री शब्द का बोध भी हो जाय और स्त्री सूचक शब्द भी प्रयुक्त न हो। जो भी शब्द रक्ष्सेंग वह द्रव्यस्त्री बाधक ही होगा। अतः योनिनी शब्द भी भावस्वीवेद के लिये भी प्रयुक्त हो सकता है उसमें आपत्ति कौन सी है। 'कुशल' शब्द से आप वक्तव्यके अभिप्राय के विपरीत दास खोदने वाला (कुशं लुना-नोति कुशलः) मान लेवें तो यह आपकी त्रुटि है, न कि उक्त शब्द का प्रयोग करने वाले की।

अतः आपकी यह युक्ति व्यर्थ है।

तथा—'योनिनी' शब्द पशुओं की स्त्री जातिके लिये ग्रन्थों में प्रयुक्त हुआ है। तथा पांचवें गुणस्थान में ऊपर द्रव्यस्त्री के लिये योनिनी तथा तत्सम अन्य शब्द किसी भी आगम में नहीं मिलता।

दूसरी युक्ति आप देते हैं—

"जहां वेदमात्र की विवक्षा से कथन किया गया है वहां = वें गुणस्थान तक का ही कथन किया गया है, क्योंकि उससे ऊपर वेद रहता ही नहीं है।"

आपने एक तो यह गलत लिखा है क्योंकि एक तो भाववेद आठवें तक नहीं बल्कि नौवें गुणस्थान तक रहता है तथा द्रव्यवेद चौदह तक रहता है तथा अपगव वेदों (वेदरहित) का कथन करते हुए नौवें गुणस्थान से ऊपर भी वेदों का उल्लेख मिलता है। दूसरे इस बात से आपने अपने पक्षमें कोई समर्थक विशेषता भी नहीं दिखाई। अतः यह भी व्यर्थ है।

तीसरी युक्ति में आप लिखते हैं कि—

"कर्मसिद्धान्त के अनुसार वेद वैषम्य सिद्ध नहीं होता। भिन्न इन्द्रिय सम्बन्धी उपांगोंकी उत्पत्ति का यह नियम बतलाया गया है कि जीव के जिस प्रकार के इन्द्रिय ज्ञान का ज्ञोपशम होगा उसी के अनुकूल वह पुद्गल रचना करके उसको उदय में लाने योग्य उपांग की प्राप्ति करेगा। बहुत इन्द्रिय आवरण के ज्ञोपशम से कण इन्द्रिय की उत्पत्ति कदापि नहीं होगी और न कभी उसके द्वारा रूप का ज्ञान होगा। इसी प्रकार जीव में जिस वेद का बन्ध होगा उसी के अनुसार वह पुद्गल रचना करेगा और तदनुकूल ही उपांग उत्पन्न होगा। यदि ऐसा न हुआ तो वह वेद ही उदय में न आ सकेगा। इसी कारण जीवन भर वेद बदल नहीं सकता। यदि किसी भी उपांग सहित कोई भी वेद पदव में आ सकता तो कषायों व अन्ध नोकषायों के समान वेद के भी जीवन में बदलने में कौन सी आपत्ति आ सकती है।"

आपकी यह युक्ति भी खोखली है। क्योंकि कर्मसिद्धान्त के अनुसार ही तो वेदवैषम्य सिद्ध होता है देखिये—

कर्म सिद्धान्त पर जोड़ा सा भी टटियात आप यदि करते तो वेदवैषम्य आप को तुरन्त ज्ञात हो जाता। सिद्धान्त चक्रवर्ती भी नेमिचन्द्राचार्य ने गोम्मटसार जीवकारण वेदभाग्या के प्रकरण में स्पष्ट कर दिया है।

पुर्वासिच्छसंडवेदोदयेण पुर्वासिच्छसंडजो भावे ।
शामोदयेणद्वे पापण समा कहिविसमा ॥२७०॥

अर्थात्—पुद्गल, स्त्री और नपुंसक वेद (नोकषाय मोहनीय) के उदय से जीव के पुद्गल, स्त्री

और नपुंसकों जैसे भाव होते हैं। तथा नामकर्मके उदय से लिंग, मूँड़, दाढ़ी, योनि, कुच आदि द्रव्य-चिह्न प्रगट होते हैं। ये भावलिंग और द्रव्यलिंग प्रायः समान होते हैं यानी जैसा द्रव्यलिंग होता है वैसा ही भावलिंग होता है किन्तु कभी कभी ये विषम भी हो जाते हैं। यानी द्रव्यलिंग कुछ हो और भाव लिंग उस द्रव्य लिंग से भिन्न हो।

नामकर्म के उदय से द्रव्यवेद योनि, लिंग कुच, मूँड़, दाढ़ी आदि चिह्नों के रूप में होता है और भाववेद मोहनीय कर्म के उदय से जनाने (स्त्री सम्बन्धी), मर्दाने (पुरुष सम्बन्धी) तथा होजड़े के भाव उत्पन्न होने से होता है।

भावस्त्रीवेद के उदय से तीनों में से कोई भी द्रव्यवेद रहते हुए पुरुष के साथ विषय संबन्धन के तथा अन्य प्रकार के भी स्त्री सम्बन्धी भाव होते हैं। मात्रपुरुष वेद के उदय होने पर द्रव्यवेद तीनों में से कोई एक भी रहता हुआ स्त्री के साथ विषयसंबन्धन तथा वीरता आदि पुरुष सम्बन्धी अन्य भाव उत्पन्न होते हैं। उसी प्रकार जब भावनपुंसक वेद का उदय होता है तब किसी भी द्रव्यवेद वाले जीव के परिणाम, विचार हीजड़ों अंस स्त्री-पुरुष दोनों के साथ विषय संबन्धन आदि के उत्पन्न होते हैं।

दोनों प्रकार के (द्रव्यवेद, भाववेद) वेदों के उत्पादक दो भिन्न भिन्न कर्म हैं और इसी कारण उन के दो विभिन्न कार्य हैं। इस दशा में वेद—वैषम्य सिद्ध होने में क्या अड़चन आती है? दृष्टान्त से समझ लीजिये—

प्रसिद्ध लक्ष्मी भ्रांसी की महारानी लक्ष्मीबाई द्रव्यस्त्रीवेदी थी अपने पति के साथ शयन करते हुए

उसके द्रव्य तथा भाव से स्त्रीवेद या जिस समय वह वीरता और वीरता के साथ अंग्रेजों से लड़ी उस समय वह द्रव्यस्त्रीवेदी होती हुई भी भाव से पुरुष-वेदी थी तभी उसको जनानी न कहते हुए मर्दानी (लूच लड़ा मर्दाना वह तो भ्रांसी वाली रानी थी) कहा है।

बहुत से मनुष्य स्त्री का वेश धारण कर नाटक आदि में अपने हाव-भाव स्त्रियों जैसे दिखला कर पुरुषों को अपनी ओर आकर्षित करते हैं वे उस समय द्रव्यपुरुषवेदी होतेहुएभी भावसे स्त्रीवेदी होते हैं कमराशास्त्र के कथनानुसार विपरीत आसन से रतिक्रीड़ा करते हुए यदि गर्भ स्थापित होता है तो उस सन्तान में विपरीत भाव आते हैं। लक्ष्मी हो तो जीवनभर उसकी चेष्टायें पुरुष जैसी होती हैं, यदि लक्ष्म हो तो उसमें जनाने हाव-भाव होते हैं।

शूरवीरता, कठिन कार्य करने की क्षमता, उदारता, सादगी आदि भाव पुरुषवेद—सम्बन्धी हैं। भीकता, कोमलता, निर्बलता, मायाचार, बिलासिता आदि भाव स्त्रीवेद के हैं। यह भाव स्त्री पुरुषों में परिस्थिति के अनुसार प्रति समय पलटते रहते हैं। इस कारण द्रव्यवेद जन्मभर एक रहता हुआ भी भाववेद प्रतिक्षण पलटते रहते हैं।

लखनऊ के अन्तिम नवाब साजिद अली की जीवनचर्या पढ़कर वेद-वैषम्य न होने का आपका भ्रम दूर हो जायगा।

हमारे एक मित्र ने जो कि राष्ट्रीय सेवा के उप-लक्ष्यमें लग भग ढाई वर्ष जेल में रहकर बाहर आये हैं, जेलमें के एक मनुष्य का हाथ सुनाया कि वह इस समय ४५-४७ वर्ष का है उसके स्त्री पुत्र पुत्री आदि

भी है किन्तु अभी तक पूर्व-अध्यस्त दुर्ब्यसनके कारण अन्य नवयुवकोंसे अपनी विषय वासना छुप्त करानेकी सदा लालायित रहता है ।

बतलाइये प्रोफेसर साहब ! उस द्रव्यपुरुषवेदी के भावकी वेद का उद्देश्य है या नहीं ?

इस प्रकार के अनेक उदाहरण मिलते हैं ।

द्रव्येन्द्रिय और भावेन्द्रिय की बात जुदी है । क्योंकि जितनी द्रव्येन्द्रियां होती हैं उतनी ही भावेन्द्रियां होती हैं अतः उनमें विषमता नहीं आ सकती किन्तु प्रत्येक जीव के द्रव्यवेद एक ही होता है जब कि भाववेद उसके तीनों ही सकते हैं । अतः बाह्य निर्मित कारण विभिन्न न होने के कारण वेद-वैषम्य सिद्ध होता है इन्द्रिय वैषम्य सिद्ध नहीं होता ।

आप यदि वैषम्य की समझने के लिये शास्त्रीय उदाहरण चाहते हैं तो द्रव्यलेश्या, भावलेश्या को ले लीजिये ।

नामकर्म के उद्देश्य में शरीर का रंग द्रव्यलेश्या होती है और मोहनाय कर्म के उद्देश्य से विभिन्न प्रकार के परिणाम भावलेश्या होती है ।

यूरोप, काश्मीर आदि के स्त्रीपुरुष द्रव्य शुक्ल-लेश्या वाले हैं किन्तु वे भी भाव से भी शुक्ललेश्या वाले हैं यह नियम नहीं । द्रव्यकृष्णलेश्या वाले मद्रासी अथवा दक्षी लोको के भावशुक्ललेश्या हो सकती है और रंग रंग वाले अंग्रेज के भावकृष्ण हो सकती है । यह लेश्या-वैषम्य वेद-वैषम्य के ही समान है । इसी प्रकार भावद्रव्यहिंसा, द्रव्यप्राण, भावप्राण आदि में भी विषमता तथा समता पाई जाती है । भावहिंसा होने पर भी द्रव्यहिंसा न हो जैसे छोटी मछलियों के स्थान के विचार में बँटा हुआ तंदुल मत्स्य ।

यत्नाचार से चलते हुए मुनि के पैर तले आकर मरे हुए मृदम जीव की द्रव्यहिंसा होते हुए भी भाव-हिंसा नहीं होती । शोक, हर्ष के भाव उत्पन्न होने के समय भावप्राणों में परिवर्तन होता है किन्तु द्रव्य प्राण वैसे ही रहते हैं । कभी द्रव्यप्राण में परिवर्तन आने हुए भी भावप्राणों में रंचमात्र भी अंतर नहीं आता । कभी दोनों में अन्तर आता है ।

इस प्रकार आपकी तीसरी युक्ति भी अन्तःशून्य है ।

आपने चौथी युक्ति यह दी है कि—

“नो प्रकार के जीवों की तो कोई सगति ही नहीं बैठती, क्योंकि द्रव्यमें पुरुष और स्त्रीलिंगक सिद्धाय नासरा तो कोई प्रकार ही नहीं पाया जाता, जिससे द्रव्यनपुंसक के तीन अलग भेद बन सकें । पुरुष और स्त्रीवेद में भी द्रव्य और भाव के वैषम्य मानने में ऊपर बतलाई हुई कठिनाई के अतिरिक्त और अनेक प्रश्न उत्पन्न हो सकते हैं । यदि वैषम्य हो सकता है तो वेद के द्रव्य और भावभेद का तात्पर्य ही क्या रहा ? किमी भी उपांग विशेष को पुरुष या स्त्री कहा ही क्यों जाय ? अपने विशेष उपांग के बिना अमुक वेद उद्देश्य में आयगा ही किस प्रकार यदि आ सकता है तो इसी प्रकार पांचों इन्द्रियज्ञान भी पांचों इन्द्रियों के परस्पर संयोग में परस्पर प्रकार क्यों नहीं हो जाते ?

आपकी यह युक्ति भी निर्मूल है । क्योंकि द्रव्य में पुरुष और स्त्री के सिवाय नपुंसक भी होते हैं जो न तो स्त्री ही होते हैं और न पुरुष ही । ऐसे होजड़े प्रायः समस्त नगरों में पाये जाते हैं जिनके न तो पूर्ण पुरुष के चिन्ह लिंग मूँछ दाढ़ी आदि होते हैं और न पूर्ण स्त्री, स्तन आदि स्त्रीचिन्ह होते हैं ।

इस लिये आपका यह लिखना अयुक्त है कि 'द्रव्य में पुरुष और स्त्री लिंग के तीसरा तो कोई प्रकार ही नहीं पाया जाता।' आप यदि देखना चाहें तो हम आपको वीसों नपुंसक दिखाता सकते हैं। नपुंसकों के अपने भाव जुड़े ही होते हैं। अतः तीनद्रव्यवेद और तीन भाववेदों के साम्य वैषम्य रूप में तो भेद निर्बाध रूप में होते हैं।

महा पदस्वरूपागम प्रथम स्वरूप का १०८ वां सूत्र देखिये जिसका सम्पादन आप स्वयं कर चुके हैं—

“मणुस्मा निवेदा मिच्छार्हाष्टपट्टाडि जाव
अक्षियद्वित्ति”

शानी—मनुष्य गति के जीव पुरुष, स्त्री, नपुंसक तीन वेद वाले मिथ्यात्व में अनिवृत्तिकरण गुणस्थान तक होते हैं।

इसी प्रकार १०३ वें सूत्र में, तीसरे स्वरूप के १२६-१३० वें सूत्र में भी तीनों वेदों का उल्लेख है।

द्रव्येन्द्रिय आबेन्द्रिय सम्बन्धी आपकी आशंका का समाधान 'वेदवैषम्य' की तीसरी युक्तका उत्तर देते समय उदाहरणपूर्वक बतला दिया है अतः पुनः यहां लिखना विष्टपेयण होगा। यहां आपने जो यह लिखा है कि 'यदि वेद-वैषम्य हो सकता है तो वेद के द्रव्य और भाववेद का तात्पर्य ही क्या रहा ?

इसका उत्तर आप महारानी लक्ष्मीबाई के उदाहरण से समझ लीजिये। महारानी लक्ष्मीबाई द्रव्य भाववेद के साम्य होने पर गर्भधारण कर सकी और वेद-वैषम्य होने पर उसने अंगरेजों से डट कर युद्ध किया।

आप शास्त्रीय उदाहरण द्रव्यलेश्या भावलेश्याके सम-वैषम्य रूप में छत्तीस भेदों से समझ लीजिये।

‘पुरुषार्थार्थ सिद्ध्युपाय’ ग्रन्थ में वर्णित द्रव्य-हिंसा भावहिंसा के भेदों में भी समझ लीजिये।

इस प्रकार आपकी यह युक्ति भी अकिञ्चित्कर है।

मुक्ति प्राप्त करने के लिये चारित्र्य की पूर्णता होनी चाहिये किन्तु स्त्री पवित्रद्रव्याग महाव्रत नहीं पाल सकती उस अपने शरीर को छिपाने के लिये साड़ी अवश्य रखनी पड़ती है। रजश्चला होने समय वह साड़ी बदल कर अन्य लेनी पड़ती है। ध्यान करने समय यदि हवा में उसकी साड़ी उड़ने लगे तो उस ध्यान छोड़ साड़ी सम्भालनी पड़ती है। इस प्रकार उसके महाव्रत पूर्ण नहीं हो पाते। अतः वह चारित्र्य की अपूर्णता के कारण भी मुक्ति प्राप्त नहीं कर पाती जिस तरह वह मोलहर्ष भवग से ऊपर जाने योग्य तप नहीं कर सकती।

“द्रव्यस्त्रीवेद वाला जीव ज्ञायिक सम्यक्त्व प्राप्त नहीं कर सकता।” इस बात को श्री पृथ्वीपाद आचार्यने सर्वावसिद्धिमें “निर्देशस्त्रामिन्वमाधना-धिकरणस्वितिविधानतः” (अध्याय १ सूत्र ५) सूत्र की व्याख्या करते हुए लिखा है—

मानुषीणां त्रितयमप्यस्ति पर्याप्तिकाना-
मेव, नापर्याप्तिकानाम्। ज्ञायिकं पुनर्भाववेदे-
नैव।

अर्थात्—स्त्रियों के पर्याप्तक अवस्था में तीनों प्रकार के सम्यग्दर्शन हो सकते हैं। अपर्याप्तक अवस्था में नहीं। किन्तु ज्ञायिक सम्यक्त्व भावस्त्री, वेद वाले पुरुष के ही होता है।

अब बतलाइये ज्ञायिक सम्यग्दर्शन के बिना स्त्रियों को मुक्ति किस प्रकार मिल सकेगी।

प्रोफेसर जी स्त्रियों के १४ गुणस्थान सिद्ध करनेकी धुन में यह सब कुछ भूल गये हैं कि वे स्वयं अपनी लेखनी से इस विषय में क्या कुछ लिख चुके हैं।

देखिये धवला (द्रव्य प्रमाणानुगम) की तीसरी जिल्दकी प्रस्तावना पृष्ठ ३०, पर ब्र० लक्ष्मीचन्द्रजी की शंका के समाधान में प्रोफेसर हीरालाल जी ने लिखा है कि—

“अब रही योनिमती के १४ गुणस्थान की बात, मो कर्मभूमिज स्त्रियों के अन्न के तीन मंहननों का ही उदय होता है ऐसा गोम्मतमार कर्मकांड की गाथा ३० में प्रकट है। परन्तु शुक्लध्यान सप्तक श्रेण्यारोहणकार्य प्रथम सहनन वाले के ही होते हैं। इसमें यह स्पष्ट है कि द्रव्यस्त्रियों के १४ गुणस्थान नहीं होते हैं। पर गोम्मतमार में कीवेशी के १४ गुणस्थान बतलाये अवश्य हैं इस लिये वहां द्रव्य से पुरुष और भावसे स्त्रीवेदी का ही योनिमती पद से ग्रहण करना चाहिये। इस विषय में गोम्मतमार और धवलामिहान्न में कोई मतभेद नहीं है। द्रव्यस्त्रियों के पांच ही गुणस्थान होते हैं।”

प्रोफेसर साहब ! क्या आपका यह लिखना गलत है ? यदि है तो क्यों ?

श्वेताम्बरीय ग्रंथकारों ने श्रीमुक्ति के जो उदाहरण अपने ग्रन्थों में उल्लिखित किये हैं वे भी कर्मसिद्धान्त से बिल्कुल ठहरते हैं। (कर्मसिद्धान्त विगम्बर श्वेताम्बरीय का प्रायः समान है उसमें भेद नहीं है) प्रथम ही मल्लिनाथ तीर्थकर को देखिये—

मल्लिनाथ तीर्थकर जिनको श्वेताम्बरीय ग्रन्थानुसार मल्लिकुमारी कहना चाहिये; तीर्थकर होने

के पहले तीसरे भव में महाबल नामक राजा था। उसके ६ मित्र और थे। महाबल राजा संसार से विरक्त साधु हो गया, साथ ही उसके ६ मित्र भी साधु हो गये। उन सातों ने आपस में यह निर्णय किया कि हम सब समान (एक सरीखा) तपश्चरण करें जिसमें परभव में भी हम समान रहें। तबन्तु सार ज्यों मित्र तो एक समान तप करते थे। परन्तु महाबल गुप्त रूप से उनमें अधिक तपश्चरण करता था। वे यदि बेला (दो उपवास) करें तो महाबल तेला (तीन उपवास) कर लेता था, वे तेला करें तो यह चोला (चार उपवास कर लेता था। हम माया चार के कारण उमने स्त्री वेद का बन्ध किया परन्तु पोंडरा कारण भावनाओं को भाते हुए उसने तीर्थकर नाम कर्म का भी बन्ध किया।

आयु समाप्त होने पर सातों साधु जयन्त नामक अनुत्तर विमान में अर्हामन्त्र हुए। वहां पर महाबल के जीव की आयु २२ सागर की थी शेष ज्योंकी २२ सागर में कुछ कम आयु थी।

वहां से चय कर वे ज्यों अर्हामन्त्र तो अंग-कोशल आदि देशों के राजपुत्र हुए और महाबल का जीव मिथिला नरेश कुम्भ राजा के घर पुत्री मल्लिकुमारी तीर्थकर हुई (क्योंकि महाबल के भव में जल पृथक् अधिक तप करने में उमने खीलिंग बांधा था)।

मल्लिकुमारी जब युवती हुई तो उसकी सुन्दरता पर आसक्त हो कर पूर्वभव के मित्र उन ज्यों राजकुमारों ने उसे अपनी पत्नी बनानेको कुम्भ राजापर बदाई कर दी। युद्ध में कुम्भ राजा हार गया।

किन्तु मल्लिकुमारो ने एक अपनी जैसी सुवर्ण मूर्ति को दिग्बलाकर उसके अन्दर मंचित दुर्गन्ध द्वारा उन राजकुमारों को संसार में विरक्त कर दिया ।”

श्वेताम्बर सम्प्रदाय इस कथा को अमिट सत्य मानता है किन्तु यही कथा श्वेताम्बरीय तथा दिगम्बरीय आगम से विकट टट्टरती है । देखिये—

१—महाबल राजा ने साधु अवस्था में छलपूर्वक तपस्या करते हुए जो खोलिग का बन्ध किया वह तीर्थकर प्रकृति के अनुसार अधिक से अधिक अन्न-मुहूर्त महित ८ वर्ष कम २ कोटि पूर्व वर्ष और २२ सागर की स्थिति वाला होगा जो कि अपना आबाधा काल (जो कि १ वर्ष भी नहीं बनता) बीत जाने पर अवश्य उदय में आना चाहिये था । दिगम्बरीय सिद्धान्तानुसार तथा श्वेताम्बरीय ग्रन्थ प्र० मारोद्धार अनुर्थ भाग (शनक नामा पंचम कर्म ग्रन्थ) के पृष्ठ ४४६-४४७ के अनुसार एक कोटाकोटि सागर स्थिति वाले कर्म का आबाधा काल १०० एक सौ वर्ष है । अर्थात् एक कोटाकोटि सागर स्थिति वाला कम एक सौ वर्ष पीछे उदय में आता है । महाबल के जीव ने तो एक सौ सागर की स्थिति वाला भी खोलिग नहीं बांधा था । तदनुसार महाबल देवपर्याय में खोलिग के उदय से देव न होकर मर्युत स्वर्ग तक की कोई देवी होना चाहिये था । जयन्त विमान का देव कैसे हुआ ? अतः महाबल के भव का बांधा हुआ खोलिग २२ सागर बाद मल्लिनाथ तीर्थकर के भव में कर्मसिद्धान्तानुसार उदय में नहीं आ सकता ।

२—जयन्त नामक अनुत्तर विमान से चय कर आया हुआ जीव स्त्री-शरीर पावा नहीं । पुरुष ही होता है । श्वेताम्बर सिद्धांत ग्रंथ प्रकरण रत्नाकर

चौथा भाग के ७७-७८ वें पृष्ठ पर लिखा है—

“आण्यपमुहा चविदं मणुस्सु चैव गच्छति”

यानी—आनत आदि स्वर्गों से मरकर देव पुरुष ही होते हैं ।

अतः महाबल का जीव जयन्त नामक अनुत्तर विमान में आकर मल्लिनाथ (पुरुष) तीर्थकर तो हो सकता है । मल्लिकुमारो स्त्री नहीं हो सकती ।

३—श्वेताम्बरीय आगम प्रवचनसार सारोद्धार (तीमरा भाग) पृष्ठ ४४४-४४४ की गाथा—

अरहंतचरिक्कंमथ बल्लिमभिजेय चारणे पुत्था ।

गणहर पुत्ताय आहारं च न ह भविय मद्दिलाणं ॥

के अनुसार स्त्री शरीरधारी जीवको तीर्थकर पद नहीं मिल सकता ।

४—आवश्यक निर्युक्ति नामक श्वेताम्बरीय ग्रंथ में ५ वाल ब्रह्मचारी तीर्थकरों के विषय में लिखा है कि—

वीरं अग्निनेमि पासं मल्लि च वासपुजं च ।

एण मुत्तंण जिणं अवमेमा आसि रायाणो ॥२२॥

रायकुलेमु वि जाया विमुद्धवंमेमु म्वत्तिथकुलेमु ।

ए य इत्थिआभिसेआ कुमारवासम्मि पञ्चइया

इसके ‘ए य इत्थि आभिसेया’ इस पद की टिप्पणी में लिखा है कि—

“स्त्रीपाणिग्रहणराज्याभिषेकोभयरहिता इत्यर्थः”

अर्थात्—महावीर, अग्निनेमि, पार्श्व, मल्लि और वासुपूज्य ये पांच तीर्थकर ऐसे हुए हैं कि न इनका स्त्री पाणिग्रहण हुआ और न राज्याभिषेक । ये क्षत्रिय राजकुलोत्पन्न थे

और कुमारवस्त्रा में ही प्रव्रजित हो गये थे ।

जैन साहित्य और इतिहास पृष्ठ ५५२

आवश्यक नियुक्ति के इस उल्लेख से यह बात सिद्ध होती है कि भगवान् मल्लिनाथ पुरुष थे तब ही उनका नाम पुरुषलिंग रूप 'मल्लि' लिखा है तथा उन्हें अन्य चार तीर्थंकरों के समान 'स्त्री-पाणि-ग्रहस्वरहित' यानी—स्त्रीके माथ विवाह न करने वाला बतलाया है । यदि मल्लिनाथ स्त्री होते तो उन्हें 'पुरुषपाणिग्रहस्वरहित' लिखा होता ।

तथा—दूसरी बात इससे यह भी सिद्ध हुई कि भगवान् महावीर भी ब्रह्मचारी थे जैसा कि हि० जैन ग्रन्थों में बतलाया गया है ।

चन्दना, मृगावती का केवलज्ञान ।

कल्पसूत्र के ६ वें व्याख्यान, पृष्ठ १६२ पर लिखे अनुसार चन्दना, मृगावती को केवलज्ञान उत्पन्न होने की कथा यों है—

एक समय जब कि भगवान् महावीर कौशाम्बी नगरी में पधारे हुए थे उनकी चन्दना करने के लिये सूर्य और चन्द्रमा अपने विमान सहित आये उनके विमान सहित कौशाम्बी में आ जाने पर सबत्र अन्धकार हो गया । चन्दना (साध्वी) रात्रि समक कर अपने उपाभय में पहने आ गई परन्तु मृगावती साध्वी कुछ देर बाद आई । यह देखकर चन्दना ने उससे कहा कि कुलीन स्त्रियों को रात्रि में अपने स्थान से (घर से) बाहर न रहना चाहिये ।

मृगावती अपना अपराध स्वीकार करते हुए चन्दना के चरणों में गिर पड़ी और अपनी भूल की निन्दा करने लगी । चन्दना को नींद आ गई ।

दरों में पड़े हुए तथा प्रतिक्रमण करते करते मृगावती को केवलज्ञान हो गया ।

तदनन्तर एक काला सांप उस उपाभयमें आया । मृगावतीने चन्दना का हाथ दटा दिया जिससे चन्दना जाग पड़ी । चन्दना ने पूछा कि तुमने मेरा हाथ क्यों दटाया ? मृगावती ने कहा काला सांप इधर होकर आ रहा था इस लिये उससे बचाने के लिये दटाया था ।

चन्दना ने पूछा अन्धेरे में तुम्हें सांप कैसे ढीक पड़ा ? मृगावती ने कहा मैंने केवलज्ञान से जाना ।

तब चन्दना मृगावती केवलज्ञानिनी से काम मांगने लगी और इस प्रकार उसे भी केवलज्ञान हो गया ।”

कल्पसूत्र के शब्द इस प्रकार हैं—

“तथा च तथैव क्षमयेन केवलं प्राप्तं, सर्पसमी-
दानं करापसारणव्यापिकरेण प्रबोधिता प्रवर्तिष्यपि
कथं सर्पाऽज्ञायीति पृच्छन्ती तस्या केवलं ज्ञात्वा मृगा-
वती क्षमयन्ती केवलमासादा ।”

स्त्रीमुक्ति (या केवली हो जाने) की एक कथा में जैनसिद्धान्त से अनेक बाधाएँ आती हैं—

१—सूर्य, चन्द्र का विमान सहित पृथ्वीतल पर आना असम्भव बात है ।

२—केवलज्ञान की उत्पत्ति या प्राप्ति कर्मों का क्षय बाध क्रियाओं को त्यागकर, आत्मध्यान (शुक्ल ध्यान) में लीन हो जाने पर होता है । किन्तु चन्दना तथा मृगावती को प्रतिक्रमण करते हुए केवलज्ञान होना बतला दिया है ।

३-सृगावनी को केवलज्ञान हो जाने पर मोह-भाव न रहना चाहिये था किन्तु उसने चन्दना को सर्प में बचाने के लिये केवलज्ञान अवस्था में उसका हाथ हटाया। इसमें मिथ होना है कि 'उमको चन्दना से रागभाव था।

प्रोफेसर सा० इस श्वेताम्बर आगमोक्त श्रीमुक्ति को किस जैनमिथान्त से सिद्ध करेंगे।

मरुदेवी माता का मुक्ति गमन

भगवान् ऋषभदेव की माता का मुक्तिगमन कल्पसूत्र के मातर्वं व्याख्यान में इस प्रकार है—

“मरुदेवी माता भरत को कहती रहती थी कि मैं ऋषभ देव को देखना चाहती हूँ कि मेरा पुत्र पर झोड़कर जो साधु हो गया है वह अब कौसी दशा में है। भगवान् ऋषभदेव को जब केवलज्ञान हो गया तब भरत चक्रा मरुदेवी माता को हाथी पर बैठा कर भगवान् ऋषभदेव की वन्दना करने लगा। जब वह समवशरण के पास पहुँचा तब उससे मरुदेवी से कहा कि देख अपने पुत्र को। कैसे आनन्द से सिंहासन पर चामर द्रव्य आदि विभूति सहित बैठा है।

मरुदेवी देवी द्वारा पूजित अपने पुत्र को देखकर हर्ष से गद्गद हो उठी और विचारने लगी कि मैं तो सोचती थी कि मेरा पुत्र जंगलों में फिरता है दुखी होगा परन्तु यह तो बड़े ऐश्वर्य का आनन्द ले रहा है। मेरे मोह को धिक्कार है।

ऐसी भावना करते करते मरुदेवी को हाथी पर बैठे ही केवलज्ञान हो गया और उसी समय मुक्त भी हो गई।”

प्रोफेसर साहब श्रीमुक्ति के इस प्रसिद्ध श्वेता-

म्बरीय उदाहरण पर भी विचार करें। बिना पंच पापों का त्याग किये, बिना साध्वी दीक्षा लिये और बिना शुक्लध्यान के ही, प्रतिक्रमण रूप भावना करते करने ही मरुदेवी को केवलज्ञान और मुक्ति हो गई।

इसी प्रकार एक बृद्ध स्त्री की कथा भी श्वेताम्बर समाज में प्रसिद्ध है जिसको कि उपाश्रय में बुढ़ारी देने हुए, भावना भाने हुये केवलज्ञान और मुक्ति हो गई।

बनलाइये जिस पानिकर्म नाश करने तथा मुक्ति प्राप्त करने के लिये तीर्थचरों को तो गृहत्याग कर साधु दीक्षा लेनी पड़नी है। तब शुक्लध्यान द्वारा वे अहन्त तथा मिथ होने हैं किन्तु गिर्या बिना किसी प्रत्याख्यान के वास्तव क्रियाओं में लगी हुई ही केवलज्ञान प्राप्त कर लेती हैं। यह कहाँ तक जैनमिथान्त के अनुकूल है ?

पुरुषों को भी इसी प्रकार वास्तव क्रियायें करने केवलज्ञान प्राप्त होने की कथाएँ श्वेताम्बर जैन आगमों में पाई जाती हैं।

१-ठंडण ऋषि गोचरी में मिले हुए लाडुओं को अपने गुरु की आज्ञा से चूर करने हुए (फोड़ने हुए) केवलज्ञानी हो गये।

२-एक नव-विवाहित तदनन्तर नव-दीक्षित शिष्य अपने गुरु को कन्धे पर बिठाकर जा रहा था, ऊँची-नीची भूमि पर पैर पड़ने से गुरु को हिचकोले लगते थे अतः वे क्रोधवश उसको जोधा मारते थे। शिष्य ने चलते चलते आत्म-निन्दा की। उसे चलते चलते गुरु को कन्धे पर ले जाते हुए ही केवलज्ञान हो गया।

३-बांस पर चढ़े हुए नटने एक साधु को देखा जातिस्मरण करके भावना भाते हुए उस बांसपर चढ़े चढ़े उसे केवलज्ञान हो गया ।

इत्यादि अनेक कथायें श्वेताम्बरी जैन ग्रन्थों में हैं जो कि जैनसिद्धान्त से विरुद्ध मुक्ति प्राप्ति का प्रतिपादन करती हैं ।

प्रोफेसर साहय को उनकी आगम-प्रतिकूलता पर विचार करना चाहिये ।

इस प्रकार 'स्त्री-मुक्ति' न तो दिगम्बरीय ग्रन्थों से सिद्ध होती है । और न श्वेताम्बरीय ग्रन्थों से । अतः एव भी कुन्दकुन्दचरित, नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती एवं पदस्वरहासम के रचयिता के कथन में रञ्चमात्र भी परस्पर विरोध नहीं । विस्तारभय से हम इसे यही समाप्त करने हैं ।

मंग्यमा और वस्त्र त्याग

आपने दिगम्बरीय श्वेताम्बरीय मौलिक शासन-भेद को मिटाने के लिये महाव्रती साधु का वस्त्र-धारण दिगम्बरीय ग्रन्थानुसार सिद्ध करने की कोशिश की है । अब इस पर प्रकाश डाला जाता है ।

रत्नकरण्ड आचक्षार आदि प्राचीन आर्य ग्रन्थों में जो पञ्चमगुणस्थानवर्ती भावक की ११ प्रतिमात्रों का वर्णन किया है वहाँ स्पष्ट बतलाया है कि केवल एक लंगोटी पहनने वाला व्यक्ति भी महाव्रती साधु न होकर अणुव्रती 'ऐलक भावक' माना गया है फिर प्रोफेसर साहय स्वयं सोचते कि वस्त्रधारक व्यक्ति दिगम्बरीय शासन अनुसार महाव्रती साधु कैसे माना

जा सकता है ।

आपने जो यह लिखा है कि—

“दिगम्बर सम्प्रदाय के अत्यन्त प्राचीन ग्रंथ भगवती आराधना में मुनि के उत्सर्ग और अपवाह मार्ग का विधान है । जिसके अनुसार मुनि वस्त्र धारण कर सकता है । देखो गाथा ७६-८३”

सो प्रोफेसर साहयका यह लिखना बिल्कुल गलत है । आश्चर्य होता है कि प्रोफेसर हीरालाल जी सरांगे विद्वान एक साधारण स्पष्ट बात को भी अन्यथा रूप में समझ लेते हैं ।

समाधिभरण के प्रकरण में भगवती आराधना ग्रन्थ की वे दोनों गाथाएँ हैं । जिनमें बतलाया गया है कि गृहस्थ समाधिभरण के समय लज्जा आदि कारणों से वस्त्र का पूर्ण त्याग न कर सकें तो वह अपवाहलिग अर्थात् अन्य समस्त परिग्रह को त्याग करते हुए वस्त्र से अपने गुप्त अंगों को ढके हुए सन्ध्याम धारण करें । मुनि समाधिभरण उत्सर्गलिग यानी अपने नग्न रूप में ही करें ।

मुनि के लिये वस्त्र पहन सन्ध्यामभरण करने का वहाँ रञ्चमात्र भी विधान नहीं । देखिये—

उत्सर्गियलिगगदम्भ लिगमुष्मागियं तयं चेष ।

अपवाहियलिगम्भ वि पसत्थमुवर्मागियं लिगं ॥७६॥

अर्थात्—सर्वाङ्घ्र उत्सर्गलिग (नग्नलिग) धारक मुनि के समाधिभरण समय उत्सर्गलिग (नग्न वेश) ही होता है । किन्तु अपवाहिक लिग बाले (गृहस्थ) के भी उस समय उत्सर्गलिग का होना ही प्रशंसनीय है ।

“अपवाहिक लिग (अपने गुप्तांग ढकने के

लिये बख धारण करना) किसके होता है" इस बात को ८१ वीं गाथा में स्पष्ट कर दिया है। देखिये—

आवसथे वा अप्पावन्तो जो वा महर्षिभ्यो हिरिमं ।
मिथ्यज्जणे सज्जणे वा तस्सट्ठ होज्ज अववादिक्किणं
यानो—जिसके सन्यास मरण करने योग्य स्थान
न हो जो महाश्रद्धाधारक राजा, आदि हो, लज्जा
साहित हो, जिसके कुटुम्बी मिथ्यादृष्टि हों उसके
समाधि मरण के समय 'अपवादलिंग' होता है।

पाठक महानुभाव स्वयं समझ सकते हैं कि ऐसा
मनुष्य गृहस्थ ही हो सकता है क्योंकि मुनि न लज्जा-
युक्त होते हैं, न राजा आदि महर्षिक होते हैं और
न वे कुटुम्बी ही होते हैं। अतः अपवादलिंग गृहस्थ
के होता है, मुनि के नहीं।

८३ वीं गाथा में आर्यिका का वर्णन है—

इत्थीवि अ जं लिंगं विट्ठं ओसग्गियं च इदं वा ।
तं तद्द होवि द्दु लिंगं परिचत्तमुत्तमि करतोए ॥८३॥

यानी—सादी मात्र बख को पहनने वाली की
(आर्यिका) के कस्सगे और अपवाद दोनों लिंग
होते हैं।

(आर्यिका के परिग्रह—त्याग महाव्रत उपचार से
होता है वह पंचम गुणस्थान वाली ही सिद्धान्त में
बतलाई गई है क्योंकि बख रूप परिग्रह का वह पूर्ण
त्याग नहीं कर सकती। उसी प्रकार उसका कस्सगे
लिंग होता है।)

इस गाथा में तो मुनि का नाम भी नहीं है।

इस प्रकार 'भगवती आराधना' का प्रमाण
देकर मुनि को बखधारण का विधान बतलाने की
प्रोफेसर साहब ने स्वयं चेष्टा की है।

दूसरी युक्ति में आपने तत्त्वार्थसूत्र, तत्त्वार्थराज-

वार्तिक तथा सर्वार्थसिद्धि के ६ वें अध्याय के
४६-४७ वें सूत्र के आधार से बखधारक महामुनिक
विधान सिद्ध करना चाहा है। किन्तु यहां भी कहीं
पर रंचमात्र भी महाव्रती साधु को बख पहनने का
विधान नहीं। तत्त्वार्थराजवार्तिक में तो ४६ वें सूत्र
का भाष्य करते हुए अवलोकदेव ने स्पष्ट लिखा है—

‘दृष्टिरूपमामान्यान् (वार्तिक) ॥६॥

भाष्य—सम्यग्दर्शनं निग्रथरूपं च भूपावेशायुध-
विरहितं तत्सामान्योगानं सर्वेषु हि पुलाकादिषु निग्रथ-
राज्यो युक्तः ।

अर्थात्—पुलाक, बकुरा, कुशील, निग्रथ और
स्नातक इन पांचों प्रकार के साधुओं में सम्यग्दर्शन
तथा बख, आभूषण, राखादि से रहित रूप सामान्य
रूप से पाया जाता है। अतः सब मुनियों को निग्रथ
कहना युक्त है।

प्रोफेसर साहब इसे ध्यान से पढ़िये। और भी
देखिये—

“पुलाक मुनि मूल गुणों में क्वचित्
कदाचित् दांष्ट्रु लगाते हुए भी नग्न ही रहते
हैं” इस बात को राजवार्तिक के अगले वार्तिक में
स्पष्ट कर दिया है।

भग्नव्रते वृत्तावतिप्रसंगः इति चेन्न रूपाभावात्
(वार्तिक) ॥१०॥

भाष्य—यदि भग्नव्रतेऽपि निग्रथ—राज्यो वर्तते
भावकेऽपि स्यादिति—अतिप्रसंगो, नैव दोषः कुतो
रूपाभावान्, निग्रथरूपमत्र नः प्रमाणं, न च भावके
इत्थीति नातिप्रसंगः ।

अर्थात्—राज्यकार ने शंका की कि ‘यदि व्रत-
भंग करने वाले को भी (पुलाक मुनि को) निग्रथ

माना जाय तो भावक भी निग्रन्थ क्यों न कह दिया जाय ? इसका समाधान ग्रन्थकार अकलंकदेव करते हैं कि “नहीं, भावक में वह निग्रन्थरूप (नग्नता) नहीं पाया जाता अतः भावक ‘निग्रन्थ’ नहीं कहला सकता। हमको यहां निग्रन्थ रूप प्रमाण है।”

अब पाठक महानुभाव स्वयं समझ सकते हैं कि तत्त्वार्थसूत्र के सूत्रों का क्या अभिप्राय है और पुलाक, बकुरा मुनि भी बख्शित निग्रन्थ (नग्न) होते हैं, बख्शारक नहीं। आशा है प्रोफेसर साहय अपनी गलत धारणा को सुधार लेंगे।

‘बकुरा मुनि शरीर संस्कार-अनुवर्ती होते हैं’ इसका अभिप्राय यह नहीं कि वे बख्श धारण करते हैं। किन्तु “वे अपने नग्न शरीर को साफ-सुथरा सुन्दर रखते हैं।” यह अभिप्राय है। पांचों ही मुनि नग्न होते हैं यह बात राजवार्तिक के पूर्वांक वार्तिकों से सिद्ध हो चुकी है।

तत्त्वार्थसूत्र के ६ वें अध्याय के ४७ वें सूत्र की टीका के ‘भावलिङ्गं प्रतीत्य पंच निग्रन्थ-लिङ्गिणो भवन्ति द्रव्यलिङ्गं प्रतीत्य भाज्याः।’ इस वाक्य का उल्लेख करके आप लिखते हैं कि ‘कभी कभी मुनि बख्श भी धारण कर सकते हैं।’

आप यदि यहां उन टीकाकारोंका नाम भी लिख देते तो आपके लिखने की सत्यता जांच ली जाती। तत्त्वार्थ सूत्र की दो टीकाएं सर्वाथेमिद्धि और राजवार्तिक प्रसिद्ध हैं जिनमें तो मुनियों के बख्श धारण का दंडमात्र भी विधान नहीं। तत्त्वार्थराज-३

वार्तिक ने तो समस्त मुनियों की नग्नता का स्पष्ट विधान कर दिया है यह पहले दिखा चुके हैं फिर पता नहीं किन टीकाकारों ने बख्शधारण का विधान किया है।

‘द्रव्यलिङ्गं प्रतीत्य भाज्याः’ का तो यह अभिप्राय है कि कोई मुनि (बकुरा) अपना शरीर सुन्दर साफ बनाये रखने में इतना रूचि रखते हैं दूसरों का शरीर मैला सा रहता है। अतः किन ही का द्रव्यलिङ्ग आकर्षक और किन ही का अनाकर्षक होता है। बख्श-भद्र, जीवन्धर आदि सरीखे मुनियों का द्रव्यलिङ्ग इतना आकर्षक होता है कि कौी पुरुष उन्हें देखकर मोहित हो जाते हैं। इसी प्रकार असुन्दर द्रव्यलिङ्ग वाले भी मुनि होते हैं।

इसके सिवाय भूतपूर्व प्रज्ञापन नय की अपेक्षा से भी दीक्षित होने से पहले का द्रव्यलिङ्ग भिन्न भिन्न साधुओं का भिन्न भिन्न होता है। वर्तमान में अन्तर नहीं होता। जैसा राजवार्तिक का विधान है।

इसके आगे आपने तत्त्वार्थ सूत्र के १० वें अध्याय के ६ वें सूत्र की सर्वाथेसिद्धि टीका के वाक्य “निग्रन्थलिङ्गेन सग्रन्थलिङ्गेन वा मिद्धिभूत-पूर्वनयापेक्षया।” का इवाला देकर लिखा है कि “वृत्ति भी सग्रन्थ और निग्रन्थ दोनों लिङ्गोंसे कही गई है।” इसके साथ ही अपनी बात की कच्चाई को छिपाने के लिये लिखते हैं कि “यहां भूतपूर्व नय का अभिप्राय सिद्ध होनेसे अनन्तर पूर्व का है।”

यहां पर भी प्रोफेसर साहब ने जान बूझकर भूल की है। 'भूतपूर्वनयापेक्षया' शब्द का अर्थ जैसा आप कह रहे हैं वैसा बिल्कुल नहीं है क्योंकि इस बात को प्रत्येक व्यक्ति समझता है कि तेरहवें गुण-स्थान में बाह्य आध्यन्तर रूप से पूर्ण निर्ग्रन्थ रूप रहता है। जिस श्वेताम्बरीय शासन के साथ मौलिक भेद मिटाने के लिये आप इतनी दौड़-धूप कर रहे हैं। वह श्वेताम्बरीय सिद्धान्त भी सिद्ध होने से अनन्तरपूर्व जरा भी सम्प्रन्थ रूप नहीं मानता। अर्हन्त अवस्था में श्वेताम्बरीय प्रन्थ भी पूर्ण नग्न रूप स्वीकार करते हैं किन्तु 'अतिशय के कारण उनकी नग्नता दिखाई नहीं देती' इतना और कह देते हैं। किन्तु यह केवल अर्वाचीन श्वेताम्बर आचार्य आत्मानन्द जो ने ही अपने तत्त्वार्थ-निर्णय प्रामाद ग्रन्थ के ५८६ वें पृष्ठ पर लिखा है। देखिये—

“जिनेन्द्र के तो अनिशय के प्रभाव से लिंगादि (भूतेश्वर) नहीं दीखते और प्रतिमा के तो अतिशय नहीं है इस वास्ते तिसके लिंगादि दीख सकते हैं।”

इस उल्लेख से प्रोफेसर साहब समझ गये होंगे कि श्वेताम्बरीय ग्रन्थ भी सिद्ध होने से अनन्तर पूर्व बानी १४ वें गुणस्थान में सम्प्रन्थ (बस पहने) रूप नहीं मानते।

दिगम्बरीय ग्रन्थ तो छठे गुणस्थान में भी लंगोटी तक पहनने का विधान नहीं करते फिर भी पूज्यपाद भाभी १३-१४ वें गुणस्थान में सम्प्रन्थ रूप का विधान कैसे कर सकते हैं ? इस बात को एक साधा-

रण व्यक्ति भी समझ सकता है। लंगोटी मात्र पहनने वाला दिगम्बरीय सिद्धान्तानुसार पंचम गुण-स्थानवर्ती अणुमयी बतलाया गया है।

अतः 'भूतपूर्वनयापेक्षया' का अर्थ “मिद्ध होने से अनन्तरपूर्व” बिल्कुल गलत है। इसका अर्थ तो यह है कि साधु दीक्षा लेने से पूर्व कोई मुनि तो सम्प्रन्थ मार्ग (अर्जुनधर्म) का अनुयायी होता है जैसे इन्द्रभूति गौतम थे (गणधर बनने या बोर प्रभु के समवशरण में आने से पहले) ऐसे मुक्त हुए साधु भूतपूर्वनय की अपेक्षा में 'सम्प्रन्थ लिंग वाले' कहे जाते हैं और कोई साधु मुनिदीक्षा ग्रहण करने से पहले निर्ग्रन्थमार्ग (अर्जुनधर्म) के अनुयायी होते हैं जैसे 'जम्बू स्वामी'। ऐसे साधुओं को सिद्ध हो जाने पर भूतपूर्वनय की अपेक्षा 'निर्ग्रन्थ लिंग वाला' कहा जाता है।

इस सुगम, संभाव्य, समुचित अर्थ को छोड़कर दिगम्बरीय श्वेताम्बरीय सिद्धान्तों के प्रतिकूल अमन्त्रण अर्थ करना कम से कम प्रोफेसर द्वारा लाल सरीखे उत्तरदायित्व रखने वाले व्यक्ति का उचित नहीं।

तीसरी युक्ति में आप लिखते हैं कि—

“धवलाकार ने प्रसक्त संयतों का स्वरूप बतलाने हुए जो सयम की परिभाषा दी है उसमें केवल पांच व्रतों के पालन का ही उल्लेख है— “संयमो नाम हिंसानन्दोयात्राक्षरिग्रहेभ्यो विरतिः।”

इससे आपने अपना कौन सा अभिप्राय सिद्ध किया—बह हमारा समझ में नहीं आता। संयम

वा मत का ठीक वही लक्षण तत्त्वार्थसूत्र के सातवें अध्याय के प्रथम सूत्र में (हिंसा- तस्तेषाम्प्रत्यक्षपारमर्श- भ्यो विरतिर्ब्रतम्) किया है। किन्तु ध्वलाकारने इस संयम के लक्षण में यह यहाँ लिखा है कि 'महाव्रतों साधु को वस्त्र पहनने चाहिये।' वस्त्र एक मूल्यवान् पदार्थ है। शरीर को सुख पहुँचाने का साधन है। अत एव १० प्रकार के परिग्रहों में उमको रक्त्वा गया है। फिर प्रोफेसर साहब निष्पक्षरूप में विचार कीजिये कि ध्वलाकार परिग्रह का त्याग कराकर क्या वस्त्र रखने का आदेश दे सकते हैं। वस्त्रधारण की छूट देनेपर परिग्रह का त्याग महाव्रत रूपमें न रहकर अणुव्रत रूप में रह जाता है। जैम ६ वीं प्रतिमा का आचरण पालन करने वाला भावक।

आश्चर्य है कि आप इस शीघ्र भूप में सिद्धान्त के उन स्पष्ट विधानों का भी उपेक्षा कर गये हैं जहाँ केवल वस्त्र धारण करने के कारण स्त्रियों के बड़े गुणस्थान का निषेध किया है। आप पदम्बरा- गम के ६३ वें सूत्र को ध्वला टीका फिर देख लीजिए क्योंकि शायद स्वयं सम्पादन किये हुए उस सूत्र को आप भूल गये हैं। अतः ध्वला के प्रथम खण्डका ३३३ वां पृष्ठ निकाल कर पुनः अवलोकन कीजिये— वहाँ स्पष्ट लिखा है कि—

“सवामस्वादिप्रत्याख्यानगुणस्थितानां संबन्धानु- पपत्तेः। न तासां भावसंयमोऽस्ति भावान्मयमाविनाभाविकान्पादानान्यथापपत्तेः।”

यानी—वस्त्र सहित होने से स्त्रियां पंचम गुण-

स्थान तक प्राप्त कर सकती हैं उनके पूर्ण संयम (महा- व्रत) नहीं होता।.....उनके भावसंयम भी नहीं होता क्योंकि भाव-असंयम का अविनाभावी वस्त्रग्रहण उनके पाग जाता है।

आशा है प्रोफेसर साहब इस आगम प्रमाण को देखकर अपनी गलत धारणा बदल देंगे।

इस प्रकार आपकी यह युक्ति भी खोखली है।

महाव्रतों साधुओं को मुक्ति प्राप्त करने तथा अति- शय विजरा प्राप्त करने के लिये दिगम्बरीय तथा श्वेताम्बरीय ग्रंथों में जो २२ परिसह बतलाई हैं उन में नग्न परीमह भी है। साधु यदि वस्त्र पहने तो वह नग्न परीमह क्या सहेगा ?

प्रोफेसर साहब भी भ्रामक धारणा हटाने के लिये हम यहाँ मंसेप से इतना लिख देना और उचित समझते हैं कि श्वेताम्बरीय सिद्धान्त ग्रंथों का अभि- मत साधु द्वारा वस्त्र-ग्रहण करने के विषय में क्या कुछ है।

श्वेताम्बरीय आगम उत्तराध्यायन के २३ वें अध्याय की २३ वीं गाथा की टीका में लिखा है कि—

‘अचेलगो य जे धम्मो’

मं० टीका—अचेलकश्चाणिममनचेलकः।

अर्थात्—वध्वरहित (नग्न) निर्ग्रन्थ दशा साधु का धर्म है।

श्वेताम्बरीय सिद्धान्त का कथन है कि वस्त्र पाणिपात्र (हाथों में भोजन करने वाला), अचेलक नग्न ही होता है। यदि कोई साधु लज्जा न जीत सके (नग्न न रह सके) तो वह वस्त्र पहन कर

रहे किन्तु वह जिनकम्पी माधु से डीन स्थविरकम्पी होगा ।

रवेताम्बरीय आगम आचारांग सूत्र के ८ वें अध्याय के ७ वें उद्देश में लिखा है कि—

“अथवा तत्त्व परकर्मतं भुञ्जो, अचेले तण-
फासा फुसंति, सीयफासा फुसंति, दसगफासा
फुसंति, एवायरे अजयरे विरुवरुव—फासे आहिया-
सेति अचेले लाघवियं आगमपमाणे । तवे से अभि-
समन्नाग ए भवति । जहेतं भगवता पवित्रियं तमेव
अभिसमेत्वा सव्वत्तो सव्वत्ताए समतमेव समभि-
जाणिया ।”

अर्थ—माधु यदि सज्जा जीत सकता हो तो वह नग्न हो रहे । नग्न रहकर तृणस्पर्श, शर्दी, गर्मी, दंशमशक तथा और भी जो परी-
सहें आवें उनको सहन करे ऐसा करने से माधु को थोड़ी चिन्ता (आकुलता) रहती है और तप प्राप्त होता है । इस कारण जैसा भगवान ने कहा है वैसा जानकर जैसे बने तैसे समझता रहे ।

एक सूत्र में नग्न रहने के लिये स्पष्ट प्रेरणा की है ।

, उसी आचारांग सूत्र के छठे अध्याय के तीसरे अध्याय में लिखा है—

“जे अचेले परिबुसिये तस्स एं भिक्खुस्स एवं
भवत् परिजिमे मे बत्थे, बत्थे जाइस्सामि, सूईं जाइ-
स्सामि, रुंथिस्सामि, सीबिस्सामि, उक्कसिस्सामि,
बोक्कसिस्सामि, परिहरिस्सामि, पाडिसिस्सामि ।”

यानी—जो साधु नग्न होते हैं उनको यह

चिन्ता नहीं रहनी कि मेरा कपड़ा फट गया है मुझे नया वस्त्र चाहिये, कपड़ा मीने के लिये सुई धागा चाहिये । तथा उसे यह चिन्ता भी नहीं रहनी कि मुझे काढ़ा रखना है, अपना फटा हुआ कपड़ा मुझे सीना है, जोड़ना है, काड़ना है, पहनना है, या मैला कपड़ा धोना है ।

इस सूत्र में रवेताम्बर आचार्य ने साधु के नग्न रहने में अनेक लाभ बतलाये हैं ।

यही आचारांग सूत्र ग्रंथ वक्तुधारक साधु को उपदेश देता है । देखिये अध्याय ८ उद्देश ५ ।

“अहपुण एवं जाणेज्जा, उवक्कते खलु” इमंते
गिएहे पडिबभे अहा परिजुम्माई बत्थाईं परिट्टवेज्जा
अदुवा संतकत्तरे अदुवा एग्माडे अदुवा अचेले
लाघवियं आगममाणे । तवे सं अभिसमण्णगाए
भवति । जहेयं भगवता पवेदितं तमेव अभिसमे-
त्वा सव्वत्तो सव्वत्ताए सव्वत्तमेव अभिजाणिया ।”

यानी—जो मुनि ऐसा समझे कि शीतकाल (जाड़ा) चला गया, गर्मी आ गई तो उसके जो कपड़े पुराने हो गये हों उन्हें रख देवे, या समय अनुसार पहने या फाड़ कर छोटा कर लेवे यहां तक कि एक ही कपड़ा रख ले और विचार रखे कि मैं अन्त में उस एक कपड़े को भी छोड़ यानी नग्न होकर निश्चिन्त बनूं ऐसा करने से तप प्राप्त होता है । इस कारण जैसा भगवान ने कहा है वैसा जैसे बने तैसे पूर्ण तौर से समझना चाहिये ।

आचारांग सूत्र के ये स्पष्ट कल्लेक साधु को वक्तुत्याग करने की ओर प्रेरित करते हैं ।

दिगम्बर श्वेताम्बर सम्प्रदाय में मूल अन्तर बही था कि अन्तिम भुतकेवली भद्रबाहु आचार्य के समय बारहवर्षी अकाल पड़ने के समय जो साधु अकाल-शीघ्रित मालवा प्रान्त में रहे आये उन्हें अकाल की कराल परिस्थिति-वश वस्त्र पहनने पड़े और जो साधु दक्षिण देश को चले गये वे इस आप-पड़ने में बचे रहकर अपने पृथ नग्न वेश में ही रहे। दुःकाल बीत जाने पर जब दोनों साधु मंच पुनः मिले तब बहुत से वस्त्र-धारक साधुओं ने दक्षिण की ओर गये हुए साधुओं के सम्पर्क में वस्त्र पहनना छोड़ दिया किन्तु कुछ साधुओं ने अममर्षता प्रगट की और नग्न रहना स्वीकार न किया।

इस पर से जैन साधुओं के दो मंच बन गये जो प्राचीन परम्परा पर दृढ़ता से स्थिर रहकर नग्न रूप में रहे वे दिगम्बर कहलाये और जिन्होंने वस्त्र पहनते हुए अपने आपको महाजनी साधु माना वे श्वेताम्बर कहलाये।

इस ऐतिहासिक घटना पर प्रकाश न डालते हुए बलान् दिगम्बरीय ग्रन्थों में साधु का वस्त्र—धारण विधान बतलाना अयुक्त है। किसी भी दिगम्बरीय ग्रन्थ में कहीं भी रचमात्र भी महाजनी साधु को वस्त्र पहन का विधान नहीं है। अतः कुन्दकुन्द आचार्य के द्वारा कथित साधु के नग्न रूप कथन का किसी भी दिगम्बरीय ग्रन्थकार ने विरोध प्रगट नहीं किया है।



केवली के भूस्व-प्यासादि की वेदना ?

दिगम्बरीय श्वेताम्बरीय मौलिक मतभेद का

अभाव दिखलाने के लिये प्रोफेसर साहब ने तीसरा विषय “केवली के भूस्व-प्यासादि की वेदना” लिया है। इस विषय को सिद्ध करने के लिये भी आपने भी कुन्दकुन्द आचार्य के वचन की अवहेलना करके तत्त्वार्थसूत्र का आश्रय लिया है और यह आश्रय लेते हुए आपने तत्त्वार्थ सूत्र की प्राचीन प्रामाणिक टीकाओं को भी अमान्य कर दिया है क्योंकि ऐसा करने में आपका दार्ष्टिक अभिप्राय सिद्ध होता था। परिस्थिति यदि इसके प्रतिकूल होती तो आप भी इससे प्रतिकूल सहारा लेते। संयमी और वस्तु-त्याग प्रकरण में आपको अपना अभिप्राय सर्वार्थ-सिद्ध एवं राजवार्तिक में सिद्ध होता दीक्षा तो वहां उन्हें प्रामाणिक मानकर उनसे अपना अभीष्ट सिद्ध किया यहां इन दोनों ग्रन्थों से अपनी मान्यता का खण्डन दीक्षा तो यहां उन दोनों ग्रन्थों को अप्रमाण्य कह दिया। अस्तु।

-

“केवली भगवान को भूस्व-प्यासादि की वेदना है या नहीं” मामला केवल इतना ही नहीं है किन्तु बात इतनी और भी है कि उस भूस्व प्यास आदि होने न होने के कारण केवली भोजन करते हैं या नहीं ? प्रोफेसर साहब इतनी बात लिखका भूल गये हैं सो पाठकों को प्रोफेसर साहब का पूर्ण अभिप्राय यह समझना चाहिये कि “केवली को भूस्व-प्यासादि का कष्ट होना है और उस कष्टको दूर करने के लिये वे माधारण साधुओं के समान भोजन भी करते हैं।”

यहां पर दो बातें हैं—१-देवनीय कर्म के उद्व

ले भूख प्यासादि का दुख होना, २-भोजन करना ।

इस विषय को हम प्रथम ही मोटी युक्ति से जानते हैं ।

ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अनन्तराय कर्म के समूल नष्ट हो जाने पर जब अनन्तज्ञान (केवलज्ञान) अनन्तदर्शन, अनन्त सुख और अनन्तवचन आत्मा में प्रगट होता है उस समय उस शुद्ध जीवन्मुक्त आत्मा को 'केवली' कहते हैं । यदि उस दशा में भी भूख-प्यास आदि की वेदना (कष्ट) होती रहे तो प्रोफेसर साहब ! जरा सोचकर बतलाइये कि अनन्तसुख किस व्याधि की औषध है ? जैसे शीन शरिद्रो दुस्ती पुरुष का नाम 'सुख-सागर' हो । ठीक ऐसी ही केवली का अनन्तसुख भी हुआ । यदि वह अनन्तसुख सचमुच सुख है केवल कहने मात्र ही नहीं है तो तत्सुखं यत्र ना-सुखस्य यानी—'सुख वास्तवमें वह है जहाँ कोई दुख नहीं है' हम सिद्धान्त के अनुसार केवली के भूख प्यास का ही क्या, किसी भी प्रकार का रंजमात्र भी दुख नहीं रोना चाहिए ।

इसी को गानतराय जी ने कविता में कहा है—

'भूख लगे दुख अनन्तसुखी कहिये किमि केवलज्ञानी ।'

अतः यह प्रश्न अब आपके ऊपर है कि क्या केवलज्ञानी अनन्त (निरवच्छिन्न, पूर्ण) सुखी है या हमारी आपकी तरह कभी कुछ सुखी और कभी भूख प्यास आदिके कारण दुस्ती भी होते हैं ? आपका जो भी उत्तर होगा आपकी मान्यता

पर प्रहार करेगा ।

दूसरे—'भूख' शब्द 'बुझा' का अपभ्रंश है अतः 'भूख' का अर्थ 'भोक्तुमिच्छा बुझा यानी 'भोजन करने की इच्छा' है ।

तदनुसार केवलज्ञानी को सचमुच भूख लगती है तो इसका स्पष्ट अर्थ यही है कि 'केवलज्ञानी को भोजन करने की इच्छा होती है ।' ऐसा आपको मानना भी होगा । क्योंकि भोजन अनिच्छा से होता भी नहीं है । क्योंकि सुख में भोजन का प्रास रखना, उसे चबाना और उसे निगलना यह सारे कार्य अनिच्छा में नहीं हो सकते । जैसे विद्या-योगिक के उदय में तथा भव्य जीवों के पुरेय कर्म उदय में अथवा वचनयोग में अनिच्छापूर्वक केवली का विहार और तीर्थंकर प्रकृति के उदय में अथवा वचन योग में अनिच्छा रहने हुए भी द्विष्य च्छनि होती है, भोजन पेट में इस प्रकार से नहीं पहुँचाया जा सकता । यह कार्य तो इच्छापूर्वक ही हुआ करता है । अतः भोजन करने पर केवली के इच्छा मिष्ट होगी किन्तु मोहनीय कर्म न रहने में उनके किसी भी प्रकार की इच्छा होती नहीं है । अतः या तो उनके भोजन करने की इच्छा का अभाव मानना होगा उस दशा में केवली के भोजन करना न बनेगा यदि उनके भोजन की इच्छा का सङ्काप मानेंगे तो उनके मोहनीयकर्म का सङ्काप मानना होगा ।

बतलाइये प्रोफेसर साहब ! कौन सी बात म्भी-कार है दोनों ही आपके लिये टेढ़ी सीर है ।

आपने यह विषय भी कर्मसिद्धान्त के नाम पर तत्त्वार्थसूत्र के ६ वें अध्याय के ११ वें सूत्र के आ-धार से सिद्ध करना चाहा है साथ ही तत्त्वार्थ सूत्रकी

प्रामाणिक टीकाओं (सर्वाथसिद्धि और तत्त्वार्थ-राजवार्तिक) को इस सूत्र के अर्थ के विषय में अमान्य कर दिया है। सो प्रथम तो तत्त्वार्थ सूत्र एक सूत्र ग्रन्थ है उसमें संक्षेप में प्रथमानुयोग के सिवाय शेष समस्त अनुयोगों का विषय विवेचन किया गया है। तदनुसार तत्त्वार्थसूत्र में कर्म-सिद्धान्त का भी संक्षेप में वर्णन कर दिया है किन्तु इतने पर से वह कर्म-सिद्धान्त नहीं माना जा सकता। आप यदि यह विषय कर्म-सिद्धान्त के अनुसार निर्णय करना चाहते हैं आपको गोम्मतसार कर्म-काण्ड देखना चाहिये था यदि आप गोम्मतसार देख लेंगे तो आपको ज्ञान होता कि भूत्व क्यों लगती है और वह केवली को होती है या नहीं ? एकादश-त्रिने का मूलासा भी आपको वहां पर मिलता।

तथा—यदि तत्त्वार्थसूत्र में ही इस विषय का निर्णय करना था तो उसकी प्रामाणिक प्राचीन टीकाओं पर आस्था रखनी चाहिये थी। आपने दोनों बातों में से एक भी न की। अतः भ्रम ने आपको धोखा दिया। अस्तु।

आपको सब में प्रथम इस विषय में यह बात ज्ञान होनी चाहिये कि 'भूत्व त्रिम के कारण मनुष्य भोजन करने के लिये प्रवृत्त होता है वह अमाता वेदनीय के उदय से नहीं होता' जैसा कि आपने समझ रक्खा है। 'भोजन की ओर चित्त को ले जाने वाली भूत्व (बुध्वा) अमाता वेदनीय कर्म की उदीरणासे होती है।'

देखिये गोम्मतसार जीवकाण्ड में लिखा है—
आहारदंसरणेण य तन्मुखजोगेण आत्मकोटाए ।
साविद्वदीरणाए हर्वादि ह्य आहारसंस्थाओ ॥१३४॥

यानी—भोज्य पदार्थ देखने से, भोजन की ओर उपबोग लगाने से, पेट काली होने से तथा असाता वेदनीय की उदीरणा होनेपर आहार संज्ञा यानी भूत्व होती है।

अतः कर्मसिद्धान्तानुसार भूत्व असाता वेदनीय कर्म के उदय से नहीं बल्कि उसकी उदीरणा से लगती है।

वेदनीय कर्म की उदीरणा छठे गुणस्थान तक होती है उससे ऊपर के गुणस्थानों में वेदनीय कर्मकी उदीरणा नहीं होती। इस नियम को न केवल विगम्बरीय सिद्धान्त ग्रन्थ किन्तु श्वेताम्बरीय ग्रंथ भी बतलाते हैं। अतः भोजन करना पहले से छठे गुणस्थान तक ही होता है।

श्वेताम्बर ग्रंथ प्रकरण रत्नाकर चतुर्थ भाग (पदशीति) की ६४ वीं गाथा है—

उद्भवंति पमत्ता मगद्व मीसद्व वेष आच चिद्या ।

जग अपमस्यइ तत्र छ पंच सुदुमो पणु वसंतो ॥

अर्थात्—मित्र गुणस्थान के सिवाय पहले गुणस्थान में छठे गुणस्थान तक आठों कर्मों की उदीरणा होती है। सातवें, आठवें, नौवें गुणस्थान में वेदनीय और आयु कर्म के बिना ६ कर्मों की, दशवें, ग्यारहवें गुणस्थान में मोहनीय, वेदनीय और आयु-कर्म के सिवाय शेष ५ कर्मों की उदीरणा होती है।

अब प्रोफेसर साहब बतलाइये कि वेदनीयकर्म की उदीरणा जब तेरहवें गुणस्थान में होती ही नहीं तब केवलज्ञानी को भूत्व लगेगी कहाँ से ?

यह विषय कोरे युक्तिवाद का नहीं, यह विषय आपके मनपसन्द अटक कर्मसिद्धान्त का है। अतः आप इसको मानने में मनु, न च नहीं कर सकते। अतः जिस कर्मसिद्धान्त के आप हामी हैं वह ही कर्म

सिद्धान्त आपकी मान्यता का स्पष्टहन और श्री कुन्द-कुन्दाचार्य, जयार्थसिद्धि, राजवार्तिक की केवली को भूख न लगने वाली बात का जोर से समर्थन करता है।

भूख यदि वेदनीय कर्म के उदय में ही मानी जावे तो वेदनीय कर्म का उदय तो प्रति समय रहता है तब प्रति समय भूख लगी रहनी चाहिये और केवली को प्रति समय मुह चलाते रहना चाहिये किन्तु ऐसा सर्वसाधारण जीवों के भी नहीं होता। अतः सिद्ध होता है कि भूख वेदनीय कर्म की तदी-रणा में होती है।

आपने जिम धवला ग्रंथ (पदस्वरूपागम) का सम्पादन किया है उसके प्रथम भाग के ४७ वें पृष्ठका अवलोकन कीजिए वहां स्पष्ट लिखा है—

“न वेदनीयां दुःस्वजनकः केवलिनः केवलित्वान्यथानुपपत्ते रिति वेदस्त्वेवमेव न्यायप्राप्तत्वात्” ।

४-६पंक्ति

यानी—(शंका) वेदनीय कर्म केवलीको दुःस्व नहीं दे सकता क्योंकि यदि केवली को भी वेदनीय में दुःस्व प्राप्त हो तो फिर केवलीपना नहीं बनसकता। (उत्तर) ठीक है ऐसा ही होना चाहिये, ऐसा होना न्याय-युक्त है।

जयधवला सिद्धान्त ग्रंथ के ६१-७०-७१ वें पृष्ठ पर केवली के भूख-व्यास लगने तथा उसके कारण भोजन करने का स्पष्टहन किया गया है। संकेत रूप में उसका यहां उल्लेख कर देने हैं—

‘यः भुंजते केवली भुक्ति—

कारणाभावादोक्ति सिद्धं ।

(पृष्ठ ७०, पंक्ति ३)

अर्थात्—केवल ज्ञानी भोजन नहीं करते हैं क्योंकि भोजन करने का कोई कारण नहीं है। (ग्रन्थकार इसमें पहले कबलाहार करने के समस्त कारणों को केवली के लिये निराकरण कर आवे हैं)।

वेदनीय कर्म केवली को दुःस्व दे सकता है या नहीं इस विषय में ग्रन्थकार लिखते हैं—

‘तदा यः वेदयां घादकम्पश्चिरवेकस्त्वं फलं देदिति मिद्धं ।’

(पृष्ठ ७१ पंक्ति ४)

यानी—इस कारण वेदनीय कर्म घातिकर्मों की सहायता बिना केवली को अपना फल नहीं दे सकता यह मिद्धं हुआ।

पाठक महानुभाव इस प्रकरण को जयधवला में पूर्ण रूप में पढ़ लें हमने यहां पर केवल ग्रन्थकार का अभिमत प्रगट किया है।

हम इस बात की आशा तो स्वप्न में भी नहीं कर सकते कि श्री महावीर प्रभु की वाणी से भूखला के समान अटूट सम्बन्ध रखने वाले उक्त दोनों सिद्धान्त ग्रन्थों के उल्लेखों को प्रोफेसर हीरालाल जी शिर झुका कर स्वीकार न करेंगे।

कर्मसिद्धांत का प्रसिद्ध ग्रंथ गोम्मतमार कर्मकांड इस विषय में अपना क्या अभिप्राय प्रगट करता है यह भी देख लीजिये—

एह्य य रायशेसा इंदियणाणं च केवलमिह जवो ।
तेण दु सादासादज सुहदुक्खं एत्थि इंदियजं ॥२७३

अर्थात्—केवलज्ञानी के राग द्वेष तथा ऐन्द्रियिक ज्ञान नष्ट हो चुके हैं इस कारण साता असाता वेदनीय कर्म के उदय से होने वाले इन्द्रिय-

जन्य मुख-दृग् केवली को नहीं होते ।

ममयद्विदिगो बंधो मादम्बुदर्याप्पगो जरो तम् ।

तेण अमादम्बुदो सादसरूवेण परिणमदि ॥२७४॥

अर्थान्—क्योंकि केवलज्ञानी के माना वेदनीय का बन्ध एक समय स्थिति वाला होता (उदयस्वरूप) है इस कारण पूर्ववद् अमाना का उदय भी माना रूप में परिणत होकर उदय आता है ।

प्रोफेसर साहब ' नेमिचन्द्र भिद्धान्त चक्रवर्ती की इस गाथा को ध्यान में अवलोकन तथा मनन कीजिये । आगे प्रथकार इस विषय का निबोध कहते हैं कि—

एदेण कारणेण तु मादम्बेव तु गिरंतेरो उदओ ।

तेणामादगमिना परीसदा जिणवरे गत्थि ॥२७५॥

यानां—इस कारण केवलज्ञानी के निरन्तर माना वेदनीय कर्म का ही उदय है । अतः केवली भगवान को असाता वेदनीय के उदय में होने वाली परापह नहीं होती है ।

कितना स्पष्ट सत्यतिक कर्मसिद्धान्त का विवेचन है प्रोफेसर साहब की 'एकादश जिने' सूत्रवा स्पष्ट अभिप्राय इन तीनों गाथाओं के आधार में विचार लेना चाहिये ।

इस प्रकार आपने जो लिखा है कि—

“सर्वार्थसिद्धिकार एवं राजधानिककार ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि मोहनीय कर्मद्वय के अभाव में वेदनीय का प्रभाव उत्पन्न हो जाता है इसमें वेदनायें केवली के नहीं होतीं । पर कर्म-सिद्धान्त में यह बात सिद्ध नहीं होती । मोहनीय के अभाव में राग द्वेष परिणति का अभाव अवश्य होगा पर वेदनीय जन्य वेदना का अभाव नहीं हो

सकेगा । यदि वैसा होता तो फिर मोहनीय कर्म के अभाव के पर्याप्त वेदनीय का उदय माना ही क्यों जाता । वेदनीय का उदय सयोगी और अयोगी गुणस्थान में भी आयु के अन्तिम समय तक बराबर बना रहता है । इनको मानते हुए तत्त्वस्थानी वेदनाओं का अभाव मानना शास्त्र-सम्मत नहीं ठहरता ।”

आपके इस लेख का शास्त्रसम्मत उत्तर गो-स्मृतसार की उक्त गाथाओं में आ गया आता है आप उस पर गंभीरता से विचार करेंगे ।

कर्मों की १० दशाओं का यदि आप अच्छी तरह व्याख्याय करेंगे तो केवली को असाता वेदनीय द्वारा वेदनायें न मिलने की बात बहुत शीघ्र आपकी समझ में आ जायगी ।

कर्मों का उदय द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव के अनु-सार होता है—द्रव्यिये अहमिन्द्रों तथा इन्द्रों की भी अमाना वेदनीय का उदय कभी कभी होता है किन्तु उस पर्याय में दुःख जनक कुछ भी सामग्री न होने के कारण वह कर्म मुख्य जनक रूप ही परिणत होकर समाप्त हो जाता है । तथा नारकियों की भी कभी कभी पूर्ववद् माना वेदनीय कर्म का उदय होता है किन्तु नरक में मुख्य सामग्री के अभाव में वह माना वेदनीय कर्म भी दुःखजनक रूप में समाप्त होता है । ऐसी ही दशा मनुष्य नियोज के लिये भी है । किसी किसी अच्छे उपयोगी वाय में संलग्न मनुष्य को वेदनीय कर्म भूत्य उत्पन्न नहीं कर पाता, ध्यान में लग्न मुनि के वेदों का उदय रहता हुआ भी मैथुन संज्ञा उत्पन्न नहीं करा सकता । ऐसी ही बात केवलज्ञानी के लिये है ।

केवलज्ञानी के विगुण परिणामों के कारण प्रति

समय पाप प्रकृतियों का अनन्तगुणा अनुभाग लीए होता जाता है जो प्रकृति उदय में आती हैं वे मारे हुए विष के समान निःशुक्त होकर उदय आती हैं। जो पुण्य प्रकृति योगों के कारण बन्धनी हैं उनमें अनन्तगुणी अधिक अनुभाग शक्ति होती है और वे उसी समय उदय आ जाती हैं क्योंकि कपाय के अभाव में उनमें स्थिति नहीं पड़ती। अतः नीम शक्तिशालिनी माना प्रकृति के उदय के साथ पृथक् असाता वेदनीय बहुत निश्चल रूप में जो उदय आती है वह भी क्षीर समुद्र में गिरा हुई एक विष की वृद्ध के समान साता वेदनीय रूप ही हो जाती है। यह कमे परिवर्तन आप लक्ष्मण, लक्ष्मणामार में देखें। अतः केवली को असाता वेदनाय—कृन् दुःख नहीं हो सकता।

समस्त केवलज्ञानियों का असाता का उदय नहीं आता किन्तु जिनके पहले बंधा हुआ माना वेदनीय कमे विद्यमान है उनके साता वेदनीय ही उदय आता है। अतः उनके परीसर्वा की सम्भावना है ही नहीं। प्रोफेसर माहय ! क्या उन्हें भी भुवःप्यास लगेगी ? क्या वे भी भोजन करेंगे ?

अन्त में आपने जो स्वामी समन्तभद्राचार्य की आत्ममीमांसा का ६३ वां श्लोक देकर अपना अभिप्राय सिद्ध करना चाहा है वह भी आपने गलती की है क्यों आपने जैसा अर्थ समझा है वैसा उसका अभिप्राय नहीं है।

स्वामी समन्तभद्राचार्य तो रत्नकरण्ड भाव—काचार में स्पष्ट लिखते हैं कि—

क्षुत्तिपासा जरागृज्जन्मानिकनयम्भयाः ।

न रागद्वेषमोहाश्च यस्यासः सः प्रकीर्त्यते ॥

अर्थात्—जिसके भुख, प्यास, बुढ़ापा, रोग,

जन्म, मरण, भय, आश्चर्य, राग, द्वेष, मोह आदि दोष नहीं वह ही आत्मा (अर्हन्त) कहलाता है।

ऐसा स्पष्ट लिखने वाले समन्तभद्राचार्य आप—मीमांसा में इसके विरुद्ध केवली को भुख प्यास आदि दुःखों का मद्भाव कैसे बनलाते ?

पुण्यं भ्रष्टं भवतो दुःखात्पापं च मुक्ततो यदि ।

वीतरागामुनिर्निर्दिष्टानां यो युज्यन्तमिदं ॥७३॥

इस श्लोक का अर्थ यह है कि—

यदि आपने आपको दुःख देने में पुण्य और सुख देने में पाप कर्म का बन्ध होता है तो कायक्लेशादि तप करने वाले वीतराग (शत्रु मित्र में राग द्वेषभाव न रखने वाले) मुनि के पुण्यकर्म का बन्ध होता रहेगा (यानी—कमजय कभी न होगा, संसार पर—स्वरा यों ही चलनी रहेगी) और तत्वाविचार, संतोष आदि सुख का अनुभव करने वाले विद्वान को पाप कर्म का बन्ध होगा।

उक्त श्लोक के 'वीतराग' शब्द का अर्थ नेरहवे गुणस्थानवर्ती केवली नहीं है क्योंकि वे न तो काय—क्लेश आदि तप करने हैं और न अन्य कर्मों प्रकार दुःख करने लिये उत्तरण करने हैं। इस 'वीतराग' शब्द का अर्थ—

अरि मित्र महल मसान कंचन

काच, निन्दन धुनिकरन ।

अर्थात् वीतराग, अलिप्रहारन में सदा समताधरन ।

ऐसी समता चर्चा का आचरण करने वाले 'मुनि' है। आप इसका अर्थ अष्टमहत्तो में देखिये।

इसके मिश्रण यह भी विचारिये की वेदनीय के उदय में शोक, उष्ण, दंशमशक, बध आदि अन्ध

परीषद् भी होती हैं तो क्या वे भोजन के समान गर्म, ठण्डे कपड़े भी पहनते हैं या अन्य प्रतीकार भी करते हैं ?

भोजन न करने पर भी अनंतकाल के कारण उन में निश्चलता नहीं आ सकती, अकाल मृत्यु नहीं हो सकती, आदि युक्तियों को विस्तार भय से छोड़ देते हैं।

तथा केवलो अपने लिये भोजन गोचरी में लेते हैं अथवा भिक्षावृत्ति को उपेक्षा करके किसी अन्य में संगठित हैं, आये हुए आहार को स्वयं ग्रहण करते हैं, या किसी अन्य माधु के द्वारा दिये हुए भोजन को लेते जाते हैं, केवलज्ञान के द्वारा उन्हें समस्त जगत की मार-काट, अन्याचार, चोरी, मृत्यु, भ्रम आदि

स्पष्ट जान पड़ने हैं फिर उनका आहार अंतराय तथा दोष टलकर कैसे होता है, क्या वे कभी उपवास आदि भी करते हैं, प्रकृत विकृत भोजन मिलने से क्या उन्हें घात, पित्त, कफ की विषमता से रोग भी हो जाते हैं, तदर्थ क्या औषध भी लेते हैं, (तीर्थ कर के मित्राय अन्य केशवियों के) क्या उन्हें भोजन के कुछ समय बाद दृष्टि, पेशाब भी आता है, शीघ्र के लिये क्या कमण्डलु आदि भी रखते हैं ? इत्यादि अनेक टेढ़े मेढ़े प्रश्न इस विषय पर उठते हैं किन्तु विस्तार भय से हम उनको भी छोड़ देते हैं।

अन्त में स्वर्गीय पं० शानतराय जी का एक मंत्रया लिखकर इसको समाप्त करते हैं—

भूय लग दुख होय अनन्त मुखा कहिये किमि केवलज्ञाना ;

खान विलोकन लोकालोक, देखि कुटुम्ब भवै किम जानी ॥

खाय के नांद करें मय लोग, न स्वामी के नांद का नाम निशानी ।

केवलि कवलाहार करें नहि मांछा दिगम्बर ग्रन्थ की बानी ॥



[११]

श्री १०५ पूज्य, विद्वद्वर तुल्लक
सूरिसिंह जी महाराज



मिदं स्वात्मसुखैकसारममलं चैतन्यज्योतिः परं ।

ज्ञाना नन्दनमयं विभावहननं शान्त्यात्मकं मौर्यदं ।

मर्वज्ञं सुखकारकं भवहं स्वायंभवं शंकरं ।

बुद्धं चिन्मयमौख्यशान्तिकरणं वंदे सुभक्त्या जिनम् ॥

भक्त्यात्माओ ! आज हम भारत भूमि पर जितने भी लोग हैं, उनमें कोई अवधि ज्ञानी या मन पर्यय ज्ञानी या केवलज्ञानी जैसे प्रत्यक्ष ज्ञानी नहीं है। इस लिये आज हमारे जैनसमाज में हर एक विद्वान अपने ज्ञानमय से समझो या उनके होनहार से समझो अपना अपना स्वतन्त्र मत चलाता है और अपने मत में बाधक-रूप जिन आचार्यवर्य के वचन देखता है उसी आचार्यवर्य के सिद्धान्तिक युक्ति-युक्त विधान को अप्रमाण कहने की चेष्टा करता है। ऐसी ही दशा में श्री कुन्दकुन्दाचार्य के प्रति अभद्रा होने के सबब से श्री प्रोफेसर हीरालाल जी ने यह अभिप्राय लिखा है कि “हमारे प्राचीनतम आचार्यों ने (श्री षट्खण्डागम के कर्ताओं ने) श्री मुक्ति का तथा केवली कलाहार का और सप्रत्य-मुक्ति का समर्थन किया है। किन्तु श्री कुन्दकुन्दा-चार्य ने इन विषयों का निषेध करके श्वेताम्बर, दिगम्बर ऐसे दो पन्थ कर दिये हैं। और श्री कुन्दकुन्दाचार्य के वचन सिद्धान्तानुसार ठीक नहीं हैं।”

इस लिखने में श्री कुन्दकुन्दाचार्य के प्रति आप का कितना अन्याय भव है इसे पाठक अनुभव करें। श्री कुन्दकुन्दाचार्य विजय की प्रथम शताब्दी में हुए

हैं और श्वेताम्बर ग्रन्थ महावीर निर्वाण से ६०० वर्ष बीतने पर वल्लभीपुर में लिखे गये हैं। देखिये श्वेताम्बर ग्रन्थ ज्ञाताधर्म कथा में लिखा है।

“श्रीदेवद्विगणिकमाभमण्येन श्रीवीराद् अरीत्य-धिकनवतिशतवर्षं (६००) जाते द्वादशवर्षीयदुर्भि-सवराद् बहुतर-साधुव्यापत्तो बहुभुतविश्रुतौ च जातायां x x x भव्यवद् भव्यलोकोपकाराय भूतभक्तये च श्री संघाग्रहाद् मृतावशिष्टतदाकालीन सर्वमाधून वल्लभ्यामाह्वय तन्मुखाद् विच्छिन्नाव-शिष्टान् न्यूनाधिकान् त्रुटिताऽत्रुटितान् आगमाज्ञाप-कान् अनुक्रमेण स्वमत्या संकल्प्य पुस्तकारूढाः कृताः ततो मूलतो गणधरभाषितानामपि तत्संकलनाम्यदं सर्वेषामपि आगमानां कलां देवद्विगणिकमाभमण्य एव जातः ।”

इस उपरोक्त आधार से यह अच्छी तरह से सिद्ध होता है कि श्री कुन्दकुन्दाचार्य के लेखनकाल के बाद में श्वेताम्बर ग्रन्थ तैयार हुए हैं। और वे श्री न्यूनाधिक रूप से लिखे गये हैं। इससे सिद्ध होता है कि उनके आगम प्रमाणभूत नहीं हैं “न्यूनाधिकान् त्रुटिताऽत्रुटितान् आगमाज्ञापकान् स्वमत्या संकल्प्य पुस्तकारूढाः कृताः ।” ऐसा लिखा है इससे ही ‘उनका लेखन विकृत रूप से हो गया है’ यह सिद्ध

होता है, तथा बेचरपास जी ने भी 'अपना साहित्य विकृत हो गया है' ऐसा लिखा है। देखिये उनका लिखित "जैनसाहित्य में विकार" बहांपर लिखा है कि श्री कुन्दकुन्दाचार्य के बाद लिखित श्वेताम्बरों के सब सूत्र विकारयुक्त हैं। श्री श्वेताम्बराचार्य श्री अभयदेव मूरि जी ने भी लिखा है कि—

"अज्ञात यं शास्त्रमिदं गम्भीरं,

प्रायोऽस्य कूटार्तं च पुस्तकानि।"

अर्थात्—जिन सूत्रों का पुस्तकबद्ध किया कि वे प्रायः कूट हो गये हैं। अब प्रोफेसर साहब जी ! जरा विचार कीजिये कि श्वेताम्बर ग्रन्थ प्रामाणिक हैं या नहीं ?

उस श्वेताम्बरीय संप्र में भी एक मत नहीं रहा था, क्षीमुक्ति आदि विषयों में भी उनके दो मत थे। इस लिये वे सन्देही थे। उस सन्देह के कारण दिगम्बरान्ताय के आचार्यों ने उनको संशय मिथ्या-ट्टि कहा है। संशय मिथ्यास्वी लिखने का कारण कब हुआ यह विचारणीय बात है। तथापि श्री कुन्दकुन्दाचार्य के समय में वह श्वेताम्बर शास्त्र लिखित मौजूद नहीं थे। उनके बाद हुये हैं—इस लिए श्री कुन्दकुन्दाचार्य जी ने श्वेताम्बरों को संशय मिथ्या-ट्टि ऐसा स्पष्ट रूप से नाम नहीं दिया है किन्तु उनका खण्डन करने के लिये अवश्य उस विषय पर प्रकाश डाला है। और जगह जगह में क्षीमुक्ति का निषेध तथा गुरुओं को दिगम्बर ही रहना चाहिये, गुरु लोग परिग्रहधारी नहीं होते परिग्रहधारी मुनि लोग अपो-गति में ही जाते हैं ऐसा लिखा है। श्री कुन्दकुन्दाचार्य के बाद में श्वेताम्बरीय ग्रन्थों के निर्माण होने पर और उनके श्वेताम्बर संप्र में लिखित सूत्रों में विरोध होने के कारण ही उनका निश्चित मत न होने

से उनको संशय मिथ्याट्टि कहा है।

जब श्री भूतबलि पुण्यदन्ताचार्यों ने श्री बद्ध-खण्डागम को लिखा है, उस समय उतना जोरदार मतभेद नहीं हुआ था, मतभेद का उम्र बढ़ जाना उन श्वेताम्बरीय ग्रन्थों के निर्माणानन्तर ही मालूम होता है। यदि श्रीधर सेनाचार्य के समय में अति प्रबल मतभेद होता तो वे उस विषय पर बहुत कुछ खुलासा लिख सकते थे लेकिन उस समय क्षीमुक्ति का भेद नहीं हुआ था ऐसा ज्ञान होता है।

तथा उस समय श्वेताम्बरीय ग्रन्थ न होने के कारण मतभेदों को भी स्पष्ट रूप से न कर सके, जब लिखित प्रमाण हो गया तब स्पष्ट रूप से मत संचालकपन सिद्ध हो गया। श्रीधर सेनाचार्य के समय में यद्यपि मतभेद था तथापि उतना प्रबल नहीं था, यह सिद्ध होता है। श्री कुन्दकुन्दाचार्य के समय में बड़ी मतभेद जोर से हो गया था, तथापि उनके ग्रन्थ न होने से भी स्पष्ट रूप से "मिथ्याट्टि" है ऐसा नहीं कहा। इस लिये श्री कुन्दकुन्दाचार्य के बाद के मुनि लोगों ने स्पष्ट रूप से खण्डन किया है।

प्रोफेसर साहब जी ! आपका अद्भुत दिगम्बरीय आर्य ग्रन्थों की अपेक्षा श्वेताम्बरीय ग्रन्थों में अधिक ज्ञात होती है। इस लिये दिगम्बराचार्यों के ऊपर आपने अभद्रा रूप से लिखा है। किन्तु यह बात स्पष्ट रूप से लिखनी चाहिये। इससे स्वपर कल्याण होता है।

हे बाबकी ! प्रोफेसर साहब के लिखित मंतव्य का खण्डन उनके मान्य प्राचीनतम आचार्यों के वचन से ही करते हैं। फिर श्वेताम्बर ग्रन्थों से भी क्षीमुक्ति का निषेध लिखेंगे तदनन्तर हिन्दू ग्रन्थों के आधार से 'दिगम्बरत्व प्राचीन काल से आ रहा है' यह लिखेंगे।

“श्वेताम्बर सम्प्रदाय की मान्यता है कि जिस प्रकार पुरुष मोक्ष का अधिकारी है उसी प्रकार स्त्री भी है। पर दिगम्बर सम्प्रदाय की कुन्कुमाचार्य द्वारा स्थापित आम्नाय में स्त्रियों को मोक्ष की अधिकारिणी नहीं माना गया। इस बात का स्वयं दि० सम्प्रदाय द्वारा मान्य शास्त्रों के द्वारा कहां तक समर्थन होता है यह बात विचारणीय है। कुन्कुमाचार्य ने अपने ग्रंथों में स्त्रीमुक्ति का स्पष्टतः निषेध किया है, किन्तु उन्होंने व्यवस्था से न तो गुणस्थान की चर्चा की है और न ही कर्मेसिद्धान्त का विवेचन किया है। जिससे उक्त मान्यता का शास्त्रीय बितन शेष रह जाता है। शास्त्रीय व्यवस्था में इस विषय की परीक्षा गुणस्थान और कर्मेसिद्धान्त के आधार पर की जा सकती है। तदनुसार जब यह विचार करते हैं तो निम्न परिस्थिति हमारे सम्मुख उपस्थित होती है।

१—दिगम्बर आम्नाय के प्राचीनतम ग्रंथ पट-स्वरूपागम के सूत्रों में मनुष्य और मानुषी, अर्थात् पुरुष और स्त्री दोनों के अलग अलग चौदह गुणस्थान बतलाये हैं। देखो मत्प्र० सू० नं० ६३, द्रव्य प्र० सू० नं० ४६, १८४-१८६, क्षेत्र प्र० ४३, स्प० सू० ३४, ३७, १०२-११०, काल अ० ६७-७२, २२७-२३५, अन्तर प्र० ४७-७७, १७७-१८२, भाव अ० २२-४१, ५३-८०, १४४-१६१।”

हे बाचको! उपरोक्त कथन प्रोफेसर साहब का है। अब इसपर निवार किया जाता है। सन-प्रसूणा का सूत्र नं० ६३ यह है—

सम्प्रामिञ्जाद्वि-असंजद सम्माद्वि संजदा-संजदगुणे शियमा पञ्जसोयाओ ॥६३॥

अर्थ—सम्प्रामिञ्जाद्वि नामक मिश्र गुणस्थान

असंजद नामक (अद्विगत) चौथे गुणस्थान में, संयम संयत नामक पांचवें गुणस्थान में नियमपूर्वक पर्याप्त-का क्रिया होती है। इस सूत्र में स्पष्ट कर के द्रव्य क्रियाओं को पांचवें गुणस्थान तक बढ़ने की शक्ति है, यह प्रगट किया है। यदि इस सूत्र में संयम लिखा होता तो “क्रियां पुरुष के समान संयमधारिणी होती हैं।” ऐसा अर्थ हो सकता था। लेकिन खुद भी भूतबली पुष्परंताचार्यों ने इस सूत्र द्वारा द्रव्यक्रियाओं को संयम नहीं हो सकता यह स्पष्ट तौर विधान किया है। इस सूत्र की वृत्ति में तो स्पष्ट करके स्पष्ट रूप से न्याय हेतुपूर्वक द्रव्य क्रियाओं को संयमभाव नहीं होता क्योंकि बल साहित होने से। और उसका अर्थ प० होरालाल जी आदि अनुवादकों ने किया है। तथापि प्रोफेसर साहब की वृत्तिप्रकार प्रमाण भूत नहीं है। इस लिये यह प्रश्न आपने उठाया है। इतना ही नहीं प्रोफेसर साहब ने खुद इसके ऊपर—

“अत्र संजद इति पाठ शेषः प्रतिभाति”

इस प्रकार टिप्पणी में लिखा है। इतना ही नहीं बल्कि उस टिप्पणी से प्रोफेसर साहब को मन्तोष नहीं हुआ अतः भोले और अज्ञ लोगों पर अपने मन का असर (प्रचार) होने के लिये उस ६३ नम्बर सूत्र का हिन्दी अर्थ करते समय ‘संयम गुणस्थानों में नियम से क्रियां पर्याप्त होती हैं’ ऐसा अर्थ किया है।

उस अर्थ पर बाचक वृन्द को विचार करना चाहिये। इस प्रकार कई जगह सूत्र के अर्थ का अनर्थ किया है। अपना मतलब सिद्ध करने के लिये मानुसिणी का अर्थ “योनिमयी” इस प्रकार हिन्दी में किया है। ऐसा दोष कई जगह पर किया हुआ है। इस प्रकार बाचकवर्ग को ध्यान देना चाहिये

अर्थान्—हिन्दी अर्थ पढ़ने समय उसपर भट्ठा नहीं करनी चाहिये ।

२ प्रश्न मानुसिणी शब्द का क्या अर्थ है ?

उत्तर—हर एक शब्द का अर्थ, प्रकरण के अनुसार करना चाहिये । एक शब्द का अर्थ एक ही नहीं होता, हर शब्द अनेकायक होता है । जैसे “समय” शब्द है, उसका अर्थ करने समय कभी द्रव्यरूप में लेना चाहिये, कभी भावरूप में अर्थान् पर्याय रूप में और कभी गुणरूप में लेना पड़ता है । एक ही पर्यायरूप अर्थ लेना ठीक नहीं । कालद्रव्य के कथन करते समय द्रव्यवाचक अर्थ करना पड़ता है और व्यवहारकाल के प्रकरण में समय नाम मूलम टाइम का अर्थ करना पड़ता है । ऐसे प्रकरणवश अर्थकरनेसे अच्छा होता है । नहीं तो एकही अर्थकरने से बड़े अनर्थ होने की सम्भावना भी उत्पन्न होती है । जैसे पूर्वकाल में एक “अज” शब्द का अर्थ करने में पूजा के प्रकरण में ‘अज’ शब्द का अर्थ न उत्पन्न होने वाले शाक का भात करना चाहिये उसको जोड़कर ‘अज’ शब्द या अर्थ ‘बकरा’ करने में कितना अनर्थ हुआ है । और यज्ञ में जीवहिंसा की प्रथा चली । उसी तरह आजकल भी कोई प्रकरण को न देखते हुये अपनी मत पुष्टि करने बैठेगा तो उसको कौन रोक सकता है । किन्तु इस से जगत्ता को अत्यधिक हानि पहुँचेगी ।

इस लिये एक ही मानुषी शब्द के प्रकरणानुसार कभी द्रव्यवाची का अर्थ ठीक है वहाँ पर सूत्र नं० ६३ में द्रव्यवाची का अर्थ करना ठीक है । और आचार्य ने भी द्रव्यवाची का ही अभिप्राय लेकर “असंयत संवत्संयत” ऐसा पद दिया और संयतपन का निषेध किया है । यदि सूत्रकार के मनमें द्रव्य-

वाचियों को संयमभाव प्राप्त होने की योग्यता हो सकती थी तो वे इस सूत्र में संयतपद भी रख सकते थे । लेकिन वट्स्यव्याख्यान सूत्र वाच्यों को इष्ट न होने से संयतपन का अभाव दिखाया है ।

मानुषवाची का अर्थ

अब यहाँ पर कम प्राप्त मानुषी शब्द का अर्थ किस तरह करना चाहिये इस बात का विचार करते हैं । मानुषी शब्द की व्युत्पत्ति से इस शब्द के मुख्य दो तरह के अर्थ किये जाते हैं—एक द्रव्यवाचि ऐसा अपेक्षा से जब अर्थ किया जाता है तब द्रव्यवाची ऐसा अर्थ होता है । दूसरा अर्थ जब वेद की प्रधानता से किया जाता है तब मोहनीय कर्म भेदगत कीवेद भाव को धारण करने वाला जीव लिया जायगा ।

जहाँ पर मनुषिणी का अर्थ एक ही नहीं होता मनुसिनी शब्द खास करके एक द्रव्य के ही उपर नहीं रहता किन्तु द्रव्य भाव इन दोनों के आधार पर रहता है । वहाँ पर एक ही अर्थ करना गलत है और मनुसिनी शब्द का प्रयोग न करने हुये “योनिमती” शब्द का प्रयोग जहाँ पर होता है वहाँ पर उस शब्द का अर्थ द्रव्यवाची हो जाता है क्योंकि योनिमती शब्द खास करके एक ही जगह पर आरुढ़ है । हाँ जहाँ पर योनिमती का प्रयोग आचार्य करते हैं वहाँ पर वेद का अर्थ लेते ही नहीं । इस लिये मानुषी शब्द का अर्थ सर्वथा द्रव्यवाची करने में ही हट पकड़ना गलत है । दूसरी बात जहाँ पर टीका स्पष्ट रूप से मौजूद है वहाँ पर कभी भी हट करना ठीक नहीं ।

प्रोफेसर साहब कहते हैं कि द्रव्य से स्त्री और पुरुष इन लिंगों के सिवाय तीसरा कोई लिंग नहीं जिसमें नपुंसक की व्यवस्था की जाय ।

अब हम इनके इस मन्तव्य पर विचार करेंगे

और वह भी मनुष्य के सूत्रों की अपेक्षा से ही करेंगे। श्री बट्सरहागम प्रथम भाग सूत्र नं० १०८ को देखिये—

मनुष्या तिवेदा मिच्छाद्विष्यद्वि जाव
अणियद्विषि ॥१०८॥

अर्थ—मनुष्य मिच्छाद्वि गुणस्थान से लेकर अणिवृत्ति गुणस्थान तक तीनों वेद वाले होते हैं। आचार्य-मनुष्य तीनों वेद वाले होते हैं, द्रव्य से और भाव से।

हम प्रोफेसर साहब से यह पूछना चाहते हैं कि आप द्रव्य से नपुंसक लिंग वाले मनुष्य नहीं मानते, और उसी के साथ एक द्रव्यलिंग में भाव से भी तीनों वेद मानते नहीं फिर मनुष्य में तीनों वेद हैं इसका अर्थ मुझे लगाकर दिखाइये। वह भी आधार भूत प्रमाण का सूत्र श्रीभूतशरी पुष्पश्या-चार्य का ही देना चाहिये और नपुंसक अणियद्वि नामक ६ वें गुणस्थान तक रहने वाला होना चाहिये आपकी एक द्रव्य पुल्लिंगमें भाव में तीनों वेद मानने पड़ेंगे।

दूसरी बात यह है कि द्रव्य कहने में वह उस भव नर स्थिर रहता है और भाव उसके आधार में होने वाले पर्याय को ही भाव कहेंगे न ? क्योंकि भाव शब्द का अर्थ पर्याय भी होता है। भाव जन्म तक एक नहीं होता वह बदलेगा ही। वेद आवात्मक होता है। भाव को उत्तरज करने वाला मोहनीय कर्म-रूप में आता है उस शरीर के साथ रहेगा ही इस लिये भाववेद का आधार—भूत द्रव्य चिह्न के एक ही लिंग में तीनों भाववेद होने में बाधा मिलनी है। जिससे हमारे प्रोफेसर साहब घबड़ा रहे हैं। किन्तु श्री गोम्मतसार में स्पष्ट वर्णन है कि एक द्रव्य

लिंग में तीनों भाववेद होते हैं। श्री मनुष्य के प्रथम पुस्तक में भी सूत्र नम्बर १०७—

“तिरिक्त्वा तिवेदा असंखिण पंचिद्विष्यद्वि जाव संजकसंजकान् ॥१०७॥

अर्थ—तियेच असंखी पंचेन्द्रियसे लेकर संख्या-संयत नामक पांचवें गुणस्थान तक तीनों वेदों से युक्त होते हैं।

भावार्थ—औद्यारिक शरीर के धारण करने वाले गतियों में ही आस करके एक द्रव्यलिंग तीनों भाव लिंगी हो सकते हैं, होते हैं, और हुये हैं। इस लिये तियेचमें और मनुष्योंमें तीनों वेद माने हैं और देव गति तथा नरक गति के जीवों में तीनों वेद नहीं माने हैं। वहां द्रव्यवेद के अनुसार भाववेद होता है।

हे बाबूको ! एक विचारणीय बात यह है कि प्रोफेसर साहब की भट्टा दिगम्बर ग्रन्थों में है वा नहीं। प्रथम तो प्रोफेसर साहब पट्सरहागम के सूत्रों को प्रमाण मानते हैं, उनकी टीका को भी विश्वसनीय नहीं मानते, यदि विश्वसनीय मानते तो यह प्रश्न उत्पन्न नहीं हो सकता था। क्योंकि श्री धवलाकर ने उसी ६३ वें सूत्र के नीचे बड़ी लम्बी चौड़ी वृत्ति लिख कर द्रव्यशरी का संयम नहीं होता क्योंकि वह वस्तुयुक्त होती है। वस्तु का और असंख्य का अविनाभावी संबंध है ऐसा हेतुपूर्वक सिद्ध किया है। उसका द्विती अर्थ भी किया है। तथापि उस धवला जी के ऊपर आपकी भट्टा नहीं। यह सिद्ध होता है।

दूसरी बात श्री कुन्दकुन्दाचार्य के बाद के ग्रन्थों के दिगम्बरीय आचार्यकृत ग्रन्थों के ऊपर भी आप की आपकी भट्टा नहीं है यह आपके लेख में स्पष्ट झलकता है जो कि मूयेषकशब्द स्पष्ट है।

अब रहे पट्त्वह्मगम के सूत्र उन सूत्रों पर भी यदि आपको विश्वास होता तो “मयुस्सा तिवेदा” इस सूत्र को पढ़कर और अर्थ करके भी ‘मनुष्यों में द्रव्य में और भाव में नपुंसक कोई नहीं होता’ ऐसा नही लिखते यदि एक द्रव्य त्रिग में भाव के तीनों वेदों को आप नही मानते फिर मनुष्यों में तीनों वेद हैं इस सूत्र का अर्थ क्या करेंगे ? प्रतीत होता है कि इस सूत्र ग्रंथ पर भी अभ्रष्टा हो गई है अब इसके पहले रचे हुए ग्रन्थों को कुंठों और उनके ऊपर भ्रष्टा रखो । किन्तु इससे पहले त्रिगम्बर आचार्यों का कोई ग्रन्थ है नही । क्या श्वेताम्बर ग्रन्थ इससे पूर्व के हैं ? श्वेताम्बरीय ग्रन्थ श्री महावीर स्वामी के मोक्ष जाने के लगभग एक हजार वर्ष तक अर्थात् ६८० वर्ष तक लिपि रूप में नहीं थे । यह बात स्पष्टतया उन श्वे० ताम्बरीय ग्रंथों में सिद्ध होती है और इसका खुलासा भी मैंने इस लेख में पहले दिया है । हमारे श्री कुन्दकुन्दाचार्य जी का काल इससे बहुत पहले का है । इतना अन्तर होने पर भी श्वेताम्बरीय ग्रन्थों को श्री प्रोफेसर माह्व प्रमाण रूप से मानते हैं और उन से पूर्व होने वाले आचार्यों को प्रामाणिक नही मानते वह आश्चर्य है ।

शंकराचार्य—प्रोफेसर साहब प्राचीन ग्रन्थों को मानते नही लेकिन परस्पर बिछड़ बचन जिसमें हां उनकी भी नही मानते ।

उत्तर—श्वेताम्बर ग्रन्थों में परस्पर विरोधी बचन हैं जैसे एक ग्रंथ में जो का मोक्ष मानते हैं तो दूसरे ग्रंथ में अरहंत आदि दशपद स्थियों के नही होते ऐसा लिखा है । देखिये प्रकरण सारोद्धार ग्रन्थ में गाथा न० १०० भाग ३—

अरहंत वाक् केसवचल संभिजेय चारणे पुष्पा ।

गण्डहर पुलाव आहारगं च न दु भविष्यम हिलाणं ॥

अर्थ—१-अरहंत, २-वक्त्रवर्ती, ३-नारायण, ४-बलभद्र, ५-संभिज ओता, ६-गण्डहर, ७-पुष्पाधारी, ८-गणधर, ९-पुलाक, १०-आहारक श्रुति ये दश पद या लब्धियां भव्य स्थियों के नही होते ।

है वाचक वृन्द ! प्रोफेसर साहब के विश्वास पात्र श्वेताम्बर ग्रन्थों में कितना परस्पर विरोध है ग्रन्थ देखिये । प्रोफेसर साहब ! कौन सा ग्रन्थ प्रामाणिक और प्राचीन है ? अच्छी तरह देखिये । प्रोफेसर माह्व ने जो ‘एक द्रव्यत्रिग में तीनों

भाववेद नहीं हो सकते’ कहा है

उपपर विचार—

आप लिखते हैं कि—

“कर्मसिद्धान्त के अनुसार वेदबंधपम्य सिद्ध नहीं होता । भिन्न इन्द्रिय सम्बन्धी उपांगों की उत्पत्ति का यह नियम बताया है कि जीव के जिस प्रकार के इन्द्रिय ज्ञान का संयोपशम होगा उसके अनुरूप वह पुद्गल रचना करके उसके उदय में जाने योग्य उपांग की प्राप्ति करेगा । चक्षुरिन्द्रिय आवरण के संयोपशम से कर्ण इन्द्रिय की उत्पत्ति कदापि नहीं होगी । और न वही उसके द्वारा रूप का ज्ञान हो सकेगा । इसी प्रकार जीवन में जिस वेद का बन्ध होगा उसी के अनुसार वह पुद्गल रचना करेगा । और तदनुसार ही उपांग उत्पादक होगा । यदि ऐसा न हुआ तो वह वेद ही उदय में नहीं आ सकेगा । इसी कारण वेद जन्म भर नहीं बढ़ल सकता । यदि किसी भी उपांग सहित कोई भी वेद उदय में आ सकता तो कर्ण और नोकस्थियों के समान वेद के भी जीवन में बढ़लने में कौन सी आपत्ति आ सकती है ।”

बाचको ! वेद वैषम्य कर्म सिद्धान्त के अनुसार सिद्ध नहीं होता ऐसा कहना आगम बाधित वचन है । देखिये षट्संख्यशास्त्र के सूत्र नम्बर १०७/१०८ में स्पष्ट रूप से कहा है कि—

“तिरक्खा तिबेवा”

यानी—तिर्यञ्च में भी तीनों वेद वाले हैं ।

तथा “मणुत्सा तिबेवा”

यानी—मनुष्यों में तीनों वेद वाले हैं वह भी अविद्युत्ति नामक नवमें गुणस्थान तक होते हैं इस सूत्र में ही वेद वैषम्य सिद्ध होता है । यह आगम से बाधा दिखायी है ।

तथा प्रायः हर एक शहर गांव में हीजरों की टोली देखने में आती है जो हीजरे हांते हैं वे नपुंसकवेद युक्त हैं । यदि उनको पुरुष ही बहोंगे तो स्त्रियों के में हाव भाव क्यों कर हांता है ? उन्ही तरह उनके अन-जन्मीजापन आदि कार्यों में नपुंसकपन भी सिद्ध होता है । इस लिये आपके वचन में प्रत्यक्षबाधित नामक दोष भी आता है ।

सब में प्रथम “वेद” क्या चीज है यह देखना आवश्यक है । वेद (भाव) मोहनीयकर्म का अकपाय रूप भेद है इसका आगम में नोकपाय भी कहते हैं । “वेदनं वेदः” वेदन करने को वेद कहते हैं इसमें वेद, वेदक और वेद्य कौन है यह देखना भी जरूरी है ।

वेदक संसारी जीव, वेद्य शारीरिक स्थान, और वेद्य हावभावादि कार्य हैं । इस प्रकार इनका परस्पर सम्बन्ध है । यह वेद मोहनीय कर्म का उदयरूप होने में वह बाध पदार्थों में ही वेद्य, वेदक और वेद तीनों अवस्थायें होती हैं । वेद का उदय कपायों के उदय के साथ रहता है । वेद के कार्य भी कपायों के साथ हांते हैं । कपाय जितना तीव्रति होगा, उतना तीव्रति वेद

भी होगा । यह वेद का उदय कभी मानसिक रहता है, कभी बाधिक रहता है और कभी कायिक रहता है । वेद की उदीरणा होने पर मिथुनरूप स्त्रीपुरुषादिकों का संयोगात्मक होता है । वेद की उदीरणा कामवासना में आती है वेद का उदय कामवासना ही नहीं माना है । यदि वेद में कामवासनात्मक भाव मानोगे तो मिथुनरूप कार्य सतत होना चाहिये । बहिरंग निमित्त कारण बहुत हैं इसलिये उन निमित्तों को ले कर वेद का उदय रहता है कामवासना का सम्बन्ध होते द्रुये भी वेद का उदय कार्य होता है ।

जैसे स्त्री जो हावभाव, मृदुभाषण, स्निग्धावलोकन, अनुकूलवर्तन, आदि कुशल व्यापार करती है वह वेद का उदय समझना चाहिये । और इस वेद को स्त्रीवेद कहना चाहिये । तथा वीरवृत्ति का भाषण, वीरवृत्ति का भाव, गंभीर अवलोकन, वीरोचितवर्तन आदि वीरवृत्ति के कुशल व्यापार करती है वह पुरुष वेद का कार्य समझना चाहिये । तथा स्त्री जब कायर पन का भाषण, कायरवृत्ति का भाव तथा भयभीता-अवलोकन, तथा भयभीत वर्तन आदि व्यापार करती है उस भाव को नपुंसकवेद का कार्य समझना चाहिये ।

उन्ही तरह जिस पुरुषके वीरोचित भाषण, वीरोचित भाव, वीरोचित उत्तम कार्य, वीरोचिन भोग, वीरोचिनावलोकन, वीरोचिन वर्तन होता है उस पुरुष के पुरुषवेद का उदय समझना चाहिये ।

तथा जो पुरुष स्त्रियों को तरह हावभाव, स्त्रियों के समान मृदुवचन, स्त्रियों के समान कार्यों में माया-चारवृत्ति तथा स्त्रियों जैसे अचालनादि कार्य, स्निग्धावलोकन, अनुकूल वर्तनादि कार्य करेगा तो द्रुव्य पुरुष को स्त्रीवेद का उदय समझना ।

उन्ही तरह जो पुरुष कायर वचन, कायर भाव,

कायर वर्तन करेगा उस द्रव्य पुरुष को नपुंसकवेद का उदय समझना चाहिये ।

इसी तरह द्रव्य नपुंसक को भी तीनों तरह के भाव होते हैं । द्रव्य नपुंसक होने पर भी बहिर्गंग निमित्त कारण मिलने से भावत्रय रूप का भी उदय होता है । यह मेरा कथन स्थूल रूप वेद का उदय शारीरिक चिह्न में आने वाले का कथन है मूढ़म मानसिक वृत्ति में स्वयं समझना स्वयं अपने बचन में भी समझना चाहिये ।

इस तरह के भाव अंतरंग कथायोदय में तथा बहिर्गंग निमित्त कारण मिलने पर होते हैं । इन भावों में दृढ़ता तथा शिथिलता आदि शारीरिक मंहनन पर भी अवलम्बित है । इस लिये दृढ़ और शिथिल भावों के होने में मंहनन निमित्त कारण माना गया है । यदि मंहनन निमित्त कारण नहीं होता तो मंहननयुक्त जीवों का पापपुण्य का कार्य जो तारतम्ययुक्त होता है जैसे स्वर्गगमन तथा नरकगमन आदि वह नहीं हो सकता था । और प्रत्यक्ष अनुभव में भी दीक्षता है कि अमृक कार्य करने की भावना होती है लेकिन शारीरिक शक्ति न होने में वह कार्य नहीं हो सकता । इस लिये शक्तिनः त्याग और तप करने का उपदेश है । तात्पर्य यह है कि धैर्यवृत्ति या वीरवृत्ति पुंवेद का कार्य है । आकङ्क्षा वन वृत्ति स्त्रीवेद का है । कायरवृत्ति नपुंसक का है । मूढ़ममं तीर्मादि तथा मार्गसक बाचिक और कायिक इत्यादि रूप में अनेक भेदयुक्त है । यह अच्छी तरह से सिद्ध होता है ।

राक्षसकार—स्त्रीवेद का अर्थ योनि स्तन मृदुशरीर आदि चिह्न को कहते हैं और आप कुछ और कह रहे हैं ?

उत्तर—भोक्ताय रूप मोहनीय कर्मादय के कार्य

को ही 'वेद' कहते हैं । वेद के दो भेद हैं एक द्रव्य-वेद और दूसरा भाववेद । जो कर्म आगे उदय में आने वाला है सदा कर्माविह रूप में है उसको द्रव्य-वेद कहते हैं । और क्रीलिंग रूप शारीरिक चिह्न इसमें अलग है । जिस समय जीव की गतिनाम कर्म में मनुष्यादि गति प्राप्त होती है उस गति में गये दृश्य जीव को नामकर्मादय रूप अंगोपांग का कर्म तथा निर्माण नामकर्म का उदय होगा । उसी प्रकार जो शरीर का चिह्न या अंगोपांग की निर्धृति शरीर पर्याप्ति के साथ ही आकार बन जाता है । उसी आकार रूप शरीर के निमित्त में या अंगोपांग के निमित्त से उस उम्र प्राप्त किये हुए वेद का कार्य होता है । वेदोदय में जो जो भाव होगा वह जो कथाय के उदय से होगा । उससे वेदन भोग या अनुभवन रूप कार्य होते हैं । तथा शारीरिक क्रीड़ा रूप कार्य होता है । या परस्पर संयोगात्मक कार्य होता है उस शारीरिक भेद में ही शारीरिक निमित्तों पर ही उसमें भेद होता है । इस लिये मैंने पहले ही कहा है कि अन्तरंग वेद की उद्दीरणा तथा बहिर्गंग निमित्त कारण पर, कर्मवासना जिसको मिथुन रूप कार्य होता है वह भी जो पुरुष आदि निमित्तों पर कार्य होता है । तात्पर्य जो शारीरिक चिह्नरूप लिंग को वेद समझना है यह त्रुटिमात्र है । त्राट्र में ऐसे बहुत ही कार्यों में कारण का आरोप से कथन करने हैं कहीं पर कारणोंमें कार्यका आरोप रूप कथन करते हैं । कहीं कहीं बहिर्गंग निमित्त कारणों पर भी कार्यों का आरोप करते हैं । यहां पर बहिर्गंग निमित्त कारणों पर कार्यका आरोपरूप कथन है । इस लिये त्रुटि में वेद का अर्थ शारीरिक चिह्नों में भी लिया है । यह अच्छी तरह से जानो । वेद की उद्दीरणा द्रव्य चिह्न के आधार पर द्रव्य रूप से

होती है और उदय रूप जो भाव है उसका उस द्रव्य-चिन्हों से सम्बन्ध नहीं है। वेदोदीरण का और द्रव्य चिन्ह का निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध है।

शंकाकार—वेद का उदय शारीरिक चिन्हों पर है या शरीर में होता है ?

उत्तर—मोहनीय कर्म भेदगत अकषाय रूप या नो कषाय रूप वेद वा उदय जीव के भावों में आता है उसके निमित्त से कभी कभी मानसिक भावों से ही कार्य होगा कभी कभी वह तीव्रोदयरूप में या अन्य निमित्त कारण से वाचिक या कार्यक रूप से आवेगा तथा उस वेद का उदीरण रूप होने से जो व्यवहार में द्रव्य चिन्ह रूप क्रियात्मक कामवामनादिक कार्य कहते हैं ऐसे मिथुनरूप कार्य होगा इसलिये वेदोदय का तथा वेद के उदीरण रूप कार्य इनमें कितना अन्तर है यह जानना चाहिये। इन दोनों कार्यों का स्पष्टीकरण मैंने अपनी दृष्टि से किया है तथा यह भी दिग्दर्शन मात्र किया है। विशेष रूप से आप अनुभव से या गोम्पटमार शास्त्र से, किसी अनुभवी विद्वान् के मुख से समझ सकते हैं। जैसा मौका मिले उस तरह में जानो। जानने का विषय छोड़ो मन। जानने जानने, मनन करने २, विचार करने २ अच्छी से समझ में आ जावेगा। अब वेद-वैषम्य क्या चीज है यह कथन करूँगा।

वेदोदय तथा वेदवैषम्य

प्रोफेसर साहब का कहना है कि “जो जो वेद उदय में आता है उसही के अनुसार द्रव्यवेद (द्रव्य लिंग) मिलता है उस द्रव्य के निमित्त से उदय होने वाले भाववेद को सदृश ही रहना चाहिये।” यह उनका कहना गलत है। वास्तविक वेद मोहनीय कर्म का एक भेद है। वह अकषायक है उसका

उदय किसी भी निश्चित स्थान पर न आते हुए सर्वांग में आता है। प्रो० साहब ने द्रव्यचिन्ह में ही उस का उदय माना है। यह उनकी मान्यता दोषी है उन्हें इस विषय में अच्छी तरह से विचार करना जरूरी है। मोहनीय कर्म का उदय किसी भी अंग विशेष में नहीं होता है। जिस तरह क्रोध कषाय सारे शरीर में आता है सब आत्म प्रदेश में उदय होता है। वास्तविक क्रोधादि कषाय भावात्मक हैं उसी तरह हास्यादि नो कषाय भी किसी एक स्थान पर न होकर आत्मीय भावों में कषाय नोकषाय का उदय होता है, हां तीव्र कषायों के होने समय भाव मुंह आदि किसी स्थान पर व्यक्त होता है। जैसे क्रोध का तीव्र उदय होने पर मुंह पर कुछ विकार होता है, आंखें लाल होती हैं, भौंभें टेढ़ी होती हैं। तथापि आंखें व भौंभें उसका उदय स्थान नहीं है। वह उदय सारे शरीर में है। इस लिये तीव्रकषाय, क्रोध वाले का सारा शरीर कांपने लगता है। भय सात प्रकार का है, उस भय के लिये सात चिन्ह अलग अलग शरीर पर कहीं हैं क्या ? नहीं। ये सारे भावात्मक उदय हैं। उसी तरह वेदोदय भी सारे भाव में ही होता है तीव्रोदय आने से हाव-भाव क्रिया होने समय में शरीर के कुछ अंगों पर दिव्साई देता है। इस लिये उस अंग पर हाव-भाव के चिन्ह या वचन बगैरा का जोप या मृदुपना पुढपत्व भाव आदिक की अपेक्षा से धैर्यादिक की अपेक्षा से भाव-वेद का भेद माना जाता है। और वेदना उदीरणा होने से परस्पर सुम्बनादि कार्य होते हैं। मिथुन कार्य भी वेद उदीरणा में होता है वेदोदय से नहीं होता। अन्यथा मिथुन कार्य सतत होना चाहिये। लेकिन वेदों की उदीरणा हर समय नहीं होती है।

शंकाकार—श्रीवेद का कार्य—मृदु शरीर, योनि

स्वन आदि को क्षीलिंग कहने हैं फिर आप यह क्या विधान कर रहे हैं ?

उत्तरकार—सुदु शरीर, मन, योनि, निर्मृष्ट, दाढ़ी रक्षितपन आदि स्त्रियों के जो अंगोपांग हैं वे वेद उदय से नहीं हैं। वे नामकर्म के उदय से होते हैं। शरीर नाम कर्म के साथ अंगोपांग संहनन आदि का संबन्ध है। वे वेदोदय से नहीं होते। वेदोदय प्राति कर्मों में शामिल है और शरीरगठार संहनन अंगोपांग स्वन योन्यादि अघाति कर्मोदय से होने वाले हैं। अघाति कर्मोदय पुटलविपाकी होता है। मोहनीय कर्मोदय जीव विपाकी होता है। इस तरह इन दोनों का अतिदूरका संबन्ध है। इस लिये आपका मन्तव्य सिद्ध नहीं हो सकता। वेदोदय और मन योन्यादि शरीर के अङ्गोपाङ्ग, इन दोनों में कार्य कारणभाव संबन्ध नहीं है। तथा दोनों का अविनाभावी संबन्ध भी नहीं है अविनाभावी संबन्ध न होनेके कारण 'जो द्रव्यलिंग हो उसी के अनुसार सतत भाववेद होना चाहिये' ऐसा आपका कहना बिलकुल गलत मार्ग पर है।

भीषट्कण्डाग्रम के कर्ता भीभूतबली पुष्पदन्ता-चार्य ने कही पर ऐसा द्रव्यलिंग यानी मन योन्यादि चिह्न का वा भाववेद का अविनाभावी संबन्ध दिखाया हो तो वह प्रमाण रूप में दिखाना चाहिये। नहीं तो अपने पक्षके विरवासाहें श्वेताम्बरीय ग्रन्थों का आधार दिखा सकते हैं ? दिखाइये उसके ऊपर विचार करेंगे।

हमारे श्वेताम्बर जैनचार्यों ने कई स्थानों पर लिखा है कि द्रव्य स्त्री में भावस्त्री का ही उदय सतत नहीं रहता वहां पर पुरुष वेद, नपुंसकवेद का भी उदय माना है उनका आरंभ हिन्दी अनुवाद भी किया

है। फिर भी उस भीषट्कण्डा जी ग्रंथ को तथा श्वेताम्बर ग्रन्थों के पहिले (पुर्व में) निर्माण हुए भी कुन्दकुन्दाचार्यों के वचन को भी ठुकरा कर उनको भगवान् कहनेका दुःसाहस तक किया है। जो कि अध्यात्म के बड़े भारी उपदेशक थे उनके (कुन्दकुन्दाचार्यों) समान निष्कपायी वीतरागी तथा अध्यात्मन्तव का उपदेशक श्वेताम्बर समाज में कोई भी नहीं हुआ ऐसे परमपूज्य आतःस्मरणीय कुन्दकुन्द को भगवान् कह कर और हर समय लटो, चादर, कंबल, पात्र आदि अनेक परिग्रह को धारण करने वाले श्वेताम्बर भिक्षुओं को निष्कपायी तथा अध्यात्म उपदेशक समझे यही है मान्यता भाव का परिचय ?

आप कुन्दकुन्दाचार्यों के महत्व को समझने का प्रयत्न करने तो आपको उनका वीतरागपन का महत्व समझ में आ सकता था, हजारों श्वेताम्बर और उस साधु श्रीकुन्दकुन्द की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा कर रहे हैं उनके ऊपर थोड़ा ध्यान देना चाहिये, लेकिन आपने ऐसे परम निमल और पवित्र आत्मा को भगवान् कह कर पुकारा, क्या ऐसे वचन आपके मुख से सुशोभित होते हैं ? जरा एकन्न स्थान में बैठ कर निष्पक्षपात से विचार करें।

श्री कुन्दकुन्द आचार्यों के ग्रन्थ लिखने पर ३०० वर्षे पीछे श्वेताम्बरों के ग्रंथ हुए हैं। उनके समय श्वेताम्बरों के ग्रन्थ तैयार नहीं हुए थे उन्होंने 'मुनि हो तो निगम्बर हो' ऐसा लिखा है। परिग्रह धारण करने से आत्मा में आत्मिक पवित्रता नहीं आती। इसका उपदेश देना शेष ? है और सम्मन्ध रहो, लट्ट रहो, कितने दंके भी लोओ पियो आत्मसंयमन का कोई विचार न करके कपड़ों में लिपट कर रहो उसी उपदेश में रहने वाले गृहस्थों को मुनि मानने

का उपदेश देने वाले को अच्छा समझ ? यही है बुद्धि का विकास ?

बाबूको ! विचार करो कि वेदभी वैषम्यता को जो हीरालाल जो ने समझने में भूल की है वह आर लोगों को अच्छी तरह से समझ में आई होगी। वास्तविक द्रव्य बिन्दु रूप लिंग का और भावरूप वेद का कोई भी सम्बन्ध न होने से जो जो द्रव्य लिंग है उसी तरह और आजन्म तक एक ही भाव-वेद होने की मान्यता ठीक नहीं है। इस वेद में हर क्षण में बदल हो सकती है और वेदवैषम्यता सिद्ध होती है। किसी तरह का भी दोष नहीं आता यह सत्य है पूर्ण सत्य है। भाववेद परिणामन स्वरूपी है। उस परिणामन स्वरूप भाववेद का निमित्त भूत बाह्य कारण जैसा मिलेगा वैसा कार्य होगा तथा अंतरंग में भी जिस तरह से बाह्य कार्यात्मक परिणामन होने के लिये निमित्त मिलेगा उसी तरह कार्य होगा क्योंकि जो परिणामन होता है वह पर्याय होता है। इस लिये भाववेद आजन्म तक ही नहीं रहता। जिस तरह कषाय आदिक भी नहीं रहते। बाहरी निमित्त मिलने पर कभी क्रोध आ जायगा कभी मान आ जायगा, कभी माया, कभी लोभ। ये ज्यादा रूप में दीखेंगे। उसी तरह हास्यादि भी हैं उसी तरह वेद भी कभी पुरुष भाव के उदय में आयगा कभी स्त्री भाव का, कभी नपुंसक भाव का उदय में आ सकता है इसमें कोई हानि नहीं है। विरोधादि दोष भी कोई नहीं आ सकता। इस लिये प्रोफेसर साहब का विचार सिद्ध नहीं होता। वेद-विषमता सिद्ध होता है उसमें उसमें कोई बाधा नहीं है।

प्रोफेसर साहब ने 'वेद-विषमता सिद्ध नहीं हो सकती' इस बात को सिद्ध करने के लिये जो इन्द्रियों

का दृष्टान्त दिया है वह भी अविचारित-रम्य है। विचार करनेसे निस्सार एवं कल्पित सिद्ध होता है। देखिये इन्द्रिय पांच ही हैं और उनके विषय २७ सत्ताबीस हैं। अब पांच इन्द्रियां २७ विषयों को कैसे ग्रहण करेंगी। एक एक इन्द्रिय अनेक विषयों को विषय करती है यह सिद्ध है। दृष्टान्त के लिये लाजिये—आंख, नेत्रेन्द्रिय के द्वारा रूप यानी बरण विषय हो जाता है और बरण में पांच भेद हैं। लाल, पीला, हरित श्वेत, कृष्ण (काला) इन पांच विषयों को एक ही नेत्रेन्द्रिय विषय करती है। पांच बरणों को विषय करने वाले पांच नेत्र तो नहीं हैं। उसी तरह श्रवणेन्द्रिय (पशु) के आठ भेदों को जानता है एक ही इन्द्रिय है। उसी तरह जिह्वा पांच रसों को जानती है। पांच जिह्वा तो नहीं हैं। नाक सुगंध और दुग्न्ध ऐसे दो विषयों को जानती है। नाक सुगन्ध को जानने वाला अलग और दुग्न्ध को जानने वाला अलग ऐसे अलग अलग दो नाक तो नहीं हैं। उसी तरह कान स्वरां का ज्ञान करता है तो सप्त स्वरों को जानने के लिये सात कान तो नहीं हैं। इस प्रकार विचार करने से इन्द्रियों का दृष्टान्त भी प्रोफेसर साहब का विषय सिद्ध नहीं करता। वह भी वेद विषमता को सिद्ध करता है। इन्द्रियों का दृष्टान्त भी निष्फल है। यों वेद विषमता सिद्ध हुई एक ही शरीर में तीनों (पुंवेद, स्त्रीवेद नपुंसकवेद भाववेदों) का उदय जो आचार्यों ने माना है वह सत्य है। अब प्राचीन श्री कुन्दकुन्दादि आचार्यों के ग्रन्थोंकी प्रमाणतासे श्रीमुक्तिका निषेध दिखायेंगे।

श्री कुन्दकुन्दाचार्य भी महावीर निर्वाण के बाद वि० प्रथम शताब्दी में हुए इसके कई आधार हैं। श्री कुन्दकुन्द के समय में श्वेतान्धरों के मत की स्पष्ट

मान्यता नहीं थी स्पष्ट मान्यता भी महावीर निर्वाणा-
नंतर ६८० वर्ष के बाद मालूम हुई। यह मृत्युप्रकाश
बन सत्य है। फिर वे अपने प्रर्थों में श्वेताम्बरों की
मान्यता का स्वरूप करने का प्रयत्न क्या कैसे करने
हां श्वेताम्बर प्रर्थों की रचना होने पर जो २ विद्वान्
हो गये हैं उन्होंने ही श्वेताम्बरों को सांशयिक मिथ्या
दृष्टि कहा है। लेकिन श्री कुन्तकुन्दाचार्य, श्री उमा-
स्वामी, श्री समन्तभट्टाचार्य इन आचार्यों ने श्वेता-
म्बर प्रर्थों का स्वरूप नहीं किया, उन्हें सांशयिक
मिथ्यादृष्टि नाम से पुकारा है। हा, 'मुनियों को
ब्रह्मधार। न बन कर उन्हें परम वीतरागी, दिग्गम्बर
मुद्राधारी बनना चाहिये' ऐसा कथन तो किया है।
द्रव्यस्त्री मुक्ति को नहीं जा सकती ऐसा स्पष्ट
परम्परागत मान्यता को जोरदार शब्दों में कथन
किया है। वे अपने मत से क्षीमुक्ति का निषेध
नहीं करते। उनसे भी पहिले समयमें लिपिबद्ध दृष्टा
ग्रन्थ जो श्री बट्टकण्ठगम शास्त्र है उसमें ही द्रव्य-
स्त्री को संयम नहीं होता ऐसा कहा है। देखिये श्री
पट्टकण्ठगम प्रथम पुस्तक (जीवस्थान सत्प्रकरण)
सूत्र नम्बर ६३ में—

“सम्प्राप्तिद्वयादृष्टि-असंजदसम्प्रादृष्टि संजदासं-
जद्वयोः एवमा पञ्जलियाद्यो ॥६३॥

अर्थः—द्रव्यस्त्री अर्थात् मनुष्य—स्त्रिया सभ्य-
भिर्यादृष्टि, असंयत सभ्यदृष्टि, सयतानसंयत गुण-
स्थान में नियम से पर्याप्तक होती हैं। यहां पर
सूत्र में नियम शब्द आया है। इसके आगे का
गुणस्थान नहीं हो सकता यह व्रतानि के लिये
आवश्यक है ने स्पष्ट नियम शब्द लगाया है। और
उसी सूत्र पर श्री धवलाकार ने स्पष्ट रूप से टीका
लिखी है कि द्रव्यस्त्री को द्रष्टा गुणस्थान नहीं होता।

और उनके संयम भी नहीं होता। जब तक ब्रह्म-
धारण करने की भावना होती है तो संयम कदापि
नहीं हो सकता। इसी लिये उन द्रव्यस्त्री को
संयमपन का कभाव है। ब्रह्मप्रदण भावना का
और असंयमपना का अविनाभावी सम्बन्ध है। यह
स्पष्ट रूप से दिखया है। देखिये धवलप्रबंध के
प्रथम भाग में—

“अमादंदापाद् द्रव्यस्त्रीणां निवृत्तिः सिद्ध्ये-
दिति चेन्न, सवासम्वादास्तथास्थान—गुणस्थितानां
संयमानुपपत्तेः। भावसंयमनामा सवाससामय-
विरुद्ध इति चेन्न न तासां भावसंयमोऽस्ति भावस्यमा-
विनाभावी ब्रह्मणुपादानान्यथानुपपत्तेः। कथं पुन-
श्चासु चतुर्दश गुणस्थानानि—इति चेन्न, भावस्त्री-
विशिष्ट-मनुष्यगतं तत्सम्वाविरोधान्। भाववेदो
बादरकपाथानोपपत्ति इति न तत्र चतुर्दश गुणस्था-
नानां संभव इति चेन्न न, अत्र वेदस्य प्राधान्याभा-
वान्। गतिस्तु प्रधाना न साराद्विनश्यति। वेद-
विशेषणायां गती नानि न सम्भवन्ति इति चेन्न न,
विनष्टेऽपि विशेषणे उपचारेण तद्व्यपदेशमादधान-
मनुष्यगतं तत्सम्वाविरोधान्।

पा० न० ३३३

अर्थ—शंकाकार—तो इमी आगम में द्रव्य-
स्त्रियों को मुक्ति जाना भी सिद्ध हो जायगा ?

उत्तर—नहीं, क्योंकि ब्रह्मसहित होने से उन
द्रव्यस्त्रियों को संयतारुण्यत नामक पांचवें गुणस्थान
होता है। अतएव उनके संयम की उत्पत्ति नहीं
होती।

शंकाकार—ब्रह्मसहित होने हुये भी उन द्रव्य-
स्त्रियों को भावसंयम होने में कोई विरोध नहीं
आना चाहिये ?

उत्तर:—उनके लिये भावसंयम भी नहीं है । क्योंकि, अन्यथा—अर्थात् भावसंयम के मानने पर उनके भाव असंयम का अविनाशायी बर्णादिक का प्रहल करना नहीं बन सकता है ।

शंका—तो कियों में १४ गुणस्थान होते हैं यह यह कथन कैसे बन सकेगा ?

उत्तर:—नहीं, क्योंकि भावकी में अर्थात् द्रव्य-पुल्लिग आर भावकीवेद का उदय होने पर मनुष्य गति में १४ गुणस्थान होने के मत में कोई विरोध नहीं है ।

शंका—बाहर कषाय गुणस्थान के ऊपर भाव वेद नहीं पाया जाता है, इसलिये भाववेद में १४ गुणस्थानों का सङ्काव नहीं हो सकता है ?

उत्तर:—नहीं, क्योंकि यहाँ पर वेद की प्रधानता नहीं है किन्तु गति की प्रधानता है । और वह पदिले नष्ट नहीं होती है ।

शंका—यद्यपि मनुष्यगति में १४ गुणस्थान संभव हैं । फिर भी उसे वेद विशेषण से युक्त कर देने पर उसमें १४ गुणस्थान संभव नहीं हो सकते हैं ?

समाधान—नहीं, क्योंकि विशेषण के नष्ट होने पर भी उपचार से उस संज्ञा को धारण करने वाली मनुष्य गति में चौदह गुणस्थानों का सङ्काव मान लेने में कोई विरोध नहीं आता ।

(हिन्दी टीका पं० व प्रो० हीराकाल की है)

भी धबल के इस उपरोक्त वाक्य से स्पष्ट सिद्ध होता है कि द्रव्य की को मोक्ष प्राप्त नहीं हो सकती और संयमपन्न भी नहीं होता ।

पुण्यदन्तभूतबली का उक्त भाव स्पष्ट था इस लिये द्रव्यकी को संयम न होने से सूत्र में उनसे संज्ञा शब्द नहीं रखा है वह ध्यान में रखने की

बात है । इस लिये भी ब्रह्मसंयम के कर्ता के द्रव्यकी को संयमभाव प्राप्त नहीं होता यह भाव दिखाने के लिये ही भी धबलकार ने उक्त सूत्र में नियम पद रखा है वह अच्छी तरह जान सकते हैं । श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने भी अष्टपादुष प्रथ में कीमुक्ति का निबन्ध किया है । इतना ही नहीं किन्तु संयमपन का स्पष्ट निबन्ध किया है । देखिये सूत्रपादुष—

लिगिस्मि य इत्थीणं धर्मांतरे शादिककसदेत्से ।

अणियों मुहमांकाओ तासं कइ होइ पञ्चगमा ॥२४॥

अर्थ—कियों के योनि, स्तन, नाभि, कूज आदि प्रदेश में सूत्रकार्यिक जीवों को निरन्तर उत्पत्ति होती है उस में महामत रूप दीक्षा कैसी होगी । नहीं हो सकती ।

जइ वंसणेण मुहा उता ममेण सावि संजुता ।

पौरं चरियचरितं इत्थीसु ए पावया भणिया ॥

अर्थ—जी संयमयुक्त होकर घोर तपश्चर्या करे तो भी उसका प्रमत्ता अर्थात् संयमपणा नहीं होता ।

चित्ता सोदिय तेसि डिल्लं भावं तथा सहावेण ।

विज्जदि मासा तेसि इत्थीसु एसकया मयं ॥२६॥

अर्थ—कियों के चित्त की शुद्धि नहीं रहती । स्वभाव से धियों का गितचंचल होता है । उनके भाव शिथिल रहता है । मास मास में उनके ज्ञाव रहता है, उसकी शंका रहती है । अतः जीको स्थिर ध्यान होता नहीं ।

हे बाबको ! श्री कुन्दकुन्द भगवान ने अपना परम्परागत जो अर्थ व सिद्धान्त है उसी के अनुसार उन्होंने लिखा है । उनको भगवान् कहना कहां तक युक्त है ? यह बात प्रोफेसर साहब को सोचना चाहिये । उसी तरह श्री उमास्वामी जी ने भी त कार्यमूत्र में यह सूत्र दिया है—

अर्थान्—वर्तमान कालिके आश्रित नवकी अपेक्षा

से निर्मल-सिं से मोक्ष जाते हैं। और भूतकालकी अपेक्षा से आप बड़ी विषय लेना जो कि निर्मल-सिं से सम्भव हो। सम्भव अवस्था में केवल ज्ञान भी नहीं होता है यह आपको मान्य होगा ही। यदि मान्य नहीं है तो भी तत्सर्वसूत्रकार भी उमास्वामी आचार्य ने तो स्पष्ट रूप से लिखा है कि स्नातक मुनि पूर्ण बाह्य और अग्रन्तर रूप से निर्मल ही रहते हैं। इतना स्पष्ट रूप से सूत्र होने पर आप जानबूझ कर यह (सम्भव रूप से मोक्ष जाते हैं) लिख रहे हैं या आपको वास्तविक सन्देह है? वास्तविक सन्देह होता तो प्रथम इस बात की चर्चा समाज में कर सकने थे लेकिन जब निष्पत्ति रूप से आप कथन कर रहे हैं इस लिये जान बूझ कर आप दिगम्बर आम्नाय की जड़ पर कुठाराघात करने को तयार हो गये हैं। ऐसी अकार्यता करके दिगम्बर को श्वेताम्बर बनने का इशारा करने से सारी दुनियां आपके हाथ में है क्या? कदापि नहीं। इस प्रकार अवगणना करने को तयार कदापि नहीं हो सकते थे। इस अवगणना से कितने भव तक अपने को दुःख उठाना पड़ेगा। इसका थोड़ा सा विचार करके देखो। अभी भी आप विचार करके अपना मनुष्यभवं का सुधार करो। नरभव रूपी रत्न से उलटा दुःख मत उठाओ।

अब अपवादलिङ्ग का विचार—

हे बाबको! प्रोफेसर साहब का कक्ष है कि उत्सर्गलिङ्ग और अपवादलिङ्ग ऐसे दिगम्बर मुनि के दो भेद हैं। लेकिन उनकी यह बुद्धि गलत मार्ग पर है। क्योंकि दिगम्बर दीक्षा लेते समय में सब कपड़ों का तथा सब परिग्रहों का त्याग किया जाता है और जन्म मर के त्याग होने को वन कहते हैं।

फिर जो वस्त्रत्याग करता है वह सत्य करने में निर्दोष कैसे रहेगा? जो दिगम्बर दीक्षा लेकर फिर कपड़ा लेगा तो वह भ्रष्ट सत्सङ्ग जायगा। यदि प्रतभंगी को भ्रष्ट नहीं कहोगे तो फिर भ्रष्ट कौन समझ जायगा? इस लिये दिगम्बर जैन शास्त्रों में दिगम्बर बनने पर पुनः कपड़े लेने का विधान किसी भी शास्त्र में नहीं मिलेगा। हां, यह विधान अवश्य मिलता है कि जिनको दिगम्बर दीक्षा लेने की योग्यता नहीं है अर्थात् जिनके लिंग में दोष है तथा जो लज्जावान हैं, टपही-गभी आदि परिग्रहों को सहन करने की शक्ति नहीं है ऐसे दिगम्बर दीक्षा न लेते हुए भावक को जो ११ प्रतिमायें हैं, उन ११ प्रतिमायों को धारण करते हुये क्षुल्लक या पेल्लक दीक्षा लेते हैं उनको अपवाद लिङ्गी कहते हैं। इसी धर्म-संग्रह भावकाचार में—

“उत्कृष्टः भावको यः प्राक् क्षुल्लकोऽपि सूचितः।

स चापवादलिङ्गी च बानप्रस्थोपि नामतः ॥८०॥

अध्याय ६

अर्थान्—पहिले जो उत्कृष्ट भावक क्षुल्लक का इसी ग्रंथ में वर्णन किया जा चुका है। उसे अपवादलिङ्गी तथा बानप्रस्थी कहते हैं। और भी कहा है :—

ज्ञानानन्दमयारामानं साधयत्येव साधकः।

भितापवादलिङ्गेन रागादिवशतः स्वयुक् ॥८१॥

अर्थान्—जो साधक भावक है वह अपवादलिङ्ग को धारण करके और अन्तरंग में रागादि सब होने से ज्ञानानन्द स्वरूप अपने आत्मा को साधता है उसे साधक भावक कहते हैं। अर्थात् उत्कृष्ट भावक को क्षुल्लक-पेल्लक, आर्थिका और क्षुल्लक आदि-ज्ञान से तथा अपवादलिङ्गी या बानप्रस्थ या भिक्षु का अवस्था

आदि नाम से कहते हैं । देखो—

एकदशरोपासकेषु पञ्चाश गृहस्थोऽधमाः ।

वर्धिनश्चो मध्यमः सकृष्टौ मिथुनौ परौ ॥१३॥

अर्थ—जो भावकों की ११ प्रतिमायें हैं उनमें से १ से लेकर ६ प्रतिमा तक धारण करने वाले को अधम भावक, ६ से ८ तक प्रतिमा को धारण करने वाले को मध्यम भावक कहते हैं । तथा १० की ओर ११ की प्रतिमा को धारण करने वाले को मिथुन कहते हैं । उसी तरह सागर धर्माश्रम में भी कहा है । देखो—

“अनुमतिविरतोद्विग्विरता—

बुधो मिथुनो प्रकृष्टौ च ।”

अर्थात्—अनुमति त्याग प्रतिमा और उद्विग्विरता त्याग प्रतिमा के धारक को मिथुन कहते हैं । उसी तरह—

त्रिस्थानदोषयुक्तावापवादिर्लिंगिने ।

महाप्रतार्धिने चाल्लिगमात्मर्गिणः तदा ॥३५॥

अर्थात्—तीन स्थानों में लिंग सम्बन्धी दोष जिनके हैं ऐसे अपवादि लिंग वाले अर्थात् क्षुल्लक ऐच्छिकों ने मरण समयमें दिग्गम्बर या यानी उत्सर्ग लिंग की दीक्षा देनी चाहिये । इस प्रकार अनेक जगह में ऐसा कथन स्पष्ट रूप से आया है । दिग्गम्बर शास्त्र में उत्सर्गलिंग यानी दिग्गम्बर और अपवादि लिंग यानी क्षुल्लक ऐच्छिक या आर्यिका और क्षुल्लिका को कहा है !

इस प्रकार अपवादि लिंग का अर्थ है । अस्तु,

अब भी धनका जी के द्वितीय भाग में भी क्या कहा है सो देखिये—

“मनुसिणीयं मरुत्तमाये अस्ति चौरस गुणकृ-
त्यादि एगारह जोग अजोगोवि अस्ति
एव आहार आहार-मिस्स-कावजोगा अस्ति । कि

कारण ? जैसि भावो इत्थि वेदो दम्भं पुण्य पुरिस-
वेदो, तेवि जीवा संजमं पडिबज्जति इत्थि
संजमं ए पडिबज्जति सचेत्तादो । भावत्थि वेदाणं
द्वयेण पु वेदाणं वि एगारहरिदि सत्पञ्चादं इव्वमा-
वेण पुरिसवेदाणमेव समुपज्जादं तेणित्थि वेदे पि
एगिक्खे आहारदुगं अत्थि तेण एगारह जोगा
भणिया ॥ —द्वितीय भाग, पानानंबर ५१३ आला-
पाधिकार नं० ११४ ।

अर्थ—मनुसिणीयों जियों के आलाप करने पर चौरस गुणस्थान होते हैं ११ योग कहे हैं । चार मनोयोग, चार वचनयोग, आहारिक काययोग, आहारिक मिथयोग और कामेयकाययोग तथा अयोग भी स्थान है । इन मनुसिणीयों को आहार काययोग और आहारिक मिथ काययोग नहीं होते ।

शंका—मनुष्य जियों के आहारिक काययोग और आहारिक मिथ काययोग नहीं होने का क्या कारण है ?

उत्तर—जिनके भाव की अपेक्षा से लीवेद और द्रव्य की अपेक्षा पुरुषवेद होता है । वे ही भाव लीवेद वाले जीव संयम को प्राप्त होते हैं । परन्तु द्रव्य की अपेक्षा लीवेद वाले (योर् मनी लीलिंग वाले) जीव संयम को प्राप्त नहीं होते हैं । क्योंकि वे सचेत अर्थात् ब्रह्मसहित होने से संयमवाले होते नहीं । फिर भी भाववेद की अपेक्षा लीवेदी और द्रव्यलिंग की अपेक्षा पुरुषलिंग (पुरुष लिंग को) धारण करने वाले को संयम की प्राप्ति होती है । तो भी उनको आहार श्रद्धि उत्पन्न नहीं होती । किन्तु द्रव्य और भाव इन दोनों की अपेक्षा से जो पुरुष हैं ऐसे संयमधारी पुरुषों को आहारिक श्रद्धि उत्पन्न

होती है। इस लिये भावही वेद वाले पुषों को आहारक के बिना ११ ग्यारह योग होते हैं। तथा—

“इतिह-वेदे अपगद-वेदो वि अत्थि । एत्थ भाववेदेण पयदं ए द्धव-वेदेण । किं कारकां ? अवगद-वेदोवि अत्थि ति वयणादो ॥

अर्थ—योग आसाप के आगे खीवेद तथा अपगत वेद स्थान भी होते हैं। यहां भाववेद से प्रयोजन है, द्रव्यवेद से नहीं। इसका कारण यह है कि यदि यहां द्रव्यवेद से प्रयोजन होता तो अपगत वेद रूप स्थान नहीं बन सकता था। क्योंकि द्रव्य चौदह गुणस्थान तक होता है परन्तु अपगतवेद भी होता है। इस प्रकार बचन निर्देश नवमे गुणस्थान तक के अवेदभाग से किया है। इसमें प्रतीत होता है कि यहां पर जो मनुमिणी को १४ गुणस्थान होते हैं, ऐसा कथन जो किया है वह भाववेद से ही प्रयोजन है। यह वाक्य धबला जो के ० भाग के हैं।

हे बाबको ! यहां पर एक महत्त्व का विषय आप लोगों के सामने रखना चाहता हूं। कि हिन्दी टीकाकार ने भी धबलपन्थ का अर्थ करते समय में जो जो अनर्थ किया है वह किमन्तरनाक है वह आप लोग स्वयं जान सकते हैं। देखिये अनेक शानों पर अर्थ का अनर्थ किया है। जहां पर “मनुसिणी” शब्द प्राकृत भाषा में मूत्र में या वृत्ति में आया है उसका अर्थ विचार न करते हुए हिन्दी में “बोनिमती खी” इस प्रकार ही किया है। वास्तविक रूपसे देखा जाय तो मनुसिणी यह शब्द भाववेद का खोकर है द्रव्य खी का नहीं येने हमारे परम पूज्य आचार्य श्री बीरसेनवि आचार्यों ने स्पष्ट किया है उनके ऊपर दुम्भी टीकाकार ने विश्वास न करते हुए

उस शब्द का द्रव्य वाचक ‘बोनिमती’ ऐसा अर्थ किया है वह टीकाकारों की मोटी भूल है। क्योंकि बोनिमती शब्द सुद आचार्यजी ने प्रयोग न किया जो भी हिंदी वालों ने किया है क्योंकि बोनिमती शब्द नित्य द्रव्य खीवेद वाले में आता है अर्थात् जिसको योनि है उसको योनिमती कहते हैं वह द्रव्य वाचक शब्द है ऐसा जान बूझ कर अर्थ किया है उसको पढ़ते समय सावधानी से पढ़ना चाहिये। श्रीभूतबली पुष्पवन्ताचार्य ने सूत्र में खी पर भी (मनुष्य प्रकरण में) योनिमती शब्द का प्रयोग नहीं किया है हां ! तिर्यक का प्रकरण जहां पर आया है वहां पर तिर्यकों में ‘योनिमती’ शब्द का प्रयोग सूत्र में किया है लेकिन मनुष्य के प्रकरण में “बोनिमती” शब्द न रखते हुए मनुसिणी शब्द का प्रयोग किया है इसमें किमती गम्भीरता की है यह आप ही जानना।

हे बाबको ! उपरोक्त बचनों से आप लोग स्पष्ट जान सकते हैं कि द्रव्यखी को १४ गुणस्थान नहीं होते हैं। द्रव्यखी से पुष्पिणी हो तथा भाव की अपेक्षा से खी यदि हो ऐसे पुष्प को १४ गुणस्थान हो सकते हैं। यह स्पष्ट जानना चाहिये।

प्रोफेसर साहब ने जो श्री पट्टककगमके तीसरे भाग के सूत्र नंबर ४६ का प्रमाण दिया है उसका विचार किया जाता है।

“मनुसिणीसु सासय सम्माइडिम्पुडि जाव अजोगकेवर्त्तित दव्यपमयोव केवडिवा ? संसेम्मा अर्थ—मनुष्यनिर्धों में सासदान गुणस्थान से लेकर अयोगि केवली गुणस्थान तक गुणस्थान में द्रव्यप्रमाण की अपेक्षा किसने हैं ? संव्यास हैं।

यह सूत्र प्रमाण देकर जियों के १४ गुणस्थान होने हैं ऐसा जो आमद हो गया है सो ठीक नहीं

हे क्योंकि प्रथम भाग में जब इस किर्यों को संक्षेप-पण का अभाव बतलाते हुये "पाँचवें गुणस्थान तक ही नियम सँझते हैं।" ऐसा कथन किया है और उस सूत्रमें जब नियम पद भी रलते हुये बड़े जोर से कथन किया है तो फिर आगे द्रव्य की को १४ गुणस्थान कैसे मानोंगे ? क्योंकि ऐसा मानने में प्रत्यक्ष विरोध आवेगा। और पूर्वापर विरोध वाक्य लिख रहे हैं ऐसा सिद्ध होवेगा। इस लिये यह सिद्ध होता है द्रव्यकिर्यों को १४ गुणस्थान नहीं झोंते यह कथन सत्य है त्रिवार सत्य है। इस पूर्वापर विरोध वाक्य को या दोष को हटाने के लिये मणु-सिंघी शब्द का अर्थ यहां पर इस सूत्र में द्रव्यपुरुष होते हुए भावकी वेद का उदय जिसका हो गया है ऐसे जीवों को मणुसिंघी कहते हैं' ऐसा ही अर्थ करना युक्तियुक्त है। इस लिये प्रोफेसर सा. व. का अपना हठामह छोड़ कर अच्छी तरह निष्पक्षधन से विचार करना चाहिये और अपने सम्भाग पर आना चाहिये। इससे ही बुद्धिमानपना सिद्ध होगा और इसी में अपना कल्याण है। अन्वधा 'अर्जयेष्ठव्यं' इस पंक्ति पर जो विवाद होके अन्तमें अज शब्द का अर्थ बकरा करने वाले को कितना दुःख उठाना पड़ा यह क्या अच्छी तरह सँ पढ़ना और अच्छी तरह से विचार करना। मैं भी हठामहवा में जा रहा हूँ या नहीं यह देखना जरूरी है। इस तरह एक प्रकरण के अनुसार अर्थ करने का विषय माहूम हो गया तो कण्ठा मिट जाता है। अन्त पक्ष का एकान्त अर्थ लेना छोड़ कर स्वाहावी हो जायें और अपने आत्मा का कल्याण करें और अपने मित्र-पाँचवा अपने पक्ष में बड़े हुये सब जीवों का कल्याण करें यही सूचना है।

द्रव्यकी मुक्ति पर श्वेताम्बर ग्रन्थों से

— विचार —

हे बाबको ! प्रोफेसर ने लिखा है कि क्षीमुक्ति होना ठीक है और दिगम्बराचार्य के भी प्राचीनतम आचार्यों को छोड़ कर श्री कुन्दकुन्दाचार्यान्ताय ने ही क्षीमुक्ति का अत्यन्त जोर से निषेध किया है। अब इस पर हमें विचार करना जरूरी है कि क्षी के शरीर में मुक्ति प्राप्त करने की शक्ति है या नहीं ? इस विषय पर श्वेताम्बर ग्रन्थ में क्या प्रमाण है यह देखना प्रथम जरूरी है। तदनन्तर फिर दिगम्बर ग्रन्थों का प्रमाण देखेंगे।

प्रथम मनुष्य में जो दो भेद हुए हैं वह शक्ति की अपेक्षा में ही हुए हैं एक पुरुष और दूसरी स्त्री। स्त्रियों में पुरुषों से शक्ति कम है। जिस कार्य को पुरुष कर सकता है वह कार्य स्त्री कर सकती है या नहीं यह प्रथम विचार करना चाहिये। पुरुष जिस महान कार्य को कर सकता है उसी महान कार्य को स्त्री नहीं कर सकती।

सबसे पहले पुरुष एकदम विरागो होकर हजारों स्त्री-पुरुषों में दिगम्बर (नम्र) ऋत का धारण कर सकता है। ऐसा दिगम्बर ऋत हजारों स्त्री पुरुषों में द्रव्यक्षीणिग स्त्री ले सकती है क्या ? नहीं। क्योंकि इसका कारण यह है कि स्त्रियों में कब्जा (शर्म) ज्यादा है। इस कारण वह नम्रता को धारण करने का साहस नहीं कर सकती है। इस लिये स्त्री की शक्ति कम है। दूसरी बात यह है कि स्त्रियों में मोह भी बहुत उभाज रहता है। वह निर्मोही नहीं हो सकती। इसका सारा संसार जर अतुल्य कर सकता है। जिस किसी स्त्री पर स्त्रियों का

मोह ज्यादा रहता है। स्त्रियों का हृदय कठोर नहीं है। स्त्री का हृदय बहुत मृदु होता है। वह हृदय मृदु होने से ज्यादा मोही होता है। जिसका हृदय कठोर होता है वही निर्माही होता है।

स्त्रियों का बचन करने समय चाहे श्वेतान्धर प्रन्थ हो चाहे विगन्धर हो चाहे अन्य-मती हो सब कोई स्त्री को कोमलांगी कहते हैं। ऐसे पुरुषों को कोमलांग कभी नहीं कहते। स्त्रियों का शरीर कोमल रहता है। स्त्रियों का मन-बचन और शरीर तीनों कोमल होते हैं। स्त्रियों के शरीर में कोमलता है इतना ही नहीं बल्कि मन बचन दोनों में भी कोमलता है। इस बात की श्वेतान्धर प्रन्थों का भी मान्यता है। स्त्रियों के शरीर में ज्यादा पाप करने करने की शक्ति नहीं है। स्त्री मन में भी ज्यादा पाप नहीं करती, तभी सातवें नरक को जाने का पाप भी स्त्री के मन से नहीं होता, क्यों? उतना उनका मन कठोर नहीं हो सकता। जब मन में भी सातवें नरक में जाने की पाप करने की शक्ति नहीं तो मांस जाने की शक्ति कहाँ से आवेगी?

श्वेतान्धर शास्त्र प्रकरण-रत्नाकर नामक बड़ा प्रसिद्ध और पुराना ग्रंथ है। उस प्रकरण रत्नाकर नामक प्रथम के चार्थ भाग के संग्रहणी मंत्र में १०० पृष्ठ पर लिखा है कि—

असक्तिसारिसकपक्खी ससीह उरगिद्धि अंति जाद्धि

५ मसा उक्कोसंणं सलम पुद्वी मणु यमच्छा।

अर्थ—असंती (असंती) मांस पहले नरक तक सांप, गोह, ब्योला आदि दूसरे नरक तक। गिद्ध, बाज आदि मांसहारी पक्षी सोलह नरक तक। सिंह चीक, जेकिवा दुष्ट, चौपाये पशु चौथे नरक तक और काका साँप दुष्ट अन्नर आदि पाँचवें नरक तक।

स्त्री छठे नरक तक, पुरुष और मरुत आदि सातवें नरक तक जा सकते हैं।

हे बाबू! ऊपर लिखित गाथा से यह स्पष्ट होता है कि स्त्री के शरीर में पुरुष के बराबर ताकत नहीं है। पुरुष की शक्ति ज्यादा है। स्त्री का मन कठोर न होनेसे उतना कठोर पाप भी उसके शरीर से तथा मन से नहीं होता। शरीर शक्ति पर ही मानसिक शक्ति होती है। मन से तीन बोग हैं—एक पाप योग या अशुभ बोग, दूसरा पुण्ययोग या शुभयोग और तीसरा पाप-पुण्य रहित का शुभ-रहित शुद्धयोग। जितनी मानसिक शक्ति बढ़ेगी, उतना ही योगबल रहेगा, जितनी पापयोग करने की बढ़ती शक्ति चाहे मन की पुण्ययोग करने की बढ़ती शक्ति चाहे। जितनी शक्ति सातवें नरक जाने की होती है, उतनी ही शक्ति सर्वाधर्मिक नामक स्वर्ग में जाने का लगती है। जो सर्वाधर्मिक में जाने की शक्ति रखता है वही जीव मोक्ष के तक जाने की शक्ति रखता है। अब विचार करने पर यह तात्पर्य निकलता है कि श्वेतान्धर मान्य प्रन्थों के आधार में स्त्री के शरीर में पुरुष जितना सामर्थ्य नहीं मन में भी ताकत नहीं है और बचन में भी ताकत नहीं है।

साक्षात् कहना है पाप करने की शक्ति ज्यादा नहीं तथापि पुण्य करने की और कम कम करके मोक्ष जाने की शक्ति स्त्रियों में है।

उत्तर—जिसको पाप करने की ताकत नहीं कम की पुण्य करने की ताकत कहाँ से आवेगी? नहीं। मानसिक शक्ति में दो अवस्थाएँ होती हैं। अज्ञानी क्रिया हो तो पुण्ययोग कहेगे और दुरी क्रिया हो तो पापयोग कहेगे। लेकिन मानसिक बढ़ती शक्ति

दोनों को बराबर होती है। श्वेताम्बर मन्थ प्रन्थ में स्त्री मरकर स्वर्ग में कौन से स्वर्ग तक जा सकती है उसका सुझाव किया है। प्रबचनसारो-
द्धार भाग चौथा संग्रहणी सूत्र में ८५ वें पृष्ठ पर १६० गाथा में ऐसा लिखा है।

ज्वरुं वात गम्भइ च उरोजा कप्य कीर्त्तिवर्द्धसु।

चक्षु दु दु कप्य वही पठमेणं जावसिद्धी वि ॥१६०

अर्थ—असंप्रामा मृपाटिका संहनन बाला जीव मरकर, स्वर्गदेव, जोतिषकदेव तथा १-सौ धर्म, २-देशान, ३-सा-... ४-माहें इन चार स्वर्ग तक के देवों में उत्पन्न होता है। कीलक मं-
दनधारी पांचवें प्रकलोक और छठा सातवें स्वर्ग तक जन्म ले सकता है। अर्द्धनाराय संहनन बाला जीव सातवें महायुग नामक स्वर्ग और आठवां सहस्रार नाम स्वर्ग तक उत्पन्न हो सकता है। नाराय संहनन बाला जीव नवमे अमल नामक स्वर्ग और दशवें प्राकृत नामक स्वर्ग तक उत्पन्न हो सकता है। वृषभ-
नाराय संहननधारी जीव बारहवें आरण्य नामक स्वर्ग और बारहवां अच्युत नामक स्वर्ग तक ही उत्पन्न हो सकता है। वज्रवृषभनाराय संहनन बाला जीव नवमैवे तक है, पांच अनुत्तर विमान में और मोक्ष में जा सकता है।

हे बाबको ! विचारणीय बात यह है कि स्त्री को वज्रवृषभनाराय संहनन नहीं है फिर वे मोक्ष को कैसे जा सकती हैं। बारहवें स्वर्ग के ऊपर नवमे-
देविकों में अहमिन्द्र देवों में भी मरकर उत्पन्न होने की ताकत नहीं है फिर मोक्ष कैसे जा सकेगी। इस गाथा से यह सिद्ध होता है कि स्त्री के मन-बचन-
और कर्म में पुण्य इतना पुरव करने की भी ताकत नहीं है। जब सातवें नरक में जाने की ताकत नहीं

तो उससे ही स्त्रियों को वज्रवृषभनाराय संहनन नहीं यह सिद्ध होता है। देखो प्रबचन सारोद्धार चौथा भाग संग्रहणी सूत्र प्रकरण की २३६ वीं गाथा में लिखा है कि—

दोषदमपुटविगमणं ज्वरुं कीर्त्तिवर्द्ध संवचणे।

शक्यपुटवि... आशितलेस्याव नरपु... ॥२३६॥

अर्थ—असंप्रामा मृपाटिका संहनन बाला जीव पहले दूसरे नरक तक जाता है। आगे नहीं। की-
लक संहनन बाला तीसरे नरक तक। अर्द्धनाराय संहनन बाला जीव चौथे नरक तक। नाराय संह-
नन बाला पांचवें नरक तक। वृषभनाराय संहनन बाला जीव छठे नरक तक और वज्रवृषभनाराय संहनन बाला जीव सातवें नरक तक जा सकता है। इससे यह सिद्ध होता है कि वज्रवृषभनाराय संहनन बाले के सिवाय औरमें सातवें नरकमें जाने की ताकत नहीं है और श्वेताम्बर प्रन्थ में ही कहा है कि स्त्री मर कर छठे नरक तक ही जा सकती है। इससे वृषभनाराय संहननधारी ही स्त्री होती है, स्त्री को वज्रवृषभनाराय संहनन नहीं है। इस लिये मोक्ष जाने की शक्ति नहीं है यह सिद्ध है। और वज्रवृषभ नाराय संहनन नहीं है यह सिद्ध भी है।

अब श्वेताम्बर ग्रंथों की अपेक्षा से मनुष्य में भी उत्पन्न होने की शक्ति स्त्री को कितनी है सो दिखाने हैं देखो प्रबचन सारोद्धार भाग ३ गाथा ५२० में लिखा है—

अरुंत चकि केसव वल संभिजेव चारणे पुम्बा।

गणधर पुत्राय आहारणं च नहु भविष्यमहितामं ॥

अर्थ—अन्धस्त्रियों को दशरथ का कर्त्तव्य नहीं होती है। वह दशरथ यह है—१-अ-... २-
चरुर्त्तीर्य ३-नारायणपद ४-वलभप्रपद ५-संभिजे

बोतापद, ६-चारण ऋद्धिपद, ७-पूर्वधारीपद, ८-गणधरपद, ९-पुष्पाकपद, १०-आहारक ऋद्धिपद, ये दशपद स्त्रियों के नहीं होते ।

इस उपरोक्त गाथा से यह सिद्ध होता है कि स्त्री के शरीर में निर्बलता है । इस लिये इन दश पदों को प्राप्त नहीं कर सकती । यदि पुरुषों के समान बल होता तो उपरोक्त दश पदों की प्राप्ति कर सकती थी । ये उपरोक्त सारे पद शरीर की दृढ़ता पर ही अवलम्बित हैं । जिनके शरीर में बल नहीं उनके मनमें भी बल या दृढ़ता नहीं हो सकती । उन स्त्रियों में अरहन् होने की शक्ति नहीं ऐसा खुद उन श्वेताम्बर ग्रन्थोंकी मान्यता है फिर श्वेताम्बरों की स्त्रीमुक्ति पर इतना इठ क्यों है यह समझ में नहीं आता ।

प्रोफेसर साहब की भट्टा श्वेताम्बर ग्रन्थों में है तो यह उपरोक्त गाथा अच्छी तरह से देखनी चाहिए और अपने मन में विचार करना चाहिये । स्त्रियों में शुकजध्यान करने की शक्ति नहीं है । पौराणिक-धोर तपश्चर्या करने की शक्ति नहीं है । तथा उनमें धोरउपमर्गों को भी सहन करने की ताकत नहीं है फिर उनको मुक्ति कैसे मिल सकती है ? यह विचारणीय बात है ।

शंकर कहता है—श्वेताम्बर ग्रन्थों में स्त्रियों को ब्रह्मवृषभनारायण संहनन नहीं होता यह आप किस आधार से कह रहे हैं आप अनुमान से ही कह रहे हैं लेकिन जब तक पुष्ट प्रमाण पेश नहीं करेंगे तब तक हम इन अनुभवों के ऊपर कबन किया हुआ नहीं मानते ।

उत्तर—मैं अनुभव से स्त्रीमुक्ति का विरोध नहीं कर रहा हूँ । लेकिन तुम्हारे ग्रंथ में ही कहा

है । देखो उपचाई सूत्र नं० १२ पृष्ठ २०५ ।

स्त्री को ब्रह्मवृषभनारायण संहनन नहीं है । जो ब्रह्मवृषभनारायण संहननधारी है ऐसा मनुष्य पुरुष ही मोक्ष जा सकता है ।

इस श्वेताम्बरीय ग्रंथ कथित सूत्र से ही सिद्ध होता है कि स्त्री को ब्रह्मवृषभनारायण संहनन नहीं हो सकता । ऐसी अवस्था में ब्रह्मवृषभनारायण संहनन के अभाव में मन इठरूप न होने के कारण महान् कार्य नहीं हो सकता ।

मनुष्य सिद्ध के समान निर्भय होकर दीक्षा लेकर निर्भय वृत्ति में रहता है । स्त्री दीक्षा लेने के बाद निर्भय वृत्ति से इधर उधर बिहार नहीं कर सकती । स्त्री के शरीर में बल नहीं इस लिये वह अशक्ता है । यदि स्त्री दीक्षा लेकर अकेली बिहार करे और रास्ते में कोई गुण्डा पुरुष स्त्री को देखकर कामातुर होकर उस शीलितन आर्यिका का शील भंग करना चाहे तो उस गुण्डे में अपने शील की रक्षा करने में समर्थ वह नहीं हो सकती । क्योंकि स्त्रियों के शरीर की रचना ही ऐसी है कि पुरुष के द्वारा शील-भंग हो सकता है । स्त्री भोग्य होने से पुरुष किसी भी अवस्था में भोग सकता है । स्त्रियों में इतनी ताकत नहीं इस लिये वह अशक्ता कही जाती है । हाँ, यदि उस स्त्री के शील की रक्षा करने वाले देव या और कोई सहायक हो जाय तो स्त्री अपने शील की रक्षा कर सकती है । अकेलीमें शील रक्षा करने की शक्ति नहीं ।

यदि ब्रह्मवृषभनारायण संहनन होता तो शरीर में दृढ़ता आ सकती । लेकिन दृढ़ता नहीं होने के कारण स्त्री में पुरुष के समान शरीर में ताकत नहीं है । यदि हठान् स्त्रियों को ब्रह्मवृषभनारायण संहनन

स्वेताम्बरों द्वारा मान लिया जाय तो भी स्त्रियों के उपस्था मानना पड़ेगा और उपस्था में शरीर रक्षा करने की शक्ति नहीं है। स्त्री की योनि ऐसी है कि पुरुषों के द्वारा आक्रमण होने से शील भ्रष्ट हो सकता है। पुरुषों को वज्रवृषभनादाय संहनन भी नहीं माना गया आवे और पुरुष दिगम्बर दीक्षा लेकर वनमें एकान्त प्रदेश में तपश्चर्या कर रहा हो ऐसा मौका पाकर यदि स्त्रियां समूहरूप से भी होकर उस दिगम्बर मुनि का शील बिगाड़ने की कोशिश करें तो उस मुनि के निर्विकार मन में शील बिगड़ नहीं सकता। क्योंकि पुरुष के चित्त में कामवासना नहीं रही तो पुरुष के लिंग में उत्थान—शक्ति नहीं आ सकती। और उत्थान शक्ति के बिना मैथुन रूप कार्य भी नहीं हो सकता। हजारों स्त्रियां प्रयत्न करें तो भी उस दिगम्बर मुनि का शील बिगाड़ने में कोई भी समर्थ नहीं हो सकती। सुद मुनि ही विचलित हो जाय तो सुद ही बिगाड़ेगा। लेकिन दूसरा कोई भी नहीं बिगाड़ सकता।

स्त्रियों के बारे में ऐसा नहीं हो सकता। यदि स्त्री के मन में कामवासना नहीं है और एकान्त में स्त्री तपश्चर्या करती हो और एक ही पुरुष कामातुर हो गया तो उस स्त्री के साथ मैथुन कर सकता है। उस अनुप्य से बचने की शक्ति स्त्रियों के शरीर में नहीं है इस लिये स्त्रियों की शक्ति किसी भी अवस्था में निर्बल ही रहेगी। स्त्रियों की आकृति योनि रूप होने से अकेली शील रक्षा नहीं कर सकती। उपस्था में वह सफल नहीं है। बिगर इच्छा से पुरुषों के लिंग को रोकने की शक्ति नहीं है। इस लिये इच्छा हो या न हो स्त्री अपनी शील रक्षा करने में समर्थ नहीं ब प्रोफेसर साहब को मानना ही पड़ेगा।

इस लिये निर्बल होकर तपश्चर्या करने की शक्ति स्त्रियों में नहीं है। वह भवभीत रहने से निश्चल रूप ध्यान नहीं कर सकती। स्त्रियों के मनमें भी निर्भयता होने की शक्ति नहीं। स्त्रियों के मनमें दृढ़ता भी संहनन के अभाव से नहीं आ सकती। मन दृढ़ होने का भी संहनन की जरूरी है। जैसे कि नपुंसक पुरुष को यदि पश्चिमा की मिल गई तो उस की के साथ भोग करने का कार्य हो सकता है क्या? यद्यपि नपुंसक पुरुष के मन में भी भोग करने की इच्छा है, कामवासना भी मौजूद है तो भी नपुंसक के लिंग में सामर्थ्य नहीं होने में पश्चिमी की के साथ रति क्रीड़ा (मैथुन कार्य) करने में समर्थ नहीं यह सुप्रसिद्ध है।

इससे सिद्ध होता है कि शरीर बल बिना मन की दृढ़ता भी नहीं होगी। स्त्रियों के मन में पुरुष के मन की तरह शक्ति (दृढ़ता) नहीं आ सकती है। मन से भी स्त्री कमजोर है यह मानना जरूरी है। जिनके मन दृढ़ नहीं है वह मन बहिरंग सम्पूर्ण मूर्तिक पदार्थ के अवलम्बन छोड़कर अपने अनुपम परम अद्वैत अनाथा रूप निर्विकल्प रूप ध्यान करने में समर्थ नहीं हो सकता। इस लिये मन की दृढ़ता के लिये शरीर ही कारण है।

स्वेताम्बरों ने अपने शास्त्र में मान भी लिया है कि स्त्रियों को वज्रवृषभ संहनन न होने से स्त्री उत्तम कठोर रूप तपश्चर्या नहीं कर सकती और सातवें नरक तक भी नहीं जा सकती। उसी तरह स्त्री का मन दृढ़ न होने से शुभ भोग में भी स्थिर होने की शक्ति नहीं रखती इस लिये शुभभोग से बढ़कर स्वर्ग में १२ वें स्वर्ग से ऊपर के अहमिन्द्र देवों में जन्म नहीं हो सकती। उसी तरह स्त्री के मन में

दृढ़ता नहीं होने के कारण निज ध्यान रूप परम बीतराग निर्विकल्प ध्यान में भी स्थिर होकर संपूर्ण कर्म समूह का नारा करने की शक्ति नहीं होने से मोक्ष को भी नहीं जा सकती। ऐसी दृढ़ता नहीं होने पर प्रोफेसर साहब जी को मोक्ष मानने में अपनी बुद्धि का दुःखयोग क्यों कर रहे हैं यह समझ में नहीं आता।

वास्तविक रूप से देखा जाय तो श्वेताम्बरों ने भी जी की शक्ति कम ही मानी है श्वेताम्बरीय ग्रन्थ 'जी को अरहन्तपद की प्राप्ति नहीं होती' ऐसा मान रहे हैं फिर भी हम दिग्गम्बर आम्नाय के लोक किम तरह जीमुक्ति मानेंगे और परम्परागत आये हुए ग्रन्थों के ऊपर अविश्वास करके अपने सम्यक्त्व भाव से किस तरह गिरेंगे? नहीं कदापि नहीं गिरेंगे। इस लिये प्रोफेसर साहब का वह दिग्गम्बराचार्य के कथित दिग्गम्बर तत्व का नारा करके श्वेताम्बर तत्वों में सम्मिलित करने का अवांछनीय अकांक्ष तांडव कभी भी सिद्ध नहीं होगा। यह त्रिवार सत्य है।

प्रोफेसर साहब का कहना है कि 'गुणस्थान की अपेक्षा से कोई महत्व का निर्णय जीमुक्ति के विषय में नहीं किया।' इस पर विचार करने से सिद्ध होता है कि शिष्यों के निश्चल ध्यान नहीं हो सकता, निश्चय निर्विकल्प शुक्लस्थान उसी को हो सकता है कि जिनका संहसन वज्रवृषभनाराय संहसन है उसी का मन शुद्धोपबोग रूप अद्वैत परम निर्जन निज सिद्धात्म स्वरूपमें ठहरकर सम्पूर्ण रागद्वेषादि विकार भावों को नारा कर सकता है। यह निर्विकल्प निजात्मध्यान या शुक्लस्थान-जैसी आरोहण कालमें

ही होता है। जैसी आरोहण = बें गुणस्थान से होता है। इस लिये द्रव्यजी को आठवां गुणस्थान होता नहीं। आठवां गुणस्थान तो दूर रहा किन्तु ष्ठा गुणस्थान भी द्रव्यशिवों को नहीं हो सकता। ऐसा कथन श्वेताम्बर ग्रंथों में भी मिलता है।

देखिये तत्त्वार्थाधिगम में निर्ग्रन्थों के पांच भेद किये हैं। उसमें पुलाक, बडुरा, कुरील निग्रन्थ और कालक ये निर्ग्रन्थों के पांच भेद हैं। इसमें शिष्यों के विषय में निग्रन्थ भेद नहीं किया। यदि जी निर्ग्रन्थ हो सकते तो उसके भी भेद निकाल सकते थे। श्वेताम्बरों के प्राचीनतम ग्रन्थों में शिष्यों को मुक्ति और जी को निर्ग्रन्थ संवमपणा का बयान कही पर भी नहीं आता है। श्वेताम्बरों ने जीमुक्ति के विषय में अर्वाचीन लोग ही व्याख्या कथन करते आये हैं। यदि प्राचीन आचार्य शिष्यों के विषय में मुक्ति का या संवमपणा या निर्ग्रन्थपणा का विषय मान लेंते तो फिर तत्त्वार्थाधिगम सूत्र में कही पर विषय आना चाहिये था लेकिन कही पर भी नहीं आया है। जैसी निर्ग्रन्थों के पांच भेद किये हैं वहां पर निर्ग्रन्थानियों का भी भेद जाना चाहिये था लेकिन ग्रन्थकार को जी-निर्ग्रन्थपणा इष्ट न होने के कारण उन शिष्यों के विषय में एक भी सूत्र नहीं दिया। वहां पर शिष्यों के संवमपणा का कोई उल्लेख करने का सूत्र नहीं है। इससे भी सिद्ध होता है कि द्रव्यशिष्यों को संवमपणा नहीं है।

इस विषय पर प्रोफेसर साहब को अच्छी तरह से विचार करना चाहिये। उन प्राचीनतम श्वेताम्बर आचार्यों ने ही स्त्रीमुक्ति मान्य नहीं की थी इस लिये प्राचीनतम आचार्यों ने कही पर भी सूत्र नहीं

लिखा। तथा जिनकल्पी के अधिकार पुण्य को ही दिये हैं स्त्रियों को नहीं दिये हैं। देखो पदों आचार सूत्र पृ० ११३-४४६ वीं कलममें तथा पृ० ११० में कलम ७२४ वीं पृ० ७२४ कलम ८४१ तक पढ़कर विचार करो।

उसके टीकाकार ने अपने सम्प्रदाय की रक्षा करने के लिये “जिणकल्पिया इत्थी न होई”। अर्थात् स्त्री जिनकल्पी नहीं होती है। अर्थात् जिनकल्पी का मतलब यह है कि “नग्नदीक्षा” इस नग्न (दिगम्बर) दीक्षा का भार पुनः ही निभा सकता है स्त्री दिगम्बर दीक्षा का भार नहीं निभा सकती। इस प्रकार श्वेताम्बर ग्रन्थों में ही स्त्री को संयमपणा का निषेध किया है। संयमपणा विगर्-दिगम्बरपणांक का ही नहीं सकता। फिर श्वेताम्बर समाज में प्राचीनतम आचार्यों ने स्त्रीमुक्ति का निषेध रूप ही विधान किया है। तब प्रोफेसर साहब भगवा किस बात पर रहेंगे। देखिये प्रकरण रत्नाकर अपर नाम प्रवचन सारंगोष्ठार में तीसरा भाग पृ० ४४४-४४५ में लिखा है—

अरहंत चक्रिदेशव बलसंभिजेय चारणे पुष्पा।
गण्डहरपुलाय आहारगंध नहु भवियमहिलाणं ॥१२०

अर्थ—अरहन्त (तीर्थंकर) चक्रवर्ती, नारायण, पुलाक, आहारक अडि आदि दशपद या लब्धि भव्य स्त्रियों को नहीं होते। अब प्रोफेसर साहब विचार करें कि अरहन्त अवस्था जिनको प्राप्त नहीं होती उन स्त्रियों के मुक्ति किस तरह मानोगे? अरहन्तपणा के बिना मुक्ति मिलती हो तो दूसरी बात है। वगैर अरहन्त से या दिगम्बर जैनों के मान्यतानुसार केवलज्ञान के बिना यदि स्त्री को मुक्ति मिलने का विधान श्वेताम्बरों ने किया हो तो बेराक मानो।

लेकिन उस मुक्ति को श्वेताम्बरों ने नहीं माना यह सिद्ध होता है। जिनकल्पी के वगैर निर्गन्धता नहीं आती यह भी श्वेताम्बरों ने माना है। देखो अर आचारंग सूत्र; जिनकल्पी सबथा बस्त्र रहित बने और स्थविरकल्पी अल्प बस्त्र धारण करता है। अल्प बस्त्र भी संयमपणा का विरोधी है। इस लिये स्त्री को संयम नहीं होता तो छठा गुणस्थान भी नहीं होता है और ६ गुणस्थान तथा संयम के बिना इसकी निचली अवस्था में अर्थात् ६ ठे गुणस्थान के निचली अवस्था में कोई मुक्ति मानी गई हो और उस मुक्ति का अधिकारी श्वेताम्बरों ने कहा हो तो बिलाशक कदो। ऐसी मुक्ति को दिगम्बर मन में मुक्ति के नाम में कहने की प्रथा या रूढ़ि नहीं है।

श्वेताम्बर ग्रन्थों में और एक अजब, बहुत विचित्र बात देखने में आती है। उस अजब-बात की तरफ प्रोफेसर साहब का दृष्टिकोण लाने के लिये मैं आग्रह करता हूँ। देखो ‘कुर्मापुत्र चरित्र’ नामक ग्रन्थ को—

“कुर्मापुत्र नामक मुनि केवलज्ञान प्राप्त होने पर विचार करना है यदि मैं चरित्र ग्रहण करूँ तो पुत्र-शोक में तेंरे माता-पिता की मृत्यु हो जायगी ॥१२६ तथाच—

किसी तीर्थंकर को इन्द्र ने पूछा कि यह कुर्मापुत्र केवली महाप्रती कब होगा ॥१७५॥

अर्थात्—केवलज्ञान के बाद चरित्र धारण करने का विचार करना तथा चारित्रधारण करने के पहले केवलज्ञान होना तथा केवली होने पर फिर महाप्रत धारण करने की जरूरत क्यों? इन बातों का अच्छी तरह से प्रोफेसर साहब विचार करके उत्तर देंगे तो बड़ा अच्छा हो जायगा।

हे बाबको ! मेरे ख्याल से चौथे गुणस्थानके स्वाभाविक रूप सम्बन्ध की जो अवस्था होती है उसीको लक्ष्य देख कर यदि श्वेताम्बर भाईने उस सम्बन्धानी को (अविरत सम्बन्धानी को) ही यदि केवली मानते हों तो फिर किसी भी तरहका बाद नहीं रहता ।

हे बाबको ! और एक अजब बात देखिये कि “केवलज्ञान प्राप्त हुए पुरुष को या स्त्री को जैनदीक्षा के लिये शासनदेव कपड़े पहनाने हैं ??? और वस्त्र के बिना केवलज्ञानी अमहाप्रज्ञी को तथा अचारित्री कहते नहीं द्विषाकियाये । कोई मुनि वस्त्र रहित रहें यह बात उन्हें नहीं रुचती । उनके मतमें वस्त्र-पात्र बिना किसी की गति ही नहीं होती ।”

यह उपरोक्त वाक्य श्वेताम्बर ५० बेचरदासजी के अपनी लिखित “जैनमाहित्य में विकार” नामक पुस्तक के पेज नम्बर २६ पर है ।

इसमें एक अजब खोज “केवली का जैनी दीक्षा देने की है और वह भी कपड़े सहित । जैनी दीक्षा, तथा केवली होने पर महाजन को स्थापना ।” यह विचित्रपना श्वेताम्बर—मान्यना में देखने में आता है ।

हे बाबको ! विचारणीय बात यह है कि केवल ज्ञान तैरहवें गुणस्थान में होता है वह भी सम्पूर्ण रागद्वेष आदि विकार भाव या विभाव भावों का या मोहनीय कर्म ज्ञानावरण दर्शनावरण तथा अन्तराय कर्मों का सम्पूर्णपणे से नाश होने पर केवलज्ञान होता है जोकि निरावरण नित्य निर्मल सम्पूर्ण लोक आलोकको, जानने वाला । ऐसा ज्ञान उपज होने पर जैनी दीक्षा लेनी ? सो कौन सी ? तथा केवल ज्ञान होने पर महाप्रज्ञी होना यह भी असम्भव बात है । क्योंकि भत्याख्यान क्रोध, मान, माया, लोभ

का क्षय—उपराम होजाने पर तथा संज्वलन क्रोध, मान, माया, लोभ इन कषायों के उद्भव होनेपर महाप्रज्ञी होता है, यह भाव छठे गुणस्थान में होता है और संज्वलन कषाय का मन्द उद्भव होजाने के अनन्तर अप्रमत्त रूप अवस्था सातवें गुणस्थान में होती है, उसके बाद शरक भंगो चढ़ने पर तेरहवें गुणस्थान में केवलज्ञान प्राप्त होता है फिर ‘केवली महाप्रज्ञी कब होगा’ इस तरह से प्रश्न तोर्यकर को पूछना कितनी असम्भव बातें हैं यद्यपि आप अरुद्धी तरह से विचार करके फिर श्वेताम्बर ग्रन्थ में स्त्री को मुक्ति माना है या नहीं तथा श्वेताम्बरों के प्राचीनतम ग्रंथों में स्त्रीमुक्ति के मूल कौन से हैं ? सो प्रगट करना ।

प्रोफेसर साहब आप अरुद्धी तरह से श्वेताम्बरीय प्राचीन ग्रन्थ तथा अर्वाचान ग्रंथों को देखकर विचार करके तदनन्तर दिगम्बर मतानुयायी को उपदेश करने का प्रयास करा ।

अन्यथा “पंक निमग्नगौरिव” अवस्था हो जाती है ।

स्त्रियों की स्वाभाविक शक्ति पर

— विचार —

हे बाबको ! अब प्रोफेसर साहब इस स्त्रीमुक्ति के ऊपर विश्वास जिन ग्रंथों पर से रखते हैं ऐसे श्वेताम्बरीय ग्रन्थ स्त्रीमुक्ति के लिये सम्मत हैं क्या ? यह देखना जरूरी है ।

मुक्ति प्राप्त होने के पहिले ज्ञानावरणीय, दर्शनावरण मोहनीय और अन्तराय इन चार कर्म प्रकृति का अत्यन्त नाश करना चाहिये इस विषय को दिगम्बरीय ग्रन्थ और श्वेताम्बरीय ग्रंथ दोनों ही मानते हैं । हमारे प्रोफेसर साहब को दिगम्बरीय ग्रंथों का हवाला देना व्यर्थ है । क्योंकि उनकी

भट्टा उन दिगम्बरीय ग्रन्थों पर नहीं है। यदि ग्रंथों पर भट्टा रहती तो उनके हाथ से कदापि खी मुक्ति के विषय में लिखने की जरूरत नहीं पड़ती। श्री भवला जी में अनेक जगह में उमका निषेध मिलता है उसका अनुवाद तो किया है फिर भी लिखना अभट्टा का ही निशान है। अब उनकी भट्टा यदि रवेताम्बरीय ग्रन्थों पर हो तो उनको रवेताम्बरीय ग्रन्थ विख्याते हैं। यदि उनपर भी भट्टा न हो तो फिर नाई सहज है। इत्थिंय सभाष्य तत्त्वार्थाधिगम अध्याय १० वां सूत्र नम्बर १—

“मोह—क्यान् ज्ञानदर्शान्तरागान्तरायक्याक्य के २॥१॥”

अर्थ—मोहनीय कर्म का क्षय होने पर और ज्ञानावरण दशनावरण तथा अन्तर्गत कर्म का क्षय होने पर केवलज्ञान और केवलदर्शन हो जाता है। यह भाष्य भी उपरोक्त अर्थ की ही पुष्टि करता है। और भी विशेष बात यह है कि मोहनीय कर्म का पूरा क्षय होने पर एक अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त छद्मभय बीतराग अवस्था होती है। तदनन्तर ज्ञानावरण आवि तीन कर्मों का नाश होता है। इस आधार से केवलज्ञान के सिवाय मोक्ष नहीं होती। और केवल ज्ञान होने के पहिले चार कर्मों का नाश अत्यन्त जरूरी है उसके बिना केवलज्ञान नहीं होता। सिधों में मोहनीय कर्म का नाश करने की शक्ति नहीं है। जब तक इन्द्रियों को जोतकर निर्विकल्प रूप शुक्ल-ध्यान नहीं होता तब तक मोहनीय कर्म नाश नहीं होता। खी के इन्द्रियवश नहीं होते अतः खी जिते-न्द्रिय नहीं हो सकती। फिर किस तरह से शुक्ल-ध्यान करेगी? कदापि नहीं। वह विचार सत्य है। इस विषय में रवेताम्बरीय कर्म सिद्धान्त का

कथन करने वाला प्रकरण रत्नकर नामक ग्रन्थ है। उसके ५८१ पृष्ठ पर कहा है कि—

“तुच्छा गारवबहुला चक्षिदिया दुज्जला अचीइए इ अ अइवसेम अयणा भूम वाओ अनोच्छीणं।”

अर्थ—रट्टिवाद नामक बारहवां अंग खी को नहीं पढ़ाना चाहिये! क्योंकि स्त्री जाति स्वभाव से तुच्छ (हल्की नाच) होती है। इस लिये गर्व (अभिमान घमण्ड) बहुत करती है। विद्या को पचा नहीं सकती। उसकी इन्द्रियां चञ्चल होती हैं वह स्त्री जितेन्द्रिय नहीं हो सकती। स्त्री दुबली होती है। बुद्धि हल्की होती है। इस लिये आतिशययुक्त पाठ स्त्रियों को पढ़ाना निषिद्ध है। रट्टिवाद अङ्ग के पांच अधिकारों में से चौथा अधिकार चौदहवें है। इस उपरोक्त सूत्र गाथा में यह सिद्ध होता है कि १४ पूर्वों को पढ़ने का अधिकार रवेताम्बरीयाचार्यों ने स्त्रियों को नहीं दिया फिर वह स्त्री केवलज्ञान किस तरह से उत्पन्न कर सकती है? अथान नहीं।

रांकरा—चौदह पूर्वों के पदेबिना केवलज्ञान नहीं हो सकता ऐसा कुछ नियम है क्या?

उत्तर—केवल होने के लिये चौदह पूर्वों को पढ़ने की जरूरत नहीं। यहां पर मैंने यह कथन किया है कि स्त्रियों की बुद्धि चञ्चल होती है। जितेन्द्रिय नहीं हो सकती। इस लिये उनका मन स्थिर नहीं होता, शुक्लध्यान नहीं होता। जब उसे चौदह पूर्वों के पढ़ने का अधिकार नहीं तो फिर दिगम्बर दोहा व शुक्लध्यान करने का अधिकार कदापि नहीं आ सकता। इस लिये स्त्रियों को केवलज्ञान नहीं होता। और मोक्ष भी स्त्रियों को नहीं होती वह अच्छी तरह से रवेताम्बरीय ग्रन्थों से सिद्ध होता है। खी का स्वभाव तुच्छ है। गर्वयुक्त है, चञ्चलन्द्रिय है। ऐसे

जो ये विशेषण दिये इन विराचणुक्त व्यक्तियों को संयमाधिकार नहीं है। फिर प्रमत्तसंयम नामक षडा गुणस्थान कहाँ से होगा ? नहीं होता। यदि पढ़ने का अधिकार भी दिया तो स्त्रियोंको पूर्वज्ञान होता नहीं अर्थात् पूर्वज्ञान प्राप्त कर लेने की शक्ति ही नहीं यह स्वाभाविक स्वयं सिद्ध है फिर केवलज्ञान कैसे होगा। और मोक्ष भी कैसा होगा ? कदापि नहीं होगा।

अब स्त्रा के इंद्रियाँ उनके काबू में नहीं आती तो उनको संयम का अधिकार भी कैसे आवेगा ? जो इंद्रियों को जीतेगा वही संयम धारण कर सकता है। संयम पाना सुलभ नहीं है कि जिनकी इंद्रियाँ भी अपने काबू में नहीं आती उनको भी यदि संयम मानोगे तो फिर पक्षी और अमल्लो जोबादियों का भी संयम मानने तथा मोक्ष मानने में क्या हर्ज है ? यदि यही संमत होगा तो फिर गृहस्थ और मुनि या भिक्षु आदि भेद करने की जरूरी भी क्या है ? इस लिये यह सिद्ध होता है कि स्त्रियाँ संयमाधिकारिणी नहीं हैं। व्यवहार शास्त्र में भी कहा है कि—

औदुम्बरस्य पुष्पाणि श्वेतवर्णे च वायसम।

मत्स्यपादं जलं परयेत् नारीहृदयं न परयति॥

अर्थात्—औदुम्बर के फूल इस जगत में श्वेत नहीं वह भी देखने में आते तथा श्वेत (सफेद) रंग का कौवा भी इस भूमि में नहीं है वह भी कदाचित् देख सकेंगे तथा मछुओं के पाद या जल में मछु घूमते समय उनके पैर के निशान भी कभी इस संसार में देखने में नहीं आते कदाचित् वह भी देखने में आते। लेकिन स्त्रियाँ हृदय को कभी भी नहीं देख सकते। ऐसे स्वाभाविक चंचल हृदय वाली स्त्री होती है। वह क्या महाराष्ट्र-शास्त्री का भार रूप संयमभाव सह सकती है ? कदापि नहीं।

उसी तरह मान भी जिसके पास भरपूर है वह स्त्री संयमधारी कदापि नहीं हो सकती। तथा जो स्त्री गम्भीर स्वभाव की नहीं होती वह फिर संयम किस तरह से पाल सकती है ? कदापि नहीं। जिसका मन स्थिर नहीं ऐसे चंचल-चित्त वालों को (स्त्रियों को) जब चौदह पूर्व भुत का ज्ञान भी नहीं होता है ऐसा माना है फिर उसी चंचल-चित्त वाली स्त्री को मोक्ष या मुक्ति मानना बड़ा भारी भूलरूप भ्रम है ऐसे भ्रम वाले को तत्त्वज्ञान होना भी दुर्लभ है।

अब प्रोफेसर साहब को विचार करना चाहिये कि श्वेताम्बर ग्रन्थों में भी जब स्त्रीमुक्ति सिद्ध नहीं होती तो फिर किस ग्रन्थ में स्त्रीमुक्ति मान्य होती है ? यदि कसौंग पट्टमण्डागम से सिद्ध होती है तो वह भी नहीं होती क्योंकि भी पट्टमण्डागमकी प्रथम जि० सूत्र नम्बर ६३ में स्पष्ट निषेध किया है कि उस स्त्रीको षडा गुणस्थान होता नहीं, संयमभाव होता नहीं क्योंकि यदि कपड़ें बालों को भी संयम होगा तो बाल-वस्त्रों तथा स्त्री भी रहने पर संयमपण्या होना चाहिये ऐसा होने पर स्थविर कल्प साधुपने की भी क्या आवश्यकता है ? यह प्रोफेसर साहब स्पष्ट कहेंगे क्या ?

हमारे प्राचीन दिगम्बर आचार्यों ने स्त्री को संयम नहीं होता ऐसा सूत्र बनाया है देखो भी पट्टमण्डागम सूत्र नम्बर ६३—

“सम्प्रामिच्छाद्वि-असंजद सम्माद्वि-संजवा-संजदद्वाणे श्रियमा पञ्जलियाओ ॥६३॥”

इस सूत्र में ही व्रज्यस्त्री को संयमभाव होने का निषेध स्पष्ट रूप से किया है। नियम राज्य बना कर दृढ़रूप से व्रज्यस्त्री को संयमपण्या नहीं होता षडा गुणस्थान नहीं होता ऐसा ज्ञाता है। फिर

यदि आगे त्र्यम्बी को १४ गुणस्थान मानने का सूत्र कहेंगे तो पूर्वापर विरोध बाक्य होने से दोष आता है। अभी तक जितने भी दिगम्बराचार्य प्राचीन काल के या अर्वाचीन काल के हो गये हैं उनके वचन में नास्तिक रूप में कहीं पर भी पूर्वापर विरोध बाक्य नहीं है। हमारे परम पूज्य भूतबली पुण्डित आचार्य पूर्वापर विरोध बाक्य कभी भी नहीं लिख सकते यह निश्चय मानना चाहिये। हां अर्थ करते समय में इन सब बातों का भी खयाल रखते हुये अर्थ करना चाहिये। अन्यथा वस्तुतः अर्थ मिट भी जाता।

दूसरी बात यह है कि जब श्वेताम्बर ग्रन्थों में भी 'मूर्च्छा परिग्रहः' यह सूत्र आया है और स्त्री को मूर्च्छा कपड़ों पर रहती है और मूर्च्छा परिग्रह वाले जोष छठे गुणस्थान में हैं या पांचवें के ऊपर नहीं जा सकते। वे जीव पांचवें गुणस्थान में ही रहते हैं। इस स्पष्ट दिगम्बर और श्वेताम्बर सूत्र विद्यमान होते हुए भी अबरदस्ती से स्त्रीमुक्ति मान्यता मानना नितान्त भूल है। श्वेताम्बर शास्त्रों में कई जगह ये पूर्वापर विरोध बाक्य हैं। फिर भी उनको प्रमाण मानना कहां तक ठीक है। तत्त्वार्थसूत्र में या पदत्वव्याख्यान आदि सूत्र में या भी कुन्दकुम्भादि के वचन में श्वेताम्बरों को संशय—मिथ्यात्वा ऐसा क्यों नहीं कहा? उनके ग्रन्थ ही उस समय में विद्यमान नहीं थे। उस समय इस तरह के चर्चा खण्डन मंडन आदि का नहीं थी। इस लिये अपने ग्रन्थों में सामान्य रूप से कथन करते गये और जब श्वेताम्बरों ने अपने सूत्रों को पुस्तक रूप से स्पष्टतः प्रगट किया। उनके बाद के आचार्यों ने श्वेताम्बरों को संशय मिथ्यादृष्टि कहा। यह बात

अनुमान से सिद्ध है।

जब श्वेताम्बरीय ग्रंथ तत्त्वार्थाधिगम सूत्र में 'मूर्च्छा परिग्रहः' यह सूत्र बनाया फिर परिग्रह का और असंयमभाव का अविनाभावी सम्बन्ध है या नहीं? यह प्रयत्न देखना चाहिये। यदि मूर्च्छा रूप परिग्रहभाव का और असंयम भाव का अविनाभावी सम्बन्ध नहीं मान लिया जाय तो सम्यासी बनना जिनकल्पी और स्यादिरकल्पी मुनि को मानना ठीक नहीं है। क्योंकि मूर्च्छा भाव रहते हुये भी केवलज्ञान होता है। ऐसी मान्यता आ जावेगी और मूर्च्छा भाव के बिना भी यदि वस्त्रादिक को ग्रहण करने की भावना रहती है ऐसा मानोगे तो फिर स्त्री पुत्रादि या धनार्थ होते हुये भी गृहस्थों को भी संन्यसना मानना चाहिये इस तरह दोनों तरह से आपत्ति आती है।

दिगम्बरत्व की प्राचीनता के विषय में हिन्दू

बुद्धिमान ग्रन्थों का प्रमाण

हे बाबू! आपको विचारपूर्वक दिगम्बर और और श्वेताम्बर की प्राचीनता तथा पवित्रता के विषय में खोज करना जरूरी है। और खोज करते समय में इन दोनों के ग्रन्थों को छोड़कर (दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों को छोड़कर) अन्य मतावलम्बी ग्रन्थों में इस विषय में क्या प्रमाण मिलता है वह प्रमाण देखना भी जरूरी है। अन्य ग्रन्थों में भी श्रद्धाभदेव को नग्न मानते हैं या वस्त्रधारी मानते हैं यह देखना जरूरी है। श्री भागवतपुराण में भी श्रद्धाभ अवतार के सम्बन्ध में कहा है—

“वर्द्धिनी तस्मिन्नेव विष्णुभगवान् परम श्रद्धाभिः प्रसादतो नाभेः प्रियविकीर्षया तत्तरोचावने मरुदेव्यां धर्मान् दरायितुकाभो वातरशानानां भ्रम-

ज्ञानां शरीरान्मूर्धा भविष्य शुक्लस्य ॥ १७ ॥

अर्थ—हे राजन् परीक्षित ! का यज्ञमें परम ऋषियों करके प्रसन्न हो आभि के प्रिय करने की इच्छा से आके अन्तःपुर में मन्वेदी में धर्म विज्ञान की कर्मणा करके रहिवेबारे तपस्वी ज्ञानी नेष्टिक महाप्राणी ऊँहरेता ऋषियों को उपदेश देने को शुक्ल वर्ण की देह धार श्री ऋषभदेव नाम का (विष्णुने) अवतार लिया ।

वेद में भी श्री महावीर स्वामी के विषय में क्या लिखा है यह देखिये यजुर्वेद अ० १६ मन्त्र १४ में कहा है—

“आतिथ्यरूपं मासवं महावीरस्य नःमनुः ।

रूपमुपसवामेतस्मिन्सो रात्रौ सुश्रुता ॥

अर्थ—अतिथि के भाव माहिने तक रहने वाले महावीर व्यक्ति के नमन रूप की उपासना करो । जिससे वे तीनों मिथ्या ज्ञान वर्तन चारित्र्य रूपी मय नष्ट हो जाती हैं । इस प्रमाण से यह मालूम होता है कि मिथ्या ज्ञानादिकों को नारा करके परमप्राण परमात्मा बनने के लिये पराक्रमशील महावीर के नमनता की उपासना करने को उपदेश दिया है । उसी तरह अथर्ववेद के १५ वें अध्याय में जिन आत्य और महाप्राण का उल्लेख है उनमें जिनप्राण का यानी जिनेश्वर तीव्रकर का ही अर्थ है । महाप्राण का अर्थ है महाव्रतधारी नमन दिगम्बर उसीका उल्लेख है ।

और भी किंग पुराण में अध्याय ४० में उल्लेख है । देखिये—

सर्वस्मन्मस्मिन् स्थाप्य परमात्मानमीश्वरं ।

नमो ब्रह्मो निराहारो श्रीरध्वान्तगतो हि सः ॥

अर्थ—अपने आत्मा में अपने आत्मा के द्वारा

अपने परमात्मा स्वरूप ईश्वर को स्थापन करके नमन रूप निराहार ब्रह्म रहित अवस्था में पहुँचा है । ऐसे अनेक स्थलों में वर्णन आता है । और अनेक स्थल में ‘मैं दिगम्बर अवस्था में कब पहुँचूँगा ऐसी भावना की है०’ । कारण यह है कि सर्वोत्कृष्ट कोटि की परम पवित्र अवस्था तो दिगम्बरत्व ही है । इस पर भी अनेक मनचले लोग । गन्धर्व के ऊपर । अर्थात् करने के लिये वमर बांध कर प्रयत्न करने वाले हमारे समाज में उत्पन्न हो गये हैं । आरम्भ है । इनकी बुद्धि को और भावना को । मराठी में एक उक्ति है कि “कुल्हाडीचा हांडा गोम्रता काज” अर्थात् कुल्हाड़ी का डबडा जो है वही अपने गोत्र वाले पक्षीमी का सत्कामारा करने को निमित्त होता है ।

इसको तीसरी शताब्दी में जब सिकन्दर बाह-शाह ने भारत पर आक्रमण किया था तब उस समय में भी जैन दिगम्बर (नमन) साधु रहते थे । अरस्तु का भतीजा स्पिडो कल्लिस्थेनस सिकन्दर महान के साथ आया था और वह बताता है कि ब्राह्मणों का भ्रमणों की तरह कोई संच नहीं । उनके साधु प्रकृति की अवस्था में नमन नहीं किनारे रहते हैं, मग्न घूमते हैं । न उनके पास चारपाई है । इत्यादि लिखा है । देखिये पुस्तक हुयेनसांग का भारत-क्रमण (श्री ठाकुरप्रसाद शर्मा, इन्डियन प्रेस प्रकाश

* भट्टहरि ने कहा है कि—

एकाकी निमृदः शान्तः पाणिपाथो दिगम्बरः ।

कदा शंभो भविष्यामि कर्मनिर्मूलमक्षयः ॥

अर्थ मैं एकाकी निमृदशी निमृदही इच्छारहित शान्त स्वरूप पाणिपाथी दिगम्बर अवस्था को जो कि कर्म का निर्मूल नारा करने वाली अवस्था है कब पहुँचूँगा ।

(१६२६ ई०) पृ० ३००

इस्लामधर्म में भी दिगम्बरत्व को महत्व देते हैं—

इस्लामधर्म के संस्थापक पैगम्बर हजरत मुहम्मद ने खुद कर्माबा है कि "संसार का प्रेम ही सारे पाप की जड़ है। संसार-संलग्नता के बिना एक कैव-
लियत और कष्ट के समान है। और जब वे इसको छोड़ देते हैं तब तुम यह सकते हो कि उन्होंने कष्ट और कैवलियत को छोड़ दिया। संसार में त्याग और वैराग्य को छोड़कर और सुन्दर वस्तु जगत में नहीं है।

हजरत मुहम्मद पैगम्बर ने स्वयं उसके अनुसार अपना जीवन बनाने का बधा-सम्भव प्रयत्न किया था। उसपर भी उनके कमसे कम बर्तों का परि-
धान और हाथ की जंगुटी उनकी नमाज में बाधक हुई थी। त्याग का महत्व मुस्लिम लोगों में भी कितना है यह देखिये।

इस्लाम सूफी सत्यवेत्ताओं के भाग में आया था उनके त्याग धर्म का उपदेश स्पष्ट शब्दों में कहा था। "तुम्हारा का सम्बन्ध त्याग देना, तर्क देना, उसकी आसाइशों और पोशाक सब ही चीजों को खर्च कर और आगे की, पैगम्बर साहब की हदीस के मुताबिक। सूफी सत्यवेत्ता "मनस्वी" नामक ग्रन्थ के रचयिता अक़्बरीन कमीने दिगम्बरत्व का सुला विधान निम्न प्रकार किया है।

(१) गुप्तमन्य ये महत्त्व बहुकार रव-
अज बिरहना केतवा बुरदल गरव।

(जिल्द २ सफ़ा नम्बर २६२)

(२) "जामा पोशां रा नजर परगाम रास-
जाने करिवां रा तदस्की जेवर अस्त !"

(जिल्द २ सफ़ा ३६२)

(३) 'बाव अरिक्ताम बकसुख रव-
वा चूझां करिया न बेआमराव !'

(४) "बरनमी तामी कि कुल करिवां राबी।

जामा कम कुल तारह औसक राबी ॥"

(जिल्द २ सफ़ा ३६३)

इन चारों का अर्थ में अनुवाद "इस्लाम में अनुम-
नामक पुस्तक में इस प्रकार दिया है।

१-मस्त बोला, महत्त्व कर काम जा।

होगा क्या नंगे से क्या तू अहदे बर आ।

२-है नजर धोबी पै जामे पोश की—

है तजल्ली जेवर अरिया तनी !!

३-या बिरहनों से बकसु वाकई—

या हो उनकी तरह बेजामे अरबी !

४-मुतलकन अरिया जो हो सकता नहीं—

कपड़े कम वह है कि आसत कम करो !!

इसकार उपरोक्त का धार से यह सिद्ध होता है कि हर एक धर्म वाले दिगम्बर अवस्था को खान अवस्था मानते हैं और उसी दिगम्बरपने से स्वभा-
वात्मानदी हो सकता है, ऐसा स्पष्ट सिद्ध होता है। प्रो-
फेसर साहब ! रवेगम्बर तथा हिन्दू मत में और मुस्लिम मत भी दिगम्बर अवस्था को महत्त्व दिया है और दिगम्बरत्वसे मुक्ति मानी है। फिर आप बिना कारण इस कगड़े में क्यों पड़े हैं ? क्या रवेगम्बर ग्रंथों से जो तथा सबसमुक्ति सिद्ध होती है ? क्यापि नहीं। अब आगे दिगम्बरत्व अति प्राचीन काल से चला आया है और आगे 'चमदाक के अन्त तक रहे-
गा ही।

ग्रन्थों में 'जिनकस्पी साधु के बिना मोक्ष नहीं आ सकता।' ऐसा कई जगह लिखा है।

राजा सिकन्दर महान के काल में दिगम्बरधर्म

और दिगम्बर मुनि थे—

जिस समय अन्तिम नन्दराज भारत में राज्य कर रहा था उस समय परिचमोत्तर सीमाप्रान्त पर वृन्तान का वीर प्रतापी बौद्ध सिक्न्दर अपना सिकन्दर बना रहा था। जब वह तक्षशिला पहुँचा तो उस ने दिगम्बर मुनियों की बहुत प्रशंसा सुनी और अपना दूत जो “अन्हा कुतस” नामक था उसको दिगम्बर मुनियों के पास भेजा। उसने देखा तो तक्षशिला के पास उद्यान में बहुत नम्र दिगम्बर मुनि तपस्या कर रहे थे। उनमें से एक कस्याण नामक मुनि के साथ बातचीत हुई। दिगम्बर मुनि कस्याण ने अन्हा कुतस को कहा कि तुम हमारी तपस्या का रहस्य समझना चाहते हो तो हमारे सरीखे हो जाओ। अन्हा कुतस दिगम्बर दीक्षा लेने के समर्थ (योग्य) नहीं था। आखिर उसने भी सिक्न्दर महान के पास जाकर दिगम्बरों के ज्ञान की बहुत प्रशंसा की। सिक्न्दर उससे बड़ा आभाषित होकर ऐसे तपोधनों का हमारे यहां आगमन होना चाहिये ऐसा कहकर अपने देश में उन साधु दिगम्बर मुनि कस्याण को ले जाना चाहा। लेकिन अन्त में ईरान में ही सिक्न्दर महान का देहावसान हुआ। उसी समय में दिगम्बर मुनि कस्याण के पास उसने जैन सल्लोकनाम प्रत को धारण किया था। ऐसा इतिहास है।

ईसवी सन पूर्व प्रथम शताब्दी में भारत में अपोलो और हमस नामक दो तत्ववेत्ता आये थे उन का तत्कालीन दिगम्बर मुनियों के साथ श.कार्य हुआ था और वे दोनों दिगम्बर तत्त्वों से प्रभावित हुये थे।

इस तरह अनेक प्रकार से दिगम्बरत्वका प्रेरणया और दिगम्बरत्व को परम्परा बराबर चली आ रही

है यह सिद्ध होता है। दिगम्बर मुद्रा के बगैर मोक्ष नहीं होता यह भी भली भाँति सिद्ध होता है।

रवेताम्बर ग्रन्थों में भी सबका मुक्ति नहीं माना है क्योंकि यदि कपड़ेधारियों को केवलज्ञान हो गया तो वेब आकर उनको दिगम्बर दीक्षा देते हैं। जिनकल्पी में ही मोक्ष होता है ऐसा लिखा है।

सबका मुक्ति मानना कितना भूतभरा भ्रम है। वे वाचकमृन्व ही देखें और उस पर विचार करें। यदि कपड़ों से सहित होकर भी केवलज्ञान प्राप्त कर सकते हैं तो जिनकल्पी साधु मानने की जरूरत ही क्या की दूसरी बात भी विचारिये कि दिगम्बर दीक्षा बड़े बड़े राजपुरुषों ने क्यों ली? जो इतिहास में प्रसिद्ध हैं? रवेताम्बर—मतोत्पत्ति के पहिले भी दिगम्बर मुनि थे और बड़ेबड़े ज्ञानी थे, विदेश में भी जैनधर्म का प्रचार किया। इस इतिहास से भी दिगम्बरत्व का महत्ता सिद्ध होती है।

इस तरह परम्परा से दिगम्बरत्व भी आविर्भाव तीव्रकर से लेकर इस समय तक चला आया है यह अच्छी तरह से अन्य महावक्ताम्बियों के प्रमाण वाक्यों से लिखा है। इस विषय में बहुत इतिहास प्रसिद्ध हैं। अनेकों शिलालेख मौजूद हैं। अन्य महावक्ताम्बियों के शास्त्र मौजूद हैं। खुद रवेताम्बर मत में भी जिनकल्प से ही मुक्ति होना माना है फिर बाह्य का प्रश्न ही नहीं रहता। इसना स्पष्ट प्रमाण प्रोफेसर जीके सामने रखा है। उन्हें इन प्रमाणों को शांतचित्त से देखकर अपना मत बनाना चाहिये। बिना कारण अपनी पूजा मशरूत के लिये दिगम्बर आचार्यों के ऊपर भूलि फेंकने की निम्न चेष्टा कदापि न करें। अब अन्य बौद्ध आदि ग्रन्थों के प्रमाण से भी दिगम्बरपणा सिद्ध करते हैं।

बीड़ ग्रन्थों के प्रमाण से दिगम्बरता का

—प्रमाण—

हे बाबको ! आज कल मस मसन्तर बहुत है, अपने अपने ग्रंथों की प्रमाणात्ता से यदि कोई सिद्ध करता है तो उसको पक्षपात कहा जा सकता है। लेकिन अन्य ग्रंथों की प्रमाणात्ता से सिद्ध करने पर कोई भी नहीं बोल सकता। इस लिये हम अब भी भगवान महावीर के समकालीन हुए बीड़ों के मत में या उनके रचित ग्रंथों में क्या प्रमाण है सो दिखते हैं।

बीड़ों में मम्मिकाविकाय नामक एक महत्वपूर्ण ग्रन्थ है और वह उनके मत में बहुत प्रमाण माना जाता है। इस ग्रन्थमें भी भी महावीर प्रभु का विषय आया है सो देखिये—

“निगारठो आनुसो नाथपुतो सध्वरु, सव्व-
वस्सवि अपरिसेसं यायु वस्सनं परिज्जावति ॥

—मम्मिकाविकाय

अर्थ—निर्गन्ध रूपधारी नाथपुत्र (भी महावीर भगवान) सबके सर्वदर्शी और सम्पूर्ण पदार्थों को देखने वाले और जानने वाले थे। तथा च—

निगारठो नाथपुतो संधी चेव गणी च गणाचार्यो
च ज्ञातो पसस्सी तिसकरो साधुसंमतो बहुजनस-
रससू चिरपव्वजितो जट्ठातो बयो अनुपत्त ॥

—दीर्घनिकाय

अर्थ—निर्गन्धसिंहधारी ज्ञातपुत्र (बीड़ ग्रंथों में भी महावीर तीर्थंकर को ज्ञातपुत्र कहते हैं। कारण भगवान नाथवंश में उत्पन्न हुए थे। इस लिये उनको ज्ञातपुत्र कहा है) संघ के नेता हैं, गणाचार्य हैं, दशों विषय के प्रयोक्त हैं। विरोध विख्यात हैं। तीर्थंकर हैं। बहुत मनुष्यों द्वारा पूजित हैं। अनु-
भव शील हैं। बहुत कल से साधु अवस्था को

करते आ रहे हैं और अधिक वयसात हैं।

इन उपरोक्त आचार्यों पर प्रोफेसर साहब अपनी तरह से विचार करके देखें कि अजैन ग्रन्थों में भी प्रमाण की महिमा गावी गयी है।

सम्राट चन्द्रगुप्त भी दिगम्बर हो गया था

बाबकान्द ! आप विचार कर देखिये कि इतिहास में क्या प्रमाण है ? सम्राट चन्द्रगुप्त ने भी दिगम्बर दीक्षा धारण की थी। वह सम्राट क्षत्रियों में श्रेष्ठ गिना जाता था।

“महवधरेसु चरिमो जियदिकसं धरदि चन्द्रगुप्तो य-
ततो मउवधरा पुणव्वज्ज शोव गिरहंति ॥१५८१॥

—त्रिलोकप्रकाश

अर्थात्—चन्द्रगुप्त राजाने भी जिनदीक्षा (दिग-
म्बर दीक्षा) धारण की थी। वही सम्राट अन्तिम
पुत्रा अशोक उसके बाद सम्राट रूप जैन राजा ने
दिगम्बर दीक्षा धारण नहीं की। ऐसा भावार्थ
निकलता है। चन्द्रगुप्त दिगम्बर था इस लिये
यूनानी राजदूत मेगास्थनीज ने भी कथन किया है।
देखो—

सम्राट चन्द्रगुप्त ने अपने वृद्धसाम्राज्य में ६०
मुनियों के विहार और दिगम्बर धर्मे का प्रचार शुरू
कराया था। उसी समय में १२ वर्ष का महापुत्रका
पड़ा था। तदनन्तर रघुनाथों की उत्पत्ति हुई।
इस प्रकार इतिहास भी दिगम्बरत्व की ही निमोक्तता
तथा प्राचीनता को मज्जी भाँति सिद्ध करता है।

इन सब बातों का प्रोफेसर साहब को निर्मल
मुक्ति से विचार करके अपने हठबाद को छोड़ना
चाहिये।

हे बाबको ! अब प्रोफेसर हीरान्न कवित
सम्प्रवर्तित से मुक्ति के विषय में विचार करना

बहरी है। वास्तविक रूप से विचार दिया जाय तो भी भगवती आराधना में विगम्बर मुनि को कपड़ा लेने का विधान कहीं पर भी नहीं मिलता है। क्योंकि विगम्बर मुनि के या निर्मेष के अपवाद मुनि और औत्सर्गिक मुनि अलग भूत है। पूम्ब भी शिव-कोटि आचार्य ने दो तरह के किंग का कथन किया है। एक अस्सर्गकिंग और दूसरा अपवादकिंग।

अस्सर्गकिंग के विषय में आपने स्पष्ट किया है कि वह विगम्बर अवस्था धारण करते हैं। इसमें किसी तरह का भी विवाद नहीं है। अब विवाद है सो अपवादकिंग के विषय में है। वास्तविक रूप से देखा जाय तो अपवादकिंग का चिन्ह सम्प्रत्य रूप का है। अपवाद शब्द का अर्थ 'स्मृत्य' है। अपवाद का धारक कपड़े—बाधा होता है। और कपड़ा त्याग करने की शक्ति जिनको नहीं रहती या कर्माधान है नम्यरूप को धारण करने की शक्ति जिनमें नहीं है। कर्माशील है। उनके कभी भी विगम्बर दीक्षा देने की शक्ताका नहीं है। तथा शीत आचार्यों को सहन करने की भी शक्ति जिनको नहीं है ऐसे पुण्यों को भी विगम्बर दीक्षा देने की शक्ताका नहीं है।

उसी तरह जिनके किंगदोष है अर्थात् किंग के कई दोष माने गये हैं जिसका पुनर्निर्माण चिन्ह-किंग अति दीर्घ हो, अति लघु हो, अत्यन्तशील हो या जिसके अग्रभाग में चर्म न हो तथा वृक्ष (अंड) वृद्धि होकर मोड़े हुये हों वे दोष जिसके पुनर्निर्माण में हैं उस पुनर्निर्माण विगम्बर दीक्षा देनेकी शक्ताका नहीं है। ऐसे पुण्यों को वैराग्य होने पर उनको दीक्षा दे सकते हैं लेकिन विगम्बर दीक्षा नहीं दे सकते। उनके भुक्तक दीक्षा का परेष्टक दीक्षा दे सकते हैं। और

भुक्तक—वेल्सकों को ही अपवाद मुनि कहते हैं ऐसा उनका दूसरा नाम है।

जो विगम्बर दीक्षा लेकर पुनः कपड़ा लेना है वह भ्रष्टपणा है। ऐसे भ्रष्टपने से कभी भी निर्मेष मुनिधर्म नहीं रह सकता है। इस लिये जो कोई विगम्बर दीक्षा लेकर फिर भी कपड़ा लेगा सो भ्रष्ट है। जो ऐसे कपड़े लेकर 'मैं मुनि हूँ' ऐसा समझेगा तो उस मुनि को मिथ्यात्वी कहना चाहिये। वेल्स विधान भी भुत्सागराचार्य ने बदमाशुत की टीका में लिखा है।

“अपवाद—वेपथरजपि मिथ्यादृष्टिः क्रातव्यः। कोर्ष अपवाद—वेपः ? मंडुपपुर्णो भी वसंत कीर्ति-श्यामिना भाषितः काले किञ्च-न-... नम्यरूपं दृष्ट्वा उपसर्गं कर्षयित्वा तेन चर्चावैज्ञानिकसमये लक्ष्मीसा-राधिकेन शरीरमाच्छाद्य चर्चावैज्ञानिकं कृत्वा पुनस्त-न्युज्जाति सोऽपवाद वेपः इति।

शायद प्रोफेसर साहय इसको प्रमाण न मानते हों क्योंकि यह बदमाशुत प्रत्य भी कुम्भकुम्भाचार्यकृत है। श्री कुम्भकुम्भाचार्य ने निर्मेषता के ऊपर बहुत जोर दिया है। और प्रोफेसर साहय का कहना है कि निर्मेष (विगम्बरत्व) के विषय में व्यादा मतभेद और भगवा भी कुम्भकुम्भाचार्य ने किया है। उनके पहिले नहीं था। ऐसा स्पष्ट लिखा है। इससे एक ध्वनि प्रतीत होती है।

प्रो० हीरकाजी कुम्भकुम्भाचार्य के पहिले हुये आचार्यों का प्रमाण वादा मानते हैं। और कुम्भ-कुम्भाचार्य के बाद के होने वाले आचार्यों को प्रमाण कोटि में नहीं मानते हैं। लेकिन प्रोफेसर साहय को श्री कुम्भकुम्भाचार्य के पहिले आचार्यों के वचन का प्रमाण इस अपवाद किंग में देना चाहिये था लेकिन

नहीं दिक। क्योंकि जैन विगम्बरों में अपवादक्षिण धारी विगम्बर मुनि मानने की प्रथा अभी तक नहीं है तो फिर कुम्भकुम्भाचार्य के पहिले कहां से मिलेंगे। श्री कुम्भकुम्भाचार्य ने तो स्पष्ट तरह से कहा है कि जो विगम्बर दीक्षा लेकर लिखतुपसम्रा भी यदि परि-मह पास रखेगा तो वह निगोद में जायगा इतना स्पष्ट कल्लेक होने पर तो फिर उनके आम्नाय के मुनि लोग वा आचार्य कपड़े धारण करने की आज्ञा देकर उनको अपवादक्षिणी कहने की बिकल प्रथा कभी भी नहीं निकाल सकेंगे। यदि कारखबरा वहां किसी ने कहा भी है कि मरहम दुगं नगर में मुनियों के ऊपर उपसंग हुआ और मंचनायकने कपड़े धारण करके फिर उसको छोड़ा। ऐसे आपत्तिप्रसक्त में करने से अपवाद वेच मानो ऐसा कहा है। लेकिन मुनिमें अपवाद वेच मानना मिथ्यात्व है ऐसा प्रमाण पदमाधुव में है।

अपवाद वेची मुख्यक ऐस्तकों को और कपड़ा-धारी आर्थिका को कहते हैं। ऐसा स्पष्ट कल्लेक है देखो मेवाही कुल आचमचार वा सागरधर्माधुत आदि ग्रंथों को। इन ग्रंथों से पता लगता है कि अपवाद वेच करते ऐस्तकमुखकारि हैं यदि अपवाद-राज्य का अर्थ विगम्बर मुनि ऐसा कथनर महण कर के विचार करने पर अच्छी तरह से जुझाया हो सकता है। विगम्बर दीक्षा लेने पर कपड़ा महण करना दोष है वा नहीं? यदि दोष नहीं है ऐसा मानोगे तो श्री आदिकों को महण करने पर भी दोष नहीं आना चाहिये। यदि कहोगे दोष नहीं है शिर्षे कपड़ा के कारण का शरीर वाचार्थिक सह्य करने की शक्ति न होने के कारण वा ज्ञानान दोष के कारण कपड़ा लेने से दोष नहीं ऐसा मानोगे तो श्री

में उसी तरह बच जाता है। कमवासना दखनेकी शक्ति न होने पर श्री रख ले तो भी दोष नहीं होना चाहिये क्योंकि दोनों अंग में कमजोरी का हेतु समान है।

उसी तरह मुषापरीवह सहन करने की शक्ति नहीं है तो रात को भूल लगने से रात को का क्षिण जाय तो भी दोष नहीं आवेगा क्योंकि कमजोरी का हेतु वहां पर उपस्थित है। उसी तरह कमजोरी वा शक्ति का अभाव वा रोगाधिक हेतु मानने में अनर्थ के वे हेतु विद्यमान हैं फिर आधक और मुनि के दो अर्थ भी क्याप सिद्ध नहीं होंगे। प्रोफेसर साहब आप पढ़ें हैं अनपढ़ नहीं हैं थोड़ा मनीषा का उपयोग करके विचार करो फिर जैनशास्त्र में उत्सर्गक्षिण और अपवादक्षिण का कथन करो।

प्रोफेसर साहब ! आप तो श्री कुम्भ-चार्य के बाद के आचार्य को प्रमाण न मानते हुये भी भगवती आराधन की टीका जो कि श्वेताम्बराचार्य कृत है, का प्रमाण देकर मुनिको कपड़ा रखनेका विधान करते हैं ऐसे प्रश्न को जो कि अर्वाचीन ऐसे विज्ञापचार्य श्वेताम्बर कृत है कैसे प्रमाण माना है ? वह समझ में नहीं आता।

कपड़ा धारण करने से मानसिक अचरितन होता है वह अच्छी तरह से श्वेताम्बर और विगम्बर दोनों ग्रंथों को मान्य है। श्वेताम्बर ग्रंथ भी इस बात को स्पष्ट रूप से प्रमाणित करते हैं कि कपड़ा रखनेसे कपड़े के ऊपर मोह रहता है। इस लिये चिन्ता रहती है। उस चिन्ता से अच्छी तरह से लप भी नहीं होता है। मन्त्री निरपक्ष दृष्टि नहीं होती है। निरपक्ष दृष्टि के अभाव से सम्मन भी नहीं होता वह अच्छी तरह से जानो। देखो श्री हरिमहेश्वरि

की ने अपने प्रकरण सन्मोच में उल्लेख किया है ।
कीचो व कुम्हार कोचं लम्बह पठिमाह जलमयलोह
लो वल्लोचो हिंसा वंचह कठिपट्टमरुजे ॥

—सन्मोच पृ० १४

अर्थ—अपने समय के कुलपुत्रों के स्वरूप
वर्णित हुये श्री हरिमय सूरि ने उपरोक्त गाथा में
बतलाया है कि कसौच दुर्बल समय कोच नहीं करते
प्रातः न करते शर्माते हैं, शरीर पर का मल
उतारते हैं, पैरों में जूता पहनकर चलते हैं और
मित्र प्रयोजन कटि बन्ध बांधते हैं ।

उक्त व आचारंगसूत्र—

(१) जे अचेले परिदुसए तस एं भिक्कुस
एण एवं भवइ । परिजिजे मे वसं, वत्थे जाइस्सामि
सुणं जाइस्सामि, सुइं जाइस्सामि, संधिस्सामि सि-
विस्सामि वांका सिस्सामि, परिहरिस्सामि पाउण्णि-
स्सामि ॥३६१॥

अर्थ—जो साधु ब्रह्म नहीं रखता है उसे वह
किन्ना नहीं होवी कि मेरा ब्रह्म फट गया है, दूसरा
ब्रह्म मांगना पड़ेगा, सूत्र मांगना पड़ेगा, सूई मांगनी
पड़ेगी, ब्रह्म खीन पड़ेगा, पहनना पड़ेगा इत्यादि ।

तथा च—

अनुवा तत्त्व परकर्मतं मुञ्चो अचेलां तण्णकासा
कुसंति सीयकासाकुसंति तेऊकासा कुसंति वंसमसक
कासाकुसंति एगयरे अजयरे विरुक्कये कासे अहिया
सेति । अचेले सावधीयं आगममाणे तवेसे अमिसम-
वसागए भवति ॥३६१॥

अर्थ—ब्रह्मरहित रहने वाले मुनियों को कदा-
चित्त सुखपंडे, ठंडो, ताप लगने, हांस मच्छर वगैरह
का कष्ट-सहन पड़े ऐसा करने से निष्कापिक्त तप-
स्वरत्न प्राप्त होती है ॥ तथा च—

अहेवं भगवता पवेदितां तमेव अमिसमेव
सम्भवतो सबकाय-समत्मेव सममिजाणिया ॥३६२॥

अर्थ—अतः जो भगवान् ने कथन किया है
उसी को समझकर त्यों का त्यों सब जगह समझकर
जानते रहना चाहिये । आचार्य-इस गाथा सूत्र से
भगवान् ने नम्र (ब्रह्मरहित) होकर तपस्वर्षा करने
का उपदेश दिया है इससे साफ मात्स्य होता है ।

फिर किस महात्मा ने ब्रह्म सहित मोक्ष मिलाने
का विधान किया है वह प्रोफेसर साहब को विचार
करके उत्तर देना चाहिये । वह महात्मा सर्वज्ञ था
या असर्वज्ञ था । किसी ब्रह्मचारी मुनि ने अपना
पवित्र भाव पुष्ट करने के लिये जित्ना दिया होगा ।
लेकिन ब्रह्मसे मोक्ष होने का कोई भी सम्प्रदाय कथन
नहीं करता तो भी हीराब्राह्म सरीके पठित विद्वान्
ब्रह्म सहित मोक्ष मिलता है ।' ऐसा क्यों कहते हैं
समक में नहीं आता ?

अनुवा तत्त्व परकर्मतं मुञ्चो अचेलां तण्णकासा
कुसंति, सीयकासा कुसंति, तेऊकासा कुसंति, वंस-
मसगकासा कुसंति, एगयरे अजयरे विरुक्कये कासे
अहिया सेति । अचेले सावधीयं आगममाणे तवे-
से अमिसमजागए भवति । अहेतं भगवता पवेदितां
तमेव अमिसमेव स सम्भवतो स वत्ताए समत्मेव
सममिजाणिया । ४३४

अर्थ—बाद लग्ना को जीव सकल हो तो अचेला
(नम्र विगम्बर) ही रहना वैधे रहते हुये सुख स्वर्ग
शीत, ताप, हांस, मच्छर तथा अन्य भी जो अचेला
परीवह आर्षे उन्हें सहन करना । ऐसे करने से अनु-
पाचिकता-व्याधि रहित तप होता है । अतः वैशा-
भगवान् ने कहा है उसी को समझकर ब्रह्मके ऊपर
भ्रष्टा न करके त्यों बने त्यों सब जगह समझ समझते

द्वय दान ॥४१२॥

ऐसे अनेक स्वयं में दिगम्बर बनने के लिये उपदेश दिया है। तथा दिगम्बर होकर पुत्राकादि कष्टों पाकर फिर केवलज्ञान प्राप्त करने की कष्टों ऐसे श्वेतान्धरीय प्राचीनतम ग्रन्थों में भी उल्लेख है फिर इस दिगम्बरीय निर्गन्ध नन्मात्र से मोक्ष मानने में श्रोतस्वर साहच को अगस्त क्यों ? क्या श्वेतान्धरीय ग्रन्थों में भी आपकी भ्रम नहीं है। यदि भ्रम हो तो विचार करके देखो।

ब्रह्मसिंह से मोक्ष न होते हुए भाव सिंग से ही मोक्ष माना है जो भी प्रमाण देखिये। श्वेतान्धरीय प्राचीनतम और हमारे श्रोतस्वर साहच को प्रमाणभूत भी लक्ष्मणाधिगम भाष्य में देखिये—

“सिंह-भीपुंनपंसकानि प्रत्युत्पन्नभावप्रज्ञापनीय-
स्वावेदः सिद्धयति । पूर्वभावप्रज्ञापनीयस्यान्तर-
परचा-ज्ञातकस्य परंपर-परचा-ज्ञातकस्य च
प्रिभ्यो सिंगेयः सिद्धयति ।

सिंहो-परचा-विचक्षण उच्यते । ब्रह्मसिंह भाव-
सिंह-प्रतिपत्तिः । प्रत्युत्पन्नभावप्रज्ञापनीयस्यासिंहः
सिद्धयति । पूर्वभाव-प्रज्ञापनीयस्य-भावसिंहं प्रति
स्वसिंहो सिद्धयति । ब्रह्मसिंहं त्रिविधं । स्वसिंहम-
न्वसिंहं शुक्तिनिमित्तं तस्यति अर्थः । सर्वस्तु भाव-
सिंहं प्राप्तः सिध्यति । पा० ४४८

अर्थ—सिंह के तीन भेद हैं स्त्रीसिंह, पुंस्त्रीसिंह और नपुंसकसिंह । प्रत्युत्पन्न भावप्रज्ञापनीय नवकी अपेक्षा से वेद रहित असिंह की सिद्धि हुआ करती है। किसी भी सिंह से सिद्धि नहीं होती। पूर्व भावप्रज्ञापनीय में भी दो भेद हैं एक अनन्तर पञ्चत कुचिह्न और परम्परा पञ्चाकर्षक। दोनों ही अपेक्षा से तीनों सिंहों से सिद्ध हुआ करती है।

सिंह के विषय में दूसरे से भी भेद है। वे भी तीन भेद हैं ब्रह्मसिंह, भावसिंह और असिंह। इनमें से प्रत्युत्पन्न नवकेषा से असिंह ही सिद्धि को प्राप्त हुआ करता है। पूर्वभाव प्रज्ञापनीय के अपेक्षा भावसिंह की अपेक्षा से स्वसिंह से ही सिद्धि होती है। ब्रह्मसिंह से तीन भेद हैं स्वसिंह, अन्वसिंह और गृहसिंह। इनकी अपेक्षा से ब्रह्मयोग्य सम-
ग्न चाहिये। किन्तु सभी भावसिंह को प्राप्त करके सिद्धि को प्राप्त हुआ करते हैं। तथा—

भाष्ये—सिंह-प्रत्युत्पन्नभाव-प्रज्ञापनीयस्य स्वद-
गतवेदः सिध्यति नास्ति अल्पबहुत्वं । पूर्वभावप्रज्ञा-
पनीयस्य सर्वस्तोका नपुंसकसिंहं सिद्धः स्त्रीसिंह
संख्या संख्येगुणाः पुंस्त्रीसिंहं सिद्धत्वं संख्येयः यः ।

अर्थ—सिंह की अपेक्षा से जीवों का अल्पबहुत्वं इस प्रकार समझना चाहिये। प्रत्युत्पन्न भाव प्रज्ञा-
पन नव की अपेक्षा तो सिद्ध होते हैं वे अपेक्ष (वेद रहित) ही होते हैं। अवयव सिंह की अपेक्षा उन का अल्पबहुत्वं नहीं कहा जा सकता है। पूर्व भाव प्रज्ञापन नव की अपेक्षा से न्यूनाधिकतम का बखुन किया जाता है। सबसे कम नपुंसकसिंह वाले हैं उनसे संख्यात गुणो स्त्रीसिंह सिद्ध हैं। उनसे भी पुंस्त्रीसिंह वाले संख्यात गुणो हैं।

हे बाबको ! इन उपरोक्त श्वेतान्धर प्रमाणभूत वाक्य से भली भाँति सिद्ध होता है कि सिंह के दो भेद हैं ब्रह्मसिंह और भावसिंह। भावसिंह से मुक्ति मानते हैं। ब्रह्मसिंह से मुक्ति मानते हैं पर पूर्वभूत नैगम नव की अपेक्षा से। जब भूतनैगम का भूतपर्याय कर्णों की अपेक्षा लगाते हैं तो ब्रह्मकी और भावकी आदि भेद भी मानना पड़ता है उसी से एक ही ब्रह्मसिंह में तीनों वेदों की स्थिति मानने में कोई

विरोध नहीं आता साथ में अवैदी भी माना है इससे और कोई खुलासा करने की जरूरत नहीं है। क्योंकि भेद नव की जहां प्रवृत्ति होती है। वहां पर कोई भी तरह से एक द्रव्यलिङ्ग में भावत्रयलिङ्ग मानने में विरोध नहीं आता यह अच्छी तरह से जानना चाहिये।

जहां पर भेद-प्रभेद की नीति होती है वहां पर ही भावलिङ्ग और द्रव्यलिङ्ग की व्यवस्था होती है। द्रव्य जन्मभर एक होता है और भाव हर क्षण में बदलने वाला है। वे दोनों सापेक्ष हैं। द्रव्य आभयी है और भाव आभय है। द्रव्य शाश्वत है और भाव (पर्याय) नाशवान्त है। द्रव्य एक बार होता है, पर्याय अनेक बार होते हैं। इन विषयों का छोड़कर विचार करने में विनोदवाचक होगा।

श्वेताम्बर ग्रन्थों में भी द्रव्यलिङ्ग में मुक्ति नहीं मानी, भावलिङ्गमें मानी है। वह जो भूत नैगमनया-पेक्षामं, साक्षात् अवैद में ही है। ऐसा ही दिगम्बरीय ग्रन्थों में भी मौजूद है। यह सिद्ध है इस लिये इस में कोई विरोध नहीं है।

साक्षात् सप्रत्यक्ष लिङ्ग में मुक्ति नहीं यह स्पष्ट कथन है फिर भी इत में यदि सप्रत्यक्ष में मुक्ति मानी जाय तो श्वेताम्बरों के स्वकीय आगम में पूर्वापर विरोध आता है। इस लिये श्वेताम्बरी भी इत छोड़कर निष्पक्षता में अपने ग्रन्थों को देख लेंगे तो किसी तरह का विवाद न होगा। अपेक्षा युक्ति को छोड़कर एकांतवादी बनना भी ठीक नहीं। जहां ली को अरहन्तादि होने की योग्यता नहीं है, पुला-कादि ऋद्धि भी नहीं हो सकती है तो फिर योग्यता की अपेक्षा को ठुकराकर एकात्मपक्ष लेना ठीक नहीं है। एकात्मपक्ष में समुद्र वरूप का निर्णय नहीं होना

श्वेताम्बरों ने नपुंसक को भी संव्याधिकारी नहीं माना है फिर नपुंसक सिद्ध कहाँ से आवे ? इस प्रश्न पर विचार करने में द्रव्यसंबन्ध का निवेद्य किया है। द्रव्यलिङ्ग और भावनपुंसक को ही मोक्ष जाना सिद्ध होता है। यदि इस विषय को नहीं मानेंगे तो फिर नपुंसकको दीक्षा संव्यमभार की शक्ति नहीं। अतः वह छूटे गुणस्थान नहीं बढ़ सकता यह वचन मिथ्या ठहराया उसीतरह द्रव्यली को यदि मुक्तिमानेंगे तो प्रवचनसारोद्धार में कहा हुआ है 'अरहन्स चकि केसव' इत्यादि गाथा से ली योग्यता के विषय में लिखा हुआ असत्य हो जायगा।

अब भगवती आराधना का श्लोक देखें—

“अस्मिन् अम्बभिचारी दोसो तन्मृणगो विहारस्मि।
मोचिदु मंथाणगदो गेल्लेउजोसुग्गामयं लिगम ॥

अर्थ—जिसके तीन दोष औपधादिक ने नष्ट होने लायक नहीं हैं वह वास्तव में जब संस्तराज्य होता है तब वह असर्गलिङ्ग अर्थात् नभ (दिगम्बर) दीक्षा ले सकता है अन्य समय में उसको मना है।

यह उत्सर्ग और अपवातलिङ्ग का प्रकरण इस प्रकार है जो उन्कट भावक है या श्रुतलक गेल्लक है उमी को वानप्रस्थ, भिक्षु या आर्या अथवा अपवात लिङ्ग कहते हैं ऐसा “भी मेधावी भावकाचार, सागर-धर्मावृत्त तथा भगवती आराधना में आया है देखो मरण समय अपवात लिङ्गी निर्ग्रन्थ दीक्षा ले सकता है अन्यथा नहीं, ऐसा विधान किया है।

उम्मामिय लिगकस्स लिगमुम्मामियं नयं चेव।

अ-वावियलिगस्स वि पसत्थमुवसामियं लिगं ॥

अर्थ—जो सकल परिग्रह को त्याग कर दिग-म्बर बिन्दु रूप लिङ्ग को धारण करता है उसी को उत्सर्गलिङ्ग कहते हैं और दिगम्बर मुनि बनने की

जिनकी शक्ति नहीं थी और श्रुल्लक ऐल्लक अवस्था को धारण किया था उसे अपवादलिग कहते हैं। ऐसे अपवादलिगी उत्कृष्ट आवक को भक्तप्रत्याख्यान के समय में दिगम्बर मुद्रा धारण करना उचित है।

अब टीका भी देखिये—

यनीनां अपवादहेतुन्याय अपवादः परिग्रहः सोऽन्याभिः इति अपवादिकं लिगं यस्य सोऽपवादिक-
लिगः समर्थान्वितः आर्यादिः नन्यापि भक्तन्यक्तु-
मिन्द्रोर्गैस्सार्गिकमेवलिगं वर्णिनं।

अर्थान्—जिनके पास परिग्रह है समर्थ बिन्दु है ऐसे आर्यादि श्रुल्लक ऐल्लक भक्तप्रत्याख्यान के समय में निग्रंथना को धारण करें।

सागारधर्माभूत में भी लिखा है—

त्रिस्थानशेषयुक्तायाप्यपवादिकलिगिने।

महाभ्रताथिने दशालिगमौत्सर्गिकं तदा ॥

अर्थ—जिनको तीन स्थानों में दोष है अपवादिक लिग है और महाभ्रत की इच्छा कर रहा है ऐसे को दिगम्बर भ्रत देना ठीक है।

इसमें भी सिद्ध है जो अशुभ्रती है तथा महाभ्रत की इच्छा कर रहा है इस पद में अभी दिगम्बरदीक्षा नहीं ली है ऐसे आवक को अपवादलिगी कहते हैं। तथा च धर्मसंग्रह आवकाचार—

संस्थानत्रिकशेषायाप्यपवादिकलिगिने।

महाभ्रतेहिने लिगं दशार्दत्सर्गिकं तदा ॥४५॥

अर्थ—ऊपर के जैसा भाव है। अर्थान् अपवादिक लिग मानी उत्कृष्ट आवक है। तथा च

उत्कृष्टः आवको यः प्राक् श्रुल्लकोऽन्यैव सूचितः।

न चापवादलिगी च वानप्रस्थोऽपि नामतः ॥६॥

अर्थ—जो मैंने इसी ग्रंथ में उत्कृष्ट आवक श्रुल्लक का कथन किया है उसीको अपवादलिगी,

वानप्रस्थ इत्यादि नाम में कहते हैं। इस प्रकार अपवाद लिग का स्पष्ट प्रमाण दिया है।

अष्टाविंशतिकान् मूलगुणान्ये पांति निर्मलान् ॥

उत्सर्गलिगिनीं धीरा यतयन्ते भवन्त्यहो ॥२८॥

अर्थ—जो अष्टावीस २८ मूल गुणों को पालता है उसको उत्सर्गलिगी कहते हैं उसीको दिगम्बर यति कहते हैं। इस प्रकार खुजाता रूप में प्रमाण दिया है।

यदि दिगम्बर दीक्षा ले कर फिर कपड़ा धारण करने वाला हो। तथापि उसको अपवादलिगी कहें तो वह भ्रष्ट है, मिथ्याष्ट है। ऐसा वदप्रामृत में कहा है। यदि कपड़ा आदि परिग्रह रखता हुआ भी दिगम्बर संयमी कहलावेगा तो फिर ली आदि को धारण करने वाले आवक भी क्यों संयमी नहीं ठहरेंगे? इत्यादि अनेक प्रश्न खड़े होते हैं।

प्रोफेसर माहव ने सर्वार्थसिद्धि राजवार्तिक तथा श्लोकवार्तिकदि ग्रंथों को देखने को कहा है और सूत्र नम्बर भी दिया है कि अ० ६ सूत्र ४६-४७ इन दोनों सूत्रों में भी वस्तुपाग अनिवाय नहीं है। इस पर विचार करते हैं।

पुलाक मुनि को वस्तु या सम्बन्ध दिव्यान्ते हैं लेकिन सर्वार्थसिद्धि में राजवार्तिक में कहीं पर भी वस्तु लेने का विधान नहीं है। वस्तु पांचों ही द्रव्य लिग से निर्ग्रंथ है। शरीर संस्कार का अर्थ कपड़ा लेना नहीं है। शरीर संस्कार का अर्थ शरीर को तैलमर्दन करना है। उसी प्रकार राजवार्तिक में कहा है। देखो—

“एते पुलाकद्वयः पञ्च निर्ग्रंथविशेषाः”

ये पांचों ही पुलाकादि निर्ग्रंथ रूप के धारो हैं। इसी सूत्र की टीका रूप श्लोकवार्तिक में क्या कहा

है सो देखिये—

वक्ष्यादिप्रथमपश्चात्स्तोत्रे नेति गम्यते ।

वाक्याप्रथमस्य सङ्गादे इतं प्रथमो न नश्यति ॥२॥

ये वक्ष्यादिप्रथमपश्चात् निर्मन्थत्वं यथोदितं ।

मूर्च्छानुद्भूतनस्तेषां स्याद्यादौनेपि किं न तत्र

विषयग्रहणं कार्यं मूर्च्छां स्यात्तस्य कारणं ।

न च कारणविषयं जानु कार्यस्य संभवः ॥३॥

विषयः कारणं मूर्च्छा नत्कार्यमिति यो वदेत् ।

तस्य मूर्च्छादयोऽमरं विषयस्य न भिद्यन्ति ॥४॥

तस्मान्मोहोदयान् मूर्च्छां स्वार्थे यस्य ग्रहणतः ।

स यस्यास्ति स्वार्थं तस्य न निर्मन्थं कदाचन ॥५॥

इन उपरोक्त ६ श्लोकों में यह सिद्ध किया है कि निर्मन्थं मुनि कपड़ा नहीं ले जा सकता । जो व्यक्ति कपड़ा रखकर 'मैं निर्मन्थ हूँ' ऐसा कहेंगा तो आचार्य ने कहा है कि कौ आदि रखकर भी क्यों निर्मन्थ नहीं कहा जाय ? कपड़े लेने में मूर्च्छा या परिग्रह भाव नहीं होगा तो फिर कौ आदि ग्रहण करने में मूर्च्छा भाव नहीं होना चाहिये । इस प्रकार से फिर गृहस्थ और अनगारी ऐसे भेद हो ही नहीं सकते । तथा अन्नरंग में मूर्च्छाभाव आये बिना वस्त्र-ग्रहण बुद्धि नहीं होती । इस लिये जहाँ पर कपड़ों का ग्रहण है वहाँ पर मूर्च्छा भाव है इस लिये वे अन्नरंग और वाहरंग दोनों प्रकार से निर्मन्थ नहीं हो सकते । यदि मूर्च्छा—भाव न हो तो वस्त्रादिकों का ग्रहण कदापि नहीं होता । मूर्च्छा मोहनीय कर्मादयः में होती है । इन लिये कपड़े ग्रहण करने वाले को निर्मन्थ नहीं कहते यह सत्य है । श्वेताम्बरीय नवार्थाभि-गम शास्त्र में भी "मूर्च्छा परिग्रहः" इस सूत्र में कहा है कि 'वाक्याभ्यन्तरेषु द्रव्येषु मूर्च्छा परिग्रहः' अर्थात् वाहरंग और अन्नरंग द्रव्यपर्यन्त हैं । इन

के विषय में जो मूर्च्छाभाव है वही परिग्रह है ।

'इच्छा प्रार्थनाकामाभिलाषः कांक्षा गाढं च मूर्च्छा इति अनर्थान्तरम्' अर्थात् इच्छा प्रार्थना काम अभिलाष कांक्षा गृद्धि और मूर्च्छा ये सब एक ही अर्थ के वाचक हैं । भगवती सूत्र पेज नम्बर १२६ में देखो—

"निर्ग्रन्थः स वाक्याभ्यन्तरग्रन्थान् निर्ग्रन्थाः साधय इत्यर्थः ।"

अब प्रोफेसर साहब ! देखिये श्वेताम्बर ग्रन्थों से भी कपड़े लेने वाले परिग्रही ठहरते हैं । उनको निर्मन्थ नहीं कहते हैं । फिर दिगम्बर आम्नाय के लोक भला कैसे वस्त्र सहित को निर्मन्थ कहेंगे ? कदापि कदापि नहीं कहेंगे ।

प्रोफेसर साहब का दिया हुआ पंक्ति का अर्थ भी देखिये—

'निर्ग्रन्थलिङ्गं सप्रग्रन्थलिङ्गं वा सिद्धिभूतपूर्व-नयापेक्षया' ।

अर्थ - निर्ग्रन्थ लिङ्ग में मुक्ति होती है अथवा भूतपूर्वजन्य का अपेक्षा में सप्रग्रन्थलिङ्ग में मुक्ति होती है । यहाँ पर भूतपूर्वजन्य स्पष्ट रूप में साक्षान् सप्रग्रन्थ लिङ्ग में मुक्ति नहीं होती ऐसा ध्वनि कर रहा है इसे छोटे में छोटे बुद्धि वाले भी जान सकते हैं । फिर पंडित विद्वान् प्रोफेसर साहब को शंका कौसी ? यह समझ में नहीं आती ।

आगे जाकर प्रोफेसर साहब ने पृ. १८ बड़ी विचित्र पंक्ति लिखी है देखिये—

"इस प्रकार दि० शास्त्रानुसार भी मुनि के लिये एकान्तः वक्त्याग का विधान नहीं पाया जाता । हाँ कुन्दकुन्दाचार्य ने ऐसा विधान किया है, पर उसका उक्त प्रमाणग्रन्थों से मेल नहीं बैठता ।"

उपरोक्त वाक्य लिखने समय यह बात ध्यान में

नहीं रखी। जहाँ पर लेरा मात्र भी मुनिवों को कपड़ा धारण करने की कड़ी भी शाखाका नहीं है। निग्रन्थ कहने वालों के पास कड़वा नहीं रहता यह दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों ग्रन्थों से भली भाँति मिश्र किया है। सबका मुक्ति श्वेताम्बर ग्रन्थों में भी नहीं मिलती फिर भी इटामह से, मिथ्याधारणा से, दिगम्बर ग्रन्थों से सबका मुक्ति मानने की मान्यता प्रोफेसर साहब के मस्तक में कैसे आई ?

श्री कुन्दकुन्द को सारा संसार जानता है कि वह परम निर्मल चित्त के धारी थे, निष्कषायी अभ्यात्म-वेत्ता थे। ऐसी को भी अप्रमाण मानना युक्तियुक्त नहीं।

हे बाचकों ! श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने बस्तु स्वरूप का विश्लेषण कराया है। “मूर्च्छाभावमे निमल मन नहीं होता जो दिगम्बर होला का ग्रहण करके फिर भी यदि कपड़ा आदि लेगा तो भ्रष्ट होता है। इस लिये तिलगुत्रमात्र भी परिग्रह भाव को ग्रहण न करना चाहिये।” ऐसे आदर्श विधान करने वाले प्रायः स्मरणीय श्री कुन्दकुन्दाचार्य को अप्रमाण तथा कपड़ों को धारण करने वाले को तथा इतना परिष्कृत करने हुए भी स्वतः को निग्रन्थ मानने वालों को प्रमाणभूत माना है। धन्य है !

हे बाचकवर्ग ! श्री कुन्दकुन्दाचार्य साक्षात् परम निर्मल चारित्र्य को धारण करने वाले थे, परम उदार चित्त वाले, पवित्र मन वाले थे। उनके ग्रंथ को पढ़कर अजैन जनता भी शांतिरस में मग्न हो जाती है। असंख्य जीवों का कल्याण उनके ग्रंथों से हो रहा है ऐसे परम पवित्र मुनि का अवतार आगे कदापि नहीं आवेगा। यह सत्य है। श्री कुन्दकुन्द आचार्य के प्रति अन्य आचार्यों की क्या भावना थी

उस बात के लिये इन पंक्तियों को देखो—

मंगलं भगवान् बीरो मंगलं गौतमो गच्छी।

मंगलं कुन्दकुन्दाचार्यो जैनधर्मास्तु मंगलं ॥

अर्थात् मंगलमय कुन्दकुन्द को जगत में कितना ऊँचपद है सो बाचकवर्ग ही देखें—

इस प्रकार अच्छी तरह से श्वेताम्बर और दिगम्बर ग्रन्थों में अपवादलिङ्ग का स्वरूप तथा सप्रंथ मुक्ति के निरर्थक रूप वाक्यों को दिखाया है। और सिद्ध भी किया है कि निग्रन्थ लिङ्ग में ही मोक्ष होती है। अन्य लिङ्ग से साक्षात् मोक्ष नहीं होता है। साक्षात् निग्रन्थ लिङ्ग से ही मोक्ष होती है। ऐसा श्वेताम्बर ग्रन्थों की मान्यता भी दिखाई है। इस प्रमाण से बाचक भली भाँति जान सकते हैं कि प्रोफेसर साहब की भूल—भरी घुड़ किस तरह में उलझ हो गई है। प्रोफेसर जी द्वारा सम्पादित जो ध्वला ६ खण्डों में छपी है उसका शुद्धता भी करनी चाहिये। और लोगों को उनकी भूल दिखानी चाहिये क्योंकि बहुत जगह में उनमें उल्टा अर्थ किया है। जैसे—“मणुमिणी” शब्द का अर्थ योनिमयी ही किया है। ऐसी भूलों में बचना चाहिये योनिमयी शब्द का अर्थ व्यवहार में द्रव्यश्री बाचक से आता है। क्योंकि योनि जिसको हो उसको ही योनिमयी कहते हैं। लेकिन मणुमिणी शब्द का अर्थ द्रव्यपुलिङ्ग में भावश्री जैसा होने को मणुमिणी कहते हैं। इस प्रकार शब्द में बहुत अन्तर है। श्री नेमिचन्द्र सिद्धांत चक्रवर्ती ने भी द्रव्यपुलिङ्ग वाले और भाव से जीवेद वाले को ही मणुमिणी नाम से कहा है प्रमाणभूत कर्मकांडमें देखो।

केवली कवलाहार

हे बाबको ! अब कम प्राप्ति 'केवली कवलाहार' करने हैं या नहीं? इस विषय पर विचार करना जरूरी है। प्रोफे० साहब ने लिखा है केवली को ११ परीपद होते हैं उन परीपद में से क्षुधा परीपद, पिपासा परीपद, शीत-परीपद, उष्ण-परीपद, दशमशक्ति-परीपद, चया-परीपद, शय्या-परीपद, यथ-परीपद, रोग-परीपद, मृण्मयी-परीपद और मल-परीपद ये ११ परीपद केवलीभगवान को वेदनाय कम उदयक कारण होते हैं। यह आमदुमान्वासी विरचित तन्वायंमूत्र में बताया है।

प्रोफेसर साहब की तन्वायंमूत्र पर जिस प्रकार भ्रष्टा है उसी प्रकार इस सूत्र पर भी भ्रष्टा है। और इस भ्रष्टान के साथ जनता के सामने इन परीपदों का होना और केवली भगवान का कवलाहार करने या विधान कर रहे हैं। लेकिन उमी मन्थ में केवली भगवान के चार घाति यमों का नाश होने पर केवल ज्ञान होता है। ऐसा श्वेताम्बर ग्रन्थों में भी मान्य है। देखो श्री नभामय तन्वायंमूत्राभिगम अध्याय १०वां मूत्र नम्बर १ ले में बताया है कि चार घाति यमों का नाश होने पर केवलज्ञान होता है। वह चार घातिकर यत्न हैं—ज्ञानावरण, दशनावरण, माहनीय और अन्नराय इन चारों का पूर्ण नाश होने पर ही केवल ज्ञान होता है। अन्नराय कर्म के पांच भेद हैं—दान, लाभ, भोग, उपभोग और वायं (सामर्थ्य) इन पांचों का अभाव केवली भगवान को है। यह श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों सम्प्रदाय वालों को मान्य है।

जिस भगवान को अन्नराय कर्म का नाश होने पर अन्नवायंस्व गुण प्रगट होता है। वह कुछ

कार्य करता है या अकिञ्चित्कर होता है? यह प्रथम विचारने की जरूरत है। श्वेताम्बर और दिगम्बर इन दोनों ग्रंथों के आधार से विचार करते हैं। अनन्तवीर्य में अनन्त धैर्यशक्ति होती है। और कोई किसी भी तरह से वह वायंस्वपणा का अभाव या कम नहीं हो सकता। श्री केवली भगवान को किसी पर-पुद्गल आदिक बन्धु के आधीन होना सम्भव है क्या? नहीं। इतना सामर्थ्यशाली आत्मा शारीरिक क्षुधा या पिपासा के आधीन कैसे होगा? जिसकी अनन्त शक्ति नहीं, जिसको पर बन्धु पर प्रभुत्व रखने की शक्ति नहीं वही पुरुष शारीरिक शक्ति के आधीन हो कर क्षुधा में व्याकुल होता है, पिपासा से व्याकुल होता है। उमी तरह उपरोक्त वेदनीयजन्य परीपद के आधीन होगा। लेकिन अनन्त शक्ति जिसकी प्रगट हो गयी है ऐसे बलवान आत्मा को किसी शारीरिक विकार के आधीन होने की मान्यता हास्यास्पद एवं अव्यक्त बाधित है। क्योंकि अनन्त शक्तिशाली आत्मा का व्याकुल होना अव्यक्त बाधित नहीं मानते क्या?

अनन्त शक्तिशाली व्याकुलित कभी नहीं होता। यदि व्याकुलितपणा मानोगे तो अनन्तशक्तित्व के साथ विरोध आता है क्योंकि शक्ति कुछ काम की नहीं ठहरेगी। इस लिये हमारे प्रोफेसर साहब को इतना मान्य होना चाहिये कि अनन्त शक्तिधारी केवली भगवान क्या क्षुधा के, पिपासा के या शीत-उष्ण आदि ऐन्द्रियिक विषय-आधीन त्रिकाल में सम्भव है क्या? यदि मूर्ख विचार करेंगे तो सब आप ही समझ सकेंगे कि अनन्तवीर्य का धारी कभी भी शारीरिक वेदना के आधीन नहीं हो सकता वह केवली शारीरिक, वाचिक और मानसिक वेदना के आधीन

नहीं होता। आजकल जिनकी धैर्यशक्ति ज्यादा है ऐसे व्यक्ति भी श्रुवा परीषद् को जीतने वाले होते हैं फिर क्या अनन्तवीर्यधारी केवली भगवान श्रुवा के आधीन होगा? यह कैसे सम्भव है कोई विद्वान् मनुष्य ऐसा नहीं मानेगा।

हे बाबको! अनन्त सुखी केवली भगवान को भूख से व्याकुलित होने की मान्यता दांपत्युक्त है। जिस केवली भगवान को अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख और अनन्तवीर्य ऐसे अनन्तचतुष्टय माना है। और यह अनन्तचतुष्टय की मान्यता श्वेताम्बर दिगम्बर दोनों सम्प्रदाय को मान्य है। तथापि श्वेताम्बर लोग अपने दुराग्रह के कारण केवली भगवान को भूख त्याग, शीतलिकों में काकुलित मानते हैं यह कितनी भूल है और ऐम शास्त्र श्रवचन बाधा से बाधित होने में प्रामाणिक नहीं है। ऐसं दूषित शास्त्र में क्या लाभ होगा? कुछ भी नहीं। एक तरफ अनन्तसुख की तथा अनन्त भाक्ति की मान्यता दूसरी ओर श्रुवादिकों में दुःखी मानना कितना विरोधी वाक्य है यह स्वयं वाचकवग जान सकते हैं। तथा श्रवचन बाधित, श्रामिद्वान् बाधित पूर्वापर विरोध सहित अनेक दुष्ट दावां में युक्त है। जिनके आत्मिक गुण घाति का नाश होने पर आत्मिक गुणों में अपूर्णपना मानना कहां तक युक्तियुक्त है?

शंकाकार—ज्ञानावरणादि चार घाति कर्मों का नाश होने पर केवलज्ञान होता है ऐसा श्वेताम्बरों ने माना है या आप ही कपोलकल्पित लिख रहे हैं।

उत्तर—ज्ञानावरणादि चार घातिकर्मों का नाश होने पर ही केवलज्ञान होता है ऐसा श्वेताम्बर-मान्य श्री तत्त्वार्थाभिगम सूत्र में ही लिख रहा है। आप

को प्रमाण चाहिये तो ये लो प्रमाण—

मोह कयाज्ञानदर्शनावरणांतराय कयाच केवलं। अध्याय १० सूत्र ॥१॥

अर्थ—मोहनीयकर्म का नाश होने पर ज्ञानावरण दर्शनावरण और अनन्तराय तीनों का नाश होता है। अर्थान—घातिकर्म का नाश होने पर केवली होता है। इस केवली को अनन्तज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख और अनन्तवीर्य ये सब प्रकट होते हैं। इस प्रकार श्वेताम्बरों की मान्यता है फिर इनके प्रस्थाधार में हमारा कथन है या नहीं यह आप को देख लेना चाहिये।

शंकाकार—केवलज्ञान होने पर भयरहितता है या नहीं? तथा विचार रहित है एवं नहीं? या केवलज्ञान होने पर फिर चारित्र धारण की आवश्यकता क्या है?

उत्तर—केवलज्ञान होने पर पूर्ण रूप में निर्भयता होती है क्योंकि भयकर्म मोहनीय कर्मादय में आता था और केवलज्ञान होने पर मोहनीय कर्म का पूर्ण अभाव होने में पूर्ण निर्भयता आती है और ज्ञान पूर्णरूप में स्थिर रहता है। केवली विचार नहीं करते, विचार छद्मस्थायित्वा में होता है। केवलज्ञान होने पर चारित्र धारण करने की आवश्यकता नहीं रहती। जो केवली होने पर भी चारित्र धारण करने की आवश्यकता मानते हैं तथा पुत्र त्रियोग स माता पिता दुःखी होंगे समझकर विचार करके चारित्रधारण नहीं करते ऐसा मानना मूर्खता है। तथा केवली केवलाहार मानना, केवली होकर के घर में निवास मानना निरा तत्त्वज्ञान में शून्य है। केवली होकर कबूतरों का मांस खाना भूल है। केवली होने पर अतिसार रोग होना मानना भी आतियुक्त

है। केवल ज्ञानी को नाटक खेलने की मान्यता भी मूल्यपने से भरी है। ऐसी अनेक विपरीत बातें उनके शास्त्रों में बहुत जगह आती हैं। ऐसी भूल-पूर्ण बातें लिखने वाले किस अवस्था में थे यह चे ही या सिद्ध भगवान ही जानें।

केवलज्ञान होने पर भूख लगती है या नहीं ?

केवलज्ञान होनेपर केवलियोंका शरीर परम आ-
हारिक होता है। इस लिए केवलों को भूख लगने की
कथा दूर रही। परन्तु उनके समवशरण में रहने
वालों को भी भूख-प्यास आदि नहीं लगती यह
देखिये तिलोक प्रकाश में—

आतंकरोग मरणुपभीषो वैरकामथाभां ।

नग्राभृदृपीडाभो जिनमाहपेणग हयनि॥६३३॥

अर्थ—समवशरण में भी जिनेश्वर के माहा-
त्म्य से आतंक, रोग, मरण, उद्विग्न, वैर, कामबाधा
मृत्पा (पिपासा) क्षुधा पीडा ये नहीं होती हैं।

जब परमाहारिक देहधारी केवली भगवान के
समवशरण में जाने वाले भव्य लोगों को भी पीडा
नहीं होती फिर मृद परमाहारिक देहधारी केवली
भगवान को क्षुधा कैसे लगती तथा प्यास कैसे
लगती। यह वाचकवर्ग ही देख लें।

यह तिलायपण्णत्तो ग्रन्थ बहुत प्राचीन है। भी-
रनिवृषभाचार्य ने इसको बनाया है। उनके वाक्य
हमारे प्रोफेसर माहव मानेंगे या नहीं सो परमात्मा
जाने। श्वेताम्बरीय ग्रंथों पर उनका ज्यादा
भरोसा है। दिगम्बर ग्रंथों को आप प्रमाण मानते
हैं या नहीं यह मैं पहले ही बत चुका हूँ।

भी रति वृषभाचार्य बहुत प्राचीन काल के आ-
चार्य हैं। उनके ग्रन्थपर विश्वास नहीं रहा तो फिर
कौन बना ममक सकता है ? कोई भी नहीं। अब

श्वेताम्बरीय ग्रन्थाधार से बेरारि होते हैं या नहीं ?
यह भी देखिये—

श्वेताम्बरीयों में प्रकरण रत्नाकर या प्रवचन
मारोठार नामक चार भाग का बड़ा भारी मोटा
और सिद्धांत का प्रतिपादन करने वाला ग्रंथ है उस
ग्रन्थ के तीसरे भाग में ११७ पृष्ठ पर केवलज्ञान हो-
जाने पर प्रगट होने वाला अतिशयो में से तीसरे
अतिशय से क्या क्या नहीं होते और क्या होता है
सो अच्छी तरह से वर्णन किया है। यह वाचकवर्ग
के सामने जैसे का तैसा रखता हूँ। देखिये—

पुष्पभवगेगादि नवसर्मां नयहोई बेराई ॥४४॥

अर्थ—केवलज्ञान उत्पन्न होने के पहले के
जिनने रोग हैं वे सब रोग केवलज्ञान होने पर उप-
शान्त होते हैं। और नये रोग नहीं होते हैं। और
न वैर रहता है। तथा केवली भगवानके पास जाने
वालों में परस्पर वैरभाव नहीं रहता। अब इसमें
जो आदि शब्द पड़ा है वह क्या कथन करता है सो
देखिए। क्योंकि जब सब रोग उपशम होते हैं
और उनके नये रोग नहीं होते तो फिर यहाँ पर एक
प्रश्न होता है कि—

शंका—श्वेताम्बरीय ग्रन्थों में यह भर्माया है

कि—“एकादश जिने ।” इस सूत्र की टीका में ११
परीषदों का नाम है उनमें रोग परीषद् भी है।

देखिये—“नग्राभृदृपीडामा, शोतोपपा, ईशमराक,
चर्यागत्या, बधरोग, मृगमृश, मल, परीषदाः।”

अर्थ—११ परीषद् वेदनीय कर्मांश जन्म मानते
हैं। फिर दूसरे ग्रन्थ में केवली भगवान के अति-
शयो के कथन करने समय में रोगान्तिकोंका न होना
या ब्रह्मणिकों का न होना मानते हैं। ऐसे उनके
परस्पर विरोधी वाक्य हैं। देखिये इनका भिन्नान

ही रोगों है। जिस तरह केवली भगवान को रोग आदि होने का असंभव मानते हैं वही तरह से श्रद्धा आदि वेदना का न होना भी मान्य होना चाहिये। इन दोनों में भी वेदनीयकर्म का अस्तित्व समान है।

मुनि आत्माराम जी कृत जैन तत्वादर्श नामक ग्रन्थ है उस ग्रन्थ में भी ३४ अतिशयों के वर्णन समय में बांधे प्रत्युपर चौथा पांचवां अतिशय यों लिखा है। “मादं पञ्चास योजन प्रमाणचारों पामे उपद्रव रूप अत्रादि रोग नहीं होते तथा परस्पर धर-भाव भी नहीं होता।”

श्री केवली भगवान को असाता और साता वेदनीय कर्म का उद्भव होने पर भी रोगादि नहीं होनेकी मान्यता श्वेताम्बर ग्रंथों में भी पाई जाती है। अब प्रोफेसर साहब जी! विचार कीजिएगा कि श्वेताम्बरीय मान्य ग्रंथोंमें भी जब केवलज्ञान उत्पन्न होनेमें पदले के सारे रोग नाश होते हैं, और नये होते नहीं फिर ऐसी मान्यता क्यों हो गई है सो उत्तर दें।

जिस आधारपर आपने श्वेताम्बर दिगम्बर दोनों सम्प्रदायों में भेद नहीं दिखाने हुए श्वेताम्बरीय मान्यता पर आरुढ़ होकर दिगम्बर मान्यता का खण्डन करने की भावना की है लेकिन दिगम्बरीय मान्यता बड़ी गम्भीर स्वरूप की है। कोई भी व्यक्ति यदि अनेक प्रकार भी दिगम्बर सिद्धान्तको असत्य बतलाने की चेष्टा करे तो भी सफल नहीं हो सकता।

हमारे दिगम्बर जैन मान्यता के अनुसार मोहनीय कर्म की प्रचलता से ही वेदनाय कर्म दुःख देने की सामर्थ्य रखता है। मोहनाय का नाश होने पर यद्यपि वेदनीय कर्मद्वय रहता है तो भी असाता वेदनीयकर्मका उद्भव दुःख नहीं देता। यद्यपि सातामें असाता कर्म रहे तो भी उद्भव के समय में सातारूप

परिणत होकर उद्भवमें आता है यह नियम है। इस लिये यद्यपि असाता वेदनीय कर्म सत्ता में रहते हुए भी कायकारी नहीं होता इस लिये कारण की अपेक्षा (असाता वेदनीय की सत्ता रहने से) ११ परीपहों का अस्तित्व बनाया है उसका हम निषेध नहीं करने लेकिन वे ११ परीपह कुछ कायरूप में परिणत नहीं होते क्योंकि मोहनाय कर्म का नाश होने में असाता का उद्भव नहीं होता यदि आप कर्म संक्रमण को नहीं मानते तो दूसरी बात है लेकिन कर्म का संक्रमण जगह = होता है यह आप जरूर जरूर कर्म—सिद्धान्त के ग्रन्थमें देख लें। तत्वाथमृत्तमे वेदनायजन्म परीपहों का विधान कारण की अपेक्षा में है और श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने जो केवली भगवान को भूमिप्याम आदिकों का निषेध किया है वह कार्य की अपेक्षा मुख्यतामें किया है। दोनों मिलान्त ठीक हैं। दोनोंमें किसी तरह से भी दोष नहीं है, यह आप अच्छी तरह से जान लो।

जब तक अपेक्षावाद को प्रमाण नहीं करोगे तब तक आपको जैन सिद्धान्त समझ में नहीं आवेगा। इस लिये आपको जो शंकाये हुई हैं वह अपेक्षावाद का छोड़ने से ही शंकाये उत्पन्न हुई हैं। हां, श्वेताम्बरों ने एक तरह तो केवल भगवान को ‘केवलज्ञान होने पर २५॥ योजन उपमगं वेदनादि नहीं होते’ ऐसा माना है। फिर महावीर भगवान पर गोशाल के द्वारा तेजो लेखा झंझटा, दो भायुओं का मृत्यु होना तथा महावीर भगवान का पंचविश रात्रि होना। ऐसी दोनों कथनका का बातें लिखीं वे महा मात्स्य पड़नी हैं। ये प्राण घातक उपमगं कैसे हुआ? यदि उपमगं मानोगे तो अतिशयों की मान्यता में क्या फायदा है? ऐसे अनेक दुष्ट दोष आते हैं वे

थोड़ा निष्पक्षरूपसे विचार करके देखनेमें सब मालूम हो जायेंगे।

दिग्गम्बर ग्रंथों में कार्य कारण की अपेक्षा से अनेक जगह बणों मिलता है वेद्यो वेद का उदय एवं गुणस्थान तक रहता है फिर मिथुन रूप मेथुन कार्य एवं तक माना है क्या ? नहीं। उसी तरह वेदनीय वा उदय माना है तो भी केवली भगवान को माता वेदोदय होता है। असाता वेदोदय नहीं। तथा असाता वेदनीय कर्म की उदाहरणा में भूष्य लगने की मान्यता है उसे भी देख लेना जरूरी है। अर्धवरता में कभी भी विचार मिथ नहीं होते हैं, यः अर्द्धी तरह में जानो। तदनुसार भी कुन्कुन्दादि सब आचार्यग्रंथों ने केवली के असाता वेदनीय की उदाहरणा नहीं मानी है इसलिये उन्हें भूष्य भी नहीं लगती ऐसा माना है।

दुसरी बात, जब परमार्थिक रूप शरीर केवली को माना है फिर भूष्य कहाँ में आवेगा ? तथा रोगादिकों की उत्पत्ति भी नहीं होगी ऐसी रचनाम्बरों के समान धात्री बात नहीं मानने यह ध्यान में रहने की जरूरी है। जैम महावीर को केवली भगवान भी मानते हैं और पेचिश का रोग होने का विधान भी करते हैं ऐसी विचित्र लीला दिग्गम्बरीय शास्त्रों में नहीं है। हाँ रचनाम्बरीय शास्त्रों में जरूर है।

श्री समन्तभद्र स्वामी ने बीतरागी मुनि को सुख दुःख का सझाव स्वीकार किया है जरूर, परन्तु वे मुनि मोहनीय का नारा करके केवली भगवान तो नहीं हैं। छठे गुणस्थान में रहने वालोंको (मुनियों को) सुख दुःखादिक अनुभव होता है कदाचित्त उनका निमित्त का भी स्वीकार करें तो भी पूर्ण बीतरागी भगवान तो नहीं बने। इस लिये आपका लिखना

अयुक्तिक से लिखा हुआ मालूम पड़ता है। उसका प्रकरण अच्छी तरह से देख लें अपने आप स्पष्ट मालूम पड़ेगा।

प्रोफेसर साहब जी को भी पदस्वरूपागम के सूत्र दिखाने हैं कि केवली को कबलाहार नहीं। देखिये सूत्र नम्बर १७६—

आहारा गृह्णन्त्य-गृह्णति जाय सजोगकेवलसि

अर्थ—आहार वाले जीव एकेन्द्रिय से लेकर केवली भगवान तक के सबजीव हैं। इस सूत्र में बतलाया है कि एकेन्द्रिय जीव आहार करते हैं तो वह कौन सा आहार करते हैं ?

उत्तर—आहार के छह भेद हैं। १-कबलाहार, २-लेपाहार, ४-उष्माहार, ४-मनसाहार, ४-कर्माहार और ६-नोकर्माहार ये छह आहार के भेद हैं। यहां पर किम आहार की अपेक्षा में आहार वाले जीवों का कथन किया है सो देखो। यहां पर नोकर्माहार की अपेक्षा में बगने किया है क्योंकि एकेन्द्रिय जीव तो कबलाहारी नहीं हैं। इस प्रकार उक्त सूत्र में जो आहार करने वाले जीवों का क्लेश है उन सब में कबलाहार घटित नहीं होता। क्योंकि एकेन्द्रिय जीवोंके कबलाहार नहीं। अतः यहांपर नो-कर्माहार की अपेक्षा में यह सूत्र है। ऐसा स्पष्ट भी धवला जी के टीकाकार कहते हैं। देखो—

अत्र कवल—लेपोष्ममनः-कर्माहाराण परित्यग्य नोकर्माहारो प्राप्यः। अन्यथा आहार—कालाविरहा-द्व्यां सह विरोधान् ॥

हिन्दी टीका अर्थ—यहां पर आहार राज्य से कबलाहार, लेपाहार, उष्माहार, मानसिक आहार और कर्माहार को छोड़कर नोकर्माहार का ही ग्रहण करना चाहिये। अन्यथा आहार काल और विरह

के साथ विरोध आता है ।

(हिन्दी टीका प्रोफेसर हीरालाल द्वारा सम्पादित है ।)

हे वाचकों ! विचार करो स्पष्ट रूप में श्री ध्वलाहार ने केवली को कवलाहार का निषेध करके सिर्फ नोकर्माहार की अपेक्षा से आहारक कहा है । फिर भी इटामह में प्रोफेसर साहब का केवली का कवलाहार मानना नितान्त भूल है । यदि इटामह में न मानें तो आगे के सूत्र का अर्थ किस तरह से पड़ित करेंगे ? देखो—

अथाहारा चतुसुद्धार्येषु विमोहगड-समावयणां केवलीणं वा समुप्यादगशाणं अजोगि-केवली सिद्धा चेदि ।

अर्थ—विग्रह गति को प्राप्त जीवों के मिथ्यात्व, सामादन और अविरत सम्यग्दर्श तथा समुद्घात-गत केवली संयोग केवली इन चार गुणस्थानों में रहने वाले जीव अजोगि केवली तथा सिद्ध अनाहारक होते हैं ।

इस सूत्र का अर्थ किस तरह में पड़ित करेंगे ? क्योंकि विग्रह गतिमें कर्माहार है फिर वे अनाहारक कैसे होंगे ? यह प्रोफेसर साहब को खुलासा करना चाहिये । आहारक और अनाहारक इन दोनों सूत्रों का अवरोध रूप से किस तरह नया अर्थ (आप कवलाहार या कर्माहारादिक की अपेक्षा से) करेंगे । यह स्पष्ट करना चाहिये । विगम्बर मान्यता में केवली को भूल नहीं लगती अतः उनके कवलाहार नहीं है ऐसी मान्यता है ।

अब श्वेताम्बरीय ग्रंथों से विचार करेंगे

श्री केवली भगवान के चौतीस अतिशय हैं उनमें चालकर्मों का नाश होने से ११ अविशेष स्वाभाविक होते माने हैं । जैन तत्त्वावर्षापुस्तक में '२५॥

योजन अवरादि रोग न होन्ते' ऐसा कबन आया है ।

फिर श्रद्धादि किस तरह होंगे ? यह प्रश्न है—

तथा जैन तत्त्वावर्षा पृष्ठ २६६ में अप्रमत्त नामक ७ वें गुणस्थान के विषय में लिखा है ।

कुर्वाणो मरुतासनेन्द्रियमनःश्रुतर्पनिद्राजयं ।

योऽन्तर्जल्पनि रूपेणाभिरसकृतत्वं समश्नस्यति ॥

अर्थ—वह अप्रमत्त साधु स्वासोच्छ्वास, आसन, इन्द्रियमन, भुधा, तृषा, निद्रा इनके ऊपर जय प्राप्त करके अन्नभक्ष्य में रमता है ।

इस तरह जब अप्रमत्त गुणस्थान में ही भुधा तृषा के ऊपर जय प्राप्त होती है तब १३ वें गुणस्थान में फिर भुधा और तृषा कैसे आवेंगी ? यह प्रोफे-साहब ही खुलासा करें ।

तथा पृष्ठ २७० पर प्रश्नोत्तर है सो देखें—

प्रश्न—किम वाग्ने अप्रमत्त गुणस्थानमें व्यवहार क्रिया रूप पट् आवश्यक नहीं ?

उत्तर—अप्रमत्त गुणस्थान में निरन्तर ध्यान के के सन योग में निरन्तर ध्यान ही में प्रवृत्त होता है । इस वाक्ते स्वाभाविक सहज नित्य, संकल्प विवक्ष्य-मात्रा के अभाव में एक स्वभाव रूप निमल आत्मा होती है । सो भावतीर्थ स्नान करके परमशुद्धि का प्राप्त होता है ।

यदाह—

दाहोचसमं तदहाह ज्ञेयं मलप्यवाहणं चैव ।

तिदि अहंछेहि एतत्तं तद्वा तं वृत्तं तत्त्वं ॥१॥

कोहमि उ निर्गाहिए दाहस्सोचसणं हवइ तित्थं ।

लोहम्मि उ निर्गाहिए तदहाह ज्ञेयं जाण ॥२॥

भाषार्थ—इन दो गाथाओं से यह निष्कर्ष निकलता है कि दाह का उपराम होने से तृषा का ज्ञेय (नाश) होता है । तथा कोध का उपराम करने से

वह का उपशम होता है और लोभ का निग्रह करने में तृप्ता का छेद होता है ।

इस प्रकार वह क्रोधादि कषायों का मन्द करने वाला द्वाहादिक तृप्ता आदि का नाश करता है । यहां पर द्वाह शब्दसे क्षुधाका अर्थ ग्रहण करना योग्य है ।

फिर जहां पर क्रोधादिक कषायों का पूरा नाश होकर जो केवलज्ञानी हो गया है ऐसे आत्माको क्षुधा तृप्तादिक दुःख कहां से आयेगे ? जो सम्पूर्ण राग द्वेषादिकों का नाश करके निरन्तर परमानन्द सुखका सेवन कर रहा है ऐसे निजात्म मुक्तसमय अनन्तभूरी केवली आत्मा को भूख (क्षुधा) और व्यासादि बहिर्गंग परवृत्ति कैसे होती है यह एक परमात्मा ही जाने । जहां पर महजानन्द, चिदानन्द, परमानन्द, अमनन्तसुख और अनन्त शान्ति है और वह भी निरन्तर धारावाही अखण्ड रूपमें, ऐसे केवलज्ञानी को भूख व्यासादि मानना बुद्धिमानोंको शोभा नहीं देता ।

पृष्ठ २७६ भी देखिये—

अभ्यासेन जिताहारोऽभ्यासेनैव जितामनः ।

अभ्यासेन जितश्चासां अभ्यासेनैवानिलजृष्टिः ॥१॥

अभ्यासेन स्थिरं चित्तं अभ्यासेन जितेन्द्रियः ।

अभ्यासेन परानन्दोऽभ्यासेनैवान्मदर्शनं ॥२॥

अभ्यासेनैव जितेन्द्र्यानिः शास्त्रस्थैः फलमस्ति न ।

भवेज हि फलैर्भृष्टाभिः पानीयप्रतिविधितैः ॥३॥

अर्थ—अभ्यास में ही जिताहारी होता है । अभ्यास में ही जितामनी होता है । अभ्यास में ही श्वास रोक लेता है, अभ्यासमें ही स्थिरचित्त वाला होता है । अभ्यास में ही जितेन्द्रिय होता है । अभ्यास में ही परमानन्दकी प्राप्ति होती है । अभ्यास में ही आत्मदर्शन होता है । अभ्यासहीन ध्यान से कुछ भी फल नहीं मिलता ।

इसके आगे अष्टम गुणस्थान का प्रकरण आता है और उसी गुणस्थान से शुक्लध्यान का प्रारम्भ होता है ।

उसी जैनतत्वादर्श में २७५ के पृष्ठ पर शुक्लध्यान के प्रारम्भ में बतलाया है ।

यशह—

आहारासननिहाजयं काङ्क्ष जितमयेय ।

भग्नभक्तियुथं अप्या उच्यते जिनवरिदेदि ॥१॥

अर्थ—आहार, आसन और निद्रा इनपर जय पाकर अपने आत्मा का ध्यान करते हैं ।

उपरोक्त आधाररूप प्रमाणों से यह तात्पर्य निकलता है कि जब भोग के चढ़ते समय में ही आहार आदिकों पर जय प्राप्त करता है । फिर केवली भगवान को क्षुधा मानना युक्तियुक्त नहीं है ।

कहा भी है कि—

“परमानन्दस्थो निमग्नः”

ऐसे परमानन्द समुद्र में मग्न होने वाले अखण्ड निजात्म सुख को भोगने वाले को फिर भूख व्यास कैसे सम्भव होते हैं ? कदापि सम्भव नहीं होते हैं ।

उपमर्ग और अपवाद दोनों का निश्चय

व्यवहार रूप से कथन

हे बाचको ! प्रोफेसर हीरालाल जी ने संयम और बन्धताग इन विषयों में जो रांका की है और अपवाद मार्ग का अर्थ मुनि को कपड़ा ग्रहण करने का विधान किया है । इसके ऊपर अच्छी तरह से निश्चय और व्यवहार इन दोनों नयों की अपेक्षा से या अन्तर्गंग और बहिर्गंग इन दोनों अपेक्षाओंसे एक विषयों पर विचार करेंगे । यह विषय बहुत गंभीर है विशेष विचार करके इस विषय को पढ़ो ।

“ओ भगवती आराधना ग्रंथ में मुनि के उत्सर्ग

और अपवाद भाग का विधान है जिसके अनुसार मुनि वक्ता धारण कर सकता है। देखो (७६-८३) गाथा।" इस प्रकार प्रोफेसर जी ने लिखा है इसपर विचार करने हैं।

हे बाचको ! भगवती आराधनाकी सारी गाथाएँ उद्धृत करना हूँ।

उत्सर्गवर्तिगकदस्स लिंगमुत्सर्गियं तयं चेव ।

अववावियलिंगस्माव पसत्थमुवसर्गियं लिंगं ॥७७॥

अर्थ—सकल परिग्रहों का त्याग किया है उसको उत्सर्गलिंग कहते हैं। और अपवाद यानी परिग्रह (बाह्य और अन्तरंग दो प्रकार के परिग्रह हैं) रहित जो है उनको अपवाद लिंग कहते हैं। दोनों में उत्सर्गलिंग प्रशस्त है अर्थात् योग्य है, अपवादलिंग अप्रशस्त यानी अयोग्य है।

जस्मवि अव्वभिचारी दोसो तिट्ठाण्णो विहारम्मि ।

सोदु संधारगदो गेहंओस्सुभियं लिंगं ॥७८॥

अर्थ—जिसको तीन दोष हैं जोकि औपधादिकमें दूर नहीं हो सकते। (ये दोष ये हैं—जिसका पुरुष-लिंग अस्थानशील हो, अतिलम्ब हो, अति छोटा हो, तथा वृष्य वृद्धि पाकर बड़े हो गये हों तथा लिंग के अग्रभाग में चर्म न हो।) ऐसे त्रिस्थान दोष बाला भी भक्त प्रत्याग्यान के समयमें उत्सर्गलिंगको ग्रहण करे। ऐसा कहा है।

आसवधे वा अप्पाउमो जो वा महहिजो हिरिमं ।

मिच्छजये सजये वा तस्स होउज अववावियं लिंगं ॥

अर्थ—जो भीमान है, लज्जावान है, तथा जिसके कन्धुगण मिथ्यासी हैं। ऐसे व्यक्ति को मरण समय यदि एकांत स्थान मिले तो उत्सर्ग-लिंग लेना ठीक है। यदि एकांत स्थान नहीं मिले तो अपवादलिंग रहना अच्छा है।

उत्सर्गलिंग का स्वरूप वर्णन

अचेतकं लोचो बोसट्टमरीरदा य पडिल्लिहणं ।

पसोदु लिंगकप्पो चटुव्विदो होदि उत्सम्भो ॥८०॥

अर्थ—अचेतक अर्थात् निमग्नता नग्नता या वक्ता रहितता, लोच करना, शरीर समस्वरहितता अर्थात् शरीर संस्कार रहितता और मयूरपिच्छ हाथमें रहना ये चारों उत्सर्गलिंग में होने हैं।

भक्तप्रत्याग्यान कालमें स्त्रियों को कौनसा लिंग है उत्तर कहते हैं।

इर्यादिय जं लिंगं दिट्ठं उत्सर्गियं व इदं वा ।

तं तह होदि हु लिंगं परिमम्वधि करंतीये ॥८१॥

भक्तप्रत्याग्यान के समय में (मरण समय) स्त्रियां पुरुष के समान एकान्त स्थानमें उत्सर्गलिंग धारण कर सकती हैं। यदि योग्यएकान्त स्थान न मिले तो उत्सर्गलिंग नहीं कहा है।

जलामाधराचिन्दकरणं जगपुत्रथादृष्टिन्दकरणं

गिहभाव विवेगांवि य लिंगमाहये गुणा हांति ॥८२॥

अर्थ—उत्सर्गलिंग वह यात्राका साधन रूप चिन्द है। मय लोचों को विश्राम पात्र है। संपूर्ण परिग्रहों का त्याग है इस लिये उत्सर्ग लिंगमें उपरोक्त गुण होनेमें उत्सर्ग लिंगो होना ठीक है (इसकी टीका लंबी चोड़ी है बाचक वग प्रथ में देखें बहुत सुलामा किया है।)

गंधरवाधो लायवपडिल्लिहणं च गदभयत्तं च

संमज्जणपरिहारो परिकम्मविषज्जना चेव ॥८३॥

अर्थ—प्रथत्याग प्रांतलेखन, गतभयपणा, संसर्गपरिहार ऐसे उत्सर्ग लिंगमें समाविष्ट है (विस्तार टीका में है देखो)

विस्सासकरं रुवं अणादरो विसयदेहमुक्खेसु ।

सकत्थ अणसम्बसदी परिसह अविवासना येव ॥

अर्थ—विश्वास-कर रूप है, विषयसुख से अना-
दरता होती है। सर्वत्र आत्मबराता प्राप्त होती है और
परिषद्-जयता आती है यह उत्सर्गलिंग में गुण है।

(विस्तार टीका में देखो)—

त्रिगुणपञ्चकं विरियायारो गगादिशोमपरिहरणं ।

इच्छेवमादि बहुगा अच्येलकके गुणा होति ॥२५॥

अर्थ—जिन प्रतिमा रूप (नम्रता) क्षीयाचारको
प्रगट करने वाला है। रागादि दोषों का परिहार
करने वाला है इत्यादि अनेक गुण अच्येलक में हैं।

(विस्तार टीका में देखो)—

इय सञ्च समिद्वरणो ढाणासणमयण गमण-
किग्यामु । गिगिगण गुणमुवगदो पग्गहिदं परक्क-
मदि ॥२६॥

अर्थ—अच्येलकता से समता रूप की वृद्धि होती
है। स्थान, आसन, गमन आदि क्रियाओं में भी
समता रूप की वृद्धि होती है। गुमि पालन करने
में सहायक होती है पराक्रम बढ़ता है और कर्मों की
निर्जरा होती है।

अपवादलिंग की शुद्धि होती है या नहीं ?

अपवादलिंगकदो विसयामन्ति अगूहमाणो य ।

णिदण्णगरहणजुत्तो मुग्गदि उअधि परिहरन्तो ॥२७॥

अर्थ—अपवादलिंग को धारण करने वाला भी
आग्निधारण करने की शक्ति न छिपाता हुआ निरा-
गर्हा युक्त होता हुआ सत्पूर्ण उपाधि को छोड़ देने से
कर्मों की निर्जरा कर सकता है।

इस प्रकार उत्सर्ग का तथा अपवादलिंग का
वर्णन समाप्त हुआ।

हे वाचको ! ब्रम्हकार ने अपवादलिंग कान्तिको
बन्ध सहित मुनि या मुनि होकर पुनः बन्धधारण
करने को नहीं कहा। अपवाद का अर्थ 'परिमल युक्त'

ही किया है। तथा एक और महत्व की बात यह
है कि कपड़ा धारण करके संयमी रहता है ऐसा तथा
मुक्ति को प्राप्त होता है ऐसा कहीं भी विधान नहीं
किया है। तथा समाधिकाल में उस अपवादलिंग
को छोड़ देने का उपदेश दिया है और उत्सर्गलिंग
में किनने गुण की प्राप्ति होती है यह दिखाया है।
वे गुण अपवादलिंगी को नहीं होते। यह भाव
अन्धी तरह से दिखाया है। अपवाद प्रशस्त नहीं
ऐसा कहा है।

यह स्पष्ट रूप से ७७ नम्बर गाथा में स्पष्ट किया
है। फिर उसका महत्व (अपवाद का महत्व) क्या
रहा। जो अपवाद या उपाधि या परिमल को नहीं
छोड़ता उसकी आत्मशक्ति धैर्यआदि नहीं बढ़ते।
स्पष्ट करके संयमपन की सिद्धि बहिरंग परिमल से
नहीं होती, यह दिखाया है। फिर अपवादलिंग का
क्या महत्व रह सकता है ? अपवादलिंगी निरन्तर
उत्सर्गलिंगकी इच्छा करता है। यदि अपवादलिंगमें ही
संनृष्ट होता गिर जाता है। तथा अपवादलिंगका अर्थ
मुल्लक गेल्लक आदि कपड़ धारण करने वाले को
कहा है यह मिथ होता है। क्योंकि त्रिस्थान दोष
जिसको है ऐस को दिग्गम्बर दीक्षा देने की शास्त्रका
कही है। सिफें समाधि (मरणकाल की समाधि)
समय में ही उसको दिग्गम्बर दीक्षा देना कहा है।
इसका तात्पर्य यही है कि वह भी अपवाद परिमल दोष
करने वाला है। इस त्रिये त्याग्य कहा है। यह
सूर्यप्रकाश जैसा बहुत स्पष्ट है। अब अपवादलिंग
और अपवाद मार्ग इनमें क्या अन्तर है ? सो
दिखाता हूँ—

हे वाचको ! प्रोफेसर साहब का मत ऐसा
दीखता है कि 'उत्सर्गलिंग और उत्सर्गमार्ग, अपवाद-

लिंग और अपवादमार्ग ये लिंग और मार्ग एक ही अभिप्राय है' यह ठीक नहीं है। लिंग में मुख्य अर्थ निकलता है 'बहिरंग में वेश या चिन्ह' अर्थात् बहिरंग जो वेश धारण करेंगे, उसे लिंग कहते हैं। और मार्ग अन्तरंग में होता है वह बाह्य दिखने वाला चिन्ह नहीं है। जैसे सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र्याणि मोक्षमार्गः इस सूत्र में मार्ग शब्द अन्तरंग परिणाम के रूप में आता है सभी प्रकार मार्ग और लिंग इनमें बहुत अन्तर है। यह प्रथम भेद मान्य करना जरूरी है। अब विचार करके देखिये कि श्री भगवती आराधनाकार ने उत्सर्ग लिंग और अपवाद लिंग ऐसे दो भेद किये हैं। प्रोफेसर साहब ने उन को उत्सर्गमार्ग और अपवादमार्ग समझकर अपने लेख में मार्ग शब्द लिखा है यह युक्ति युक्त नहीं है। उत्सर्गमार्ग मोक्षमार्ग है।

इस प्रकार आत्म परिणाम रूप परिणामन करने वाले विद्युत् परिणाम वाले ही मोक्ष जाते हैं। बहिरंग दिगंबर दीक्षा यह स्वास निमित्त कारण है। इस बाह्य चिन्ह या वेश या लिंग से अन्तरंग परिणाम कैसे है, यह जान सकते हैं। यद्यपि बहिरंग में कपड़ा लेनेका कार्य होता है तो भी अन्तरंग मुच्छाभाव जरूर है। बिना मुच्छाभाव से बाह्य पदार्थ-आदान रूप किया नहीं होनी। यह अच्छी तरह में सब आचार्यों ने कथन किया है। हां, बहिरंग पदार्थों का सम्पूर्ण रूप से त्याग किया है तो भी आध्यन्तर रूप उपाधि कभी कभी रह सकती है। इस लिये इस में विषम-व्याप्ति को सिद्ध किया है तबनुसार जहां जहां पर बहिरंग कपड़ा आदि परिग्रहों को धारण करने की क्रिया है वहां पर जरूर अन्तरंग उपाधि है। जहां जहां बाह्य परिग्रह है वहां वहां अन्तरंग

परिग्रह या उपाधि जरूर है। बहिरंग परिग्रहों के साथ अन्तरंग परिग्रह का कार्यकारण सम्बन्ध जरूर है। बाह्य परिग्रह कार्वरूप है, अन्तरंग परिग्रह कारण रूप है। बाह्य परिग्रहों का त्याग करने पर भी अन्तरंग उपाधि और दूसरे भी हो सकते हैं। वे उपाधि नाश होने पर मुक्ति मिलती है। ऐसा निश्चय है।

अब निश्चय और व्यवहार नब से उत्सर्गमार्ग और अपवादमार्ग दिखानेगे। इस विषय को कथ्यात्म पद्धति से या नीति से ही समझ लेना चाहिये। यह विषय श्री परमपवित्ररूप केवलज्ञान सहित श्री श्रीमन्धर के समवशरारण में प्रत्यक्ष विदेहस्थ मोक्षक कवली के दर्शन करके पवित्र बने हुए श्री कुन्दकुन्द आचार्यवर्य ने वर्णन किया है। देखो प्रवचनसार—

अन्तरंग मंथनरूप परिणाम का घात बहिरंग परिग्रह से होता है। यह अच्छी तरह से दिखाने हैं—
किं तन्निगत्थि मुच्छा आरंभो असंजमो तसः।
तथ परवर्त्तन्मि रदो कथमप्यामं पमाधरदि ॥२१

—अ० ३

अर्थ—बहिरंग परिग्रह के होने पर मन्त्र रूप परिणाम अथवा उस बाह्यद्रव्यभूत परिग्रह के लिये उद्यम से किया का आरम्भ यह उस ही मुनि के शुद्धात्मचरण रूप मंथन का घात कैसे न होवे ? अवश्य होवे। उस ही प्रकार जिसके परिग्रह है वह मुनि निज रूप से भिन्न परद्रव्यरूप परिग्रह में रागी होकर किस तरह अपने शुद्ध स्वरूप का अनुभव कर सकता है ? नहीं कर सकता।

आचार्य—वक्ष्यामिदिकों का और असंयम का अविनयभाषी सम्बन्ध है इस लिये इनका (वक्ष्य-

आदिक परिग्रह का) त्याग करने या होने पर संयम-
भव आता है ।

आगे किसी मुनि को किसी एक काल में किसी
एक तरह से कोई एक परिग्रह स्थाप्य है । ऐसा
अपवाद दिखाने हैं । देखिये—

छन्दो जेण ए विज्जदि गहणविममोसु सेवमानस्स
समणो तेण्हि बट्टु कालं सेसं विद्याणत्ता ॥२॥

—अध्याय ३

अर्थ—(सेवमानस्य) परिग्रह सेवने वाले मुनि
के (ग्रहणाविसंगं) ग्रहण करने में अथवा त्यागने
में (येन) जिस परिग्रह में (छन्दः) शुद्धोपयोग-
रूप संयम का घात (न विज्जते) नहीं हो (तेन)
उस परिग्रह में (अमगः) मुनि (कालं क्षेत्रं) काल
और क्षेत्र को (विज्ञाय) जान कर (इह) इस लोक
में (वततां) प्रवृत्त रहें तो कोई हानि नहीं है ।

भावार्थ—उत्सर्गमार्ग वह है जहाँ सब परिग्रहों
का निषेध किया है । क्योंकि आत्मा के एक अथवा
निज शुद्धात्मभाव के सिवाय परब्रह्मरूप दूसरा
पुद्गल द्रव्य नहीं है । इस कारण उत्सर्गमार्ग
परिग्रह रहित है । और जो विशेष रूप में अपवाद-
मार्ग है वह कालक्षेत्र के बरा किसी एक परिग्रह को
धरता करता है । इस लिये अपवाद भेद रूप है ।
यही दिखाने हैं । जैसे जिस समय कोई एक मुनि
सब परिग्रहों का त्याग कर परम वीतराग संयम को
प्राप्त होना चाहता है । वह मुनि किसी काल की
विशेषता में अथवा क्षेत्र की विशेषता से हीन-शक्ति
होता है तब वह वीतराग संयम दशा धारण नहीं
कर सकता है । इस लिये सराग संयम अवस्थाको
अंगीकार करता है । और उस अवस्था का बाह्य
साधन परिग्रह धारण करता है । उस परिग्रह को

ग्रहण कर तिष्ठते हुए मुनि के उस परिग्रह से संयम
का घात नहीं होता है । संयम का घात वहाँ होता
है जहाँ पर कि मुनि पद का घातक अशुद्धोपयोग
होता है । यह परिग्रह तो संयम के विरोधी भावों
के घात के दूर करने के लिये है । मुनि पदवी का
महकरी कारण शरीर है । और उस शरीर की
प्रवृत्ति आहार नीहार के ग्रहण त्याग से होती है ।
इस से संयम के घात के निषेध के लिये अंगीकार
करते हैं । इस कारण अशुद्धोपयोगमयी जो संयम
का घात है उसको दूर करने वाला परिग्रह है इस
लिये घातक नहीं ।

आगे जिस परिग्रह का मुनि के लिये निषेध नहीं
है । उसका स्वरूप दिखाने हैं ।

अप्यहि कृष्टं उवाच अपत्यगिरुजं अमज्जद्वयैहि ।
मृच्छादिजगत्तरिहं गणहदुसमणो अरिचि अप्पै॥

अर्थ—अपवाद मार्गी मुनि ऐसे परिग्रहको धारण
करे तो कुछ दोष नहीं । जो परिग्रह बन्ध को नहीं
करता, संयम रहित जनों को प्रार्थना करने योग्य
नहीं, ममता आरम्भ, हिंसादिक भावों की उत्पत्ति से
रहित है । और वह यद्यपि थोड़ा है ॥२॥

उत्सर्गमार्ग और अपवादमार्ग में स्वभाववर्ष
कौन सा है वह दिखाने हैं ।

कि किंचललोककं अपुण्णभवकामिणोप देहेषि
सगतं जिनवदिवा णिप्पडिकम्मस मुट्ठि ॥२॥

अर्थ—जिस मार्ग में मुनि पद का महकरी
शरीर भी परब्रह्मरूप परिग्रह जानकर आदर करने
योग्य नहीं है । वह भी ममताभाव से रहित होकर
त्यागन योग्य है । और भगवानने ममताभाव से
आहार विहारसं प्रवृत्ति होने का मना किया है । तो
उस मार्ग में शुद्धस्मरण के आभासी मुनि के अन्य

परिमह विचारा कैसा बन सकता है। ऐसा अरहत देव का प्रगट (निश्चित) अभिप्राय है। इससे यह बात सिद्ध होती है कि उत्सर्ग निष्परिमहमार्ग है। वस्तु का धर्म है। परिमह रहने से अपवादमार्ग वस्तु का धर्म नहीं है। इससे यह अभिप्राय निकलता है, कि उत्सर्ग मार्ग ही वस्तु का धर्म है। अब अपवाद मार्ग कौन से हैं वे दिखाते हैं—

उपकरणं जिगमगं लिगं जहत्वाद्भक्तमिदिभक्तिं ।
शुक्लवर्णं पितृविषयोमुत्तमययं च गिरिद्वि । २५ ।

अर्थ—भी सबेदा बीतगगदेव कथित निम्रेथ मोक्ष मार्ग में मुनि के उपकारी परिमह इस प्रकार हैं कि यथाजातरूप लिग, (निम्रेथ लिग) गुरुओं के तत्त्व-ज्ञान पूर्ण बचन, शुद्धात्मानुभवसे अनुभवी मुनियों के प्रति विनय और बचनात्मक सिद्धान्तों का पढ़ना ये अपवादमार्ग के परिमह हैं।

भाषार्थ—जिस परिमह का अपवादमार्ग में निषेध नहीं किया गया है वह सभी परिमह वांति अबस्था के सहायक हैं, इस लिये उपकारी हैं, अन्य परिमह नहीं हैं। उस मुक्ति के योग्य परिमह के भेद इस प्रकार हैं कि सब वस्त्र आभूषणादिक में रहित सहज स्वाभाविक सुन्दर यथाजात बाह्य द्रव्य लिग स्वरूप काययोग सम्बन्धी पुद्गल; यह तो एक उपकरण है। २-शुद्धात्मतत्त्व के बचनरूप पुद्गलों का महण परिमह है। ३-शुद्धात्मतत्त्व का अनुभव कर रहे हैं ऐसे साधु के प्रति विनय, ४-द्रव्यबचन रूप सिद्धांत का पढ़ना ये चार परिमह हैं। इस प्रकार उत्सर्ग और अपवादमार्ग का कथन द्रव्यरूप में किया है अब भावरूप उत्सर्ग और अपवादमार्ग का कथन करते हैं।

बाको वा बुद्धो वा समाभिगशे पुणो गिलाणो वा ।

चरिचरदु सज्जोमां मूलच्छेदो जया णइवदि ॥३०॥

अर्थ—बालक मुनि हो, बृद्ध मुनि हो, तपस्या से लिज्ज हुआ मुनि हो अथवा रोग से पीड़ित मुनि हो। ऐसा कोई भी मुनि हो, जिस तरह से अपना मूल संयम का वात न हो उसी तरह से अपनी शक्ति के अनुसार आचरण करे।

भाषार्थ—उत्सर्ग मार्ग वहां है जहां पर बाल, बृद्ध, स्वेद, रोगादि अबस्थायों में युक्त मुनि हो, परन्तु शुद्धाचरण तत्त्व का साधनरूप संयम का भंग (नाश) न हो उसकी रक्षा जिस तरह से हो उसी अति कठिन रूप अपने आचरण को करे वही उत्सर्ग मार्ग है। और जहां पर बालादि दशा युक्त हुआ शुद्धात्मतत्त्व का साधन रूप साधन का नाश न हो उसी तरह अपनी शक्ति के अनुसार कोमल आचरण करे ऐसा संयम पाले उसे अपवादमार्ग कहते हैं। इस तरह भाव की अपेक्षा में मुनि के उत्सर्गमार्ग और अपवादमार्ग ऐसे दो भेद हैं। विशेष जानना हो तो प्रवचनसार तीसरा अध्याय देख लें। वहां पर विस्तारपूर्वक है मैं ने संक्षेप रूप लिखा है।

भाषार्थ—भावरूप उत्सर्ग और अपवादमार्ग में दोनों में शुद्धात्मतत्त्व का नाश नहीं होता अपनी शक्ति के अनुसार उत्सर्गमार्ग बाला अति कठिन तपश्चर्या करता है, अपवादमार्ग बाला शुद्धात्मतत्त्व का नाश न करते हुये कोमल रूप आचरण करता है। इतना अन्तर है। दोनों ही बाह्य पर-द्रव्यपरिमह के त्यागी हैं। यह अच्छी तरह से जानना जी। इस भावरूप अपवादमार्ग में भी कपड़ों का या पात्रों का विधान नहीं है। यह बाचकवर्ग को अच्छी तरह से समझना चाहिए।

अब द्रव्यरूप उत्सर्गमार्ग और अपवादमार्ग में

क्या अन्तर है सो दिखाते हैं। उत्सर्गमार्गी द्रव्य-
रूप में बाह्यरूप परिग्रहों को त्यागता है और अपने
शुद्धात्मत्व के रसास्वाद में युक्त होकर अरुद्धी तरह
से अपना संयम पालन करता है। और अपवाद-
मार्गी मुनि संयम—विधातक सध पर—द्रव्यरूप वस्त्र
पात्रादिकों का ग्रहण नहीं करता तथा शुद्धात्म-संयम
साधन रूप जो निर्मितकार निर्ग्रथलिंग, गुरुवचन,
मिथ्यान्त शास्त्रवचन तथा शुद्धात्मतत्त्व सेवी महात्माकी
विनय इन चारों को धारण करता है। इनको
अपवाद यानी परिग्रह; क्यों कहा ? इसका उत्तर यह है
कि ये भाव निजात्मतत्त्वरत अवस्था रूप अद्वैतभाव
में निचली अवस्था के होने में उनको परिग्रह कहने
हैं और उन परिग्रहों का छोड़कर अद्वैतात्मतत्त्वमें रत
होने के लिये प्रयत्न रूप में नम्र रूपमें को धारण
करना यही इसका ध्येय होने में इन उपरोक्त गुरु
वचनादिकों को वह परिग्रह मानता है ऐसे परिग्रहों
का भी जहां त्याग्य भाव है ऐसी अवस्था में वस्त्र
पात्रादिकों का ग्रहण कैसे कर सयता है तथा करेगा भी
कैसे ? जहां पर निर्ग्रथलिंग का तथा गुरु उपदेश
को भी परिग्रह समझ रहा है और उनको भी छोड़-
कर अद्वैत आत्मतत्त्व में मग्न होने को इच्छा करता
है ऐसा महान संयमो पुरुष ही अपवादमार्गी
कहलाता है। अर्थात् अपवादमार्गी उपरोक्त परि-
ग्रहों का (गुरुवचनादिकों को) किसी काल, किसी
क्षेत्र निमित्त सं ग्रहण करता है तो भी उसे त्याग्य
समझता है उसमें ही रहकर सन्तुष्ट नहीं होता यह
ध्यान में रखने की बात है। और उत्सर्गमार्गी कभी
भी शुद्धात्म तत्त्व रूप संयम का नाश करने वाले
उपरोक्त को ग्रहण कभी भी नहीं करता यह ध्यानमें
रखने की बात है। वस्त्र पात्रादि को ग्रहण करने

वाला संयमी नहीं होता यह स्पष्ट रूप से कहा है वह
अरुद्धी तरह से जानना जी।

अब उत्सर्गलिंगी और अपवादलिंगी इन दोनों
में भी क्या अन्तर है सो दिखायेंगे।

उत्सर्गलिंगी निर्ग्रथलिंग में रहता है अथेलक
(नग्न) 'केशलोच, शरीर संस्कार त्याग और पिच्छ
ग्रहण ये चारों नियम से रहते हैं। और अपवादलि-
ंगी को त्रिस्थान दोष होने से दिगम्बर होने को अस-
मर्थ होने से "अपवाद" यानी परिग्रह कपड़ा या वस्त्र
कंपान भी ग्रहण करना है उसे क्षुल्लक ऐल्लक आदि
कहते हैं। वे मुनि अवस्था में (दिगम्बर अवस्था ले
कर फिर कपड़ा लेने) नहीं रहते यह सत्य है। अपवा-
दलिंगी भी सतत अपनी निदा गद्दा आदि करता हुआ
कब उत्सर्गलिंग को धारण करेगा यह भावना रखता
है। उस समय वह अपवादलिंगी अपवादलिंगी को
अरुद्धा न समझता हुआ उत्सर्गलिंग को उपादेय सम-
झता है। और अपवादलिंगी को हेय समझता है। फिर
मुनि को कपड़ा पात्र आदि धारण करने की आज्ञा
शास्त्र में (दिगम्बर शास्त्र में) कहां में मिलेगी ?
नहीं मिलेगी। कपड़ा लेना मुनियों को निषिद्ध है ऐसा
सिद्ध होता है। और जो अपवादलिंगी (कपड़े धारण
करने वाला) मुनि यदि यह समझे कि, इस वस्त्रपा-
त्रादिक परिग्रह को धारण करके शुद्धात्म संयम करके
मोक्ष को जाता है इस प्रकार उसकी बुद्धि रहेगी तो
उसे भ्रष्टलिंगी समझना चाहिये। यह स्पष्ट रूप से
भगवती आराधनाग्रंथ में तात्पर्य निरूपित है। श्री
भगवती आराधनाग्रंथ में लिखा है कि गाथा नंबर
८७ में स्पष्ट रूपसे कहा है कि अपवादलिंगी को धारण
करता हुआ भी निदा गद्दा आदि भावना से युक्त हो
कर भगवान में कब शुद्धात्मतत्त्व संयम करनेमें साधन

रूप उत्सर्गलिंग को धारण करेगा । ऐसी भावना स्पष्ट रूप से करके अपवादलिंग को हृदय समझता है । उसी तरह समाधिकाल में वह अपवादलिंगी अपने "अपवाद" सम्प्रत्य चिह्न को त्याग कर उत्सर्गलिंग को धारण करके ही समाधि में मग्न हो जाने की बात कही है इस लिये श्री भगवती आराधना में ही उत्सर्गलिंगी प्ररास्त और अपवादलिंगी अप्ररास्त कहा है फिर सबका मोक्ष की सिद्धि कहाँ से मिलेगी ? नहीं मिलेगी इस लिये कुन्दकुन्दाचार्यने साफ लिखा है कि दिगंबर होकर जो कपड़ा लेगा वह भ्रष्ट समझा जावेगा ऐसा लिखने पर ब्रह्मपात्रादिक तथा कंबलादिक रख कर निर्मोही कहलाने वाला तथा उस अवस्था से मोक्ष की मान्यता मानता है सो निम्न है यह विचार सत्य है । अपवादलिंगी यदि उस लिंग में उससे मंगुष्ट होकर रहे गा और उसी से मोक्ष मानेगा तो वह भ्रष्ट समझा जावेगा यह सत्य है । तात्पर्य यह है कि अपवादलिंग भी रह कर उत्सर्गलिंग की भावना करनी चाहिये । उत्सर्गलिंगी उत्सर्गमार्गी तथा अद्वैत आत्मस्वरूप में

तन्मय होकर मोक्ष को जानो यह भाव है ।

यह सब, शुभ भावना में लिखा है इसको अकट्टी तरह से पढ़ो और मनन करके मेरे लेख से मिले हुए गुणों को ग्रहण करो और दोषों का त्याग करो ।

— :(समाप्त) :—

इस लेख पर मेरी सम्मति—

इस लेख को मैंने पढ़ा है । यह लेख सुयुक्ति पूर्ण है, दिगम्बर सिद्धान्त को पुष्ट करने वाला है । की-मुक्ति आदि शंकास्पद विषयों को भली प्रकार निराकरण करने वाला है । मेरी सम्मति भी इसी तरह से है ।

जिनेश्वरदास जैन,
सरधना ।

(जैनधर्म भूषण, तीर्थभक्त, दैद्य शास्त्री)



१३

प्रतिष्ठाचार्य

श्रीमान पं० नमनलाल जी

तर्कनीय

कलकत्ता

* श्री बीतरगाय नमः । *

श्रीमान प्रोफेसर हीरालालजी एम० ए०

ने जो अपने विचार उपस्थित किये हैं उनका माराश निम्नलिखित है—

श्वेताम्बर सम्प्रदाय की मान्यता है कि जिस प्रकार पुरुष मोक्ष का अधिकारी है उसी प्रकार स्त्री है। पर श्वेताम्बर सम्प्रदाय की कुन्दकुन्दाचार्य द्वारा स्थापित आम्नाय में स्त्रियों को मोक्ष की अधिकारिणी नहीं माना गया। इस बात का स्वयं श्वेताम्बर सम्प्रदाय द्वारा मान्यताओं से कहाँ तक समर्थन होता है? यह बात विचारणीय है। कुन्दकुन्दाचार्य ने अपने ग्रन्थों में स्त्रीमुक्ति का स्पष्टतः निषेध किया है किन्तु उन्होंने व्यवस्था में न तो गुणस्थान चर्चा की है और न कर्मसिद्धांत का विवेचन किया है। जिस से उस मान्यता का शास्त्रीय चिन्तन शेष रह जाता है शास्त्रीय व्यवस्था से इस विषय की परीक्षा गुणस्थान और कर्मसिद्धांत के आधार पर ही की जा सकती है। तदनुसार जब हम विचार करते हैं तो निम्न परिस्थिति हमारे सम्मुख उपस्थित होती है। इस प्रश्न के अन्तर्गत ३ अवान्तर प्रश्न और तृतीय में असन्तोषजनकता और उसमें १-२-३-४ नम्बर के अवान्तर प्रश्न इन सब का उत्तर और फिर दूसरा प्रश्न संक्षेपी और बख्ताग, तीसरा प्रश्न केवली भगवान के भूल व्यासादि वेदना है।

इन तीनों मुख्य प्रश्नोंका उत्तर क्रमसे लिखने हैं—

स्त्रीमुक्ति

आपने लिखा है कि 'स्त्री मोक्ष की अधिकारिणी नहीं यह केवल श्री कुन्दकुन्द स्वामी की ही मान्यता है और कर्मसिद्धान्त के ग्रंथ गोम्मतसारादि के कर्ता आचार्य श्री नेमिचन्द्र मिद्धान्तचक्रवर्ती तथा श्री महाशास्त्र शट्सवणहागम धवलशास्त्र के कर्ता श्री पुष्प-दन्त तथा भूतबलि और टीकाकार श्री वीरमन आचार्य आदि की स्त्रीमुक्ति निषेध की मान्यता नहीं है केवल श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने ही पक्षपात में अपना सिद्धान्त गढ़ डाला है और उन्होंने ने व्यवस्था न तो गुणस्थान चर्चा में ही की है, न कर्मसिद्धांत को ही लिया है।'

इसमें यह ध्वनि निकलती है कि या तो वे कर्म-मिद्धान्त जानने ही नहीं थे या पक्षपात से कर्मसिद्धांत की उल्लास करके उनसे लिखा है। किन्तु ऐसे वाक्य कुन्दकुन्दाचार्य के लिये लिखना उचित नहीं, क्योंकि वे प्रातः स्मरणीय हैं, उन्होंने कलिकाल में धम की पताका फहराई है। शास्त्र पढ़ने की आदि में 'आं-कार' में मंगलाचरण में प्रतिदिन जिन्हें स्मरण करते हैं।

अब हम श्रीमान प्रोफेसर साहब की कृति और बुद्धि का परिचय देते हैं। आप लिखते हैं कि "मनुष्य और मनुष्यस्थियों के चौदहों गुणस्थान

बतलाये हैं और मनुष्यणियों को 'योनिमतो' शब्द से लिखा है ।" सब आचार्यों ने पञ्चम गुणस्थान के कथन में तो मनुष्यणी और तिर्यक्षिणी के कथन में योनिनी तथा योनिमती शब्द का प्रयोग किया है पर उपरले गुणस्थानों में योनिनी शब्द का प्रयोजन नहीं आया है । फिर जेई ओ शब्द आया हो वहां काल्पनिक समझना चाहिये । जब सब हो दिगम्बराचार्यों का स्पष्टतया निषेध है तब शब्द पर बहम करना उचित है । आपने मत्प्रकरण में ६३वें सूत्र पटम्बक्यागम का हवाला दिया है जि-के मूल के आचार्य भी पुष्पदन्त भूतबलि क्या लिखते हैं—

मानुषोऽपि प्रकृपणार्थमाह

मृ०—मनुष्याणाम् मिच्छाद्विद्विषासणसम्माद्विद्व-
द्वृणो सिया पञ्जतिआआं सिया अपञ्जतिआआ ॥६०

सम्मादिच्छाद्विद्वि अमंजदसम्माद्विद्वि संजदामंजद-
द्वृणो णियमा पञ्जतियाआं ॥६३॥

टीका—श्रीश्री०—दृष्टवसर्पिण्यां स्त्रीषु सम्य-
गृष्टयः किञ्चात्पणन् इति चेन्न उपपन्नं कुतोऽप्योयते ?
अस्मादेवापाद् अस्मादेवापात् त्रयस्त्रीणां निवृत्तिः
निदृश्येति चेन्न मवान्मत्वात् अभ्यासत्वात्—गुण-
स्थितानां संयमानुपपत्तेः ।

अथ—यहां कोई शङ्का करता है कि इस दृष्टा-
वसर्पिणी काल में मनुष्यणियों में सम्यगृष्टि नहीं
होने क्या तब आचार्य उत्तर देते हैं कि सम्यगृष्टि
होने है ।

यह शंका कैसे निरचय होवे । उत्तर—इसी
आये ग्रंथ से । फिर शंका- तो फिर मनुष्यणियों को
मोक्ष सिद्धि होनी चाहिये । तो फिर उत्तर
देते हैं नहीं, मनुष्यणियों को मोक्ष सिद्धि नहीं होनी
अवस्थास्थान कथा के उद्देश में बल सहित होने में ।

शंका—कि कपड़ा सहित होने पर भी भाव-
संयम होने में क्या बिरोध है फिर आचार्य उत्तर
देते हैं कि भावसंयम के अभाव का सहस्यरी बलावि
परिग्रह होने भाव संयम नहीं हो सकता ।

कथं पुनस्तासां चतुर्दश गुणस्थानानि इति चेन्न ।
फिर मनुष्यणी के चौदह १४ गुणस्थान कैसे
संभव । ऐसा प्रश्न होता है । आचार्य कहते हैं
भावस्त्रीविशिष्टमनुष्यगती तत्सत्त्वाऽविरोधान्
भावस्त्री विशिष्ट अर्थात् भावस्त्री मनुष्यणी के
१४ गुणस्थान मानने में कोई बिरोध नहीं ।

शंका—भाववेद नभमें गुणस्थान तक हो रहता
है फिर १४ गुणस्थान कैसे ?

भाववेदो वादरकपायाजोपयेस्तीति न तत्र चतु-
र्दश गुणस्थानानां सम्भव इति चेन्न वेदस्य प्राधा-
न्याभावात् ।

आचार्य कहते हैं कि उपर के गुणस्थानों में वेद
की प्रधानता नहीं ।

गतिभु न माराद्विनश्यति

समाधान—क्योंकि यहां पर वेद की प्रधानता
नहीं है किन्तु गति प्रधान है और वह पहले नष्ट नहीं
होती ।

वेदविशेषणायं गती न तानि सम्भवन्तीति चेन्न
समाधान—यद्यपि मनुष्यगति में चौदह गुण-
स्थान सम्भव हैं फिर भी उसे विशेषण से युक्त कर
देने में उसमें १४ गुणस्थान सम्भव नहीं हो सकते
हैं । (इति न) ऐसा नहीं है ।

२. समाधान—क्योंकि विशेषण के नष्ट हो जाने
पर भी उपचार में उस विशेषण युक्त संज्ञा को
धारण करने वाली मनुष्यगति में १४ गुणस्थानों का
सङ्काश मान लेने में कोई बिरोध नहीं आता ।

विन्देपि विरोधोऽप्यपरेण तद्रूपपदेशमावधान-
मनुष्यगौ वस्तुत्वाऽविरोधान् ।

इत्यादि ३३३ वें पृष्ठ में ध्वजशास्त्रकी सत्परूपणा
देखो—

आपने ६३ वें सूत्र के अर्थ में संयत गुणस्थान
और बढ़ा दिया है और १ की मंनानी लिख पृष्ठ के
नीचे लिख दिया है (१ अत्र मंजद इति पाठ शेषः
प्रतिभाति) यह मूल में नहीं है हिन्दी अर्थ में संयत
और बढ़ाया है, यह रसमें विष मिलाया गया है ।
तथा भी प्रबचनसार की अन्तचन्द्राचार्य कृत टीका
की हिन्दी लिखते हुये “माद्यन्त्र कर्त्रिय वैश्य ही जिन
दीक्षा मुनि दीक्षा के अधिकारी हैं” इसमें ‘सच्छुद्रा-
धिकः’ यह और मिलाया है । यहां पदच्छेदागम सूत्र
६३ वें में स्पष्ट ‘संजशसंजद्वारेण’ ऐसा पञ्चम
गुणस्थान तक ही लिखा है । जिसका आपने ‘मंयत
गुणस्थान में भी लिखा पर्याप्तिका होती है’ ऐसा
और लिखा है ।

अब समाज समझ लेवे कि प्रोफेसर हीरालाल
जी समाज को कैसा धोका देते हैं जिस ६३वें सूत्र के
अर्थ में द्रव्यकी को मोक्ष का निषेध लिखते हुए भी
कुन्दकुन्दाचार्य पर आरोप कर देते हैं कि इन ही ने
केवल क्षीमुक्ति का निषेध किया ऐसा सारे समाजमें
बिश्वास कराने का प्रयत्न करते हुये डरते नहीं, इसी
से आचार्यों ने लिखा है कि गृहस्थों को सिद्धान्तशास्त्र
बढ़ने का अधिकार नहीं । अपने अभिप्राय को पुष्ट
करने के लिये सूत्रों में विष रखने लग गये ! इन्होंने
ने बहुत सी बातें ध्वजशा टीका में अनुचित लिखी हैं,
मैंने पत्र दिया था मुझे उत्तर भी नहीं दिया ।

आपको पदच्छेदागम टीका में अपनी कलम से
द्रव्य की को मोक्ष निषेध लिखकर भी ऐसा लिखना

शोभा देता है क्या ?

आपने लिखा है कि कुन्दकुन्दाचार्य ने व्यवस्था
से न तो गुणस्थान चर्चा की है न कर्मलिखतका ही
विश्लेषण । सो विचारने की बात है कि अर्थात्म
ग्रन्थ में शुद्ध द्रव्य के विश्लेषण में अशुद्ध द्रव्य की
गौणता रखते हुये कथन किया है तो भी उन्होंने क्या
कुछ भी छाड़ा है ? श्रीप्रबचनसार में उन्होंने संकल
रूप से सब कुछ कहा है—

आगमहीनां समस्तोऽप्येवैषां परं विचार्यादि ।

अविज्ञाणतोऽद्वैतसंबेदि कस्मादपि धर्मिणम् ॥३३॥

प्रबचनसार पृ० ३२१ की टीका में लिखा है—

परात्मपरमात्म—ज्ञानशून्यस्य तु द्रव्यकस्मार्थः
शरीरादिभिस्तत्त्वतयैः मोहरागद्वेषभावंश्च तद्रूप-
माकलयतां बध्यधनकविभागाभावात् मोहादि-द्रव्य-
भावकस्मैकां कपणं न सिद्ध्यन्ति ।

आगम हीन अर्थात् कस्मैसिद्धांतहीन माधु पर
द्रव्य और परमात्म स्वरूप विद्वत् रूप ज्ञानहीन साधु
मोह राग द्वेष भावों के साथ अपनी आत्मा का,
अपने भावों का मानना हुआ, बध्यधनक त्रिभाग
न समझने से द्रव्यभाव कर्मोंको कपण न कर सकेगा
तो उसके द्रव्यभावकर्म और प्रत्यय आत्मवैदिक
और आत्मव तथा आत्मा के बध्यधनकता तथा द्रव्य
कर्म भावकर्मों की विवेचना बिना समझ ही क्षीमुक्ति
का निषेध लिख मारा है ? इसकी भी टीका करते
हुये आपने उनका अज्ञानकारी समझी या आप अपना
अभिप्राय पुष्ट करने के लिये यह अनुचित आगम-
वाक्य राष्ट्र लिखे है ?

आगमपुष्पादिही भर्वाद जस्सेह संकमो तस्स ।

एत्थीदि भयदि सुत्तं असंजसो होवि किं समसो ३५

इत्यादि स्पष्ट है कि उन्होंने कर्म लिखानानुवृत्तना

से ही खी को मोक्ष का निवेद्य बताया है। इस अध्यात्म के कथन में कर्मसिद्धान्त कैसे लिख देते। 'शरीरादिमित्यस्यैव' वह प्रत्यय शब्द आत्मवाद का ही वाक्य है।

तब आत्मबन्ध कथायाध्यवस्थान, योगस्थान, वंशस्थान सबको हृदय में रखकर ही तो लिखा है। श्रीधर सेनाचार्य जिनको अष्टाध्यायी पूर्व की पांचवीं वस्तु का महा प्रकृतिनामा चौथे प्राश्रुत का ज्ञान था सो वह प्राश्रुत श्री पुनर्दन्त भूतबली आचार्य ने उन में पढ़कर यह पदस्वगङ्गागम सूत्र प्रथम रचा और इनके समकालीन कुङ्कु पीछे श्री गुणधर आचार्य हुये उनको ज्ञान प्रवाद पूर्व का दशम वस्तु का तीसरा प्राश्रुत का ज्ञान था। उनमें नागमंन हस्ती आचार्य ने पढ़ा। उनमें यति नामा आचार्य ने पढ़ा। उसकी चर्चिका रूप ६ हजार सूत्र बनाये। उसकी टीका समुद्धरण मुनि ने १२ हजार श्लोकों में लिख डाली। उसको पढ़कर श्री कुन्दकुन्दाचार्य हुये। तो गुरु परम्परा में आगम—ज्ञान—सम्पन्न आचार्य ने प्रकर्म मिहान्त को झाँड़ दिया क्या किया? अध्यात्मविषय और कर्ममिहान्त का अविनाभाव सम्बन्ध है, एक दूसरेके जाने बिना हाँ नहीं सकते। तब ही श्री कुन्दकुन्दाचार्य लिखित स्मार्तिका निषेध के वाक्य पद-स्वगङ्गागम में मिल गये हैं, आपने खुद लिखे हैं फिर भी आप कुन्दकुन्दाचार्य का ही केवल मन लिखें यह आपके हृदय की रवेताम्बर वासना ही का प्रगट करते हैं। अन्तु। प्रश्न आप कैसे ही करें उनको अपना सिद्धान्त लिखें तो कोई बाधा नहीं; पर यह कहना कि 'वह केवल कुन्दकुन्दाचार्य का ही कथन है और ध्वजशास्त्र, गोस्मटसारादि का नहीं' वह झुठी बात उहरनी है। देखो श्री गोस्मटसारा कर्मकाण्ड

की ३२ वीं गाथा—

अन्तिमतिथसंहृद्यस्तुषो पुण कम्म भिन्नहिलासं
आदिमातं वसंढं एतथिति जिरोहिं विविट्ठम् ॥

अर्थ—कर्मभूमि की खियों के अन्त के तीन संहनन अर्द्धनाराच, कीलक, असंप्राप्ताष्टाष्टिक ये तीन संहनन होते हैं। आदि के तीन संहनन वज्रवृषभ-नाराच, वज्रनाराच, नाराच ये तीन संहनन नहीं होते हैं। और मोक्ष एक वज्रवृषभनाराच संहनन से ही होता है। देखो सर्वाथसिद्धि तथा राजवार्तिक—
“उत्तम संहननस्यैकाग्रचित्तानिरोधो ध्यान” इस सूत्र की टीका में—

‘मोक्षस्यनु आपमेव’

मोक्ष जाने जाने वाले जीवों के एक पहला ही संहनन होता है फिर खियों कैसे मोक्ष जा सकती हैं? रवेताम्बर भी अपने तत्त्वार्थाधिगमभाष्यमें कहते हैं (देखो ६ अध्याय) और सम्यग्दर्श को नहीं होता। बिना सम्यक्त्व के नीधेकर मोक्ष नहीं बनता, पोंडरा भावना में पहिला सम्यग्दर्शन—विशुद्धि है। फिर श्री मल्लिनाथ भगवान का रवेताम्बरों ने खी क्यों मान लिया? मल्लिबाई कहते हैं क्या खियोंको मोक्ष बांटने के लिये? तत्त्वार्थसूत्र की टीका सर्वाथसिद्धि में लिखा है द्रव्यज्ञाको ज्ञायिक सम्यक्त्व नहीं होता। देखो निर्देश सूत्र की टीका में साफ लिखा है ‘ज्ञायिकं भावधेदनेव’ ज्ञायिक सम्यक्त्व खी के भाववेद से ही होता है, द्रव्यवेद में नहीं, द्रव्यखी को नहीं और ११५३ पंज में गोस्मटसार में देखो ‘योनिमतीनां पञ्चम गुणस्थानादुपरिगमनाऽसंभवात् द्वितीयोपशम-सम्यक्त्वं नास्ति, योनिमती द्रव्यमनुष्यवृत्तियों के पाँचवें गुणस्थान से ऊपरका गुणस्थान का असम्भव है। इसमें द्वितीयोपशम सम्यक्त्व नहीं होता और

भी गोष्मटसार पेज ५६१ में गाथा—

पुरिसिद्धसहवेदोदयेण पुरिसिद्धसंज्ञाभावा
यामोदयस्य दृश्ये पापस्य समा कर्हि बिसमा॥२७१॥

अर्थ—पुरुष की नपुंसकवेद चारित्र्य मोह नो-
कषाय प्रकृतियों के उदय से भाव में अनन्य परिणाम
में यथाक्रम से जीव पुरुष की नपुंसक भाववेद वाला
होता है और निर्माण नाम कर्मोदय युक्त अंगोपांग
नाम कर्म विशेष नामकर्म के उदय में पुद्गल द्रव्य-
पर्याय विशेष में दाढ़ी, मूँछ, लिंग तथा इन रहित
योनि आदि सहित तथा उभय तद्द्वयतिरिक्त नपुंसक
द्रव्यवेद होता है और जगह तो जिनका जो द्रव्यवेद
होता है वही भाववेद होता है परन्तु मनुष्य नियंत्रों
के नियम नहीं है इनके द्रव्य पुरुष भावस्त्री नपुंसक
पुरुष भी होते हैं और भावपुरुष भी होते हैं। देखो
भी केशववर्णी तथा भी अभयचन्द्राचार्य की टीका
मन्दप्रबोधिनी को।

फिर आप लिखते हैं 'जिस वेद का उदय होगा
वही वेद के अंगोपांग तथा निर्माण के उदय में
वही वेद जन्मभर ही रहेगा' यह बात मनुष्य नियंत्रों
में नहीं होती द्रव्यवेद में तो होती है द्रव्यवेद तो
जन्मभर एक ही रहेगा पर भाववेद में तीनों वेद हो
सकते हैं।

गोष्मटसार जीवकांड टी० केशववर्णी-पुरुषस्त्री-
वयदात्म्य त्रिवेदानां चारित्र्यमोह भेदनोकषाय—प्रकृ-
तीनां उदयेन भावे चित्परिणामे यथासंख्यं पुरुषस्त्री-
वयद्वय भवति तथापु वेदोदयेन क्रियां अभिलाषा-
रूपमैथुनसंज्ञाकांतो जीवो भावपुरुषो भवति स्त्रीवेदो-
दयेन पुष्पाभिलाषरूपमैथुनसंज्ञाकांतो जीवो भाव-
स्त्री भवति नपुंसकवेदोदयेन उभयाभिलाषरूप मैथुन-
संज्ञाकांतो जीवो भावनपुंसको भवति पुंवेदोदयेन

निर्माणनामकर्मोदययुक्तो पाङ्गनामकर्मोदय—वशेन
रमप्रकृषं शिख्नाद्विस्मिगाङ्कित-शरीर-विशिष्टो जीवो
भवप्रथमसमयादि कृत्वा तद्भवचरमसमय-पर्यंत द्रव्य
पुरुषो भवति। स्त्रीवेदोदयेन निर्माण नाम कर्मोदय
युक्ताङ्गोपाङ्ग नामकर्मोदयेन निर्माणमुत्पत्तयोन्यादि
लिङ्गलक्षण शरीर युक्ता जीवो भव प्रथमसमयादि
कृत्वा चरमसमयपर्यंत द्रव्यस्त्री भवति।

नपुंसकवेदोदयेन निर्माण — नामकर्मोदय
युक्ताङ्गोपाङ्ग नामकर्मोदयेन उभयलिङ्गव्यतिरिक्त-
देहाङ्कितो भव प्रथम समयोदय कृत्वा तद्भवचरम—
समय पर्यंत द्रव्यनपुंसक जीवो भवति एतं द्रव्य-
भाववेदः प्रायेण प्रचुरवृत्त्या देवनारकेषु भोगभूमि-
सवमनुष्यनियन्त्रेषु च समा द्रव्यभाव्याख्यां समवेदो-
दयाङ्कितो भवति कर्वाचन कर्मभूमौ मनुष्यतियंगति-
द्वये विषमाः बिसदृशा अपि भवन्ति तथा द्रव्यतः
पुरुषे भावपुरुषः भावस्त्री भावनपुंसक एवं द्रव्यास्त्रयां
भावपुरुषः भावस्त्री भावनपुंसक, द्रव्यनपुंसके भाव-
पुरुषः भावस्त्री भावनपुंसके इति विषमत्वं द्रव्यभावयो
रानयमः कथितः। कुतः द्रव्यपुरुषस्य क्षपकमेत्याह-
दाऽनिवृत्तिकरणमवेदभागपर्यंत वेदत्रयस्य परमागमे
'मसोदयेण विनष्टा अणुरज्जुन य तन्दु सिञ्चन्ति' इति
प्रतिपादितत्वेन सम्भवात्।

ऐसा ही भी अभयचन्द्राचार्य जी ने मन्द प्रबो-
धिनी में लिखा है। हिन्दी में ऊपर आशय लिखा
हो है।

आचार्यों के प्रमाण उपस्थित करने पर भी आप
इत कठोर तो हम पूछते हैं कि जो लोग जनका लोका
होते हैं, राजाओं के यहां क्रिया में रहते हैं उनके
कौनसे वेद का उदय कहेंगे और जो (जनाने) पुरुष
दाढ़ी, मूँछ लिगादि अंग होते हुए भी 'पुरुष' इन्द्रजित

पुरुषवति पुरुषः' जो भावस्त्री रूप होकर पुरुष की अभिलाषा करे और जो द्रव्यस्त्री होकर भी रण में युद्धादि करे, पुण्यगुण दिखावे। जैसे मांसी बाल रानी, केकई हुई, इनके प्रत्यक्ष भावों में वेदों की विषमता दिखती है। इनके कौनसे वेदका उद्भव कहेंगे आप तो जन्म भर एक ही वेद द्रव्य भाक्तिक भाववेद कहते हैं। प्रत्यक्ष का अपलाप कौन कर सकता है और आपने लिखा है कि—

‘श्री गोम्मटसार जो में भी तीनों वेदोंमें जो १४ गुणस्थानों की प्राप्ति स्वीकार की गई है किन्तु इन ग्रन्थों में मंत्रन २६ किया गया है कि यह बात केवल भाववेद का अपेक्षा में घटित होता है। भाववेदों का तीनों द्रव्यवेदों के साथ पृथक् = संयोग हो सकता है। जिसमें ६ प्रकार के प्राणी होते हैं।’

अब यहां विचारने की बात है कि आपके विवेचन पूर्वांश विरुद्ध है। पहले तो द्रव्यस्त्री का मोक्ष नहीं, यह केवल कुन्डकुन्द स्वामी का मत है और दिगम्बराचार्यों का नहीं। किन्तु यहां गोम्मटसारमें निषेध दिव्याया है। इस पर भी आपका अमनोप है क्योंकि मंत्रों में योनिनी शब्द का उपयोग किया गया है, यह भी बात गलत है। आचार्यों ने योनिनी शब्द का प्रयोग पञ्चम गुणस्थान तक बालों लिखों के लिये ही किया है, उपरान्त गुणस्थानों में नहीं। आप ही जगह जगह योनिनी शब्द लिखते फिरते हैं। योनिनी शब्द स्त्रियोंको छोड़कर अन्यत्र घटित नहीं होता। सो अन्यत्र उपरान्त भाववेद के गुणस्थानों में योनिनी शब्द का प्रयोग ही नहीं। आपने जो द्रव्यप्ररूपणा आदि क्षेत्रवर्णन काल अन्तर आवादि के ४६।१२४।६२६।१३।३१।३२ इत्यादि मंत्रों के अङ्ग लिखे हैं उन मंत्र ही मंत्रों में भाव-

वेद लेकर कथन है और वहां मन्त्रियः शब्द का उपयोग किया है, योनिनी कहीं भी नहीं लिखा। फिर आपके इस योनिनी शब्द से पूरी पहे तो पड़े जब जगह जगह आचार्य सब वस्तुसहित का पञ्चम में ऊपर कोई गुणस्थान ही नहीं कहते तब योनिनी शब्द भाववेद में उपरान्त गुणस्थानों में लाक्षणिक ही ठहरेगा परन्तु आप एक भी जगह लिखा है। है ही नहीं, क्या लिखा है। फिर आप लिखते हैं ‘द्रव्यसे पुरुष और भाव में कौन से ही वेद रूपक भेदी चढ़ सकता है सो वेद की अपेक्षा आठवें गुणस्थान तक का ही कथन है। उससे ऊपर वेद रहता ही नहीं, फिर वेद-संप्रप्य सिद्ध होता ही नहीं,’ सो क्यों ? जब छटके में नवमें तक द्रव्यस्त्री नपुंसक चढ़ते ही नहीं तो यह बात सिद्ध हो गई कि पाँचवें गुणस्थान से वेद भाग पर्यंत नवमें तक गुणस्थानों में तीनों भाववेद बाले होते हैं। आप न मानें यह दूसरी बात है। आप योनिनी शब्द को बार बार लिखकर लोगोंका माथा फिराते हैं सो आपका लिखना झूठा है। कहीं भी योनिनी शब्द का प्रयोग नहीं। गोम्मटसार में पञ्चम गुणस्थान तक के लिये योनिनी शब्द आया है। सो द्रव्यस्त्रीके पञ्चम गुणस्थान होता ही है।

तथा यह बात आपकी कायम न रही कि स्त्री-मुक्ति का निषेध सब दिगम्बराचार्यों का सिद्धान्त नहीं। यह बात आपकी सरासर झूठी है। वह सिद्ध हुआ कि भी धवलशास्त्र द्रव्यस्त्रीको मुक्ति निषेध करता ही है। राजबार्तिक सर्वार्थसिद्धि निषेध करता ही है। जब कर्मभूमि की कीके पिछले तीन संहनन होते हैं और मोक्ष एक पहले संहनन बाले के ही होती है। दूसरे द्रव्यस्त्री के स्त्रायिक सत्यस्त्व नहीं और द्रव्यस्त्री के आहारकट्टिक नहीं इत्यादि प्रमाणोंसे

सब दिगम्बर आचार्यों का स्वीकृति निषेध में एक मनुष्य है।

अब योनिनी शब्द का इतना प्रयोग करें तो योनि शब्द (गच्छद्गीर्ण्येष्टिनिः) तत्त्वभावमें है तो इससे भी भाववैध आया। तीसरे योनि शब्द यहां लक्षणिक है। (मन्त्राः कोशान्ति) मन्त्रवै कोशरहें हैं। ऐसे विषयमें मन्त्रतो जड़ हैं, उनमें कोशानानही बनता तो मन्त्रवा पर बैठे पुण्यों में लक्षणा की जाती है। वैसे ही अब सब आचार्यों द्वारा द्रव्यस्त्री को मोक्ष का अभाव पाया जाता है तो यहां जड़ गुणस्थान से नवम तक स्त्री के गुणस्थान करने से द्रव्यस्त्री के नवम गुणस्थान तक होते नहीं। तात्पर्य अनुपपन्न हुआ (तात्पर्यानुपपत्तिस्त्वेषावीजं शक्तिशक्तपद) पद शक्ति शक्त होता है। अर्थात् अर्था शक्ति लक्षणाशक्ति व्यवस्था शक्ति इन शक्ति के द्वारा पद वाक्य पदार्थ जाना जाता है। अब योनिनी शब्द योनिपुत्र द्रव्यस्त्री का (अभिधा शक्ति से) वाचक है। परन्तु ऊपर के गुणस्थानों का द्रव्यस्त्री को निषेध करते आते हैं। क्योंकि वस्तु साहित के मुनिदीक्षा नहीं तब योनि शब्द में तात्पर्य की अनुपपत्ति हुई।

तब योनि शब्द में लक्षणा की। अतः द्रव्यस्त्री के समान परिणाम में लक्षणा की तब भावस्त्री 'वाचक' हुआ पर यह बात आपके इष्ट से कही है। आचार्यों ने कही भी भाववेदों की जगह भावस्त्री के लिये योनिनी शब्द नहीं लिखा है। आचार्यों ने योनिनी शब्द यहां प्रयोग किया है जहां पञ्चम गुणस्थान तक कथन किया है। नवमें गुणस्थान तक के कथन में मनुस्मिणी इत्थी भी इत्यादि शब्द लिखा है। तिर्य-च्छिन्नी के कथन में योनिनी लिखा है फिर भी कदाचित् योनिनी शब्द लिखा हो मुझे याद न हो तो

भी अब सब आचार्यों भी पुण्यदन्तमृतवत्ति, भी नेमि चन्द्र, भी वीरसेन, भी केशवचर्या, आदि लिखते हैं कि द्रव्यस्त्री के सकल संयम नहीं होता। (सचेत्तराज) वस्तु साहित होने से तो उनके लिये हुये योनि शब्द का द्रव्यस्त्री ही अर्थ कैसे कर सकते हैं? और भी देखें कि भवकशास्त्र में द्रव्य मनुष्य, भावमनुष्य, द्रव्यभावमनुष्यों का कथन कर द्रव्यमनुष्य भावस्त्रियों का आज्ञाप लिखते हैं। पेज ५१३

मनुस्मिणीयं भक्षणमात्रे अर्थात् चोदरा गुण-दृष्ट्याणि दो जीवसमाप्ता द्रव्यज्जन्तीनां द्रव्यपञ्चज्जन्तीनां वसपाणा सत्तपाणा चत्वारिसंख्यायां स्त्रीसंख्यावि अर्थात् मनुसगर्दी पंचेर्वाजादी नसकाओं पगारह जोंगा अजोंगोवि अर्थात् पय आहार आहारमस्त्रकायजोंगा एत्थि कि कारण? जैसि भावो इत्थिवेदो द्रव्यपुण्य-पुरसवेदो ते वि जीवा संजमं पडिबज्जंति इत्थित्थि-वेद संजम ग पडिबज्जंति सचेत्तरादो। भावित्थि-वेदाणं द्रव्येषु पु'वेदाणं पि संजदाणं खाऽऽहाररदि समुपज्जति द्रव्यभावे हि पुरसवेदाणमेव समुपज्जति तेणित्थि वेदेषु एतद्धं आहारदुगं एत्थि तेण पगा-रह जोंगा भविषा इत्थिवेदांवि अजगदवेदांवि अर्थात् पृथग्भाववेदेण इत्यादि।

अर्थ—हिन्दी में आप भी प्रोफेसर साहब ने लिखा है।

मनुष्यणी (योनिमती) स्त्रियों के आज्ञाप करने पर चोदकों गुणस्थान संज्ञी पर्याप्त असंज्ञी पर्याप्त। इस तरह ये दो जीव समास जड़ों पर्याप्तियां इत्यादि अयोग गुणस्थान के होते हैं। पर इन मनुष्यस्त्रियों के आहारक काययोग और आहारक मिश्रकाययोग ये दो नहीं होते।

यहां राक्ष होती है कि ये दो योग क्यों नहीं होते?

समाधान—अपि जिनके भाव की अपेक्षा खी-वेद और द्रव्य की अपेक्षा पुरुषवेद होता है वे भाव-खी जीव भी (संयम को) सकल संयम को प्राप्त होते हैं । किन्तु द्रव्य की अपेक्षा खीवेद वाले जीव संयम को (सकल संयम) प्राप्त नहीं होते क्योंकि वे सचेत अर्थात् ब्रह्म सहित होते हैं । फिर भी भाव की अपेक्षा खीवेदी और द्रव्य की अपेक्षा पुरुषवेदी संयमधारी जीवों के भी आहार श्रद्धा उत्पन्न नहीं होती । इसमें खीवेद वाले मनुष्यों के ११ ग्यारह ही योग कहे हैं आहारकविक बिना । द्रव्यभाव दोनों से पुरुष होने में आहारकविक होते हैं इत्यादि लेख बढ़ जाने से सब नहीं लिखा । पाठक ग्रन्थ में देखें ।

इससे स्पष्ट है कि समस्त दिग्गन्ध आचार्यों के सिद्धांत में द्रव्यको को मोक्ष नहीं होती । इससे किमी में द्वेष नहीं, पक्षपात नहीं किन्तु खी पर्याय में इतना मानव्य और बिगुल भाव नहीं होते । पुरुष महद्गुणेषु गते प्रवर्तते न पुरुषः महान् गुणों में प्रवर्तित हो सां पुरुष और द्वापारुद्धादनशील खी भाव बदलते हैं । यही निकल लिये २ गाथा भी गोम्मट-सार के जीवकांड में कही हैं, धवल में भी आपने लिखी हैं और भी गोम्मटसार कर्मकांड ५ वें खण्ड में प्रारम्भ में ही नवमें गुणस्थान में द्रव्यपुरुष जीव तीनों वेदों के उदय होने पर किसी एक वेद के उदय में स्वयं भ्रंश चढ़ते हुये लिखे हैं और तीनों वेदों का उदय भी चढ़ते हुये लिखा है । पर भी धवल-शास्त्र में एक साथ तीनों वेदों का उदय नहीं लिखा । फिर पीछे से यह लिखा है कि एक जीवके पर्यायापेक्ष-का एक साथ भी होकर भ्रंश चढ़ता है । अर्थात् अन्तर्मुहूर्त काल में तीनों वेदों का उदय पञ्चदश परि

खामों की होने से एक साथ भी कहते हैं ।

तब हमारे प्रोफेसर साहब यह शंका करते हैं कि जन्मभर एक वेद ही रह सकता है । शास्त्र में लिखे हुये ६ भेद हो ही नहीं सकते और आपके लेख में यह भी प्रकट होता है कि द्रव्यनपुंसक वेद ही नहीं होता ।

शंका करने वाला चाहे जैसी शंका कर सकता है और उसका उत्तर भी दिया जा सकता है । पर वह नहीं कह सकते कि जो हम कहते हैं उसे दिग्गन्ध शास्त्र भी निष्ठ कर सकते हैं । या तो आप दिग्गन्ध शास्त्रों की वृत्तश्रद्धा में रहकर उनका आधार लेकर प्रश्न करिये या स्वतन्त्र प्रश्न करिये । क्योंकि शास्त्रों का बल करें और अपने मनमाने निमूँल प्रश्न करें आपको श्वेताम्बरों का मुलाहिजा साधना है साधिये । फिर दिग्गन्ध आचार्यों की अवहेलना क्यों करते हैं ? जानते हो शास्त्रानुसार जो अवहेलना करता है उसके मिथ्यात्व का उदय पाया जाता है, शास्त्र कहते हैं ।

मन्माडही जीवो उवडहं पवयगं तु सदहदि ।

सदहदि असकभावं अजाणमाणो गुहनिबोगा ॥२७॥

मुत्तादो नं सम्मं ग्रसिज्जं नं जवा ए सदहदि ।

सो चैव हयड मिच्छाडही जीवो तदो पडुदि ॥२८॥

जो सम्यग्दृष्टि जीव शास्त्र का भ्रष्टान करता है, कदाचिन् भ्रष्टानता में अन्यथा भ्रष्टान कर लेवे फिर शास्त्र से निर्गुलित हो जाय कि ऐसा है, यह मिथ्या है तो उस भ्रष्टान को बदल देवे और शास्त्र से जाह करके भी उसे न बदले तो उसी समयसे उसे मिथ्या दृष्टि समझना चाहिये । यह बात हम इसलिये लिखा है कि धवलशास्त्र धरीशों की टीका लिख गये श्री-राममें साफ साफ शास्त्र उठा २ कर लिखा है कि

द्रव्यस्त्री को मोक्ष नहीं होती और भी सब शास्त्र जिसकी साक्षी में है किन्तु आपने यही लिखा है कि कुन्वकुन्द स्वामी ने ही लिखा है। वह भी कर्मग्रन्थोंमें भिन्नान नहीं। क्या श्वेताम्बरीय कर्मग्रन्थों से मिलान करना चाहते हैं ? मैं आपसे पूछता हूँ आपके मता नुसार ३.५५५५५ एक ही वेद रहता है और द्रव्यस्त्री के पुरुष विपर्यायभलाप रूप स्त्रीवेद का उदय नवमें गुणस्थान में है अथवा द्रव्यपुरुष के स्त्री विपर्यायभलापरूप पुरुषवेद का उदय है तो नवमें गुणस्थानवर्ती मुनि के वह परिणाम ॥५५ जायगा तो यह परिणाम कुशील परिणाम हुआ क्योंकि जो मुनि द्रव्यपुरुष या द्रव्यस्त्री है उसके ऐसे परिणाम होंगे तो वह महाश्री है ? वह तो देशाश्री भी नहीं और वहाँ शुक्लध्यान है, वहाँ अर्थ से अर्थान्तर, शब्द से शब्दान्तर, योग से योगांतर पकटन करता हुआ स्त्री पुरुषों में विपर्यायभलाप रखेगा ? इस रूप परिणाम हाते हुए शुक्ल ध्यान कहाँ ? वहाँ धमध्यान भी नहीं रहा। क्या मोक्ष स्त्रीपा स्त्रीर है जो श्वेताम्बर आइयों ने लिख मारा कि वृषासरा में बुहारी देते मोक्ष हो गया ? अजैनों की तरह भक्ति से ही मोक्ष हो गया। स्त्रियों को भी मोक्ष का आश्वासन देना। यहाँ तो ध्याय में तुझे वह बात कहनी चाहिये बाहेँ अपनाही पिता क्यों न हो। जब अजैन लोग भारतमें भी लिखते हैं कि-

न बाह्यद्रव्यमुत्सृज्य सिद्धिर्भवति कर्मयोग ।

बाह्य परिग्रह छोड़े बिना किसी का भी मोक्ष-सिद्धि नहीं होती तो द्रव्य स्त्रियों के कैसे मोक्ष हो सकती है ?

सम्मोहयन्ति मदयन्ति विहम्बयन्ती ।

निर्भर्त्सयन्ति रमयन्ति विवादयन्ति ॥

कभी मोहित हो जाती हैं, कभी मद घमंड करने

लगती हैं, कभी विहम्बन बना लेती हैं, कभी अधिक स्नेह दिखाती हैं, कभी विवाद करती हैं। एक दिन में ही इतनी हालत कर बैठती हैं। ये 'स्त्रीणां दोषा स्वाभावजा' ये कियों के दोष स्वाभाविक हैं। कोई विरक्ती स्त्रियें कुछ स्थिर भाव करें और अपने भावों को सुधारें तो भी स्वाभाविक कमजोरी जाती नहीं, उतना परिणाम हट नहीं होता और मूल में वे सब परिग्रह छोड़ने में असमर्थ हैं। तब कैसे कहा जाय कि उसी भव से उन्हें मोक्ष हो सकता है। यदि वे उत्तप करें तो स्त्रीलिंग छेद कर स्वर्ग जायें। इत्यादि सम्भवित है।

अब नवमें गुणस्थान में वेदों के उदय का क्या कार्य है यह मूढ विचार में जानना चाहिये। आप लिखते हैं कि 'द्रव्यमें पुरुष और स्त्रीजग के सिवाय तीसरा प्रकार ही नहीं पाया जाता।' द्रव्य नपुंसक संसार में स्त्रियों में और पुरुषों में दोनों में होते हैं। इन्हें यह मालूम ही नहीं। कोई-० स्त्रियां हीजरी होती हैं जिनके योनि स्थान विकृत होता है। जन्म से ही पुरुष भी ऐसे होते हैं जिनके इन्द्रिय स्थान ठीक नहीं यह बान धंशक शास्त्रों में नपुंसकों के प्रकार लिखते दृष्टे लिखी है।

नपुंसकं यदा गर्भं भवेद्गर्भोऽवुद्भाकृतिः ।

उत्तमे भवतः पार्श्वे पुरस्तदुरं महन ॥

प्रथम ही गर्भ से ही नपुंसक की पहचान। जिस स्त्री के गर्भ में नपुंसक बालक हो उस स्त्री के दोनों पश्चादे बगलें ऊंची होवें और अगाड़ी से पेट उठा हुआ बढ़ा हो तो उसके नपुंसक बालक पैदा होगा।

और वे नपुंसक ५ प्रकार के होते हैं। तथा १ कर्मज होता है अथवा उसको सहज नपुंसक भी कहते हैं। भावप्रकार में ५ प्रकार, चरकमुद्रत में

६ का साथ ७ प्रकार भी माने हैं। इनमें कर्मज और सद्गुणों के लक्षण मिले हैं।

जो मनुष्य जन्म से हाजीब (नमर्ग) होते हैं, उन्हें सद्गुण नपुंसक या अजन्म अरज कहते हैं। आयुर्वेद के ग्रन्थों में लिखा है कि माता-पिता के रजबीयं दोष से पूर्व जन्म के पापों से गर्भ में बीर्य बहाने वाली नसों में दोष होने से, बीर्य के सूख जाने से बीर्य का क्षय होता है। इस प्रकार में जो बालक अजन्म होते हैं उनके पुरुष बिन्दु अर्थात् शिरन लिंग नहीं होता वनको नपुंसक या हीजड़ा कहते हैं। दूसरे वे होते हैं जिनके पुरुष बिन्दु तो होता है पर निर्जीव या निकम्मा होता है। जाली मूत्र करने के काम का होता है। ऐसे जन्म के नपुंसकों की चिकित्सा नहीं हो सकती। अतः चरक मुद्गल वाग्भट्टादि ग्रन्थोंने जन्म के नपुंसकों को असध्य कहा है। देखो धन्वन्तरिः पुरुषरोगां भाग १६ अष्ट १८।

और भावप्रकार में इस प्रकार है—

आसंक्षयश्च सुगन्धिश्च कुम्भीकश्चैवैकतया ।

असौ सशुक्रा बोद्धव्या अशुक्रो भृगुसंज्ञकः ॥२॥

इसी का गंध लक्षण का स्लोक है और ये भी भावप्रकार के ही हैं।

तथां लक्षणमाह

पित्रोस्तु स्वल्पबीजंस्वासासंक्षयः पुरुषो भवेत् ।

सशुक्रं प्रारय सभते ध्वजोन्नतिमसंशयम् ॥३॥

यः पूतयोनौ जायेत स हि सौगन्धिको भवेत् ।

स्वगुदेऽप्राप्तचर्यत्वाद् यः स्त्रीषु पुंश्चन प्रवर्तते ॥४॥

स कुम्भीक इतिज्ञेयो गुदयोनिस्तु स स्मृतः ।

दृष्टुं व्यभिचरन्नेषां व्यवधेयः प्रवर्तते ॥५॥

ईर्षकः सनु विज्ञेयो दृष्टयोनित्वात् स स्मृतः ।

जो आयाया स्त्री मोहन अङ्गनेत्र प्रवर्तते ॥६॥

तत्र बीजलिंगादौ जायते बन्धसंज्ञकः ॥

इनके होने का कारण हारीत संहिता में लिखा

हुआ है—

अथ विवृतिबंधा

समबीयरजस्वेन भरः स्त्री प्रकृतिर्भवेत् ।

नपुंसकमिति स्यात् न स्त्री न पुरुषो भवेत् ॥७॥

समदोषबलेनापि प्रकृत्या विवृतेरपि ।

समोभवेदसंज्ञकः नपुंसकसमुद्भवः ॥८॥

नपुंसकस्य, समुद्भवः उत्पत्तिः बर्धिता ।

इति हारीते शरीरस्थाने प्रथमेऽध्याये ॥

देखो इन वैद्यक ग्रंथोंको। फिर भी आप लिखते हैं तीसरा प्रकार तो सम्भव ही नहीं होता। दुनियाँ तो जितने और जाने, सब जगह पुराण शास्त्रों में लिखा है कि राजा लोगों के रनिवासों में लोजे रहते थे और रहते हैं। हम जब सं० १६६० में गुजरात में ईडरगढ़ में गये थे तब राजा के शरीरसिंह की गद्दी पर प्रतापसिंह बैठे थे। वहाँ के शरीरसिंह के रक्खवे रनिवास में अनेक लोजे थे।

और वाग्भट्ट में—

अतएव च शुक्रस्य बाल्बो जायते पुमान्, रक्खवः स्त्री, तथाः साम्ये स्त्रीर्ष ॥७॥

शारीरिक स्थान पेज २४८

इसी लिये कार्यकारण भाव को प्रधान रखते हुये यदि गर्भाधान के समय शुक्र की अधिकता हो तो पुरुष ही उत्पन्न होता है यदि रज की अधिकता हो तो कन्या होती है। और यदि स्त्री का रज पुरुष का शुक्र गर्भाधान के समय समान भाग हो तो नपुंसक सन्तान उत्पन्न होती है।

स्त्रीर्षं नत्संकरे तत्र मध्यं कुण्डेः समुज्जतम् ।

यमौ पार्श्वेऽयोजामाण कुक्षौ द्रोण्यनिवस्थिते ॥८॥

इन श्लोकों का अर्थ संक्षेप में यह है कि नपुंसक मनुष्य ५ या ६ वा ७ प्रकार वैद्यक शास्त्र में कहे हैं, भावप्रकारा के कहे—

१-आसेक्य—आसेक्य नपुंसक वह है जो माता पिता के स्वल्प बीर्य होने से उत्पन्न होता है। उस के बीर्य कम होता है, यह दूसरे का बीर्य भक्षण करके विषय में प्रवर्तित होता है।

२-सुगन्धि—जो माता पिता के रजबीर्य दूषित होने से गन्धयुक्त योनि से उत्पन्न हुआ हो और कुत्ते की तरह योनिगन्ध नेत्र के विषय में प्रवर्तित हो।

३-कुम्भीक—कुम्भीक उसे कहते हैं जो गुदा से कुशील सेवन कर स्त्री के विषय में प्रवर्तित होता है।

४-ईर्षक—ईर्षक वह है जो दूसरे का विषय में प्रवर्तित देखे तब उसे काम जगें। तब विषय में प्रवर्तित हो।

५-भ्रूण—और भ्रूण नपुंसक वह है जो स्त्री प्रसंग समय में अपनी स्त्री की तरह कुचेष्टा करे अर्थात् विषय सेवन में एकदम असमर्थ हो या तो इन्द्रिय नहीं और इन्द्रिय होवे भी तो कुछ कर न सके, असमर्थ हो। इसको एकदम पण्डा कहते हैं।

स्त्री भी पण्डा होती है। उसके २ भेद सहजा और कर्मजा होते हैं। स्त्रियों के या तो योनिस्थान होता नहीं या पेशाब के लिये एक छिद्र होता है और योनि का आकार भी हो, गर्भनली हो ये तो सहजा कही। जब तो त्रिवेदे डाक्टरों से बच्चाहानी निकलवा डालती हैं वे भी नपुंसका हो जाती हैं। देखो बाम्हन अष्टांग हृदय वैद्यक—

योनौ बाधोपपत्तायां स्त्रीगर्भे बीजशेषतः।

यूरोपियवस्त्वनी च स्वात्पण्डसंज्ञाऽनुपक्रमात् ॥४१॥

योनि को बाधु से उपपन्न होने से बीजशेष से

गर्भ में मनुष्य से डेढ़ रखने वाली अर्थात् मनुष्य को न चाहने वाली स्तन रहित अनुक्रम से पण्डा संज्ञा रहने वाली होती है। इसका अर्थ यह भी हो सकता है कि उस तमबातुल्योनि से पण्डा कन्या उत्पन्न होती है और स्तनरहित होती है और यह भी अर्थ हो सकता है कि योनिबातुल्य गर्भ हो जाने से फिर वह गर्भ धारण नहीं कर सकती। स्तन सूख जाते हैं, पण्डा हो जाती है। यह कृत्रिम पण्डा बुद्धि, पूर्व अर्थ से कर्मज सहजा पण्डा उद्भूत होती है।

पर वात्स्यायन ने कामशास्त्र में मनुष्य व मनुष्य-युग्मी दोनों ही पण्डा-पण्डा कर्मजन्य भी होते हैं ऐसा लिखा है। और स्त्री पुरुषों के कर्मज और सहजा तथा विकृतिज कृत्रिम डाक्टरी प्रयोगों से भी दिसाया है। धन्यवन्तरि अङ्ग में देख सकते हैं।

अब आप यह नहीं कह सकते कि द्रव्य में स्त्री व पुरुष के सिवाय तीसरा प्रकार ही नहीं पाया जाता। यह आपका नितान्त भ्रम है। आपको शास्त्रों पर तो बिल्कुल विश्वास ही नहीं। नहीं तो क्या आप जैसे विशेषज्ञ पण्डित होकर भी क्या तत्त्वार्थसूत्र महाराष्ट्र श्वेताम्बर दिगम्बर उभय सिद्धांत मान्य होने पर भी तत्त्वार्थसूत्र, सर्वाथमिन्द्रि, राजवार्तिक, श्लोकवार्तिक दिगम्बर सिद्धांत के देखने पर व तत्त्वार्थाधिगम-भाष्य श्वेताम्बर सिद्धांत मान्य में शेषास्त्रिवेदाः इस सूत्र की व्याख्या में 'देवनारकियों से शेष मनुष्य-तियेञ्च तीन वेद वाले होते हैं' ऐसा अनेक बार पढ़ने पर ऐसा लिखते कि तीसरा प्रकार तो पाया नहीं जाता जिससे नपुंसक के द्रव्यभाव से तीन भेद बन सकें? हां, यह बात अवश्य है कि लोग कहते हैं कि यूरुप वाले स्त्रियों में बीर्य का इंजेक्शन लगाकर मनुष्य पैदा करने लगे हैं। यह बात आपु-

निक पवित्रत कानुमों के हृदय में अवश्य विश्वास-
नैव हो जावगी। गनीमत है कि मनुष्य का बीच
लेकर इंजेक्सन लगाकर मनुष्य पैदा करते हैं। और
स्त्रियों के ही कहीं मनुष्यों के बोर्य का इंजेक्सन लगा
कर मांघाता राजा की उत्पत्ति की तरह कहीं मनुष्यों
के पेट से मनुष्य पैदा करने न लग जाय। क्योंकि
मांघाता के पिता ने पुत्र—कामेष्ठ यज्ञ के घड़े का
पानी पी लिया था सो उनके गर्भ रह गया था। तब
मांघाता उत्पन्न हुये थे। ऐसी सनातनी वैष्णवों में
कथा है।

और श्वेताम्बरों के यहां भी महावीर भगवानको
प्राकृष्टी के गर्भ से इन्द्र (किस कम्मं ग्रथ क मिला-
न कर) निकाल कर राजा मिद्धाथ की रानी त्रिशला
देवी के गर्भ में लाया आर कमे एक गर्भस्थली में
निकालकर दूसरी गर्भस्थली में रखा। इसका भी
थाड़ा कम्मंमंथों में मिलान कर दिगम्बर और श्वे-
ताम्बर सिद्धांत की तुलना लिखना क्योंकि निरन्तर
वक्ताओं का यही कार्य होना चाहिये।

अब हम फिर प्रकृत विषय पर लिखते हैं कि वेद
के ६ भेद कैसे सम्भावित हैं। जब निर्माण नामक
सो ध्रुव है, निरन्तर बंधने वाला है और आंगोपांग
३ प्रकार अभुवबंधी है तो भी अप्रत्याप्यान कपाय
और नोकपाय वेद के उदय होने में और वेदकर्म
नो कपाय के उदय से तथा औदारिक अंगोपांग के
उदय से आत्मा के तदनुकूल परिणाम होने से आत्मा
द्रव्यवेद के अंगोपांग निर्माण करने के लिये व्या-
वृत्त होकर द्रव्यपुरुष या जी या नपुंसक के चिन्ह
लिये औदारिक अंगोपांग की रचना करता है और
उस वेद के चिन्ह लिये डाढ़ी, मूंड, लिंग या डाढ़ी-
मूंड रहित योनि चिन्ह सटिन या उभयलिङ्ग व्यति-

रित उभयचिन्ह आकार रहित या उभय सा-
१ द्रव्यपुरुष, २ द्रव्यस्त्री, ३ द्रव्यनपुंसक कमे को
प्राप्त होता है सो द्रव्यवेदानुकूल परिणाम होवे इस
में तो कोई बाधा आपके मन्त्रस्थानुसार भी नहीं है।

अब राहू इस बात की है कि द्रव्यवेद के बिना
जीव के दूसरा वेद भाव में कैसे बने ? इसकी बात
यह है कि भाववेद को आचार्यों ने पुरुष की नपुंसक
वेद नामक नोकपाय वेदनीव के उदय से पतन्व परि-
णाम में मैथुनाभिलाष रूप परिणाम से भावपुरुष
और भावस्त्री भावनपुंसक बतलाया है।

पुरुषाणभोगं संदं करेदि लोगान्द पुरुषाणं कम्मं
पुन उक्तमो य जन्हा तन्हा सो वरियदो पुरिजो॥

गोम्मटसार जीवकांड १७१ गाथा

जो महान उत्तम गुणों में प्रवर्तित हो अथवा जो
बड़े २ भोग नरेंद्र नागेंद्र देवेंद्राद्याधिक भवे नरेंद्र
नागेंद्र देवेंद्रों के भोग और पुरुषाण सम्भक्तानादि में
तथा पुरुषाण कम्म धर्माथे काम भोग लक्षण साधन-
रूप दिव्यानुष्ठान और पुनरुत्तम परमेश्वर इन में जो
प्रवर्तित हो सो पुण्य है।

और गाथा १७० —

छादेदि सयं दोसेण यदो छादइ परं दि दोसेण।

छादयमांजा जन्हा तन्हा सा वरियया इत्थी ॥

जो अपने को दोषों से ढके और दूसरों को दोषों
से ढके ऐसे छादनरीति स्वभाववाली जी कही, स्वयं
छादने धातु से जी बना अथवा स्वयं शब्दकपायको
धातु से व्यायनेडूट इस सूत्रसे इदं प्रत्यय और छिह्ण-
यय इत्यादि सूत्र से जीप प्रत्यय कर शब्दशास्त्रों की
बना, जिसका अर्थ जो रक्तपीय को गर्भस्थली में
डबट्टा करे सो द्रव्यस्त्री है यहां पर भी भावस्त्री में जी
शब्द लाक्षणिक है अथवा जैनसिद्धांत से छादनरीति-

स्वभाव की में चटित होता ही है ।

और—

योर्विन्धी योव पुमं खनुं सखो उभयसिगिबदिरितो ।

आंगसन्तुग वेयसगदखो कलुसचित्तो ॥१७२

गोमटसार जीवकारक

नैबकी नैवपुमान स नपुंसकः इष्टिक्मिसमं

जो न पुनर न स्त्री दोनों से जुड़ा वीसरा सिंग नपुंसक है, जो भाव में हमेशा कार्य करने में अवसर्ग कलुषित चित्त ईद के भट्टे की अग्नि समान पुंशकता रहे ऐसा भाव जिसका हो वही नपुंसक होता है ।

तो सदाऽसमय—प्रबद्धमात्र कर्मबगोशाओं का पुद्गल पिण्ड सातकर्मरूप समय समय बंधता रहता है । सिद्धाराश का अनन्त वां भाग बड़ा और अनन्तगुणा छोटा पुद्गल पिण्ड बंधता है । एक आयु को छोड़कर । (आयु का बंध क्रियाग में होता है) सो बंधा हुआ नपुंसक वेदों का बंध है वह जब उदय आवे तो उसके उदय जाने में कौन रोकने वाला है । अबाधाकल छोड़ उदय प्रकृतियां आवेंगी ही, कोड़ाकोड़ी सागर का अबाधा-कल १०० वर्ष है । फिर मध्यम और जघन्य स्थिति वाले जब कर्म अबाधा कल छोड़ आते ही करेंगे ।

द्रव्यवेद की रचनामें कारण तत्त्व वेदों का उदय और निर्माणकर्म तथा आंगोपांग नामक नामकर्मकी आवश्यकता है । सो चनाकाल में भी और द्रव्य-वेद कर्मभर रहेगा, पर भाववेद तो परिणामों को परिणामता है । इसी से कामवेद को मनोभव कहा है और उसी की सहकारिता से द्रव्यवेदों में क्रिया होती है । फिर कलुषादि ज्ञानावरण के ज्योपशम का कार्य भिन्न २ है जो रूप को जानती है वह स्वरां

को नहीं । परन्तु तीनों वेदों का कार्य एक मैतुन-मिक्षाव और द्रव्यवेदों से भी एक निवससेवन ही है । ज्ञान में वह नहीं है भिन्न २ विषय है और जहां सब आवरणों का क्षय हो जाता है वहां केवल ज्ञान में ज्ञान एक हो गया तब भी केवली भगवानके एक २ आत्मा के प्रदेश में एक साथ और अतीन्द्रिय अपरिमित पांचों इंद्रियों का ज्ञान और उससे अनन्तान्त गुणा ज्ञान होता है और जबतक ज्योपशम है तब तक भिन्न २ है । इसका दृष्टांत वेदों में चटित नहीं होता ।

द्रव्यवेद—नोकपाय वेदनीय से हुए भाव उनका निमित्त पाकर तथा निर्माण कर्म तथा आंगोपांग नाम कर्म का उदय निमित्त पाकर पुद्गल परमाणु कर्मरूप परिमाणनकर द्रव्यव्यञ्जन पर्याय रूप द्रव्यवेद है । वह नियम से तीनों में आयुपर्यंत एक ही रहेगा और भाववेद गुणपरिणामन एक सामयिक अर्थपर्याय और अन्तर्मुद्रित व्यञ्जनपर्यायरूप है वह द्रव्यवेद तो व्यञ्जन पर्याय है । स्थूल वागोचर व्यञ्जन पर्याय होती है, द्रव्यव्यञ्जनपर्याय अपने निजभव पर्यंत स्थिर रहती है और सूक्ष्म आस्थिर वाक्चगोचर अर्थ पर्याय होती है आत्मा का भावपरिणामन गुणपर्याय है । यह भाव परिणामन अनेक क्षण-स्थायी होने से गुण व्यञ्जन पर्यायरूप होता है और एक सामयिक अर्थ पर्यायगोचर होता है । भाव परिणामन केवल नोकपाय के उदय से ही होता है द्रव्यवेद में नोकपाय और निर्माण तथा अज्ञोपाज्ञ नामक उदय की भी कारणता है । तब भिन्न कारणसे भिन्न कार्य होना न्याय है, तब एक पर्याय में तीनों भाववेद होने में कोई बाधक कारण नहीं है और द्रव्यवेद भाववेदों के होने में बाधक नहीं है । क्योंकि द्रव्यवेदों के उदय में ज्ञे-

कण्ठ की भी कारकता है किन्तु भाववेदों में निर्माण तथा *प्रवृत्ति*, नाम कर्म की कारकता नहीं है। (निम, साङ्ख्योपांगनामकर्मयोगः कारकताविरहात्, न हि द्रव्यवेदानुकूला भाववेदकारकता) इससे जो द्रव्यवेद है वही भाववेद हो वह निश्चय नहीं ठहरता, कारण में भेद होने से।

यदि इसी का दृष्ट किया जाय तो पञ्च परावर्तन रूप संसार में कपायाध्यवसायस्थान, योगाध्यवसाय स्थान अस्तव्यास लोकप्रमाण हैं, सो ही बन्धाध्यवसाय स्थान भी अस्तव्यास लोकप्रमाण हैं एक ही भव में उनका उदय तो प्रति समय होगा और द्रव्यवेद एक ही रहेगा। तब द्रव्यवेदों के साथ भाव परिणामन का कोई मिलान नहीं। सबसे बड़ा भाव परिवर्तन है वह और परिवर्तनों के समान समय का कंस रख सकता है ?

अब यहां यह शंका हो सकती है कि देवगति, नरकगति और भोगभूमि के मनुष्यों के शरीर में भवपयेत कैसे एक ही भाव रह सकता है ? इसका उत्तर यह है कि वेदों के कपायों की मन्दता में इंद्रिय विषयों की ऊपर २ मन्दता है स्वर्गों में पहले पटल को छोड़ द्रव्यवेद की कायकुचेष्टा की ही आवश्यकता नहीं रहती, स्पर्श, रूप, मन्त्रहरगातादि, मनः स्मरणसे कामवासना तुम हो जाती है वेदउदय की मन्दता में उतनी कामवेदना ही नहीं होती। अतः कायकुचेष्टा करे बिना ही थोड़े में ही काम वेदना शांत हो जाती है और नारकियों के नपुंसक वेद का उदय द्रव्यभाव दोनों से है क्योंकि स्त्री का नोकर्म पुरुष और पुरुष का नोकर्म स्त्री ये वहां दोनों हैं ही नहीं। मुख्यता रंच नहीं। स्त्री पुरुष वेद में इन्द्रिय सुख होना है, वह शरीर दुःखावतन है। इस भाव की भी संभवता

नहीं। भोगभूमि के मनुष्य-गतिवाचों के कपाय प्रकृति कम तथा इन्द्रिय विषय सुखों की चंचलजन्य पूर्ति है। द्रव्यवेद से विपरीत वेद होने की कोई विषमता का कारण नहीं। कर्मभूमि के मनुष्य-तियेष्टा में ही अथेष्ट विषयों की अप्राप्ति से वेदों की विषमता है।

अब रही बात यह कि वह शंका यहां फिर उपस्थित होती है कि नवमें गुणस्थान में जहां हात्मादि ६ नोकपायों का नाश कर सबेदभाग में तथा नीचले गुणस्थान में जो मुनि श्रेणी चढ़े हैं उनके परियामों में क्या कीवेद का उदय कील्व धर्म को करता है और नपुंसकवेद का उदय क्या नपुंसकत्व धर्म करता है ?

यह बात यहां समझने की है कि वहां पर बुद्धि पूर्वक यानी युक्ति चलाकर हमारी तुम्हारी तरह काम तो होता नहीं क्योंकि वहां तो बाह्य पदार्थों से दृष्टिशून्य हैं, अर्थात् पदार्थ तीन प्रकार के हैं एक तो ज्ञेयात्मक घटपटादि रूप और दूसरे शब्दात्मक रूप घटपट जीव ये पद वाक्य स्वरूप वाचक शब्दरूप पदार्थ और तीसरे ज्ञानरूप; जो ज्ञेय के अवलम्बन से ज्ञेय रूप ज्ञान हुआ। वे ज्ञान रूप से तो पृथक्-त्वं वितर्क शुक्लध्यान में अनन्त ज्ञेय रूप जो ज्ञान हुआ वे ज्ञान के ज्ञेयरूप अर्थ और उनके वाचकराज्य स्वरूप शब्द वर्ण पद वाक्य जो आगम शास्त्रों व शुद्ध स्वरूप परममहा वितर्क इन पदार्थों में जो अन्तर्दृष्टिरूप ज्ञान धारा ध्यानधारा है उसमें वे मुनि विराजमान बाह्य से शून्य ध्यानमय है। वही अबुद्धि पूर्वकता है।

अब उन ध्यानधारा में जो वेदका उदय आकर कीवेद पदार्थों में चञ्चलता उत्पन्न करता है तब

कीत्वं चञ्चलता लिये क्षीमाव है और नपुंसकवेद का उद्भव असमर्थता (काय करनेमें असमर्थता) दिख-
जाता है वही नपुंसकता परिणामों में उत्पन्न करता है। परन्तु कर्म-वपणा में लगे हुये इन ३ वेदों के उद्भव परिणामों का भी उद्भव (नारा) करने हुए सवेद ६ भाग तक में तीनों वेदों का नाराकर नवम गुणस्थान के दूसरे अवेद भाग में पहुँच जाते हैं वहाँ संवत्सन क्रोध मान माया और बादर सं-
लोक कषाओं का भी नारा कर दशम गुणस्थान चढ़ सूक्ष्मलोक- (सूक्ष्मसाम्पराय) नाम पाते हैं।

अब वहाँ क्षीयभिक्षापरूप रूप और पुरुष अभि-
क्षापरूप या उभयभिक्षापरूप भाव नहीं समझना। यह भाव वहाँ कहे जाय तब तो बड़ा अनर्थ समझ जाय। मोक्ष कैसी और ध्यान कैसा? जहाँ पुरुष और क्षी की अभिक्षापा है वहाँ महाजन ही नहीं बन पाता। फिर भण्णी मादना कैसा। यह द्रव्यपुरुष की ही प्रधानता है कि वैसे परिणामों की चञ्चलता को जड़मूल से नष्ट कर दें यह द्रव्य क्षी वेद वाले या नपुंसकवेद वाले नहीं कर सकते।

जो द्रव्यक्षी है वह वस्तुत्याग कर नहीं सकती क्योंकि संसार में बड़ी दुष्टता है। जब क्षियां वस्त्र रखती हैं तब भी अकेली दुकेली नहीं रह सकती क्योंकि जो आर्थिकता होती है वे वन में भी चम्र तप करती हुई पर्वत पर वहाँ रहती हैं जहाँ उनसे कुछ फासले पर मुनिसंघ तप करता होवे तथा आर्थिकताओं का बहुत संघ हो। बूढ़ा आर्थिक साथ हो तब उनका व्रत पक्का है और अकेले रहनेमें उन का शीश कोई बिगड़ दे तो फिर नमन रहने में तो बड़ा अनर्थ हो। स्त्रियों के साथ दुष्ट पुरुष बलात्कार करने से अपनी विषय वासना की पूर्ति कर लेते हैं।

परन्तु स्त्रियें पुरुष के साथ बलात्कार भी नहीं कर सकती। जब मुनि अपना मन न बलावे तो जब-
रन स्त्रियें उनके साथ विषयपूर्ति नहीं कर सकती क्योंकि जब उनकी इन्त्रिय काम न करे तो स्त्रियें क्या शीश बिगाड़ सकती हैं परन्तु स्त्रियें मन न करें तो भी पुरुष उनके साथ बलाग कर अपने विषय की पूर्ति कर सकता है। यह पुरुष की अपेक्षा स्त्रियों में अधिक कमजोरी है।

इस लिये स्त्रियें कदापि वस्त्र परिग्रह नहीं छोड़ सकती और तब परिग्रह में वस्त्र धोना आदि आरंभ भी नहीं छोड़ सकती आर ध्यान एकांत में होता है। दुष्टों के भय में वे एकांत में रह नहीं सकती। कदा-
चिन् कोई कहे कि हम ये सब बातें कर लेते फिर ता कोई बात नहीं। तो भी स्त्रियों के तान संहनन पिछले कहे हैं। इसमें भी स्त्रियें परिणामोंमें दृढ़ नहीं हो सकती। बिना परिणाम की विरंज विशु-
द्धता और दृढ़ता के समस्त कर्म लय करने में समर्थ नहीं होतीं। यद्यपि संहनन पौद्गलिक बाह्य सम-
र्थता करते हैं तो भी बज्रवृषभनाराच संहनन प्राप्त शरीर में अवस्थित आत्मा ही समस्त कर्मों के नारा करने में समर्थ हो सकता है। जैसे पुलता दृष्टा वाली हुई विजातीय कुल्हाड़ी सजातीय दृष्टा की सहायता से सजातीय पुलता वृक्ष को काट सकती है वैसे ही यह आत्मा चेतन पुद्गल से विजातीय होने पर बज्रवृषभनाराच संहनन को पाकर के ही कर्म पुद्गलों को नष्ट करने में समर्थ हो सकता है। क्योंकि अनादि पुद्गल संबद्ध इस आत्मा को शक्ति बलबोर्बादि की संवृद्धि शरीराभित हो गई है। इसके फसाव से निकलन भी तो कुठारी में बँट की तरह इसकी सहायता से ही जीव को प्राप्त हो सकेगा।

कही कारण है कि ब्रह्मचर्यमनाराधन संहनन की आवश्यकता है। हीन संहनन में कमजोर रहेंगे अर्थात् आहारार्थ स्वागृहीत विशेष धारण न करनेसे वे कम मार देंगे। अर्थात् औशरिक शरीर के वियोग रूप मरवा करलेंगे, पर कमसुपणा न करसकनेसे मोक्ष न होगी और जन्ममरणा की ध्याना न मिट सकेगी। हीन संहनन वाले के ध्यानार्थ में कमी होने से समस्त कर्म शत्रु नहीं हट सकते। इस लिये होन्मंहनन होने से ही मोक्ष प्राप्ति नहीं कर सकती।

कमजोर आत्मा के कषायाध्यवसाय स्थान प्रबल होते हैं। इसकारण वह कार्य करनेमें समर्थ तो होता नहीं किन्तु भीतर ही भीतर जला करता है। लोकमें भी कहते हैं कम कुक्षत गुस्सा उगाश, वह बैरियों से विजय पाने के बजाय पिट कर जाता है। उसी प्रकार स्त्री के अध्यवसाय प्रबल हैं, सहज में शांत नहीं होते। जिस तरह देवी का भोगायनन शरीर है, इसमें वैक्रिय शरीर है, इसमें परिग्रह त्याग तथा तप नहीं कर सकते। नारकियों का दुःस्वायतन शरीर है, स्त्री पुरुषभाव उनके नहीं होता ? चूंकि वह रंज भी साता नहीं है। स्त्री पुरुष के इन्द्रिय विषय भोगरूप किञ्चित् इन्द्रियविषय भोग रूप सुख परिणाम है। इसकी उनके योग्यता ही नहीं, इसी से मोक्षके प्रयत्न करनेकी योग्यता नहीं नारकी द्रव्यभाव कोनोंसे नपुंसक हैं उस काम करने में शरीर अयोग्य है और पशु अज्ञानी गात्र मात्रपरिमदी हैं, बाह्यपरिग्रह रहित होने पर भी परिणामों की प्रचुर कलुषता और अज्ञानी (किञ्चित्ज्ञान) होने से अशुभत वृत्ति अनुसार धारण कर सकते हैं। वे भी मोक्ष प्राप्त नहीं करते। इसी प्रकार जिन भी भावों में विशेष प्रबल अध्यवसाय भावों से कर्ममुक्त होने योग्य वे शुद्धता की

अभूमि होने से वह मोक्ष नहीं जा सकती। पुण्यों में भी ब्रह्मण कृत्रिय वैर्यों में सब से अधिक कृत्रिय मोक्ष जाते हैं। उनमें ही आत्मोत्सर्ग तक कर देने का भाव रहता है। ब्रह्मण वैर्यों में जो आत्महन्ता अधिक होता है, शूद्रों में मोक्ष जाने की विद्युत्ता नहीं पाई जाती और नीच कुली हीनचारी कषायाध्यवस्थानों की प्रबलता से, विशेष धर्म संस्कार न होने से, परिणामों की विद्युत्ता की अभूमि होने से मोक्ष प्राप्त नहीं होती। इसमें बरा किसका है, क्या मोक्ष साहू पेड़ा है ? जो सबको बांट देंगे। जो प्रत्येक सबको बांट दिया जाय या किसीका मुखाहिजा करके उससे देंगे। सो आचार्योंके पास, श्वेतान्वर दिगम्बरियों के पास मोक्ष रखी है ? जो दे दी जाय। जैसे इतने अनन्तान्त जीवों को अयोग्यताके कारण मोक्ष नहीं होती वैसे ही पर्याय से द्रव्यस्त्री को मोक्ष नहीं होती।

आजकल के कर्मभूमिके इस क्षेत्र में पञ्चमकाल के जीवों को मोक्ष नहीं होनेरूप अयोग्यता है। सब देख तो रहे हो धर्म के विषय में तमाम झीझावेपर होनी है, ता कोई धर्म की निन्दा, टीका टिप्पणी करता है, कोई मुनि की टीका टिप्पणी करता है, कोई धनाह्व की, कोई मुनि की अपहेलना करता है फूट ने घर घेर लिये हैं, कोई किसी में मत्स्य, कोई किसी में मम्म है और सब अनर्थ्य अभी प्रायः जमाचारी हो गये हैं। अब किसी के पास रखी है जो मोक्ष दे दूँ ? सवावर्त योदे ही है, यद् तो जति विद्युत् भाव से होती है।

जैसे पञ्चमकाल में मोक्ष का अभाव वैसे ही स्त्रियों के भावों में उस जाति की विद्युत्ता नहीं। जैसे एक शृगाल का बच्चा सिंहनी के बच्चों में जा गक

सिंहनी ने उसपर दया कर रख लिया। बच्चों में
खेला करे, मुक्त से रहे। एक दिन गर्जों से लड़ने
का काम आ गया तो वह शृगाल का बच्चा सबको
उपदेश से गर्जों से लड़ने में कमजोर करने लगा।
तब सिंहनी बोली—

शूरोसि कृतविद्योसि सुभगोसि प्रियः सुत ।

यस्मिन् कुले त्वमुत्पन्नः गजस्तत्र न हन्यते ॥

हे प्यारे पुत्र ! तुम शूर हो, बतुर हो, मूढ़ पढ़
हो, सुन्दर हो, सब कुछ हो पर तुम उस कुल में पैदा
नहीं हुये हो जिसमें हाथी मारें जाते हैं। इसी
प्रकार जियों में सब कुछ आप मान लें पर जियों में
वे विशुद्ध भाव नहीं होते, जो मोक्ष हो जाय।

और सर्वार्थ सिद्धि का जो प्रमाण लिखा है—
तत्त्वार्थसूत्र सर्वार्थसिद्धि टीका ६-४६।४७ (इस नवमं
अध्याय) में कहीं भी ब्रह्मण्य नहीं लिखा है। किन्तु
पद दिया है कि—

‘अविच्छिन्नपरिवाराः’

यह विशेषणमें बहुरा मुनियों के लिये दिया है।
उसका अर्थ यह नहीं है कि घरके लड़के की आदिसं
मोह नहीं कुटा है। यहां परिवार मुनियों का संघ
शिष्यादिक और शरीरादि, कमण्डलु आदि से भी
मोह है। कमण्डलु को साफ मुथरा करके रखना,
शरीर को सन्दासन इत्यादि परिणामों में बिचित्रता
पाई जावे वे बहुरा हैं और मूल गुण अट्ठाईस हैं,
उनमें तो विराधना नहीं है किन्तु उत्तर गुणों में कोई
भी विराधना हो जाती है। वे प्रतिसेवना कुरील हैं,
तथा किसीके संग्रहण कयायोदय से वे कभी जांचपैर
धो लेते हैं। परन्तु निर्मथ सब ही मुनि हैं। कुछ
दोष लगते हैं तो शांकर शांकर करता है। यथा—

गृहस्थधारित्रभेदान् निर्ग्रन्थ-व्यपदेशा-भाक् न

भवति तथा ज्ञानादीन्नाप प्रकृष्ट-मध्यम धारित्रभेदा-
निर्ग्रन्थत्वं नोपपद्यते।

जैसे गृहस्थ के धारित्र के भेद से निर्ग्रन्थपना नहीं
होता उसी तरह मुनियों में भी निर्ग्रन्थपना नहीं कहना
चाहिये। तब आपाये कहते हैं—

दृष्टिरूपसामान्यात्

सम्यग्दर्शनं निर्ग्रन्थरूपं च भूपावेणाऽऽयुधरहितं
तत्त्वामान्ययोगात् सत्त्वेषु निर्ग्रन्थराज्यो युक्तः।

यानी—सामान्यपने सम्यक्त्व तथा नम्रत्व
(गहना बख और शस्त्रादि रहित) सत्त्व मुनियों में
है। फिर प्रश्न किया कि—

भग्नव्रतं वृत्तावतिप्रसंग इति चेन्न रूपाऽभावात्।

अर्थ—जो भग्नव्रत मुनि में और कोई दोष
उत्तर गुणादि में लगे हुए मुनि में आप निर्ग्रन्थपना
मानते हैं तो फिर आपके को भी निर्ग्रन्थ कहो तो
आपाये कहते हैं—

अतिप्रसंगो नैव दोषः कुतो रूपाऽभावात्।

यह आपके में अति प्रसंगी, अति व्यामि रूप
दोष नहीं जाता। दिगम्बरत्व (निर्ग्रन्थ) रूपका आपके
में अभाव होने से—

निर्ग्रन्थरूपमत्र नः प्रमाणं न च आपके तदस्तीति
नातिप्रसंगः।

हम लोग दिगम्बर सिद्धान्तियों को नम्रत्वरूप
प्रमाण है यह आपके में नहीं पाया जाता। यह
सब राजवार्तिक में लिखा है और सर्वार्थसिद्धि में
भी संक्षेप से है। दिगम्बरपना तो दि० आपायेने
दिया है और द्वादश अध्याय में ६ वें सूत्र की
टीका में यह लिखा है—

अवेदत्वेन त्रिभ्यो वा वेदेभ्यः सिद्धिर्भावो न
द्रव्यतः पुस्तिकानैव।

जो वेद की अपेक्षा मोक्ष कही वह तीनों लिगों की अपेक्षा भाववेद से, द्रव्यलिग तीनों से नहीं। द्रव्यलिग - केवल पुरुष द्रव्यलिग से ही मोक्ष कही है। अथवा—

‘निर्ग्रन्थ लिगेन सम्प्रत्यक्षिगेन वा सिद्धिर्भूतपूर्वे-
नयापेक्षया ।

इसका अर्थ यह है कि निर्ग्रन्थलिग दिगम्बर मुनि पद से ही मोक्ष होता है और (सम्प्रत्यक्षिग) उसमें भावक क्षुल्लक पेल्लक दो भेद रूप में रहने की प्रतिमा धारक गृहत्यागी को भी मोक्ष होता है भूत-प्रज्ञापन नैगम अपेक्षा से। यद्यपि गृहस्थ भावकों को भी अणुभूत धारियों को भी परस्पराय में मोक्ष कही है। पर वहां शास्त्र में निर्ग्रन्थलिग सम्प्रत्यक्षिग कहा है। तो लिङ्ग शास्त्र से गृहस्थपना मोक्ष का लिग नहीं। गृहस्थ में धर्म अर्थ काम इन तीन वर्ग का ही साधन होता है। मोक्ष का यत्न सन्यास धारण से ही होता है मां हं। क्षुल्लक, पेल्लक के लिये भी समन्तभद्र स्वामी ने लिखा है।

गृहतो मुनिवर्गमस्वा गुरूपकण्ठे जनानि परिगृह्य
भिदयाराजस्तपस्यन् उत्कृष्टभेल्लम्यगृधरः ॥

जो उत्कृष्ट भावक बनमें मुनिराज के पास जा कर गृह त्याग लण्डनका भारी होकर तपस्या करना हुआ भिक्षा से अर्थान् अनुदिष्ट यानी पड़गाहें निरन्तराय आहार लेय तप करे, बन में रहे, पीछी कर्महलु रखे, एक संगोटी मात्र पेल्लक रखे, आहार लेय, हाथों से कचलोच करे और क्षुल्लक एक लण्डन बन्ध संगोटी से अधिक और रखे, बैठे भी आहार कर लेय। ऐसे उत्कृष्ट भावकलिग भी मुनिपद धारण कर मोक्ष जाय तो पहले का पेल्लकपद सम्प्रत्यक्षिग है जो नैगम नव से वह भी मोक्ष का कारण ठहरा

तो इस सम्प्रत्यक्षिग से भी मोक्ष गये। परन्तु साक्षात् मोक्ष का कारण निर्ग्रन्थलिग ही है। अब एक सम्प्रत्यक्षिग का त्याग न करे तब तक मोक्ष नहीं होता यह ही सिद्ध हुआ। क्योंकि आत्मा चेतन द्रव्य है, इसके भूत भविष्यत् वर्तमान त्रिकालवर्ती पर्यायें एक ही उसी द्रव्य की होती हैं। तो द्रव्य-दृष्टि से सब पर्यायें उसी द्रव्य में हैं क्योंकि द्रव्य तो नित्य है और पर्यायें लम्बाई रूप हैं, गुण चौड़ाईरूप होते हैं। त्रिकालवर्ती जिसनी पर्यायें हैं उन सब में द्रव्य व्यापक रूप होता हुआ चला जाता है। तब से वर्तमान और भविष्यत् तक द्रव्य एकाकार चला गया तो पर्यायें लम्बाई रूप ठहरी और गुण सब पर्यायों में एक से हो रहे। कभी कम भी न हुये और अपने स्वरूप में बने रहे, इससे चौड़ाईरूप हैं। जैसे एक बरी ४ हाथ की है और उसमें चौड़ाई छह हाथ की है तो वह एक गिरह में वा एक हाथ से ५ हाथ तक लम्बाई पढ़ना छह हाथ ही रहा। लंबाई एक एक गिरह नापते नापते ५ हाथ तक बढ़ी। इसी प्रकार दरी का द्रव्य सबमें वहां तक ५ हाथ तक चला गया। उसी प्रकार उस मुक्त आत्मा में वह क्षुल्लक पेल्लकरूप पर्याय भी जो सन्यासरूप धारण की थी वह भी तो भूतकालकी दृष्टिसे मोक्षका कारण हो गई। इस भूतपूर्व नयापेक्षा से सम्प्रत्यक्षिग भी कारण कह दिया। परन्तु मोक्ष तो मुनि पद में धारण किये ही हुई। यह इस क्षुल्लक पेल्लक पद को जोष परिपक्व विरुद्ध भाव वाला प्राची मुनिपद लेते ही (४८ मिनट में) एक समय बादि अन्तर्मुहूर्त में झोंटे २ अन्तर्मुहूर्तों में सब गुणस्थान को पाकर मोक्ष प्राप्त कर लेते तो वह अनन्तर पूर्व हुआ या नहीं। जैसे भरत महाराज को मुनि पद

लेंते ही शीघ्र केवल ज्ञान भया तो वह भी भूतपूर्व होने पर भी मोक्ष का सिद्ध साक्षान् तो दिगम्बरत्व ही बाह्य अन्तरङ्ग उपधि के त्याग से ही हुआ। बिना कमजोरी और इच्छा के बल्लादि धारण नहीं किये जा सकते।

निःस्पृहो नाधिकारी स्यान् नाऽकामीमण्डनप्रियः।

नाऽविदग्धः प्रियं प्रयान् मृदुवक्ता न वक्त्रकः॥

जो जिसकी इच्छा नहीं रखता वह उस वस्तु का अधिकारी नहीं होता और अकामी पुरुष को गहने प्रिय नहीं होते तो वह गहने क्यों पहनेगा? क्यों कुन्तियों में तेल डालेगा और मूखें हित-मित प्रिय नहीं बोलता और साफ २ कहने वाला ठगने वाला नहीं होता।

अनपेक्षितार्थवृत्तिः कः पुण्यः संवने नृत्तनी।

जिसको धन की इच्छा नहीं है वह राजा की सेवा क्यों करेगा? उसी प्रकार बल्लादि परिमल कमजोरी तथा बिना इच्छा के रत्न नहीं सकता। जो इच्छा है वही मूर्खता है, परिमल है। नग्न होने पर भी इच्छा रहे तो वह भी मोक्षी है। मोक्ष कहाँ? हरिद्रो नग्न रहते हुए भी भगवान् ने परिमली कहा है तो वह बल्लाधिकारी तो परिमली चाँहे में है, संसार कहाँ छूटा? संसार जाँचे बिना मोक्ष कहाँ? इस प्रकार आप प्रोफेसर साहब को सन्तोष करना चाहिये कि द्रव्यही पर्याय से साक्षान् उसी भव से मोक्ष नहीं होती।

और दिगम्बर पद द्रव्य भाव से घाटे बिना मोक्ष नहीं। अब रहा प्रश्न कबलाहार का कि भी केवली भगवान् कबलाहार करते हैं या नहीं?

सो केवली भगवान् कबलाहार नहीं करते। आप व हमारे श्वेताम्बरीय आर्द्र वेदनीय कम के सङ्काप से

भगवान् के कबलाहार करते हैं। सो नहीं बनता। कारण चार पाति कर्मों को नष्ट कर ~~प्रोक्षित~~, अनन्तदर्शन, अनन्तवीर्य और अनन्त सुख प्राप्तियाँ क्योंकि क्षीण कथाय १२ बारहवें गुणस्थान में आदिस समय और सूक्ष्म साम्पराय दशम गुणस्थान का अन्तिम समय एक है। उस में समस्त २८ प्रकार मोह में शेष मोह का क्षय कर क्षीणमोह हुये, यद्यपि दुःख का अभाव तो यही भया परन्तु अनन्तता को प्राप्त न भया क्षीण मोह के बहु भाग में पृथक्त्व शुक्लध्यान करते हुये भगवान् के कुछ परिणामों में अर्थ से अर्थान्तर, शब्द से शब्दान्तर और योग में योगान्तर की चञ्चलता ज्ञानावरणादि तीनों पानियों के उदय में थी वह भी विचार रहित एकता वितर्क शुक्लध्यान के बल से ध्यान करते २ क्षीण कथाय १२ वें गुणस्थान के अन्त के दो समयों में पहले उपान्त्य समय में निद्रा प्रचला का नाश कर और अन्तिम समय में ५ ज्ञानावरण, ५ अन्तराय, ५ दर्शनावरण का नाश कर पहले गुणस्थानों में १६ इसमें सब ६३ प्रकृतियों का नाश कर अरन्त अवस्था प्राप्त भई। इसका जीवन्मुक्त अवस्था और भावमोक्ष भी कहते हैं। तब भगवान् को अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तवीर्य व पहले मोहका नाश भया था तब दुःख का अभाव तो भया था पर सुख अनन्तता को प्राप्त नहीं भया था सो अब भया। तब दुःख उनके कहाँ से आवे?

देवागम अष्टसहस्री का १ श्लोक देकर बीतराग के भी दुःख सिद्ध करते हैं।

यह निवान्त भूख है दुःख का कारण था सो रहा नहीं। फिर दुःख कैसा? आपने उसका अर्थ ठीक नहीं किया है। विचार करें।

पुनर्वं भुवं स्वतो दुःस्वात् पापकृत् सुखतो यदि ।
वीतरागो मुनिर्विद्धांस्तत्त्वां युक्त्यान् निमित्ततः ॥

इसका इस प्रकार अर्थ है—इसके पहले श्लोकों में यह कहा है कि कोई पुरुषार्थ प्रधान मानना है, कोई दैव को । उसको आचार्योंने यह कर एकांत इष्ट को इटाया कि स्याद्वाद् किसी का भी एकांत नहीं करता । सब अपेक्षा सिद्ध है क्योंकि अविद्विपूर्वकता की अपेक्षा में तो इष्ट अनिष्ट अपने दैव में होता है और विद्विपूर्वकता की अपेक्षा में इष्ट अनिष्ट अपने पुरुषार्थ से होता है । फिर कोई कहते हैं कि पर-निमित्त से उत्पन्न हुये दुःख से निश्चित पाप होता है और परनिमित्त से उत्पन्न सुख से पुण्य होता है । तब आचार्य कहते हैं—उत्तर में ऐसा है तो फिर पर निमित्तमात्र में अचेतन जड़ पदार्थ और अकण्ठ कृष्ण कणाय में अयोग्य तब यह भी बंध में आ जायेंगे । फिर कोई ऊपर से उलटा अर्थ मन में धार कहते हैं कि नहीं अपने आप परनिमित्त से भये दुःख में तो निश्चित पुण्य होता है और पर-निमित्त से अपने आप उत्पन्न सुख में पाप होता है । इन दोनों का मुत्तासा यह अर्थ हुआ कहीं ना पापानुबन्धी दुःख होता है और कहीं पुण्यानुबन्धी दुःख होता है । जैसे संकलेश परिणाम व वाचनिक कार्याक परिणाम जन्य कष्ट में दुःख में निश्चित पारस्व्य होता है और कहीं रथयात्रा और जनोंपवास आदि व्यवहारधर्म में परनिमित्त से उत्पन्न दुःख से पुण्य होता है और परनिमित्त से भये इन्द्रियजन्य सुखसे पाप बंध होता है तो कोई यहां एकांत में अपने परिणामों की वि-बद्धा छोड़ केवल परनिमित्त से ही पापपुण्य माने तो आचार्य कहते हैं कि फिर तो वीतराग भगवान के भी सुख-दुःख ठहर जायेंगे । यहां केवल पर-

निमित्त का ही कारण मानकर जो पाप पुनर्वं वत्सावे और अपने परिणामों को कारण न माने तो वीतराग भगवान के भी सुख-दुःख दोष की आपत्ति बतलाई, पर भगवान के सुख-दुःख ठहरे कहां ? इस से विपरीत अर्थ करके भलसी बात उल्टी बात क्यों समझाई जानी है ।

यह विद्वानों को उचित नहीं है या फिर सुख नहीं समझे । यहां इटावेमें हमें अष्टसहस्री मिली नहीं इसमें हमें यह याद नहीं आती । ऐसा परनिमित्तसे ही मानने वाला कौन सा सिद्धांत है । सो मुत्तासा अष्टसहस्री में है—

स्यान् मांश्य प्रकृति को ही करता-धरता मानता है आत्मा को नहीं । पर स्यात् कोई और ही बाधी का मत हो देखना ।

यहां हमारा अभिप्राय यह है कि केवली भगवान के दुःख नहीं रहता । तब भूख-प्यास की वेदना कैसे सम्भव है ?

और भी मुत्तासा समझो—

देवक शास्त्रानुसार शारीरिक सूत्रस्थान में बागभ-ट्टादि भवप्रकाश आदि ग्रंथों में शरीर में पञ्चवाशव और आमाशय के बीच में अर्धांग नाभि के ऊपर हृदय के नीचे रित स्थान अथवा मंडरान्न अग्नि-स्थान कहा है । यहां मनूर को राज के समान तथा निज के मरान आकार कहा है वह प्राण क्रिये हुये आहारको पचाकर रसादिक बना कर वातवायु सर्वत्र शरीर में पट्टाकर शरीर के बलाधान रसादि पुद्गल परम-गुण नोर्कर्म वर्गणा रूप शरीरादि को पुष्ट करती है । पित्त के निकट यह ग्रहणी कहलाती है । एक प्रकार की गस या नसों का समुदायरूप है ।

यह विज्ञान मज्जम्य ग्रन्थादुपहृती मत्ता,

आयुरारोग्यबोर्षीजोभूतधात्वप्रिपुष्टये ।

स्थितापक्वाराशयद्वारि भुक्तमागंगलेव सा ॥

वस पित्त पाचकाम्नि का अधिष्ठान होने से तथा अन्न को प्रहण करने के कारण प्रहणी कला कही है, जो आयु आरोग्य बोर्षी अोज धातु अग्नि पुष्ट रखने के लिये पक्वाराशय के द्वार पर भुक्तमागं की अगंला की तरह समझना ।

यद्यपि वैद्यक शास्त्र किसी मतमतांतर से सम्बन्ध नहीं रखते वे तो शरीर सम्बन्ध का विज्ञाते हैं । हम इनका उदाहरण अपने सिद्धांत बाबर्षी की पुष्टि दिखाने के लिये लिख रहे हैं । दूसरों के कथन से भी अपनी बात विशेष पुष्ट होती है । इस लिये वैद्यक शास्त्रों का हवाला दिया है । कोई छल न पकड़े कि यह तो बात दूसरों की है । अपने से क्या सम्बन्ध । दूसरे बाग्भट्ट अष्टांगहृदय दिगम्बर जैन ग्रन्थ है । बाग्भट्टाचार्य दिगम्बर जैन थे । इन्होंने ही बाग्भट्टाचार्य बनाया है । पर यह अष्टांग हृदय अजैनों के हाथ में चले जाने से उन्होंने इसमें विषरूप मांसादि के गुण आदि भविष्ट कर अजैनों रूप कर दिया है । फिर इसकी टीका आशाधर जी ने की है, वह मिलती नहीं । इसका असली तत्व निकल आता । एक मंगलाचरण शीतिल करता है ।

रागादिरोगान् सततानुपकान्

अयोश्चक्षयप्रसूतान्मोषान् ।

जीसुकबमोहाद् रतिदान् जघान

योऽपूर्वदैराच नमोस्तु तस्मै ॥

जो समस्त प्राणियों के शरीर में व्याप्त है ऐसे रागादि रोगों को नष्ट कर दिया है । रागादिक कैसे हैं मोह की उत्सुकता से अचञ्चल मालूम होते हैं, उन रोगों को नष्ट किया है । उन अपूर्व वैद्य को मैं

नमस्कार करता हूँ ।

इस लिये आप लोग भली बात समझें कि वह पित्ताधिष्ठान से प्रहणी कला आत्मा की इच्छा से आहार को प्रहण करती है । तब इच्छा बिना भगवान आहार प्रहण कैसे करें ।

अब शंका यह रहती है कि आहार प्रहण नहीं करते तो वह पित्त जठरानल अग्नि रूप आहार बिना सब रसादि धातुओं को भस्म कर शरीर को नष्ट कर देगा तब शरीर की स्थिति कम से कम दो चार वर्ष साधारण केवली के और तीर्थङ्कर के सी पचास वर्ष, उत्कृष्ट ८ वर्ष कुछ कम कोटि पुरुष तक देह की स्थिति कैसे रहे ?

उसका उत्तर सुनो मोह के अभाव से भगवान के इच्छा का अभाव है और शरीर में परमोद्धारकता के कारण शरीर के औद्धारिक समस्त नोऽकर्मदग्ग्याओं का द्रव्यगुण निमेल परिणामन हो गया जिससे ही तो भगवान का चारों तरफ से मुख शीघ्रने लगा और वह जठरानल रूप ईंधन को प्रहण करने की इच्छा करता था वह इच्छा असाता वेदनीय और मोह के कारण में होती थी । इन दोनों के कारण से ही वह इच्छा होती थी मो मोहनीय के नारा से उन वेदनीय कर्मरूप परमाणुओं का भी उदय असाता का साता रूप होने लगा ।

और भी सुनो—

अंतराय कर्म के तथा मोह कर्म के नारा से और साता के उदय से भगवानको अंतरंगमें तो अनंतज्ञान सुखादि गुणों का लाभ हुआ और बाह्य में अनंत नोऽकर्म (तीन जाति के शरीर और द्वादश पर्याप्ति रूप नोऽकर्म) बगैरा रूप प्रशस्त आहार बगैराओंका आगमन है, जो उनके शरीर को शीघ्र कर चली जाती है

पर उनके स्पर्श से भगवान को शारीरिक बल प्राप्त होता है। वह उनके बाह्य अनंतज्ञान और समबरा-रणादि बाह्य उपभोग उनके हुआ। हम आप किसना प्रसास्य पदार्थ खाते हैं और बल का कारण होता है, जो अनंतगुणा उन वर्गणाओं से होता है। वह पित्त अंत को प्रदूषण कर रसादि धातुओंकी पुष्टि करता है उससे अनंतगुणी पुष्टि पित्त और सारे शरीर में पहुंचकर उन वर्गणाओं ने सारे शरीर को दामिऊ कर दिया तब तो उनकी शरीर की प्रभा के मण्डल में प्राणियों के सात ७ भव दीखने लगें। हम आप रोटी दाल खाते हैं ये भी तो आहारिक वर्गणाएँ बनती हैं। आज इन बातों का पुष्ट करने के लिये अनेक उदाहरण आपके सामने हैं।

जो आदमी औषधि नहीं खाता तब इन्जेक्शन द्वारा पहुँचाते हैं, क्यों मरुह ! यह इन्जेक्शन शरीर को ताकत पहुँचाते हैं मान लें और नोकर्म वर्गणा रूप आहार वर्गणा के आहार में आपको इतराज होता है ? आहार भगवान ने ६ प्रकार का बतलाया है—

औ केवला भगवान के नोकर्माहार और नार-कियों के कर्माहार, वृक्षादिकों के जेपाहार, कथूनर आदि के अंडों के आजाहार और देवों के मानसिक, मनुष्य पशुओं के कवलाहार है। परन्तु सब आहार नोकर्म वर्गणा रूप ही तो है। आहारिक शरीर को बलाधान आहारिक वर्गणा, में है आहारिक तथा ६ पर्याप्त रूप योग्य वर्गणा ही तो आहार वर्गणा है। सो आचार्य लिख ही रहे हैं। पर हमारे श्वेता-म्बरीय भाई ऐसा विचार करते हैं कि—

हम रोटी दाल खाते हैं तो भगवान को भी खाना चाहिये। जैसे महादेव के उपासक जेठ माम

में समझते हैं कि जैसे हमें गर्मी लगती है वैसे ही महादेव को भी लगती है। सो महादेव की पिच्छी पर एक त्रिखुटी लगाकर एक घड़ा पानी से भरकर बीच में एक छंद कर रख देते हैं जो टप-टप होता रहता है। वही हमारे इन भाइयों के विचार हैं कि वे आहार नहीं लेंगे तो जीते कैसे रहेंगे ? उन्हें मालूम नहीं कि ये आहार वर्गणा छत्तीस प्रकार के व्यञ्जनों से भी अधिक उस पित्त तक और पित्त की चोटी तक सब जगह बल-बीये-कांति को बढ़ाती हैं। जिससे भगवान की कांति से सूर्य-चंद्रमा का तेज छिपना है। हमें कोई गप्प समझे तो सुनो—

रेल के आमपाम पटरी के नागफनी लगी रहती है, उसे छंदकर घर के दरवाजे पर टांगिये। वह बिना पानी बढ़ती छद्मलता रहता है और यह बताइये कि माता के पेट में ६ महीने तक बालक भिन्नही में लपेटा हुआ बलटा टंगा रहता है। वहां उस का औ-हारिक शरीर कबलार के बिना कैसे बढ़ना है ? कैसे पोषण पाता है ? भोजन माता करती है उसी के रसादि सम्बन्ध से उसके शरीर का बलाधान होता है। पर कवलाहार तो नहीं करता। और एक उपोषण करने वाले को व्यास लगता है तो पानी बरस जाय तब आहिरी पानी से व्यास जैसे बुझ जाती है वैसे ही वे नोकर्म वर्गणाएँ भी शरीर को स्थिर बनाये रखती हैं। इससे केवला भगवान के कवलाहार नहीं होना और उनके नोहार तो जन्म से ही नहीं होता। यह भी इससे सिद्ध होता है कि ६ मास तक टट्टी पेमाब नहीं करना। तब ये सब बातें न्यायसिद्ध हैं। जो कवलाहार बिना नोकर्माहार से ६ मास शरीर इष्टपुष्ट रहता है। तो किसी के उम्रभर भी नोकर्माहार में शरीर रह सकता है। यह

एक अनुमान हुआ कि—

आयुपर्यंत कबलाहारं विनैव केन्द्रादीरास्थितिः
निराबाधा बलाधान-कारण-नोकर्माहारस्य तत्र-
सत्त्वान् नवमासपर्यंतं गभस्थबालकवत् यथा नवमास-
पर्यन्तं कबलाहारं विनैव अपोमुखमूलितस्य शरीरस्थि-
तिदर्शनात् । बलबीयेपुष्टिदर्शनाच्च तद्वत् ।

आप कहेंगे कि बालक की माता के कबलाहार का सम्बन्ध रहने से 'तस्य बालकस्यापि कबलाहारस्य सत्त्वं' उस बालक के भी कबलाहार माना जाय । मो नहीं । वह तो उल्टा टंगा रहता है, भिल्ली में लिपटा रहता है । फिर भी तो कबलाहार औदारिक बगैया ही है । तब हमारी बात सिद्ध है कि एवाई मुख द्वारा वदर में पहुँचती है और इंजेक्सन द्वारा पहुँचती है । ऐसे ही बिना कबलाहार के नोकर्म आहार पहुँचता है । छह प्रकार के आहार में औदारिकादि ३ शरीर और ६ पर्याप्त योग्य पुद्गल बगैया ही तो आहार है । उनके भिन्न २ प्रकार से पहुँचने से ६ भेद हैं । जब शरीर बलाधान की कारण आहारबगैया पहुँचती है, तब कोई शंका का स्थान नहीं रहता ।

श्रुतिपासादि परीपक्षों का कथन इस प्रकार है—

केवलजिने श्रुतादिपरीपक्षः एकादश न सन्ति
वेदनीयस्य सहकारिमोहाभावात् ।

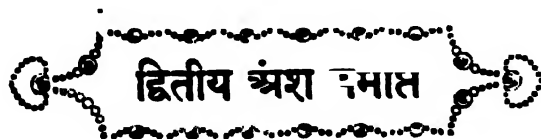
अर्थान्—भगवान के ग्यारह श्रुतादि परीपक्ष

जो कि वेदनीयके उदय से कही हैं वे मोहके अभावसे नहीं होती और होती हैं, यह कथन उपचार से है । ध्यान की तरह । जैसे केबली के भावमोह होने से भावमन नहीं रहा तो वहाँ ध्यान कैसा, पर बचन, काययोग है । इससे उपचार से ध्यान कहा है । वैसे ही वेदनीय की सत्ता रहनेमें परीपक्ष कही है यदि असत्ताके उदयमें होती सो असत्ता रूप परिपाक बढ़ा नहीं, मोह के अभाव में दुःखाभाव, उसके अभाव से असत्ता का अभाव तथा असत्ता रूप रम नहीं रहा । मोहके साथ इसका विपाक है । इसी कारण मोहके पहले वेदनीय है । अतः ११ परीपक्ष वहाँ उपचार से हैं याम्लव में नहीं हैं ।

गोष्मटसार में स्पष्ट कहा है—

एष्टाय रायदोसा इन्द्रियणाणं च केवलमिह जदो ।
तेणदु मादासादजमुहदुःखं एत्थि इदि यजं ॥२७१
समयट्टिदिगोबंधो सादस्मुदर्यापगो जदो तस्स ।
तेण असादस्मुदयो सादसरूपेण परिणमदी ॥१७४
गंदेण कारणेण हु मादस्मेव हु खिरंतरो उदयो ।
तेणासादणमिमा पगीसहा जिणवरे एत्थि ॥२७५

इस प्रकार की-अर्मुक्ति और दिगम्बरलिंग तथा कबलाहार निषेध की सिद्धि आगम और युक्ति अनुमान से सिद्ध है । हमारे प्रोफेसर साहब पण्डित हीरालाल जी को सन्तोष आना चाहिये ।





(ले०—पं० गोमन्मलाल जी शास्त्री नरनाथ कलकत्ता)

वेद-वैषम्य की चर्चा पर मेरा कुछ वक्तव्य

कलकत्ता में श्री दिगम्बर जैन भवन के हाल में जो विद्वानों की प्रोफेसर होगलाल जी में वेद-वैषम्य पर चर्चा हुई थी वहाँ पर मैं भी था। श्रीमान साहू शान्तिप्रसाद जी की अध्यक्षता में श्री-मुक्ति, केबली कबलाहार, वल्लभ संहित संयम इन सब की छोड़ प्रोफेसर जी ने पं० राजेन्द्रकुमार जी से यह कहा था कि यदि वेद-वैषम्य 'मद्ध' हो जाय तो मेरी सब शंकाओं का समाधान हो जायगा। इसी पर पं० राजेन्द्रकुमार जी न्यायतीर्थ से चर्चा हुई थी। मैं कुछ बातों का उल्लेख कर सामयिक मूल तत्त्व पर विवेचन करूँगा।

वहाँ पर आप जब बार-बार पृष्ठ रहें थे कि भाववेद का कारण क्या है अर्थात् भाववेद कौन कर्म के उद्देश्य में होता है और भाववेद के अनुसार ही द्रव्यवेद होता है ?

उत्तरमें पं० राजेन्द्रकुमार जी ने कहा, यह कोई निश्चय नहीं। द्रव्यवेद तो पुत्रल वर्णियों का प्रथम है, मो स्वयमेव प्राकृतिक परिणामता है। जब इस विषय की विवेचना कुछ देर तक रही तो मैंने

कागज पर कुछ लिख पं० राजेन्द्रकुमार जी को दिया कि श्री गोमन्मलाल में इसका विषय लिखा है कि भाव वेद नो कपाय के उद्देश्य से और द्रव्यवेद नोकपाय के उद्देश्य का निर्माण और ब्रह्मोपाङ्गादि के उद्देश्य से होता है। और यह पत्र उठाकर श्री शान्तिप्रसाद जी से कहा कि इसमें लिखा है 'नोकपाय वेदनीय के उद्देश्य से भाववेद और ब्रह्मोपाङ्ग नामकमे और निर्माण नामकमे से द्रव्यवेद होता है।' फिर पं० राजेन्द्रकुमार जी ने उसको साहू जी को समझाया तब साहू जी को यह विश्वास हुआ कि शास्त्र में तो 'पुरि-मिच्छि' इत्यादि गाथा में 'पायेण समा कहि बिसमा' इत्यादि कथन में वेद-वैषम्य स्वीकार किया है।

फिर प्रोफेसर जी ने यह कहा कि 'यह तो दिगम्बराचार्य श्री नेमिचन्द्र आदि ने श्री-मुक्ति लखन करने के लिये ही वेद-वैषम्य स्वीकार किया है।

तब श्री पं० राजेन्द्रकुमार जी ने कहा कि फिर श्वेताम्बराचार्यों ने वेद-वैषम्य क्यों स्वीकार किया ?' इत्यादि विषय विवेचन हुआ।

इस विषय पर मुझे यह कहना है कि आप यह मानते हैं कि 'भाववेद भी एक पर्यायात्मित एक पर्यायमें

एक ही आजन्म मरण पर्यंत एक ही रहता है। किन्तु श्री धवल शास्त्र में वेद कथन में 'तिरिक्त्वा तिवेदा' इत्यादि मूल सूत्र १०७ पेज ३४६ में टीका में श्री बीरसेन स्वामी ने यह लिखा है—

त्रयाणां वेदानां क्रमेणैव प्रवृत्तिर्नाक्रमेण पर्याय-
त्वान् कपायवच्चान्तमुद्धतेत्स्थायिनो वेदा आजन्मनः
आमरणादुदयस्य सत्त्वान् ।

इसका अर्थ यह है—कि तीनों वेदों की प्रवृत्ति क्रम से होती है अक्रम से नहीं होती पर्याय होने से। कपाय की तरह अन्तमुद्धते स्थायी नहीं होते। जन्ममें लेकर मरणपर्यन्त एक ही वेद का उदय रहता है। इसका अर्थ आप भाववेद ही लेकर लिखते हैं कि कपाय की तरह वेद अन्तमुद्धते रहने वाले नही हैं। किन्तु जन्म में मरण पर्यन्त भाववेद एक ही रहता है।”

यदि उक्त वाक्य श्री बीरसेन आचार्य महाराजके भाववेद ही को बतलाते हैं तो फिर वे ही आचार्य भावानुगम में अपगतवेद के कथन में भी धवलशास्त्र २२२ पृष्ठ, ४८ वें सूत्रकी टीकामें ऐसा क्यों लिखते हैं

‘एव चोदगो भगवति’

यहां पर कोई शङ्का करता है। (प्रत्यक्षां) जोहिमेहणादीहि समारणं सरीरं वेदो। यानि, मेहनादि सहित शरीर वेद है क्या? (ए तस्म विद्यासो अस्थि संज्ञाणं मरणस्पर्शा) उसका विनाश नहीं होता तो अपगत वेद कैसे होगा? यदि शरीर का नाश मान कर अपगतवेद नवमें गुणस्थान में माना जाय तो (संज्ञाणं मरणस्पर्शा) संयत मुनिधों को मरण प्रसंग आवेगा। जब मुनि जीव नहीं रहे तो गुणस्थान कैसा? ए भाववेदविद्यासो वि अस्थि सरीरे अविद्यते तत्त्वायस्सविद्यासविरोहा) और न भाववेद ही का विनाश होता है। क्योंकि

शरीर नष्ट नहीं होते, उसके भाववेदका विनाश होने का विरोध है। (तदो एावगद-वेदसं जुञ्जवे इदि) तिस कारण तुम्हारा नवमें गुणस्थान में अपगतवेदपना बनता ही नहीं।

(एव परिहारो उच्यते) तब इसका परिहार उत्तर आचार्य कहते हैं—

(ए सरीर मित्थि पुग्गिमेदो एामकम्म-जणि-
दम्म सरीरम्म मोहणीयनविरोहा) शरीर ही की पुरुषवेद नहीं है। क्योंकि नामकर्म-जानत शरीर को मोहनोपपत्ते का विरोध है। अर्थात् शरीर नाम कर्म से होता है और भाववेद नोकपाय वेदजानत है, जो पुरुषादि शरीर मोह का कार्य नहीं। (ए मोहणीय-जणिदम्मव सरीरं) न मोहनोप कर्म से शरीर उत्पन्न भया है।

जांबाविवाहगो मोहणीयस्स पोम्भान-विवाहस-
विरोहा) जीव विपाकी मोहनोप प्रकृति को पुद्गल विपाकी नहीं मान सकते हैं। इसमें (ए सरीर भावावि वेदो) न शरीर का भाव ही वेद हो सकता है।

(तस्म तदोपुधभूदम्म अणुवल्लभा) क्योंकि शरीर भाव को शरीर से जुदा नहीं कर सकते फिर अपगतवेद होगा कैसे? ता परिसेसादो) परिशेष से यह सिद्ध भया कि—

मोहणीय-द्वयकम्मन्धो तज्जणिद जीवपरि-
णामो वा वेदो। मोह कर्म नोकपाय रूप द्वयस्कंध व उस कपाय से उत्पन्न आत्मा का परिणाम ही वेद है।

तत्त्व तज्जणिद जीवपरिणामस्स वा परिणामेण सह कम्मखन्धस्स वा अभावेण अवगदवेदो ओदत्ति। तब वहां पर नवम गुणस्थान में नोकपाय-जानत

जीव परिणाम का व उस परिणाम के साथ नोकपाय रूप वेद प्रकृति स्कन्ध का अभाव होने से अपगत-वेद होता है ।

तब यह सिद्ध हुआ कि वेद नोकपाय-जनित भाववेद परिणाम कपाय रूप होने से अन्तर्मुहूर्त स्थायी ही होता है और सन्ततिधारा से आजन्म भी रह सकता है । एक परिणाम अन्तर्मुहूर्त ही अधिक से अधिक ठहर सकता है, आजन्म नहीं । अन्यथा 'अपगतवेद' ही ही नहीं सकता ।

तत्र गेम दोमोत्ति सिद्धं मेमं सुगमं .

इस लिये उपर्युक्त शङ्काओं का परिहार हो गया अपगत मानने में कोई दोष नहीं ।

तब जन्म से लेकर मरणपर्यन्त भाववेद रहना है यह बात सिद्ध नहीं होती, क्योंकि शरीर रहने ही वेद नहीं रहता और न यह बात सिद्ध होती है कि नवम गुणस्थान तक एक ही वेद रहता है । क्योंकि नोकपाय वेद जनित परिणाम स्वयं कपाय है । इस से अन्तर्मुहूर्त-स्थायी ही अधिक से अधिक ठहर सकता है ।

तथा १०७ वें ३३६ वें पंज की टीका का अंश यह है कि द्रव्यवेद (योनि मेहनादि) द्रव्यकर्म है और उसकी शक्ति से ही भावकर्म भाववेदसे सम्बन्धित है । सो ही आचार्य ने भी गोस्मटमार शास्त्र में कहा है ।

पुगलपिण्डो द्रव्यं तन्मत्ता भावकर्म नु

यानी—पुद्गल पिण्ड नौ द्रव्यकर्म है और उसकी शक्ति भावकर्म है ।

तब यह सिद्ध हुआ कि मनुष्यायु, मनुष्यगति, मनुष्य गत्यानुपूर्वी औदारिक शरीराङ्गोपांग निर्माणादि बन्ध समयमें नोकपाय वेदनीयकी वेदप्रकृतियों

में से किसी एक के उदय का निमित्त पाकर द्रव्यवेद रूपाङ्गोपाङ्ग शरीरादि का बन्ध होता है उसीका उदय पाकर माता के गर्भाशय में प्रविष्ट हो जीवात्मा रज-धीर्य रूप पुद्गल आहार वगैरार्थों को ग्रहण कर निज शरीर, अङ्गोपाङ्ग, निर्माणादि करने में व्यापृत होता है । जैसे मक्की स्वयं जाला पूरकर फंस जाता है उसी प्रकार उन वगैरार्थोंमें पड़ी हुई शक्ति भव के प्रथम समय से लगाकर मरणपर्यन्त पकौब तक रहती है । इसी भाव शक्ति रूप भाववेद का और द्रव्यकर्म रूप द्रव्यवेद का कथन आजन्म मरण पर्यन्त किया है और हेतु 'पर्यायस्थान' दिया है और कहा है—कपाय की तरह अन्तर्मुहूर्त-स्थायी नहीं है और जो नोकपाय वेद के उदय से भवे चित्त परिणाम रूप वेद परिणाम सो तो अन्तर्मुहूर्त-स्थायी इसी कपाय से सिद्ध है । वेद रूप परिणाम को कपाय के उदय से हुआ बताया वह कपाय रूप स्वयं है । इसका परिवर्तन अन्तर्मुहूर्त स्थायी आचार्यों के वाक्य में ही सिद्ध है इसी से उन्होंने निदकपे निधोक् दिया कि परिशोपादो इत्यादि ऊपर लिख आये हैं कि नोकपाय वेद प्रकृति जनित परिणाम भाववेद और नोकपायवेद प्रकृति पुद्गल स्कन्ध द्रव्य कर्म का सत्त्व तन्मं गुणस्थान के सवेद भाग पर्यन्त तीनों का ही सम्बन्ध रहता है । उदय इन तीनों में से एक ही का होता है ।

यं वेद रूप जीव चित्त के परिणाम अन्तर्मुहूर्त स्थायी होते हैं कपाय होने से । परन्तु सात्त्विक प्रकृति वाले द्रव्यपुरुष वेरी जीव के परिणाम पुरुष वेद ही होते हैं । अन्तर्मुहूर्त-स्थायी होने पर भी जब जब वेद परिणाम का उदय होगा तो पुरुषवेद रूप ही होगा । इस धारा से किसी के समपरिणाम

ही पाया जाय और किसी के नोकपायाध्यवसानों की प्रवृत्तता से जो नपुंसक नोकपायों का उदय होकर चित्त परिणाम की नपुंसक रूप विरूपता विषमता को धारण करे।

द्रव्य पुरुष कर्मभूमिज मनुष्य निर्यज्ञ के अशुभ अनुभाग के अधिक होने से और प्रशस्त कर्मों के हीन अनुभाग से जो नपुंसक भाव होते हैं और प्रशस्त कर्मों का अनुभाग अधिक होने से पुरुष भाव होते हैं और ये तीनों प्रकार के वेद भाव द्रव्यपुरुष वेदी के अन्तरङ्ग कारण वेद का उदय और बाह्य कारण की आदि नोकर्म द्रव्य की प्राप्ति अप्राप्ति होते हैं। ये तो स्थूल बात रही।

पञ्चम गुणस्थान तक तो जीवके द्रव्य की द्रव्य-नपुंसक के सहकारी प्रशस्त कर्मों के अनुभाग से पुरुष भाव और अप्रशस्त कर्मों के अनुभाग से स्त्री-नपुंसक भाव और नपुंसक के स्त्रीभावादि भी क्वचित् कदाचित् होते हैं। पर अज्ञापांगादि बन्ध समय में पुरुष मैथुनाभिज्ञाप संज्ञाकात जीव के स्त्रीद्रव्य वेद और उभय मैथुनाभिज्ञाप संज्ञाकात जीव के नपुंसक द्रव्यवेद और जो मैथुनाभिज्ञाप संज्ञाकात जीव के पुरुष द्रव्यवेद बन्धता है। जिस जीव के जो नपुंसक वेद बन्ध जाता है उसके उदय से द्रव्यस्त्री वेद शरीरादि, नपुंसक द्रव्यवेद शरीरादि पर्याय धारण कर उस जीव के भाव पञ्चम गुणस्थान संयनासंयत से अधिक विशुद्ध होते नहीं। यह उसी द्रव्यकर्मकी भावशक्तिका कारणपत्ता है, भाववेदपत्ता है जो उपरि तन संयत गुणस्थानवर्ती परिणामों की विशुद्धता को नहीं होने देती।

जैसे जिस जीव के मनुष्यभव में कर्मभूमि के मनुष्य के मनुष्यायु का बन्ध हो जाय तो उसके व्रत

परिणाम नहीं होते। क्योंकि मनुष्यभव में मनुष्यायु का बन्ध सिध्यात्व गुणस्थान में ही होता है और फिर सम्यक्त्व हो जाय तो भी वह भोग-भूमि का मनुष्य होगा। मनुष्यभव से कर्मभूमि का मनुष्य सिध्यावृष्टि ही होता है और व्रतपरिणामों से नियम संदेह होता है। इस लिये कर्मभूमि का मनुष्य मनुष्यायु का बन्ध हर व्रतो आवश्यक कभी नहीं होता, मुनि की तो कौन कहें।

इस बात को हमारे प्रेजुपट पण्डित मानेंगे नहीं क्योंकि ये तो शास्त्रीय बातें हैं आगमार्थिन हेतु हैं। परीक्षा प्रधानियों के समस्त एक देश प्रत्यक्ष पूरेके हेतु से माध्य मिद्ध करना चाहिये तो मैं उनके लिये प्रत्यक्ष उदाहरण देकर मिद्ध करता हूँ।

जैम कोई एक चोर एक माल को चोरी कर लावे तो जिस समय में उसने चोरी की है उसी समय उसने भय परमाणुओं का बन्ध कर लिया, उसके चोरी परिणाम से उसने आत्मा के प्रदेशों पर भयरूप पुद्गल परमाणु पण्डित लोहे की चुम्बक की तरह आकर्षित कर आत्मप्रदेशों पर अवास्थित कर लिया है। अब उसको उसी समय से भय हो गया कि कहीं पुलिस मेरी चोरी पकड़ न लेवे। जब तक वह माल उसके घर में रहेगा और निशान पहिचानी रहेगी उसका बाहिरी डर नहीं जा सकता और जब तक आत्मा के प्रदेशों के साथ भय परमाणुओं का प्रदेश बन्ध रहेगा, निजरेणं नहीं तब तक उसके परिणामों की विशुद्धता और सुख न होगा।

इसी तरह पुरुष-मैथुनाभिज्ञाप रूप संज्ञाकात स्त्रीवेद नोकपाय के उदय का निमित्त पाकर शरीरा-ज्ञादि के उदय से जो पर्याय प्राप्त की और उभयाभिज्ञापादि से नपुंसक हुआ। अब उसके परिणाम-

हंस्य मुनि की विशुद्धता को नहीं पहुँच सकते। मुनि पर धारण में असमर्थ है। जब उसके परिणामों की विशुद्धि नोकपाय भाववेद पुरुषभाव का उदय पञ्चम गुणस्थान तक हो उन्नति दिखा सकता है। वह परिग्रह से रहित नहीं हो सकती। पुरुष अपने भावों से शील स्पर्शित न करना चाहें तो कोई भी की पुरुष के शील को नहीं बिगाड़ सकता। परन्तु कोई दुष्ट पुरुष की के शील को बिगाड़ना चाहें तो की के शील को जबरन बिगाड़ देता है। पीछे चाहें कुर्बानी। कीपर्याय शील-व्यभाव में असमर्थ है।

यदि वह वस्तुति वा अवलम्बन कर रहा करना चाहें तो महाव्रत लिये ऐसा कर नहीं सकता और भी अनेक बातें हैं जिन्हें फिर लिखेंगे।

इसमें द्रव्यपुरुष के ही अपनी विशुद्धता हो सकती है कि भावकी भावनपुंसक परिणाम कुछ विकार करने पर भी नवमं गुणस्थान तक चला दें और वहाँ तीसरे भाग में नपुंसकवेद ५ व भाग में स्वाभाव की भी नष्ट कर ५५ गुणस्थान तक बढ़ती दुष्ट विशुद्धता में मोक्ष प्राप्त करता है।

इसका निष्कर्ष यह निकला कि द्रव्य शीलवेद, नपुंसक शरीर और उसका आवश्यक पञ्चम गुणस्थान तक, पर्याय तक एक ही द्रव्यभाव में रहती है नोकपायजनित चित्र परिणाम कहीं सम, कहीं चम गुणस्थान तक रहते हैं। अपगत नो-द्रव्यपुरुष विशुद्ध भाव शक्ति की विशुद्धता स्थान तक पहुँच सकता है।

वह भी सिद्ध हुआ कि नोकपाय भावरूप भाववेद) नवमं गुणस्थान तक ही रहता न्न मरणपर्यन्त द्रव्यवेद शक्ति और उस

की भावकमे शक्ति पर्याय तक रहती है। इसको द्रव्यवेद ही कहना चाहिये और द्रव्यकी, नपुंसकवेदी आत्मा के ५ गुणस्थान तक ही होता है। वह की नपुंसकवेद का अधिष्ठान ही आत्मा की विशुद्धता के ह्रास का कारण है। जिसको हमने प्रत्यक्ष दृष्टान्त में, हेतु में सिद्ध किया है, नोकपाय रूप भाववेद आ-जन्म मरण पर्यन्त भिन्न न हुआ और न नवम गुणस्थान तक चिरस्थायी एक परिणाम सिद्ध हुआ क्योंकि कि की नपुंसक द्रव्यवेदी के परिणाम नवम तक पहुँचने तो नवम गुणस्थान तक एक ही परिणाम टहरता। तब यह आया कि द्रव्यवेदी पुरुषके ही पञ्च-टन में तीनों परिणाम होते हैं और नवम गुणस्थान तक होते हैं तथा द्रव्य की नपुंसकवेदी के भी नो-कपाय भाववेद परिणाम ५ गुणस्थान तक पञ्चटन से तीनों होते हैं।

जैसे भाँभी बाला गाने के भावपुरुष परिणाम। भाव भूल, मूढ भ्रजु मृग नय में अन्तर्मुहूर्त या जग-स्थायी होते हैं और भूल भ्रजु-मृगनय से मन्तान धारापलाय दृष्टान्त की भोगभूमि के मनुष्य-नियन्त्रकों के अवयवन्त वनमान पर्याय को वर्तमान विषय मानकर मानते हैं परन्तु कर्मभूमि के मनुष्य के नहीं। कर्मभूमि के मनुष्य के मोक्ष जाने वाले के ६ नवमं गुणस्थान में ही नोकपाय भाव नष्ट हो जाते हैं। जैसा ऊपर लिख आये हैं और नारकियों का दुःस्वायतन शरीर है। इसमें की-पुरुष विषया-भिलाष मुक्त परिणाम नहीं और देवों के सुख सा-मग्री के सदृभाव में सन्तान धारा से की के कीभाव और पुरुष के पुरुषभाव ही रहते हैं और भोगभूमि में भी मुक्त पर्याय होने से द्रव्यभाव से सम ही वेद रहता है यह तो कर्मभूमि के मनुष्य विषयों के ही

वेद पकटन नोकर्म द्रव्य की शक्ति अभ्यास से होता है
की का तो कर्म द्रव्य पुनः और पुनः का नो कर्म की
है इनके विद्योपाधि में भाववेद पकटने हैं ।

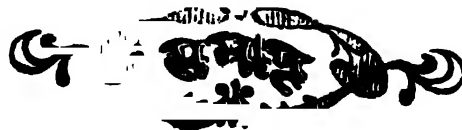
जैसे एक के की न रही गो अनङ्ग कीर्ति से
विषय वासना पूरी करता है । ऐसे ही पुनः के
न रहते की करनी है । नपुंसक के परिणाम
हिक्का लोगों में जाहिर हो हैं और निर्वचों में बल-
वैल में 'पुनः इच्छति वृषस्यति बलावद्धः गोर्गावर्माप
कुचेष्टते' गो गो में, बैल बैल में, कुत्ते कुत्ते में इत्यादि
कुचेष्टा करते हैं । ऐसा निर्वचों में दिखता है ।
संसार दशा है ।

यह जो कहा जाता है कि कर्म लग से मोक्ष
होती है तो यह कथन इस अभिप्राय से है कि द्रव्य
पुनः के संहनन शक्ति विशेष होने से तपस्वरण की
चर्चा में यह जितना लट सकती है उतनी की नहीं ।
पुनः की अपेक्षा की के परिणामों में कमजोरी
अधिक मिलती है ।

द्रव्यपुनः की सत्ता में की नपुंसक वेद के कम
स्वयं की सत्ता के कारण नवमे गुणस्थान में ध्यानस्थ

(निष्कलनकलनत्व) साधु के कैन सी बात है जो
नवमे गुणस्थान तक की नपुंसक भाववेद का द्रव्य
यह दिवा जहां चपक मेखी आरुह परम योगी कर्म
चपणा में लगे हुये के क्या की पुनःमिलान संज्ञा-
कांत भावों का सम्भाव हो सकता है । यदि ऐसे
भाव हों तो ब्रह्मचर्य महाव्रत ही नहीं रह सकता जो
महा (शुद्ध आत्मा) में चर्चा कर रहे हैं जहां बाह्य
पदार्थों में दृष्टि और बुद्धि का संस्कार नहीं, ध्यान की
धारा में अमूर्ति पूर्वक कार्य हो रहा है । जिनकी
ध्यान की योग धारा में एकदम स्वात्मनः स्वरूपयोग
स्वास्थ्य लक्षण लक्षण स्वास्थ्य से स्वात्मोत्थ स्वास्थ्य
से स्वस्थ हैं उनके इन विभूत परिणामों की क्या
सम्भावना ? जो एकदम कर्मों का नाश कर रहे हैं ।

वहां नवमे गुणस्थान में कमजोर रूप किंचित
वैशेष्य ही कील नपुंसकत्व का शोतकपना है पर
द्रव्यपुनः वेद का भावशक्ति उस कमजोरी का हटा
सहजोर परिणाम कर्मों का कय करता जाता आता
है यही द्रव्यपुनः के मोक्ष का कारणपना है ।



उसक

। आकाश

। शरीर-

विशेष— दिगम्बर जैन सिद्धान्त दर्पण के हस्तिक चंरा में पूर्य लगीवर्ण (अक्षरक, अक्षर-
वर्ण विह्वल के सारगर्भित श्लोक का सम्मिश्रण और पंचाक्षरोंकी सम्मिश्रित मन्त्रांशित होय परियाम-

